6·1

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १७१

पंडितराज श्री जगन्नाथ विरचित

भामिनीविलासः

'प्रकाश' हिन्दी व्याख्योपेत

श्री राधेश्याम मिश्र

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१७१

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

भामिनीविलासः

'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः
श्री राधेश्याम मिश्र, एम० ए०

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन; के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४०
मूल्य : अन्योक्तिविलास-प्रस्ताविकविलास रु० २५-००
: सम्पूर्ण रु० ६०-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० ८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

171

****

THE

BHĀMINĪVILĀSA

OF

PAṆḌITARĀJA JAGANNĀTHA

Edited with

The 'Prakāśa' Hindī Commentary

By

ŚRĪ RĀDHEYŚYĀM MIŚRA, M. A.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (INDIA)

Phone : 65889

Second Edition : 1983

Price :

Anyoktivilāsa-Prastāvikavilāsa Rs. 25–00

Complete Rs. 60–00

Also can be had oj

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

परमादरणीय पूज्य पितामह

पं० देवदत्त जी मिश्र

एवं

पूज्य पितामही

की

दिवङ्गत आत्माओं को

उन्हीं के अमोघ आशीर्वादों का फल

सादर सप्रेम समर्पित

भूमिका

पण्डितराज जगन्नाथ

'आसफविलास' की समाप्ति पर पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है—
"× × श्रीसार्वभौमसाहिजहानप्रसादादधिगतपण्डितरायपदवीविराजितेन तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेनासफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत।"
इससे स्पष्ट है कि ये तैलङ्ग कुलमें उत्पन्न हुए थे और शाहजहाँ ने इन्हें 'पण्डितराज' की पदवी प्रदान की थी। इनके पिता का नाम पेरमभट्ट (जैसा कि 'प्राणाभरण'[1] तथा 'जगदाभरण'[2] की समाप्ति के श्लोकों में मिलता है) अथवा पेरुभट्ट (जैसा कि रसगङ्गाधर[3] में मिलता है) था। इनकी माता का नाम लक्ष्मी था। इन्होंने समस्त शास्त्रों की शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की थी जैसा कि 'महागुरुम्' पद से सूचित होता है। इनके पिता प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने वेदान्त-शास्त्र का अध्ययन ज्ञानेन्द्र भिक्षु से, न्याय और वैशेषिक शास्त्र का महेन्द्र से, पूर्वमीमांसा शास्त्र का खण्डदेव तथा व्याकरण शास्त्र का शेष (शेषवीरेश्वर अथवा शेष श्रीकृष्ण) से किया था। इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे। रसगङ्गाधर के द्वितीय श्लोक से ये बातें विदित होती हैं—

"श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।

---

१. "तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटन्तपः।
सन्तुष्टः कमताधिपस्य कवितामाकर्ण्य तद्वर्णनं
श्रीमत्पण्डितराजपण्डितजगन्नाथो व्यधासीदिदम्॥"

२. "तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूरितनयो विद्वल्ललाटन्तपः।
श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगत्सिंहप्रभोर्वर्णनं
श्रीमत्पण्डितरायसत्कविजगन्नाथो व्यतानीदिदम्॥"

३. "पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तम्महागुरुम्॥" (रस० १।३)

देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनञ्जैमिनीयं
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः ॥"

प० नागेश ने शेष से 'शेषवीरेश्वर' का ग्रहण किया है—"शेष इत्यङ्क उपनाम यस्य तस्माद् वीरेश्वरपण्डितात् ।" परन्तु डा० आर्येन्द्र शर्मा ने कुछ सन्देह प्रकट कर शेष श्रीकृष्ण का अनुमान लगाया है—

According to Nāgeśa. Śeṣa here refers to Śeṣavīreśvara. But since paṇḍitarāja mentions Śesavīreśvara as his own guru, is it not more likely that by Śeṣa in the above verse is meant Śeṣa Śṛkṛṣṇa, the guru of Bhaṭṭojī Dīkṣita who must have been a contemporary of paṇḍitarāja's father. (footnt 2, P. K. S. (VII)

परन्तु एक ही व्यक्ति का पिता और पुत्र दोनों का गुरु होना कोई असम्भव अथवा आश्चर्यजनक बात नहीं । पण्डितराज ने 'मनोरमा कुचमर्दन' में 'अस्मद्‌गुरुपण्डितवीरेश्वराणाम्' कह कर पण्डित वीरेश्वर को अपना गुरु बताया है ।

पण्डितराज किन-किन नृपतियों के आश्रय में रहे इसका विवेचन उनके काल विवेचन में करेंगे । रही उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अन्य जानकारी वह हमें प्रामाणिक ढङ्ग से नहीं मिलती । जहाँ तक किंवदन्तियों का सम्बन्ध है वह तो आगे हम 'पण्डितराज के विषय में किंवदन्तियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे ही । कुछ विद्वानों का विचार है कि भामिनीविलास का 'तृतीय विलास' 'करुणविलास' पण्डितराज ने अपनी पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर लिखा था । पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी का कथन है—"उनकी पतिव्रता सुन्दरी पत्नी का उनके समक्ष ही देहावसान हो गया । भामिनीविलास का समग्र द्वितीय विलास इसका साक्षी है ।" (हिन्दी रसगङ्गाधर भूमिका पृ० १२-१३) परन्तु यह कथन पूर्णतः समीचीन नहीं कहा जा सकता । यह कोई आवश्यक नहीं कि कवि सारी रचनायें अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर ही लिखे । दूसरी बात भामिनीविलास का करुणविलास केवल पत्नी की मृत्यु के शोक में पण्डितराज ने लिखा था ऐसा कोई प्रमाण नहीं है । वे भामिनीविलास को स्वयं ही अपने पद्यरत्नों का अर्थात् मुक्तकों का संग्रह बताते हैं । साथ ही इसके चार पद्य (संख्या २, ३, १८ और १९) रसगङ्गाधर में उद्धृत हैं । इनके विवेचनों से यह और भी सुस्पष्ट हो जाता है कि इन सभी पद्यों की रचना केवल उदाहरणों के प्रस्तुत करने के लिए की गई थी । हम यहाँ

पर केवल तीसरे पद्य की उनकी स्वयंकी व्याख्या को उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं—

"सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाताः
विद्याऽपि खेदकलिता विमुखी बभूव ।
सा केवल हरिणशावकलोचना मे
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥" (भा० वि० ३।३)

इस पर रसगङ्गाधरकार का विवेचन इस प्रकार है—

"गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यग्रहीतमानसस्यान्यस्य वा कस्यचिदतिप्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरगतस्येयमुक्तिः। अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां स्रक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां विद्यायाश्च कृतघ्नत्वमस्याश्च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकश्च स्मृतिनेव पुष्णातीति सैव प्रधानम् । एवं त्यागाभावगतसार्वदिकत्वं व्यञ्जयत्यधिदेवतोपमाऽपि । एष चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः। यदि पुनरियन्तत्परिणेतुरेवोक्तिस्तदा भावध्वनिरेव" ।

भय है कि इस व्याख्या से विद्वान् यह अर्थ न लगा लें कि पण्डितराज स्वयं अपने गुरु की कन्या में आसक्त थे, अथवा प्रतिषिद्धगमना गुरुपत्नी या मुनिपत्नी में आसक्त रहे। अस्तु, हमारी बुद्धि के अनुसार तो ऐसा मानना कि यह पण्डितराजकी अपनी स्वर्गवासिनी पत्नी के विषय में लिखी गई रचनायें हैं, कदापि उचित नहीं।

डॉ० जितेन्द्र विमल चोधरी ने "Muslim Patronage to Sanskritic learning (pp. 50–51) पर लिखा है—

"The third canto of the Bhāminīvilāsa viz the Karuṇa. apparently appears tohave been composed after the demise of Jagannātha's partner in life. But really if the Karuṇavilāse as a part of the Bhāminīvilāsa were composed with the express intention of having ready illustrations for the Rasagangādhara as Nāgeśa says, no personal loss need be taken into consideration with regard to the composition of the verses. Moreove, as there is no evidence whatsoever that Jagannātha Paṇḍitarāja married a second time, the above supposition distinctly goes against the tradition that he and Lavangī died together in the wholy waters of the Ganges"

हम इनके अन्तिम वाक्य से पूर्णतया असहमत हैं। लवङ्गी के विषय में जो रामकहानी लोगों ने गढ़ रखी है और जिसे कि डॉ० साहब परम्परानुमोदित

होने के कारण सत्य मानते हैं वह पण्डितराज के यौवनकाल से सम्बन्धित है। यदि पण्डितराज का ऐसा सम्बन्ध रहा भी होगा तो यौवनावस्था में जब वे दिल्ली सम्राट् के दरबारी रहे होंगे। परन्तु जिस समय उन्होंने भामिनीविलास का संग्रह प्रस्तुत किया है उस समय वे सारी वासनाओं का परित्याग कर मथुरा में हरि का सेवन कर रहे थे। उस समय न उसके पास लवङ्गी थी और न दिल्ली का वैभव विलास। केवल हरिचरण ही उनकी शरण थे—

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतन्नवीनं वयः।
सम्प्रत्युज्झितवासनम्मधुपुरी मध्ये हरिः सेवते
सर्वम्पण्डितराजराजतिलकेनाकारि लोकाधिकम्॥

[भामिनीविलास ४।४२]

यह पद्य पण्डितराज के लवङ्गी के साथ गङ्गा में डूब मरने की बात को सर्वथा मिथ्याप्रलाप सिद्ध कर देता है।

इसी तरह कुछ लोगों का यह भी कहना है कि पण्डितराज के लवङ्गी से एक पुत्र भी था। जिसके शोक को उन्होंने रसगङ्गाधर में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक में प्रकट किया है—

"अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
हा तनय विनयशालिन् कथमिव परलोकपथिको भूः॥

डॉ० चोधरी का कथन है—

"Probably Jagannātha had a son by Lavangī whose loss he mentions in one of the versses of the Rasagangādhara" (फुटनोट में वे उक्त श्लोक उद्धृत करते हैं) (M. P. S. L. P. 48).

अवधेय यह है कि उक्त श्लोक रसगङ्गाधर में करुणरस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है। कवि ने आदि में ही प्रतिज्ञा कर रखा था कि वह प्रत्येक उदाहरण स्वनिर्मित प्रस्तुत करेगा। अतः अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और इस उदाहरण को प्रस्तुत किया। इसका उनके पुत्र विषयक निजी शोक का कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु यदि इस पद्य को उनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित स्वीकार करने का दुराग्रह ही हो तो इसे उनके शिष्य नारायणभट्ट की मृत्यु के शोक से सम्बन्धित माना जा सकता है। जैसा कि नारायणभट्ट के भतीजे हरिहरभट्ट ने स्वरचित काव्य 'कुलप्रबन्ध' में लिखा है कि—

"लब्ध्वा विद्या निखिलाः पण्डितराजाज्जगन्नाथात्।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वःपुरीमगमत्॥"

(उद्धृत हिन्दी रसगङ्गाधर-भूमिका पृ० ण)

हो सकता है कि पण्डितराज के जीवनकाल में ही नारायणभट्ट स्वर्ग सिधार गया हो। अतः उसके शोक को उन्होंने इसमें व्यक्त किया हो। क्योंकि 'उद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्' इस बात का समर्थक हो सकता है। परन्तु इसे लवङ्गी से उत्पन्न पुत्र के विषय में तो मानना कथमपि समीचीन नहीं प्रतीत होता।

श्रीपुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने (भूमिका पृष्ठ अ-आ) पर किसी के आधार पर (जिसका उन्होंने उल्लेख नहीं किया) भामिनी विलास चतुर्थ-विलास के ३३ वें पद्य 'रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य' आदि पद्य को पुत्र-विषयक शोक से सम्बन्ध बताते हुए उनका खण्डन कर दिया है। उसे वहीं देखें। उक्त उद्धरण तो सर्वथा भ्रान्त धारणा को ही प्रस्तुत करनेवाला है।

पण्डितराज का काल

पण्डितराजजगन्नाथ ने अपनी युवावस्था दिल्ली के सम्राट् शाहजहाँ के आश्रय में व्यतीत किया था जैसा कि 'भामिनीविलास' चतुर्थ विलास के ४५ वें श्लोक से स्पष्ट है—

"शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविताः
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतन्नवीनं वयः।"

यहाँ दिल्ली वल्लभ से उनका तात्पर्य शाहजहाँ से ही है क्योंकि उसी ने उन्हें 'पण्डितराज' की पदवी प्रदान की थी जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं श्रीपुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने 'हिन्दी रसगङ्गाधर' (पृष्ठ १२-१३) में लिखा है कि—"इनकी युवावस्था का अधिकांश शाहजहाँ तथा उनके पुत्र दाराशिकोह की छत्रच्छाया में ही व्यतीत हुआ था" और फुटनोट में लिखते हैं—"'जगदाभरण' नामक ग्रन्थ में दाराशिकोह का ही वर्णन है।' यह बात तथ्य से बहुत दूर लगती है क्यों कि जगदाभरण के अन्त में पण्डितराज ने स्पष्ट रूप से यह सूचित किया है कि उसमें उदयपुर नरेश राजा जगत्सिंह का वर्णन किया गया है—

"श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगत्सिंहप्रभोर्वर्णनम् ।
श्रीमत्पंडितरायसत्कविजगन्नाथो व्यतानीदिदम् ॥"

तथा "इति महामहोपाध्यायपदवाक्यप्रमाणपारीणतैलङ्गकुलावतंस श्री-पेरमभट्टसूरेस्तनयेन विनिर्मितञ्जगदाभरणाख्यं जगत्सिंहवर्णनम्।" हाँ, उनकी इस बात को मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। 'दिल्ली वल्लभ' से उसका संकेत 'दाराशिकोह की ओर भी है क्योंकि शाहजहाँ के समय में वह दिल्ली का गवर्नर तो था ही। शाहजहाँ १६२८ ई० में गद्दी पर बैठा था तथा ३० वर्ष तक १६५८ ई० तक शासन किया था। उसके बाद अपने बेटे औरंगजेब के

द्वारा कैद कर लिया गया था और १६६६ ई० में वह दिवगंत हो गया था। शाहजहाँ के अतिरिक्त रसगङ्गाधर में आसफखान और नूरदीन का नाम मिलता है। आसफखां के विषय में रसगङ्गाधर में इस प्रकार कहा गया है—

"सुधेव वाणी वसुधेव मूर्तिः सुधाकरश्रीसदृशी च कीर्त्तिः।
पयोधिकल्पा मतिरासफेन्दोर्महीतलेऽन्यस्य नहीति मन्ये॥

तथा "युक्तन्तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूद् विनाशः।
इदन्तु चित्रम्भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्त्तिः॥"

आसफखाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। वह नूरजहाँ का भाई अर्थात् शाहजहाँ का मामा था। उसके विषय में 'आसफविलास' में स्वयं पंडितराज ने लिखा है कि वह शाहजहाँ के सम्बन्धी समस्त सामन्तों में सर्वश्रेष्ठ था—'सार्वभौमसम्बधिषु सकलेषु सामन्तेषु वाङ्मयेष्विव काव्यकलापः काव्यकलापेष्विव ध्वनिः ध्वनिष्विव रसो रसेष्विव श्रृंगारः सकलसहृदयहृदयंगमेन महिम्ना मधुरिम्णा च सम्भावितः सकलशस्त्रिसारावगाही नवाबासफजाही।"

नूरदीन (जिसे विद्वानों ने जहाँगीर माना है) का उल्लेख 'उत्तर' अलङ्कार के प्रसंग में इस प्रकार आया है—

"श्यामं यज्ञोपवीतन्तव किमिति मषीसंगमात् कुत्र जातः
सोऽयं शीतांशुकन्यापयसि कथमभूत्तज्जलं कज्जलाक्तम्।
व्याकुप्यन्नूरदीनक्षितिरमगरिपुक्षोणिभृत्पक्ष्मलाक्षी-
लक्षाक्षीणाश्रुधारासमुदितसरितां सर्वतः संगमेन॥"

जहाँगीर १६०५ ई० में गद्दी पर बैठा था और १६२७ ई० तक शासन करने के बाद दिवंगत हो गया था।

इनके अलावा 'प्राणाभरण में' कामरूप (आसाम) के अधिपति प्राणनारायन का वर्णन किया है जिनका शासन काल १६३३ ई० से १६६६ ई० तक माना गया है। साथ ही 'जगदाभरण' में उदयपुर के जगत्सिंह का वर्णन किया गया है जिनका शासन काल १६२८ ई० से १६५९ ई० माना गया है।

इस प्रकार डा० सुशीलकुमार डे तथा डा० आर्येन्द्र शर्मा आदि विद्वानों के अनुसार पण्डितराज का चार नरेशों के समय में रहना निश्चित होता है—(१) जहाँगीर (२) जगत्सिंह (३) शाहजहाँ और (४) प्राणनारायण। आसफ खां के विषय में उन्होंने जो 'आसफ विलास' की रचना की उससे स्पष्ट है कि ये उस समय शाहजहाँ के ही दरबार में रहते थे और चूँकि आसफ खां शाहजहाँ के सम्बन्धी और सामन्तों में सर्वश्रेष्ठ थे, अतः उनका वर्णन करना उचित ही था।

जैसा कि डाक्टर आर्येन्द्र शर्मा ने लिखा है कि पण्डितराज ने प्रारम्भ के कुछ वर्ष जहाँगीर के आश्रय में बिताया। जहाँगीर ने १६०५ से १६२७ ई० तक शासन किया था। १६२७ ई० के बाद वे उदयपुरनरेश जगत् सिंह के यहाँ चले गए। कुछ दिन वहाँ रहे और उनकी प्रशसा में जगदाभरण की रचना की क्योंकि जगत सिंह भी गद्दी पर १६२८ ई० में ही बैठा जब शाहजहाँ गद्दीपर बैठा था। कुछ दिन बाद शाहजहाँ ने पण्डितराज को पुनः अपने यहाँ बुला लिया। परन्तु हमारे विचार से जगतसिंह के यहाँ से आसफ खां ने इन्है अपने पास बुलावा और ये आसफ खां के ही अश्रय में रहे तथा आसफ खां की ही प्रेरणा से शाहजहाँ ने इन्हे अपने यहाँ बुलाया और पण्डित-राज की उपाधि देकर सम्मानित किया। जैसा कि आसफविलास की प्रारम्भ की पंक्तियों से स्पष्ट है—'स (शाहजहाँ) कदाचित् + + + कश्मीर देशमाजगाम। + + + अथ तत्र + + + सकलशस्यावगाही नवाबासफजही' इत्यादि। आशय यह है कि शाहजहाँ ने आसफ खां के यहाँ आने पर आसफ खां से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर उन्हें उपाधि देकर सम्मानित भी किया होगा और १६४१ में आसफ खां की मृत्यु के बाद अथवा उसकी जीवनावस्था में ही पण्डितराज को अपने आश्रय में बुला लिया होगा। रसगंगाधर के अभी पूर्वोक्त श्लोक 'युक्तन्तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रितानां यदभूदविनाशः' से भी यही प्रतीत होता है कि पण्डितराज को उसका आश्रय प्राप्त रहा। अस्तु, रही दाराशिकोह के आश्रय की बात जो कि केवल इस आधार पर लोग मानते हैं कि जगदाभरण में दाराशिकोह का वर्णन है, वह तो सिद्ध नहीं होता है क्योंकि स्पष्ट ही इन्होंने उसमें जगतसिंह का उल्लेख किया है। किन्तु जैसा कि प्राणाभरण अथवा जगदाभरण के ही श्लोकों के पाठान्तरों में रसगङ्गाधर में 'प्राणनरायणः श्रीकर्णजन्मार्णवः' के स्थान पर 'दिल्लीधरावल्लभः' आदि प्राप्त होता है, इससे यह स्वीकार किया जा सकता है एक ही रचना से इन्होंने तीन नरेशों को सन्तुष्ट किया हो। पर दिल्लीधरावल्लभ शाहजहाँ नहीं, दाराशिकोह था ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं। परन्तु जैसा कि दाराशिकोह के संस्कृतानुरागी आदि होने की बात मिलती है हो सकता है कि पण्डितराज उसके पास भी रहे हों। शाहजहाँ की मृत्यु के बाद ये एक आध वर्ष के लिए प्राणनाथ के पास गये होंगे और फिर वहाँ से आकर अपनी वृद्धावस्था मथुरा में बिताई होगी। इस तरह पण्डितराज का रचना काल १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा कुछ उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ स्वीकार किया जा सकता है।

पण्डितराज के विषय में किंवदन्तियाँ

सम्भवतः जितनी अधिक किंवदन्तियाँ पण्डितराज के विषय में प्रचलित हैं उतनी किसी अन्य कवि अथवा आचार्य के विषय में नहीं, हालाँकि संस्कृत कवियों के जीवनपरिचय के विषय में प्रायः कुछ न कुछ किंवदन्तियाँ अवश्य ही प्रचलित मिलती हैं।

१. पण्डितराज तथा अप्पय्यदीक्षित—पण्डितराज जगन्नाथ और अप्पय्य दीक्षित के विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक समय वाराणसी में गंगा के किनारे पण्डितराज अपनी प्रेयसी (यवनी लवंगी) को गले से लगाये हुए चद्दर ओढ़े लेटे हुए थे। इनकी सफेद शिखा चारपाई से बाहर लटक रही थी। उसी समय अप्पय्य दीक्षित प्रातःकाल गंगास्नानकर प्रातराह्निक से निवृत्त हो इनके बगल से लौट रहे थे। उन्हें क्या पता कि ये पण्डितराज हैं। एक वृद्ध को युवती के साथ लेटा देख उन्होंने कहा—'किन्निःशङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ ' कि इतने में पण्डितराज ने चद्दर हटाकर मुँह खोल जब इनकी ओर देखा तो पण्डितराज को जान इन्होंने तुरन्त कहा—

अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः।"

परन्तु यह किंवदन्ती कथमपि सत्य नहीं प्रतीत होती क्योंकि यह श्लोक अप्पय्य दीक्षित का नहीं बल्कि स्वयं पण्डितराज का है। रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा प्रस्तुत की है कि—

"निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यम्मयाऽत्र निहितन्न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥" और

उक्त श्लोक रसगङ्गाधर में आक्षेपालङ्कार के उदाहरण रूप में उद्धृत है। वहाँ दूसरी पंक्ति का पाठ 'अथवा सुखं शयीथा जननी जागर्ति जाह्नवी निकटे' मिलता है। साथ ही भामिनीविलास में चतुर्थ विलास के इकतीसवें श्लोक के रूप में भी यह पद्य संग्रहीत है वहाँ पाठ—'शेषे वयसि समागतो मृत्युः' तथा 'जाह्नवी जननी' मिलता है। भामिनीविलास के अन्त में वे कहते हैं—

"दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानाम्मञ्जुषैषा मया कृता ॥

जो व्यक्ति दूसरों के पद्यों को चुरानेवालों को दुर्वृत्त और जारजन्मा कहें वही दूसरे के पद्य को अपने पद्य के रूप में संग्रहीत अथवा उद्धृत करे यह सर्वथा असम्भव है।

२. अकबर और पण्डितराज—'एक किंवदन्ती यह प्रसिद्ध है कि एक समय अकबर और पण्डितराज साथ ही विलासभवन में बैठे शतरञ्ज खेल रहे थे कि अकबर की किसी राजपूत स्त्री से उत्पन्न लवंगी नाम की कन्या ने सिर पर घड़ा रखे प्रवेश किया। नशे में चूर बादशाह ने उसका वर्णन करने के लिए पण्डितराज से कहा तो पण्डितराज ने इस प्रकार वर्णन किया—

"इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा कुसुम्भारुणं चारुचैलं वसाना।
समस्तस्य लोकस्य चेतःप्रवृत्तिं गृहीत्वा घटे न्यस्य यातीव भाति ॥"

इस वर्णन को सुनकर अकबर बादशाह अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पण्डितराज से इच्छानुकूल याचना करने को कहा तो पंण्डितराज ने कहा—

"न याचे गजालिं न वा वाजिराजिं न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदाचित्।
इयं॰ सुस्तनी मस्तकन्यस्तकुम्भा लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गीकरोतु ॥
यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीये यदि लभ्यते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माधवनी विलासहेतु ॥"

क्या करे अकबर बादशाह ने वचन बद्ध होने के कारण अपनी उस कन्या को पण्डितराज को समर्पित कर दिया।

परन्तु यह किंवदन्ती तो सर्वथा असत्य ही प्रतीत होती है क्योंकि जैसा इनके काल का निर्णय करते समय हमने दिखाया है हम पण्डितराज को अधिक से अधिक जहाँगीर के काल तक ले जा सकते हैं पर अकबर के काल में तो इन्हें घसीटना सर्वथा तर्कहीन और निःसार होगा।

३. इसी दूसरी किंवदन्ती को कुछ लोग थोड़े हेर फेरसे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि लवङ्गी किसी बादशाहके यहाँ रहनेवाली परम सुन्दरी दासी थी। उस पर पण्डितराज मुग्ध हो गये और बादशाह से उसके लिए प्रार्थना की तो बादशाह ने धर्म परिवर्तन करने पर उन्हें उस यवनी को समर्पित कर दिया।

इस किंवदन्ती में बादशाह कौन थे। यह निश्चित् नहीं। रही बात इस लवङ्गी नाम की यवन कन्या से पण्डितराज के सम्पर्क की तो उसके विषय में कुछ निश्चित् नहीं कहा जा सकता। काशी के पण्डितों का जो द्वेष इनके साथ बताया जाता है उससे यह निष्कर्ष निकालना कि यवनी से संसर्ग होने के कारण ही द्वेष था उचित नहीं। क्योंकि द्वेष तो यवन सम्राट् के आश्रय में रहने मात्र से भी हो सकता है। फिर किंवदन्ती में कुछ न कुछ तथ्य तो रहता ही है ऐसा स्वीकार करने पर यह स्वीकार भी किया जा सकता है कि विलासिता के आगार शाही दरबार में रहने के कारण यदि युवक पण्डितराज का मन चञ्चल हो उठा हो तो किसी यवनी से सम्पर्क भी स्थापित कर लिया हो। आखिर थे तो मानव ही। मानव के अन्दर ऐसी दुर्बलतायें तो हुआ ही करती हैं। अस्तु।

४. राजाजयसिंह और पण्डितराज—कहा जाता है कि जयपुर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के यहाँ मुल्ला लोग यह कहा करते थे कि वे लोग असली क्षत्रिय नहीं है क्योंकि परशुराम द्वारा इक्कीस बार क्षत्रियों का विनाश कर देने पर पृथ्वी निःक्षत्रिय हो गई थी। तथा दूसरी बात यह कहते थे कि 'अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है'। इन दोनों बातों से राजा साहब को बड़ा कष्ट रहता था। एक बार जब वे काशी यात्रा पर आये तो पण्डितराज की विद्वत्ता को सुनकर दोनों बाते उनके सामने रखीं और उत्तर पूछा। पंडितराज ने वादा किया कि ठीक है हम मुल्लाओं को इन दोनों बातों का समीचीन उत्तर दे उनका मुँह बन्द कर देंगे। पहली बात का उत्तर देने की सामर्थ्य तो उन्होंने तुरन्त प्रकट की किन्तु दूसरी बात का उत्तर देने के पूर्व उन्होंने कुछ दिन अरबी का अध्ययन करने के लिए समय मांगा। राजा ने आज्ञा प्रदान कर दी। थोड़े ही दिनोंमें पण्डितराज अरबी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर दोनों बातों का उत्तर देने के लिए राजदरबार में उपस्थित हुए। पहली बात का उत्तर उन्होंने दिया कि यदि पृथ्वी के निःक्षत्रिय होने का मतलब क्षत्रियों से सर्वथा हीन. लगाया जाय तो पृथ्वी पहली बार ही निःक्षत्रिय कर देने पर २० बार फिर निःक्षत्रिय कैसे की गई? क्यों कि जब पहली बार में ही एक भी क्षत्रिय नहीं बचा तो फिर से बीस बार किस का संहार किया गया। और यदि यह कहते हो कि कुछ क्षत्रिय बच रहते थे तो जैसे बीस बच गये वैसे इक्कीसवीं बार के बाद भी बचे रहे। तथा दूसरी बात का उत्तर दिया कि 'अरे मुल्लाओं! तुम्हारा जो धर्म ग्रन्थ 'हदीश' है उसमें एक स्थान पर लिखा हुआ है कि—'ऐ मुसलमानों! जैसा हिन्दू लोग मानते हैं, उसका उल्टा तुम्हें मानना चाहिए' इससे साबित होता है कि हिन्दू धर्म तुम्हारे धर्म से प्राचीन था और धर्म बिना भाषा के उपनिबद्ध नहीं किया जा सकता, अतः निश्चित है कि संस्कृत भाषा अरबी से प्राचीन है क्यों कि हिन्दुओं की धार्मिक भाषा संस्कृत के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती।' पण्डितराज के इन उत्तरों को सुनकर मुल्लाजी लोग आवाक् रह गये। बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और शाही दरबार में इनका खूब सम्मान होने लगा। सम्भव है कि इस किंवदन्ती में कुछ सत्यता हो।

५. पण्डितराज का यवनी के साथ गङ्गा जी द्वारा स्नान कराया जाना—कुछ लोगों का कहना है कि दिल्ली नरेश के यहाँ पण्डितराज को एक काजी ने सम्मान दिलवाया था। कहा जाता है कि वह काजी धर्म सम्बन्धी शास्त्रार्थ में तमाम पण्डितों को परास्त करता हुआ पण्डितराज से विवाद करने पहुँचा। पण्डितराज उस समय तैलंग देश से आकर जयपुर में स्वयं स्थापित की गई पाठशाला में अध्यापन कर रहे थे। इन्होंने उस काजी का अत्यल्प

समय में अरबी पढ़कर मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थों का अध्ययन कर शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया । उसने दिल्ली जाकर बादशाह से इनकी विद्वत्ता और बुद्धिमता की खूब प्रशंसा की । बादशाह ने इन्हें अपने दरबार में बुलाकर खूब सम्मान दिया । अपने आश्रय में इन्होंने जवानी के मद में चूर हो बादशाह की अनुकम्पा से अपना धर्म परिवर्तन कर किसी परम सुन्दरी यवन कन्या से विवाह कर सुखमय युवावस्था बिताई । वृद्धावस्था में जब ये काशी पहुँचे तो अप्पय्यदीक्षित आदि विद्वानों ने इन्हें म्लेच्छ और यवनी-संसर्ग से दूषित कह कर तिरस्कृत किया। साथ ही जाति से बहिष्कृत कर दिया। तब ये गङ्गातट पर पहुँचे और तत्काल स्वरचित गङ्गालहरी के पद्य पढ़ने लगे । माँ जाह्नवी एक-एक पद्य पर एक-एक सीढ़ी बढ़ती गई और जब बावनवाँ पद्य पूरा हुआ तो इनके पास पहुँच यवनी सहित इन्हें अपने पावन जल से स्नान करा दिया । सारा पण्डित समाज यह देख दंग रह गया ।

६. पण्डितराज का बढ़ती गगां में कूदकर डूब मारना—कुछ लोगों का कहना है कि शाहजहाँ द्वारा सम्मानित होने पर उसने पर्याप्त सम्पत्ति प्राप्त करने पर उसके नशे में चूर हो युवावस्था में इनका विवेक जाता रहा । ये एक यवन कन्या पर आसक्त हो गए । उससे विवाह भी कर लिया । पर थोड़े समय बाद वह यवन कन्या इन्हें संसार में अकेला छोड़ चल बसी । उसकी व्यथा से पीड़ित हो पण्डितराज ने दिल्ली छोड़ दिया और काशी चले आए। वहाँ आने पर पण्डितों ने इनका तिरस्कार किया इन्हें यवनी संसर्ग से दूषित कह कर जातिच्युति कर दिया । एक तो प्रियाविरह से पीड़ित थे ही दूसरे पण्डित समाज में अपमानित हुए अतः परेशान हो कर वर्षाकाल में जब गंगा जी खूब जोरों से बढ़ रही थी अपनी बनायी हुई गंगालहरी का पाठ करते हुए गंगा में कूद पड़े और डूब मरे ।

इन दोनों किंवदन्तियों से इतना निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि पण्डितराज को उस समय पण्डित समाज ने अपमानित किया । क्यों कि उसकी कुछ झलक भामिनीविलास के चतुर्थ विलास के आखिरी पद्यों से भी मिलती है जैसे—

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमग्नमनसां सहसा खलानाम् ।
काव्यारविन्दमधुव्रताना—
मास्येषु धास्यतितमां कतिनो विलासान् ॥ (४।४०)

और यही बात चतुर्थ विलास के ३८ वें, ३९ वें, ४२ वें पद्यों से भी जाहिर होती है । पर काशी में आकर गङ्गा में डूब मरने की बात कुछ जमती

नहीं क्यों कि भामिनी विलास के ४५ वें पद्य में वे स्वयं कहते हैं कि—'सम्प्रत्युज्झितवासनम्मधुपुरी मध्ये हरिःसेव्यते' अर्थात् अन्तिम अवस्था उन्होंने मथुरा में बिताई थी न कि काशी में। काव्यमाला से रसगङ्गाधर के सम्पादक श्री मथुरा नाथ जी शास्त्री ने भूमिका में इस पाठ के स्थान पर 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते' पाठ भी कुछ पुस्तकों में उद्धृत स्वीकार किया है। और उसके विषय में डा० आर्येन्द्र शर्मा ने भी लिखा है 'Tadition supports the latter' (p K. S., Introduction P. IX) साथ ही शर्मा का निष्कर्ष भी यही है कि पण्डितराज अन्तिम अवस्था में काशी में रहे—

"That Panditaraja spent his last bays at Banaras rather than Mathura, is not only supported by tradition but would also seem probable, because it is hardly likely that he would return to the vicinity of Agra where political conditions were still unsettled. There is enough evidence to show that his fathers had his education and lived at Banaras. Panditaraja also must have spent his boyhood days there, and it would be only natural for him to return to Banaras. which was more or less hiss home, rather than to Mathura. We may also assume that he wrote the Manoramakucamardana and the Sabdakaustubhaśāṇottejana during this period. Banaras, rather than Mathura ar Agra, would prvide the necessary incentive and atmosphere for works on Grammar".

[Introduction & P. K. S. (P. X)]

परन्तु हमारा यह विचार है कि पण्डितराज ने अपने अन्तिम दिन मथुरा में ही विताए थे। जैसी किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं कि काशी में पण्डितों ने पण्डितराज का यवनी संसर्ग से दूषित होने के कारण अथवा यवन सम्राट् के यहाँ रहने से ही सही, तिरस्कार किया यह सर्वथा असत्य ही हो ऐसा मानना समीचीन नहीं। पण्डितराज राजदरवार छोड़कर पहले काशी अवश्य गये होंगे पर पण्डित समाज द्वारा तिरस्कृत हो वहीं डटे हों यह सम्भव नहीं लगता। वहाँ से वे मथुरा ही चले आये होंगे और यहीं अन्तिम दिन व्यतीत किए होंगे। जैसा कि यमुनालहरी के इस श्लोक से साफ जाहिर है—

दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्-
भृङ्गालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः।

त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्व्वंतो
वृत्तिं हन्त मुनेः प्रयान्तु यमुने वीतज्वराः वासराः ।"
(पं० का० सं० में संग्रहीत अमृत लहरी–३)

उन्होंने राजदरबार छोड़ने के बाद यमुना तट पर दिन व्यतीत किए। और फिर जैसा कि उनके भामिनीविलास से चतुर्थ विलास के अनेक श्लोकों से (३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १७, २०,) जाहिर होता है कि वे कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण का यमुमा, वृन्दावन और मथुरा से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। एक कृष्ण भक्त कृष्ण की लीलास्थली में रहना पसंद करेगा या काशी में यह सोचने की बात है! फिर ऐसी अवस्था में कब उसे काशी में पण्डितराज की कटु निन्दायें एवं घोर तिरस्कार प्राप्त हो रहीं हों। रही शर्मा जी की यह बात कि पण्डितराज मथुरा में इसलिए न रहना पसन्द किए होंगे क्योंकि उस समय आगरा की राजनैतिक दशा स्थिर नहीं थी, कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। किसी कवि को राजनीति से क्या लेना देना ? फिर जिसने राजाओं के द्वार के लिये हाथ जोड लिया हो उसे राजनीति का कैसा पचड़ा ? रही दूसरी बात कि 'बनारस में उनके पिता ने उन्हें शिक्षा दी थी। वहीं उनका बचपन बीता था अतः वह उनका घर सा था। इस लिए वहाँ जाना अधिक पसन्द किया होगा।' कोई विशेष अर्थ नहीं रखती है। क्यों कि घर की जरूरत बच्चे को होती है। अथवा जो गृहस्थ धर्म निभा रहा है वह घर की चिन्ता करे। लेकिन उसने सब कुछ त्याग भगवान् का सहारा ले रखा है, उन्हें प्राप्त कर चुका है, या प्राप्त करने की कोशिश में है वह भगवान् के घर में, उनकी जन्मभूमि मथुरा में रहना चाहेगा अथवा अपने घर में, जहाँ उसे फिर माया में फँसने का भय है ? अब रही तीसरी बात कि व्याकरण के ग्रन्थ 'मनोरमाकुचमर्दन' और 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' के लिखने में अधिक उपयुक्त प्रेरणा और वातावरण की बात। वह सुविधा जैसी उन्हें बनारस में मिल सकती थी उससे कम मथुरा में नहीं। क्योंकि आजकल के रिसर्च स्कालर्स की तरह उन्हें पुस्तकालयों कीं आवश्यकता नहीं थी। स्वतन्त्र प्रज्ञा से जिनके ऊपर कुपित हुए, जिनसे अपमानित हुए उनके ग्रन्थों का खण्डन कर दिया। काशी में आकर अपमानित हुए होंगे तभी तो वहाँ से भागकर मथुरा में इनके ग्रन्थों की छीछालेदर किए होंगे।

७. इसके अतिरिक्त एक किंवदन्ती यह भी प्रसिद्ध है कि किसी अन्य नरेश ने इन्हें अपने आश्रय में बुला भेजा तो वहाँ जाने से इन्होंने साफ इनकार किया और कहला भेजा कि

"दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथं पूरयितुं समर्थः ।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ॥"

पर ऐसा किस राजा के आह्वान पर इन्होंने कहा था इसका कोई जिक्र नहीं । लगता तो यह है कि दिल्लीश्वर की चाटुकारिता में इन्होंने यह रचना प्रस्तुत की है ।

८. कुछ लोगों का कहना है कि पण्डितराज को बड़ी कठिन तपस्या के बाद किसी देवी ने उन्हें यह पाण्डित्य का वरदान दिया था—

'आकुरुदेशं विचरेर्मा कुरु परवादिनिर्ज्जये शङ्काम् ।
स्वीकुरु वरमेकं मे व्याकुरु भो वत्स शास्त्राणि ॥'

यह किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है कुछ भी नहीं कहा जा सकता । वैसे पण्डितराज ने जहाँ अपने गुरु आदि से विद्या प्राप्त करने की बात॰ कही है, यदि उन्हें किसी देवी का प्रसाद प्राप्त होता तो अवश्य करते पर कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है, अतः हमें तो इसकी सत्यता में सन्देह है ।

९. पण्डितराज और हरदीक्षित—कुछ लोगों का कहना है कि नागेशभट्ट के गुरु हरदीक्षित एक बार दिल्लीनरेश की सभा में ससम्मान स्थान प्राप्त करने के लिए गए । सभा में जाने से पूर्व उन्होंने उस सभा के प्रतिष्ठाप्राप्त पण्डित पण्डितराज जगन्नाथ से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की । कहते हैं कि पण्डितराज ने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली । परन्तु हरदीक्षित के पाण्डित्य से भलीभाँति परिचित होने के कारण रात में उन्होंने अपने को एकरक्षायन्त्र (तावीज आदि से सुसज्जित किया और दूसरे दिन सभा में पहुँचते ही अपने प्रतिद्वन्द्वी अभ्यागत को गले लगाया । बताते हैं कि गला लगा देने के बाद हरदीक्षित की सारी बुद्धि जाती रही । शास्त्रार्थ के प्रारम्भ में ही वे बड़ी-बड़ी भूलें करने लगे । आखिरकार उन्हें हार मानकर दरबार से लज्जित हो भागना पड़ा । घर पहुँचने पर जब स्वयं उन्होंने अपने किये गये तर्कों पर विचार किया तो उन्हें बड़ी ग्लानि हुई । वे आत्महत्या की बात सोचने लगे । कहते हैं कि रात में किसी देवी ने वरदान दिया कि कल तुम उनसे शास्त्रार्थ करने पुनः जाओ, तुम्हारी विजय होगी । दूसरे दिन देवी के वरदान से हरदीक्षित ने पण्डितराज पर विजय प्राप्त कर ली ।

इस किंवदन्ती की भी सत्यता के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता ।

पण्डितराज का स्वभाव

वैसे तो संस्कृत पण्डितों में स्वाभिमान, अहंकार, आत्मश्लाघा और निन्दा की प्रवृत्ति प्रायशः पाई ही जाती है, इस लिए यदि पण्डितराज अहंकारी,

आत्मप्रशंसक और परनिन्दक रहे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हाँ, इनमें औद्धत्य अधिक था। अप्पय्य दीक्षित से नाराज हुए तो उनका घोर प्रतिवाद किया। रसगंगाधर में शायद ही कोई अलङ्कार विवेचन अप्पय्यदीक्षित के विवेचन के खण्डन से वंचित रह सका है। प्रत्येक अलङ्कार के विवेचन से दीक्षित जी के लक्षण का खण्डन, उदाहरण का खण्डन अथवा दोनों का खण्डन प्रायशः किया है। उससे नहीं सन्तुष्ट हुए तो अलग से चित्रमीमांसा खण्डन ही लिख डाला। उस पर तुर्रा यह गाँठ दिया कि—

'सूक्ष्मं विभाव्यमयका समुदीरिताना-
मप्पय्यदीक्षितुकृताविह दूषणानाम्।
निर्म्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्
तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥"

पता नहीं इन्हें दीक्षित परिवार ने ही सता रखा था, या क्या बात थी कि उसके पीछे ये हाथ धोकर पड़ गए थे। भट्टोजि दिक्षित ने यदि इन्हें 'म्लेच्छ' कहा यो इनसे अगर कुछ नहीं बन पड़ा तो उनकी मनोरमा का ही कुचमर्दन कर अपनी म्लेच्छता का ही सिक्का जमा दिया। इन सब बातों से इनके अन्दर की जबर्दस्त प्रतिशोधभावना का पता चलता है। गर्व तो इनके अन्दर कूट-कूट कर भरा था। रसगङ्गाधर में पहले ही कह उठते हैं—

किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।"

देखा कि पण्डित समाज तो इन्हें म्लेच्छ ही कह रहा है, इनको समादर नहीं दे रहा है, तो झट से उन्हें मत्सरी और दुष्ट कह डाला—

"मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्य्यमग्नमनसां सहसा खलानाम्।" (भा० वि० ४।४०)

कोई कविता की तारीफ करनेवाला नहीं मिला तो स्वयं ही तारीफ के पुल बाँध दिये—

'माधुर्य्यैरपि धुर्य्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम्।
वन्द्यैव माधुरीयम्पंडितराजस्य कवितायाः' (भा० वि० ४।४४)

इतना ही नहीं जिसने इसकी कविता को सुनकर सिर न हिला दिया वह मनुष्यता से ही च्युत हो गया और निरा नरपशु ठहरा—

"गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगम्पंडितपते-
रघुन्वन्मूर्द्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः।" (भा० वि० ४।१९)

फिर भी महाकवि जी सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि नरपशु होने पर भी तो उसके अन्दर प्राण बचे ही रहते हैं। अतः उसे एकदम मृत बनाकर दम ली—

"मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
कदाचित्केषाञ्चिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम्।
ध्रुवन्ते जीवन्तोऽप्यहह ! मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथमणितिः॥"

(भा० वि० ४।४२)

अतः भामिनीविलास के सहृदय पाठकों से मेरा निवेदन है कि सिर जरूर हिला देंगे। इन पद्यों के अतिरिक्त इनके गर्व को अभिव्यक्त करनेवाले अन्य श्लोकों के रूप में भामिनीविलास चतुर्थविलास के ३८ वें, ४१ वें, ४३ वें और ४५ वें पद्य को देखें। विलासिता के लिए तो बेचारे को खूब बदनामी मिल ही चुकी है उसके विषय में कहा ही क्या जाय? रहा दूसरा भक्तिपक्ष उसमें भी किसी से पीछे नहीं गङ्गालहरी, अमृतलहरी, करुणालहरी, सुधालहरी, लक्ष्मीलहरी और भामिनीविलास का चतुर्थविकास 'शान्तविलास' इस बात के परम प्रमाण हैं।

जो पण्डितराज अपने समय के पण्डितों के लिए इतने उद्धत स्वभाववाले थे वही देवों के प्रति अत्यन्त विनयशाली, नम्र और श्रद्धालु थे। पतितपावनी, करुणामयी जननी जाह्नवी के समक्ष भक्त के उद्‌गार दर्शनीय हैं—

'श्ववृत्तिव्यासङ्गो नियतमथ मिथ्याप्रलपनं
कुतर्केष्वभ्यासः सततपरपैशुन्यमननम्।
अपि श्रावंश्रावं मम तु पुनरेवंविधगुणान्
ऋते त्वत्को नाम क्षणमपि निरीक्षेत वदनम्॥"

ग० ल० ३१॥

परन्तु जहाँ इतना दैन्य का भाव है वहाँ भी धमकी देने से चूके नहीं आखिर स्वभाव कहीं बदल जाता है। कह ही दिया कि—

"सदैव त्वय्येवार्पितकुशलचिन्ताभरमियं
यदि त्वं मामम्ब त्यजसि समयेऽस्मिन् सुविषमे।
तदा विश्वासोऽयं त्रिभुवनतलादस्तमयते
निराधारा चेयं भवति खलु निर्व्याजकरुणा॥" वही ३९॥

अब भला गङ्गाजी इनका परित्याग कैसे कर सकती है, तीनों लोकों का उसमें निहित विश्वास जो खत्म हो जायगा कैसी धमकी दी है? शरणागत की रक्षा करनेवाले, भक्तभयहारी भगवान् की शरण में अपने को पहुँचाकर कहते हैं—जैसी इच्छा हो वैसा कीजिए—

"भवानलज्वालविलुप्तचेतनः शरण्य तेऽङ्घ्रिशरणं भयादयाम् ।
विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे विधेहि मे नाथ यथा यथेच्छसि ॥"
(करुणालहरी–२)

अब चलिए कहाँ बच के जाइयेगा, अब तो रक्षा करनी ही पड़ेगी । भगवान् को कैसी उलाहना दे रहे हैं—अरे पहले प्यार किए होते तो मारते भी—

"अयि ! शैशवलालितः शिशुः प्रतिबुद्धो जनकेन ताड्यते ।
न कदाऽपि च लालितस्त्वया किमु ताड्यो भगवान् कुकर्म्मभिः ।"
(वही ३२)

फिर देखिये तो अपना जन्म कहाँ चाहते हैं—

"प्रणिपत्य विधे भवन्तमद्धा विनिवद्धाञ्जलिरेकमेव याचे ।
जनुरस्तु कुले कृषीवलानामपि गोविन्दपदारविन्दभाजाम् ॥"
(वही–५५)

कितना प्रेम है गोविन्द के चरण कमलों से, कितनी अगाध श्रद्धा है । किसी राजा के यहाँ नहीं पैदा होना चाहते, एक खेत जोतने वाले किसान के यहाँ पैदा होने की प्रार्थना करते हैं । और तो और हरिचरणों के सेवाकार्य के आगे उसमें बाधक बननेवाली सम्पत्ति को ठुकरा देने में जरा भी सङ्कोच अथवा खेद नहीं—

"श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझङ्कारसुभगाः ।
निमग्नानां यासु द्रविणमनिराघूर्णितदृशां
सपर्य्यासौकर्य्यं हरिचरणयोरस्तमयते ॥" (भा०वि०४।३०)

कितनी उतावली है । क्षण भर के लिए भी सम्पत्ति नहीं चाहते ।

पण्डितराज का पाण्डित्य

पण्डित राज की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी । क्या साहित्य, क्या व्याकरण; क्या दर्शन सभी शास्त्रों में उनकी अच्छी पैठ थी । साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ 'रसगंगाधर' जो कि अपूर्ण ही प्राप्त होता है—जितना ही प्राप्त होता है उसमें उनकी साहित्यिक प्रतिभा का चरम प्रसार दिखाई पड़ता है । अलंकारादिक का जैसा गम्भीर विवेचन पण्डितराज ने प्रस्तुत किया है वैसा किसी आचार्य ने नहीं, यह कहना अत्युक्ति न होगी । इसके लिए रस गङ्गाधर स्वयं प्रमाण हैं । समासोक्ति अलङ्कार के प्रसङ्ग में शास्त्रीय व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार के आरोप का उदाहरण प्रस्तुत करते समय अधोलिखित श्लोक में उन्होंने क्या ही वेदान्त और व्याकरण विषयक ज्ञान को प्रस्तुत किया है—

'गुणवृद्धी परे यस्मिन्नैव स्तः प्रत्ययात्मके ।
बुधेषु सदिति ख्यातं तद् ब्रह्म समुपास्महे ।।
(रसगंगाधर—समासोक्ति-प्रकरण)

खैर, व्याकरण विषयक प्रकाण्ड ज्ञान का परिचय 'मनोरमाकुचमर्दन' और 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेन' से तो प्राप्त होता ही है उसके अतिरिक्त रसगंगाधर में ही जगह-जगह अलङ्कारों में शाब्द बोध का विवेचन करते हुए व्याकरण और न्यायविषयक पाण्डित्य प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि रसगंगाधर साधारण बुद्धि के पाले नहीं पड़ता। इसके साहित्य विषयक पाण्डित्य का विवेचन हम आगे भामिनी-विलास की साहित्यिक समालोचना में प्रस्तुत करेंगे। ये केवल पद्य रचना के ही माहिर नहीं थे, गद्य रचना पर भी अच्छा अधिकार था। इस सब बात का प्रत्यक्ष उदाहरण 'आसफ-विलास' है उसके एक-एक वाक्य कादम्बरी के वाक्य से कम नहीं। निदर्शनार्थ सबसे छोटा और प्रारम्भ का ही वाक्य उद्धृत कर रहा हूँ—

'अस्ति समस्तप्रशस्तभूपालमस्तकमणिमयूखमालालालितचरणनखरशरदिन्दुचन्द्रिकाचयचमत्कारचुलुकितचराचरान्तरतिमिरधीरणिसंस्पुलकसुरासुरसुन्दरीसमुद्गीयमानस्फारपारदपरम्परासहोदरयशःसुधापटलसङ्गवामाङ्कित - वामाङ्गीकवामदेवकलेवरप्रतिभटीकृतलोकावनिधरो महस्तरुणतरणिकिरणसरणिसमुल्लासितजगदण्डमण्डलपुण्डरीकस्साहिजहानाभिधश्चक्रवर्ती ।

द्वैत वेदान्त का कितना सुन्दर प्रतिपादन इस श्लोक में है—
मलयानिलकालकूटयोः रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः ।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम भूयात्परमात्मनिश्चितिः ।।"

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का कितना सुन्दर प्रतिपादन है। पुराणेतिहास विषयक ज्ञान तो भामिनी विलास के ही अनेकों श्लोकों में प्राप्त होता है-

तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा ।
ममायम्मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ।। (भा०वि० २।१२१)

तिलोत्तमा की कथा पौराणिक है। इस प्रकार—

"गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि ।
भवमधिगर्त्ते करुणामूर्त्ते ! न च सर्व्वथोपेक्ष्यः ।।" (४।१२)

भी पौराणिक ज्ञान का परिचायक है।

पण्डितराज अद्वैत वेदान्त के अनुयायी एवं वैष्णव अथवा भागवत धर्म के पुजारी थे। भगवान् कृष्ण में इनकी अटूट श्रद्धा थी। भामिनी-विलास का चतुर्थ विलास इस बात का प्रमाण है। इनकी देवों के प्रति पर्याप्त श्रद्धा थी। यह इनके फुटकल पद्यों के अतिरिक्त पाँचों लहरियों से सिद्ध है। गंगा, यमुना

सूर्य, लक्ष्मी, विष्णु, शङ्कर सब के प्रति अगाध श्रद्धा थी। कृष्ण की ओर विशेष आकर्षण था। कहते है—

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परान्तर तथाऽप्याशा न शान्तास्तव।
आधिव्याधिपराहतो यदि सदा क्षेमं निजं वांछसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे! शून्यैः किमन्यैः श्रमैः ?

पण्डितराज की कृतियाँ

(क) पण्डितराज जगन्नाथ की साहित्यशास्त्रीय कृतियाँ

१. रसगंगाधर—इसमें पण्डितराज ने काव्य के स्वरूप, कारण, भेद-प्रभेद रसभावादि विवेचन, गुण विवेचन, ध्वनियों के भेद, प्रभेद, अभिधा-लक्षणा का विवेचन, और उपमा आदि अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के केवल दो आनन उपलब्ध हैं उनमें भी दूसरा आनन अपूर्ण है। केवल उत्तर अलङ्कार का अधूरा विवेचन कर ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। इसमें पण्डितराज ने काव्य, रस, भाव, गुण अलंकार आदि सभी के उदाहरण स्व-निर्मित दिए हैं। रसगंगाधर के प्रारम्भ के छठवे श्लोक में ही उन्होंने इस बात को प्रतिपादित किया है—

"निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥"

और सातवाँ श्लोक है—

"मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्॥"

रसगङ्गाधर सूत्रवृत्ति शैली में लिखा हुआ ग्रन्थ है। विवेचन बड़ा ही गंभीर सूक्ष्म एवं पाण्डित्यपूर्ण है। भाषा बहुत ही क्लिष्ट है। डा० सुशील कुमार डे ने लिखा है—

"Jagannatha s style is erudit and frightens the students by its involved language its subtle reasonig and its unspairing Crticism of earlier writer's"

(History of Sanskit Poetics)

अन्य शास्त्रकारों की आलोचना के विषय में भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० पाण्डुरङ्ग वामन काणे का कथन है—

"His criticism displays great sanity of judgment, maintains a high level of brilliant polemics and acuteness and is generally couched in courteous language (except when dealing with the views of Appaya) the justice of his criticism has to be acknowledged in most cases.".

(History of Sanskrit Poetics PP. 321-22)

२.चित्रमीमांसाखण्डन—चित्रमीमांसा कुवलयानन्द से भिन्न अप्पय्य दीक्षित की अलङ्कार विषयक रचना है। इसमें अप्पय्य दीक्षित ने उपमा आदि अर्थालङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया है। पण्डितराज ने उनके लक्षणों तथा उदाहरणों का खण्डन अपने ग्रन्थ चित्रमीमांसा 'खण्डन' में किया है। 'चित्रमीमांसा' के जिन दोषों का उद्‌घाटन उन्होंने रसगंगाधर' में किया या उन्हीं का संक्षिप्त विवेचन उसमें प्रस्तुत किया है उन्होंने स्वयं कहा है—

"रसगंगाधरे चित्रमीमांसाया मयोदिताः।
ये दोपास्तेऽत्र सङ्क्षिप्य लिख्यन्ते विदुषां मुदे ॥"

तथा जिन दोषों का निर्देश उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है। उनके विषय में विद्वानों को ललकार कर कहा कि—

"सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरिताना-
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्
तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥"

इन दो शास्त्रीय कृतियों के अतिरिक्त पण्डितराजलिखित एक 'काव्यप्रकाशटीका' का भी उल्लेख डा० आर्येन्द्रशर्मा ने किया है। (देखे भूमिका-पंडितराजकाव्यसंग्रह पृ० ७)। डा० चौधरी ने इसके विषय में । Muslim Patronage to. Sanskritic Learning' (P. 94) पर लिखा है–'No Ms. of this work could be availed of. Stein notices one Ms in his Catalogue of Sens Mss. belonging to Raghunath Temple Library in Kashmira and jammu (60, 967. 1-2)"

(ख) काव्यकृतियाँ–पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में उल्लेख किया है कि उनके द्वारा विरचित पाँच लहरियाँ भाव के उदाहरण रूप में ली जा सकती है 'मन्निर्म्मिताः पञ्च लहर्य्यो भावस्य' वे पाँचों लहरियाँ इस प्रकार हैं—

१. गंगालहरी–इसका नाम 'पीयूषलहरी' भी है। इसमें गङ्गा जी

की ५२ पद्यों में स्तुति की गई है। ५३ वां पद्य फलश्रुति को प्रस्तुत करता है—

"इमाम्पीयूषलहरीं जगन्नाथेन निर्म्मिताम्।
यः पठेत् तस्य सर्व्वत्र जायन्ते सुखसम्पदः ॥"

इसके ४८ पद्य शिखरिणी छन्द में प्रस्तुत किए गए। गङ्गा जी की अत्यन्त सरस, सुबोध एवं मनोहारिणी स्तुति प्रस्तुत की गई है। निदर्शनार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा
विलोलद्वा नीरं जननि! तव तीर श्रितवताम्।
सुधातः स्वादीयः सलिलभरमातृप्ति पिवतां
जनानामानन्दः परिहसति निर्व्वाणपदवीम् ॥ ६ ॥

२. अमृतलहरी—इसमें यमुना जी की स्तुति शार्दूलविक्रीडित छन्दों में रचित दस पद्यों में प्रस्तुत की गई है। ११ वाँ अन्तिम पद परिचयात्मक है—

"अयम्पण्डितराजेन श्रीजगन्नाथशर्म्मणा।
स्तवः कलिन्दनन्दिन्या निर्म्मलो निरमीयत ॥"

निदर्शनार्थ एक पद्य प्रस्तुत किया जा रहा है—

"कालिन्दीति कदाऽपि कौतुकवशात् त्वन्नामवर्णानिमान्
व्यस्तानालपतां नृणां यदि करे खेलन्ति संसिद्धयः।
अन्तर्ध्वान्तकुलान्तकारिणि तव क्षिप्तामृते वारिणि
स्नातानां पुनरन्वहं स महिमा केनाधुना वर्ण्यते ॥"

३. करुणालहरी—इसके अन्तर्गत डा० आर्येन्द्र शर्मा ने पण्डित राज-काव्यसंग्रह में ५५ पद्य सग्रहीत किए हैं। जिसमें आदि के बारह पद्य वंशस्थ वृत्त में, तदनन्तर १३ वें से ५४ वें तक सुन्दरी वृत्त में और ५४ वाँ काल-भारिणी वृत्त में उपनिबद्ध हैं। इसमें विष्णु की स्तुति की गई है। निदर्शनार्थ दो पद्य उद्धृत कर रहा हूँ—

"रमामुखाम्भोजविकासनक्षमो जगत्त्रयोद्वोधविधानदीक्षितः।
कदा मदज्ञानविभावरी हरे हरिष्यति त्वन्नयनारुणोदयः ॥ ६ ॥
अयि गर्तमुखे गतः शिशुः पथि केनापि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन् भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो ॥ २६ ॥"

पण्डितराज काव्यसंग्रह की भूमिका में डा० शर्मा ने लिखा है कि मराठी जर्नल आर्य मित्र में प्रकाशित 'विष्णुलहरी' इस करुणालहरी से बिलकुल मिलती जुलती है सिर्फ उसमें करुणालहरी के ६ पद्य (संख्या ३७, ५४, ५६; ५७, ५८ और ५९ नहीं है) और बाद में एक फल श्रुति जुड़ी हुई है—

"The Vishnu lahari, as pudlished in the Marathi journal Aryamitra is identical with thc Karuṇālahari, except that the former omits six verses (Nos 37. 54. 56. 57, 58 and 56) found in the latter, and adds a 'phala-śruti' as follows—

"इमां वै विष्णुलहरीं जगन्नाथेन निर्म्मिताम् ।
यः पठेद् तस्य सर्व्वत्र जायन्ते सर्वसम्पदः ॥"

परन्तु जैसा कि हमने ऊपर निर्देश किया है डा० साहब ने केवल ५५ पद्य संग्रहीत किए है, पता नहीं कैसे यहाँ पर ५६।५७।५८ और ५९ लिख गए । बात कुछ समझ में आई नहीं और चूँकि हमें 'विष्णुलहरी' देखने का शुभ अवसर प्राप्त नहीं हुआ, अतः इस सन्देह को हम यहीं छोड़ते हैं ।

४. लक्ष्मीलहरी—इसमें लक्ष्मी जी की स्तुति ४१ पद्यों में की गई है । सभी पद्य शिखरिणी छन्द में उपनिवद्ध हैं । निदर्शनार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

समीपे सङ्गीतस्वरमधुरभङ्गीमृगदृशां
विदूरे दानान्धद्विरदकलभोद्दामनिनदः ।
वहिर्द्वारि तेषां भवतिहयहेषाकलकलो
दृगेषा ते येषामुपरि कमले ! देवि !! सदया ॥ ४ ॥

तथा अन्तिम पद्य है—

रमे ! पद्मे ! प्रणतजनकल्पद्रुमलते !
सुधाम्भोधेः पुत्रि ! त्रिदशनिकरोपास्तचरणे ॥
परे ! नित्यं मातर्गुणमयि ! परब्रह्ममहिले !
जगन्नाथस्याकर्णय मृदुलवर्णावलिमिमाम् ॥ ४१ ॥

५. सुधालहरी—इसमें पण्डितराज ने सूर्य देवता की स्तुति स्रग्धरा छन्द में उपनिवद्ध ३० पद्यों में प्रस्तुत की है । निदर्शनार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

"गीर्वाणग्रामणीभिर्गगनतलगतैर्गीर्भिरुत्तुङ्गाभि—
र्गन्धर्व्वैश्चापि गीता गुणगणगरिमोद्गारिगाथासहस्रैः ।
गाहङ्गाहं गृहालीरगतिकगदिनां गन्धयन्तो गदार्त्ति
ग्लानिग्रामं ग्रसन्तां गृहरुचिगुरवो गोपतेर्गोविलासाः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार प्रायः सभी पद्य आशीर्वादात्मक ही है । अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

"ऊर्ध्वं पापावलिभ्यः स्थित इति जगदे यस्य वेदैरुदाख्या
निन्युः कप्यासनाभं खलु सहचरतां नेत्रयोः पुण्डरीकम् ।
गेष्णावृक्साम यस्य द्रुतकनकनिभश्मश्रुकेशाखिलाङ्गः
सोऽयं सर्वान्तरात्मा तव दिशतुतरां वासरेशः शिवानि ॥" ३० ॥

इन पाँच लहरियों के अतिरिक्त पण्डितराज के अन्य काव्य ग्रन्थ भी हैं। वे हैं—

६. आसफविलास—यह एक आख्यायिका है। इसमें पण्डितराज ने शाहजहाँ के मामा नवाब आसफ खान का चरित्रचित्रण किया है। इसकी समाप्ति पर स्वयं पण्डितराज लिखते हैं—

"अथ सकललोकनिस्तारविस्तारितमहोपकारपरम्परापराधीनमानसेन प्रतिदिनमुद्यदनवद्यहृद्यगद्यपद्याद्यनेकविद्योतितान्तःकरणैः कविभिरुपास्यमानेन कृतयुगीकृतकलिकालेन कुमतितृणजालसमाच्छादितवेदवनमार्गं विलोकनाय समुद्दीपितसत्तर्कदहनज्वालाजालेन मूर्तिमतेवा नवावाखफखानमतः प्रसादेन-द्विजकुलसेवाहेवाकिवाङ्मनःकायेन माथुरकुलसमुन्द्रेन्दुना राणमुकुन्देनादिष्टेन श्रीसार्व्वभौमसाहिजहान प्रसादाधिगतपण्डितरायपदवीविराजितेन तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेनासफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत। सेयमनुग्रहेण सहृदयानामनुदिनमुल्लसिता भवतात्।"

यह आख्यायिका सम्पूर्ण नहीं प्राप्त होती है। डा० आर्येन्द्र शर्मा का कथन है—

"The Asafavilasa, however, is so lacunary and enbs so abruptly that it is not tikely to be complete. probably the major portion of the work is missing '—

[Introduction to P. K. S. (P. IV)]

जितना अंश उपलब्ध है उतने से पण्डितराज ने यह साबित कर दिया हैं कि जितने माहिर वे पद्यरचना में थे उससे कम गद्य रचना में नहीं। बाण भट्ट के लिये तो किसी ने यह कह भी दिया कि—

"यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः"

पर पण्डितराज के लिए ऐसा कहने का दुःसाहस शायद ही कोई कर सके कि—"यादृक्पद्यविधौ पण्डितराजस्तथा न गद्यबन्धे,' भारतरत्न महामहोपाध्याय डा० काणे ने अपने ग्रन्थ History of Sanskrit Poetics में (P. 324) पर लिखा है कि—

"He (Panditaraja) bewails over the death of Harsa (in the आसफविलास), Probably the favourite khan Khanan of Shah jahan who died in. 1641 A. D."

परन्तु जितना 'आसफविलास का भाग डा० शर्मा ने अपने 'पण्डितराज-काव्य-संग्रह' में प्रकाशित किया है, उससे यह बात यथार्थ नहीं सिद्ध होती।

७. प्राणाभरण—इसमें पण्डितराज ने कामरूप के नरेश प्राणनारायण की प्रशंसा प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ—

"माहात्म्यस्य परोऽवधिर्निजगृहं गम्भीरतायाः पिता
रत्नानामहमेक एव भुवने को वाऽपरो मादृशः।
इत्येवम्परिचिन्त्य मा स्म सहसा गर्वान्धकारं गमो
दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायणः॥" ५)।

और अन्तिम श्लोक है—

तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मीदयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूनुरनिशं विद्वल्ललाटन्तपः।
सन्तुष्टः कमताधिपस्य कवितामाकर्ण्य तद्वर्णनं
श्रीमत्पण्डितराजपण्डितजगन्नाथो व्यधासीदिदम्॥" ५३॥

८. जगदाभरण—जिस ढंग से डा० शर्मा ने इसे अपने प० का० सं० में सम्पादित किया है, उससे यह सर्वथा सन्तुष्ट है कि इसमें पण्डितराज ने उदयपुर के राजा जगत्सिंह (१६२८–१६५४) का वर्णन किया है। इसके और प्राणाभरण के प्रायः सभी पद्य एक से हैं। प्राणाभरण में जहाँ प्राणनारायण का नामादिक आया वहाँ जगदाभरण में जगत्सिंह का। ऐसा ही थोड़ा बहुत परिवर्तन है। उदाहरणार्थ अभी हमने प्राणाभरण का जो ५ वाँ पद्य 'माहात्म्यस्य—' आदि उद्धृत किया है उसकी चतुर्थ पंक्ति जगदाभरण में इस प्रकार पाई जाती है—

"दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीकर्णजन्मार्णवः"

जगदाभरण का अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

"तैलङ्गान्वयमङ्गलालयमहालक्ष्मी दयालालितः
श्रीमत्पेरमभट्टसूरितनयो विद्वल्ललाटन्तपः
श्रीराणाकलिकर्णनन्दनजगत्सिंहप्रभोर्वर्णनं
श्रीमत्पण्डितरायसत्कविजगन्नाथो व्यतानीदिदम्॥"

और अन्त (colophon) में लिखा हैं—

"इति महामहोपाध्यायपदवाक्यप्रमाणपारीणतैलङ्गकुलावतंसश्रीपेरमभट्टसूरेस्तनयेन विनिर्मितं जगदाभरणाख्यं जगत्सिंहवर्णनम्।"

परन्तु इसे कुछ विद्वान् शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा में प्रणीत मानते हैं। डा० काणे का कथन है—

(Panditarajao) praises Dara the son of Shah Jahan in his जगदाभरण (H. S. P. P. 324) इसका कारण केवल यही लगता है कि 'रसगङ्गाधर' में जो कुछ पद्य जगदाभरण अथवा 'प्राणाभरण' के उद्धृत है

उनमें कहीं कहीं पर प्राणनारायण आदि के नामों के स्थान पर दिल्ली-धरावल्लभः आदि पाठ मिलता है। उदाहरणार्थ जो श्लोक हमने अभी ऊपर उद्धृत किया है उसके पाठ इस प्रकार हैं--

(क) 'दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीप्राणनारायणः।' प्राणाभरण)
'दुग्धाब्धे भवता समो विजयते श्रीकर्णजन्मार्णवः।' (जगदाभरण)
'दुग्धाब्धे भवता समो विजयते दिल्लीधरावल्लभः' (रसगंगाधर)

(ख) इसी प्रकार प्राणाभरण के १५ वे श्लोक 'सृष्टः सृष्टिभुवा पुरा' आदि की चतुर्थ पंक्ति के पाठ इस प्रकार हैं--

जानीमो भवता न हन्त ! विदितः श्रीकामरूपेश्वरः।' (प्राणाभरण)
'जानीमो भवता न हन्त ! विदितो दिल्लीधरावल्लभः।' (जगदाभरण)
'जानीमो भवता न हन्त ! विदितो दिल्लीधरावल्लभः।' (रसगंगाधर)

(ग) इसी प्रकार प्राणाभरण के २३ वें श्लोक 'द्विनेत्र इव वासवः' इत्यादि की चतुर्थ पंक्ति के पाठ इस प्रकार है--

'नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कामरूपेश्वरः।' (प्राणाभरण)
'नुतो निखिलभूसुरैर्विजयते जगत्केशरी।' (जगदाभरण)
'नुतो निखिलभूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः' (रसगंगाधर)

परन्तु इन्हीं साधारण। पाठ भेदों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि 'जगदाभरण' दाराशिकोह की प्रशस्ति में लिखा गया था. युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। 'दिल्ली धरावल्लभः' का आशय दाराशिकोह ही से लगाना भी तर्कसंगत नहीं। हो सकता है कि पण्डितराज ने अपनी एक ही बनाई रचना से तीनो नरेशों को सन्तुष्ट किया हो परन्तु जैसा दोनों ग्रन्थों का नाम प्राप्त होता है--'प्राणाभरण' तथा 'जगदाभरण' वह इसी बात को पुष्ट करता है कि इसमें जगत्सिंह का ही वर्णन किया गया था। इस प्रकार प्राप्त संस्करणों के आधार पर 'दारा' का नाम किसी में नहीं आता। इसी लिए इसमें 'दारा' का वर्णन सन्देहास्पद लगता है। परन्तु डा० जतीन्द्र विमल चौधरी ने Muslim Patronge to Samskritic learning (Part I PP. 62–63) में लिखा है--

"From the introduction of Durga Prasada to the Rasagangadhara, it is known that he came across a MS. of the Jagadbharana which had the readings Dara or some epithets such as दिल्लीधरावल्लभः referring to him instead of प्राणनारायण, So it is certain that a of the poet's प्राणाभरण, in that form was found devoted to the praise of Daran Shikoh."

परन्तु अभी तक प्राणाभरण अथवा जगदाभरण का ऐसा कोई संस्करण

सामने नहीं आया जिसमें कहीं भी 'दारा' का नामतः उल्लेख किया गया हो । अतः श्री दुर्गाप्रसाद जी के इस कथन के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता ।

९. यमुना-वर्णन

यह ग्रन्थ पण्डितराज के रसगंगाधर के उल्लेखमात्र से हम लोगों को विदित होता है । पण्डितराज ने मध्यकाव्य के तथा समाधि गुण के उदाहरण रूप में 'यमुना-वर्णन' से यह गद्यांश दो बार उद्धृत किया है--

'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी''

तथा शब्दशक्तिमूलक विरोधालंकार ध्वनि के रूप में--

''रविकुलप्रीतिमावहन्ती नरविकुलप्रीतिमावहति अवारितप्रवाहा सुवारित प्रवाहा--''

गद्यांश को 'यमुना-वर्णन' से उद्धृत किया है । डा० आर्येन्द्र शर्मा ने 'पण्डितराजकाव्यसंग्रह' की भूमिका (पृ० ६) पर इसका नाम 'यमुनावर्णन-चम्पू' दिया है । रसगंगाधर में जिन दो स्थलों का हमने ऊपर उद्धरण दिया है दोनों स्थानों पर रसगंगाधर में नाम केवल 'यमुनावर्णन' ही मिलता है । 'यमुना-वर्णन-चम्पू' नहीं । डा० साहब ने किस आधार पर इसका नाम 'चम्पू' दिया है, स्पष्ट नहीं । उन्होंने 'आख्यायिका' नाम का एक अन्य ग्रन्थ पंडितराज विरचित माना है--

"IV. Apart from these poetical works, the Rasagangadhara and the Ditramimansakhandana, pandditaraja is known to have written the following works :---

1. Manorama kucamardana

2. Yamunavarnana campu (puoted in the Rasagangadhara)

3. Akhyayika (mentioned in the Rasagangadhara on p. 58, N. S. press edition.)

हालांकि हमें निर्णयसागर का रसगंगाधर देखने का सुअवसर नहीं प्राप्त हुआ । पर जहाँ तक हमारा अनुमान है आख्यायिका का प्रयोग वहाँ भी पण्डितराज ने 'यमुना-वर्णन' के लिए ही किया होगा । क्योंकि ऊपर उद्धृत 'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत० आदि वाक्य को उन्होंने जात्यवच्छिन्न स्वरूपोत्प्रेक्षा के उदाहरण रूप में उदाहृत करते हुए उसे 'आख्यायिका' से उद्धृत

कहा है। अतः स्पष्ट ही आख्यायिका उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं वल्कि 'यमुनावर्णन' ही आख्यायिका थी। जैसे 'आसफ विलास' आख्यायिका है वैसे ही यमुना वर्णन भी आख्यायिका गद्यकाव्य ही रहा होगा, चम्पू नहीं।

(ग) व्याकरणशास्त्रविषयक कृतियाँ

१. मनोरमाकुचमर्दनी (अथवा मदनम्)—इसे 'प्रौढमनोरमाकुच-मर्दनम्' भी कहा जाता है। पण्डितराज ने इसमें भट्टोजि दीक्षित-कृत सिद्धान्त-कौमुदी की 'प्रौढमनोरमा' नामक व्याख्या का खण्डन किया है। यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हो सका। अतः उसके विषय में कुछ भी कहना हम समीचीन नहीं समझते।

२. शब्दकौस्तुभशात्तेणोजन—इसका उल्लेख हमें डॉ० शर्मा द्वारा सम्पादित 'पण्डितराज काव्यसंग्रह' की भूमिका (पृष्ठ ९–१०) में मिलता है। यह भी व्याकरण पर लिखा गया ग्रन्थ है। सम्भवतः भट्टोजिदीक्षित का ही इसमें भी खण्डन है। इसका एक श्लोक जो 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' के कुम्भ-कोण वाले संस्करण की भूमिका से श्रीपुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी ने 'हिन्दी रसगङ्गाधर' की भूमिका पृष्ठ (प) पर उद्वृत किया है उससे यही ध्वनित होता है—

"अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेवलेपान्" इस ग्रन्थ का साक्षात्कार न कर सकने के कारण अविक निश्चित रूप से विवेचन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र, काव्य और व्याकरण शास्त्र सम्वन्धी समस्त कृतियों को मिलाकर पण्डितराज की १५ कृतियों का पता चलता है। १४ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, १५ वीं कृति भामिनीविलास का आगे उल्लेख करेंगे।

डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ने उक्त कृतियों के अतिरिक्त पण्डितराज के नाम से (१) रतिमन्मथनाटक, (२) वसुमती परिणय नाटक तथा (३) अल्लोप-निषद् का उल्लेख (पृष्ठ ७ पर) किया है। परन्तु जैसा कि रसगङ्गाधर के काव्यमाला सम्पादक ने प्रतिपादित किया है ये कृतियाँ पण्डितराज जगन्नाथ की नहीं वल्कि अन्य जगन्नाथ कवियों की हैं। विद्वानों के भ्रमनिवारणार्थ पण्डितराज से भिन्न जगन्नाथ नामा कवियों तथा उनकी कृतियों का उल्लेख यथा तथा रूप में कर दे रहा हूँ—

(१) तञ्जौरवासीजगन्नाथ—इनकी कृतियाँ है—(क) 'अश्वघाटी' (ख) 'रतिमन्मथ' और (ग) 'वस्तुमती परिणय'।

(२) जयपुरनिवासी सम्राट् जगन्नाथ—इनकी कृतियाँ हैं—(क) रेखागणित' (ख) 'सिद्धान्त सम्राट्' और (ग) 'सिद्धान्तकौस्तुभ" ।

(३) जगन्नाथतर्कपञ्चानन—इनकी कृति है—'विवादभङ्गार्णव' ।

(४) जगन्नाथमैथिल—इनकी कृति 'अतन्द्रचन्द्रिकनाटक' है ।

(५) श्रीनिवाससुतजगन्नाथ पण्डित—इनकी कृति 'अनङ्गविजय-भाण' है ।

(६) जगन्नाथमिश्र—इनकी कृति 'सभातरङ्ग' है ।

(७) जगन्नाथसरस्वती—इनकी कृति 'अद्वैतामृत'' है ।

(८) जगन्नाथसूरि—इनकी कृति 'समुदाय प्रकरण' है ।

(९) जगन्नाथ—इनकी कृति 'शरभगज विलास' है ।

(१०) नारायणदेवज्ञसुतजगन्नाथ—इनकी कृति 'ज्ञानविलास' है ।

(११) जगन्नाथ—इनकी कृति 'अनुभोगकल्पतरु' है ।

'भामिनीविलास एक कोषकाव्य'

संस्कृत-साहित्य में काव्य के दृश्य और श्रव्य भेद से दो विभाग किए गए है—"दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्" (साहित्यदर्पण)। उनमें दृश्य काव्य अभिनेय होता है, इसके अन्तर्गत नाटक, प्रकरण आदि दस रूपक तथा नाटिका, त्रोटक आदि अठारह उपरूपकों का संग्रह किया गया है। संक्षेप में उनके नाम इस प्रकार है—

> "नाटकमथ[१] [२]प्रकरणं [३]भाण [४]व्यायोग [५]समवकारडिमाः[६] ।
> ईहा[७] मृगाङ्क[८] [९]वीथ्यः [१०]प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ किञ्च—
> [१]नाटिका [२]त्रोटकं [३]गोष्ठी [४]सट्टकं [५]नाटचरासकम् ।
> [६]प्रस्थानोल्ला [७]प्यकाव्यानि[८] प्रेङ्खणं[९] [१०]रासकन्तथा ॥
> [११]संलापकं [१२]श्रीगदितं [१३]शिल्पकञ्च [१४]विलासिका ।
> [१५]दुर्म्मल्लिका [१६]प्रकरणी [१७]हल्लीशो [१८]भाणिकेति च ॥
> अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ॥" (साहित्यदर्पण)

श्रव्य काव्य केवल श्रोतव्य होते हैं। उनका अभिनय नहीं किया जा सकता। इसके प्रधानतः दो प्रकार होते हैं—१. गद्य और २. पद्य। छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं। पद्यों के पाँच प्रकार होते हैं—

१. मुक्तक—जो पद्य दूसरे पद्य से निरपेक्ष होता है।
२. युग्मक—जहाँ दो पद्यों में वाक्यपूर्ति होती है।
३. सन्दानितक—जहाँ तीन पद्यों में वाक्यपूर्ति होती है।
४. कलापक—जहाँ चार पद्यों में वाक्यपूर्ति होती है।

५. कुलक--जहाँ पाँच अथवा इससे अधिक पद्यों में वाक्यपूर्ति होती है। साहित्यदर्पण का कथन है—

"श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा।
छन्दोवद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्॥
द्वाभ्यान्तु युग्मकं, सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।
कलापकं चतुर्भिश्च, पञ्चभिः कुलकं मतम्॥" (६।३१३–१५)

'भामिनीविलास' के प्रत्येक पद्य एक दूसरे से निरपेक्ष होने के कारण मुक्तकों की कोटि में आते हैं। 'भामिनीविलास' इन्हीं मुक्तकों का संग्रह है। साहित्यदर्पण के अनुसार हम उसे 'कोष' कहेंगे।

"कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योऽन्यानपेक्षकः।
व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः॥" (६।३२९–३०)

पण्डितराज ने इसका नाम 'भामिनीविलास' क्यों रखा इस विषय में निश्चित रूप से कोई भी मत स्थापित नहीं किया जा सकता। अमरकोश के अनुसार, 'भामिनी' का अर्थ 'कोप करने वाली स्त्री, है—'कोपना सैव भामिनी' तथा विलास 'स्त्रियों की शृंगारभाव से उत्पन्न होने वाली क्रिया विशेष, को कहते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार 'चलने, खड़े होने, बैठने आदि की तथा मुख-नेत्र आदि के व्यापारों की विशिष्टता को विलास, कहते हैं जो अभीष्ट के दर्शन आदि के द्वारा उत्पन्न होती है—

"यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना॥"

अब यदि हम यह अर्थ करें कि 'भामिन्याः विलासाः यस्मिन् स ग्रन्थः भामिनीविलासः' तो भी सम्पूर्ण भामिनीविलास को दृष्टि में रखने पर यह नाम समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि प्रथम और चतुर्थ विलास का भामिनी के विलासों से कोई सम्बन्ध नहीं। अब तक भामिनी-विलास के अनेक संस्करण निकल चुके हैं। किन्तु पद्यों की संख्या प्रायः सभी में असमान है। प्रस्तुत संस्करण में हमने प्रायः उन सभी पद्यों को संकलित कर दिया है जिनका कि विभिन्न संस्करणों में उल्लेख था। हमें चूँकि पहले 'जीवानन्द संस्करण' ही प्राप्त हो सका था अतः पद्यों का क्रम वही रखा गया है जो जीवानन्द संस्करण में था। उसके अतिरिक्त संस्करणों में प्राप्त होनेवाले पद्यों को उसके बाद रखा गया है। इस अरह इस प्रस्तुत संस्करण के (क) प्रथम विलास में १२९ (ख) द्वितीयविलास में १८३ (ग) तृतीयविलास में १९ तथा (घ) चतुर्थविलास में ४६ पद्य संग्रहीत हैं। कुल पद्यों की संख्या ३७७ है। इस संस्करण के अनुसार द्वितीय और तृतीय विलासों की पद्य संख्या २०२

है जो सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधे से भी अधिक है, उन्हें हम भामिनी के विलासों से सम्वन्धित कह भी सकते हैं, अतः यदि यह मानकर कि प्राधान्य (आधिक्य के कारण) उसी का है इसलिए 'भामिनीविलास' सञ्ज्ञा समीचीन है, यह स्वीकार कर सकते हैं। सम्पूर्ण भामिनीविलास में भामिनी को सम्बोधित कर अथवा उसके विषय में शब्दतः उल्लेख कर पण्डितराज ने केवल छः पद्य प्रस्तुत किये हैं—

(१) "न मनागपि राहुरोधशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः ।
उपचीयत एव काऽपि शोभा परितो भामिनि ! मुखस्य ते ॥" (२-१)

(२) "वक्षोजाग्रम्पाणिनाऽऽमृष्य दूरं यातस्य द्रागाननाब्जम्प्रियस्य ।
शोणाग्राभ्याम्भामिनी लोचनाभ्याञ्जोषज्जोषञ्जोषमेवावतस्थे ।"
(२–१५)

(३) "वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।
अंसदेशविनिवेशिताङ्क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥" (२–२२)

(४) "मुञ्चसि नाद्यापि रुषम्भामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।
इति सुदृशः प्रियवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥" (२–७२)

(५) "निर्व्वाणमङ्गलपदन्त्वरया विशन्त्या
मुक्ता दयावति ! दयाऽपि किल त्वयाऽसौ ।
यस्मान्न भामिनि ! निभालयसि प्रभात—
नीलारविन्दमदभङ्गकरैः कटाक्षैः ॥" (३–४)

(६) "स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि ! पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम् ।
सा सम्प्रति प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं
प्राप्तुङ्कथङ्कथय हन्त ! परम्पुमांसम् ॥" (३–१७)

अथवा सञ्ज्ञा यादृच्छिक तो हुआ ही करती है। कोई आवश्यक नहीं कि किसी संग्रह को उसके सम्पूर्ण विषय को प्रस्तुत करने वाला नाम दिया जाय। वैसा सम्भव भी नहीं। अन्यथा 'पद्यमुक्तावली' आदि नाम रखा जा सकता था। पर उनमें यह रमणीयता न आ पाती, जो इस नाम में है।

इसके चार विलासों के नाम हैं—(१) प्रास्ताविक विलास, (२) शृङ्गारविलास, (३) करुणविलास और (४) शान्तविलास। कुछ संस्कारणों में प्रथम विलास का नाम 'अन्योक्ति विलास' मिलता है। हमारे विचार से वह नाम समीचीन नहीं। लोगों का कहना है कि इसमें अन्योक्तियों का अधिक प्रयोग है, अतः इसका नाम अन्योक्ति विलास रखा होगा। पर यह बात मान्य नहीं। जिसे ये विद्वज्जन अन्योक्ति कहते हैं उसे भरत अथवा भामह से लेकर पण्डितराज तक किसी भी आचार्य ने अन्योक्ति नहीं कहा। केवल रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में इसे 'अन्योक्ति' कहा है। उनका कथन है—

"असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ।। (८।७४)

इसकी नमिसाधु व्याख्या करते हैं—

'असमानेति ! यत्रासाधारणविशेषणमप्युपमेयमुपमानेनोक्तेन परं केवलं गम्यते प्रतीयते सेत्युक्तेन प्रकारेणान्योक्तिर्भवति । ननु यद्यसमान विशेषणं तत्कथं तेन गम्यते इत्याह—समानेतिवृत्तमिति । समानं सदृशमितिवृत्तमर्थ-शरीरं यस्य तत्तथोक्तम् । यत उपमानतुल्यव्यवहारमुपमेयमतस्तेन गम्यत इत्यर्थः । अपि शब्दात् किञ्जित्समानविशेषणत्वेऽपि भवतीति सूच्यते इति ।'

इसका उदाहरण रुद्रट ने यह श्लोक दिया है—

"मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं वरः सरसम् ।
चकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि खरे ! न हंसोऽसि ।।" (८।७५)

इसकी नमिसाधु व्याख्या करते हैं—

'मुक्त्वेति । अत्र हंसेनोपमानेनोक्तेन सज्जनः प्रतीयते । विशेषणानि चात्र सलीलहंसादीन्यसमानानि । नहि पुरुषः सरो मुक्त्वा पल्वलमभिलषति । इतिवृत्तं तु समानम् । यतस्तस्य शिष्टजनाधिष्ठितं स्थानं त्यजतः खलमन्य-स्वाश्रयतस्तत्तुल्य उपालम्य इति ।' स्पष्ट है कि अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'अप्रस्तुत प्रशंसा' को ही इन्होंने अन्योक्ति कहा है । परन्तु रुद्रट के द्वारा दिया गया यह नाम उन्हीं तक सीमित रहा । उनके बाद के भी मम्मट, रुय्यक आदि आचार्यों ने यहाँ तक कि अप्पय्यदीक्षित तथा पण्डितराज ने स्वयं इसे अप्रस्तुत प्रशंसा ही कहा है, अन्योक्ति नहीं । पण्डितराज ने स्वयं इस प्रथम विलास के सं० १, २, ५, ६, ८, १६, ७५, ७६, ९७, ९८ तथा ११५वें पद्यों को अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद-प्रभेदों के रूप में उद्धृत किया है । अब यहि उन्हें ऐसे पद्यों के बाहुल्य के आधार पर इस विलास का नामकरण करना अभीष्ट होता तो वे इसे 'अप्रस्तुत प्रशंसा विलास' कहते न कि 'अन्योक्तिविलास' । अतः यह सिद्ध है कि पण्डितराज ने इसका नाम 'प्रास्ताविकविलास' ही रखा । 'अन्योक्तिविलास' नहीं । वह नामकरण बाद का किया हुआ है । अतः अमान्य है ।

भामिनीविलास की रचना का समय—

आचार्य नागेश की रसगङ्गाधर के—

"निर्म्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं । काव्यम्मयाऽत्र निहितन्न परस्य किञ्चित् ।" में प्रयुक्त 'काव्यं' की 'काव्यं भामिनीविलासाख्यम्' इस व्याख्या से विद्वानों का अनुमान है कि भामिनीविलास' की रचना रस-गङ्गाधर की रचना के पूर्व हो चुकी थी । यहाँ पण्डितराज का 'काव्यम्' से आशय भामिनीविलास से ही था, यह कहना कठिन है । ऐसा हो भी सकता

है और नहीं भी। पर जिस समय भामिनीविलास का संग्रह पण्डितराज ने किया था, इतना सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे, उस समय सभी नरेशों का (विशेष रूप से दिल्ली-नरेश) का आश्रय त्याग कर मथुरा में निवास कर रहे थे। जैसा कि चतुर्थ विलास के ४५ वें पद्य 'शास्त्राण्याकलितानि' इत्यादि से सुस्पष्ट है। वैसे डॉ० आर्येन्द्र शर्मा ने पण्डितराज की रचनाओं का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है---

"Thus, the sequence in which Pṇḍitarāja wrote the thirteen works would seem to be as follows—

First Period—before joining Shahjahan's court—
the five Laharīs and the Jagadābharaṇa.
Second Period–at Shahjahan's court—
Āsafavilāsa, Rasagaṅgādhara and Citramīmāṁsākhaṇḍana.
Third Period—at Prāṇanārāyaṇa's Court–Prāṇābharaṇa.
Fourth Period—At Banaras—
Manoramākucamardana, Sabdakaustubha, sāṇottejadna and Bhāminīvilāsa compilation"

इसमें पहली कठिनाई यह है कि पाँचों लहरियाँ शाहजहाँ के दरबार में आने के पहले लिखी जा चुकी थीं यह बात स्वयं ही अमृत लहरी के तीसरे श्लोक से खण्डित हो जाती है। उस श्लोक से यह सिद्ध है कि पंडितराज उस समय राज दरबार छोड़ चुके थे---

"दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागंडप्रणालीमिलद्,
भृंगालीमुखरीकृताय नृपतिद्वाराय बद्धोऽञ्जलिः।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्व्वतो
वृत्तिं हन्त ! मुनेः प्रयान्तु यमुने वीतज्वरा वासराः।।"

अतः 'अमृत लहरी' तो निश्चित ही उनके मथुरा निवास करते समय लिखी गई थी। दूसरी कठिनाई हमें यह स्वीकार करने में है कि वे अन्त में बनारस में रहकर 'मनोरमाकुचमर्दन' आदि लिखे थे। इसे हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि वे अन्तिम समय बनारस में नहीं बल्कि मथुरा में व्यतीत किये थे।

भामिनीविलास में काव्यगत सौन्दर्य—

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण दिया है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वाऽपि' इससे काव्य की निम्न-विशेषतायें उसके काव्यत्व को स्थिर करती हैं---

१. दोषों का अभाव, २. गुणों का सद्भाव ३. अलङ्कारों का सद्भाव; पर यदि कहीं अलंकार न हो तो कोई हानि नहीं। पण्डितराज ने भी इसका समर्थन भामिनी विलास (३–६) में किया है—

"निर्दोषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
रामा कदाऽपि हृदयान्मम नापयाति ।।"

ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि कहा है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (ध्वन्यालोक १।१।) ध्वनियों में 'रसादिध्वनि' अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार की गई। रसादि स्वप्न में भी वाच्य नहीं होते—'रसादि लक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः (काव्यप्रकाश (पृ० २१४-१५)। अतः पण्डितराज ने अपनी कविता को रसभाव पूर्ण कह कर ध्वनि की सत्ता व्यक्त कर दी है। 'आसफविलास' में उन्होंने नवाब आसफखान का वर्णन करते हुए काव्य में रस और उसमें भी शृङ्गार को सर्वोपरि प्रतिष्ठित किया है—

"सार्व्वभौमसम्वन्धिषु सकलेषु सामन्तेषु वाङ्मयेष्विव काव्यकलापः काव्यकलापेष्विव ध्वनिः, ध्वनिष्विव रसो, रसेष्विव शृङ्गारः सकलसहृदयहृदयङ्गमेन महिम्ना मधुरिम्णा च सम्भावितः" ध्वनि का लक्षण आनन्दवर्द्धन ने दिया है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्ज्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्ग्यकाव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः (ध्व, १।१३)

अर्थात् जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा अर्थ अपने स्वरूप को गुणीभूत कर व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं। आचार्य मम्मट ने ध्वनि काव्य को उत्तम, गुणभूत व्यंग्य काव्य (अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्य से अतिशायी नहीं होता उस) को मध्यम तथा शब्द और अर्थ चित्र काव्य (अर्थात् जिसमें व्यंग्य स्फुट नहीं होता केवल गुण और अलंकार विद्यमान रहते हैं उन) को अधम काव्य कहा है—

(क) इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः। १।४
(ख) अतादृशि गुणीभूतव्यग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।
(ग) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यन्त्ववरं स्मृतम् ।। (१।५)

परन्तु पंडितराज ने काव्य के चार भेद किए हैं—

१. उत्तमोत्तम काव्य = ध्वनिकाव्य
२. उत्तम काव्य = गुणीभूतव्यंग्य काव्य

३. मध्यम काव्य = अर्थचित्र

४. मध्यम काव्य = शब्दचित्र।

उत्तमोत्तम काव्य--

ध्वनि के वैसे तो अभिधामूला, लक्षणामूला आदि अनेक भेद-प्रभेद बताये गये हैं, पर उनका हमें यहाँ विवेचन नहीं करना है। प्रधानतया ध्वनि तीन प्रकार की मानी गई है १. वस्तुध्वनि--जहाँ वाच्य से कोई वस्तु व्यंग्य होती है--जैसे--

"तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचागतो विवेकः।
यदवधि न पदन्दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशो विलासः॥"
(भा० वि० २-१२)

यहाँ 'जब तक पैर नहीं रखता' इस वाच्य वस्तु से यह वस्तु व्यञ्जित होती है 'कि जब पैर रखने पर ही खैरियत नहीं, तो पैर जम जाने पर पता नहीं क्या होगा' अतः वस्तु ध्वनि है। विशेष विवेचन श्लोक की व्याख्या में देखें।

२. अलंकारध्वनि--जहाँ वाच्य से अलङ्कार व्यञ्जित होता है। जैसे--

"दयिते ! रदनत्विषाम्मिषादयि ! तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः (भा० वि० २।३८)

यहाँ पर वाच्यभूत दो अपह्नुतियों के द्वारा 'तू स्त्री नहीं कमलिनी है, इस प्रकार की तीसरी अपह्नुति व्यञ्जित होती है। विशेष व्याख्या में देखें।

रसादिध्वनि--जहाँ वाच्य के द्वारा रसादि प्रधान रूप से व्यञ्जित होता है। रसादि से तात्पर्य है—'रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता'। इन सभी को रस कहते हैं—

'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता-चेति सर्वेऽपि रसानाद्रसाः (सा० दर्प० ३।२५९।६०)

रस ९ माने गये हैं--श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत तथा शान्त। इसमें श्रृगार को सर्वश्रेष्ठ रस माना गया है। उसमें भी विप्रलम्भश्रृंगार सर्वातिशायी है--

'श्रृङ्गार एव मधुरः वरः प्रह्लादनो रसः' (ध्वन्या० २।७)

संभोग श्रृंगार—

केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येङ्गितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनं कुर्वतः।

जानन्त्याप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या 'सखि'
श्रान्ताऽसी'-त्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममासञ्जितः ॥'

(२।८३)

२. विप्रलम्भ श्रृंगार—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पञ्जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरम्परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ! शिव !! प्राणेशमालोकते ॥ (२।४५)

इसके अतिरिक्त द्वितीय विलास के प्रायः सभी पद्य संयोग और विप्रलम्भ श्रृंगार को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार करुण रस के उदाहरण रूप में तृतीय विलास के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ तथा पञ्चम आदि पद्यों को देखा जा सकता है। शुद्ध शान्त रस के उदाहरण रूप में चतुर्थ विलास के २४ वें तथा २५ वें पद्यों को लिया जा सकता है। वीर रस के उदाहरण रूप में चतुर्थ विलास के २७ वें तथा २८ वें पद्यों को देखें। इसी तरह अन्य सभी रसों के भी उदाहरण देखें जा सकते हैं।

३. भावध्वनि—

"तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ।" (२।५)

यहाँ स्मृति भावध्वनि है। विशेष विवेचन व्याख्या में देखें। इसी प्रकार अन्य भावों की ध्वनियों के उदाहरण इसमें भरे पड़े हैं उनका यथा सम्भव व्याख्याओं में विवेचन किया गया है। इसी तरह, ४. रसाभास ध्वनि (२।६८) ५. भावाभास ध्वनि (३।३) ६. भावशान्ति ध्वनि (२।७२) ७. भावोदय ध्वनि (२।२१) ८. भावसन्धि ध्वनि—(२।३४) इत्यादि पद्यों में देखें। ९. भावसबलता ध्वनि का चमत्कार भगवान् राम की सीता परित्याग के बाद की उक्ति में देखें—

पापं हन्त ! मया हतेन विहितं सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना वत ! वने किञ्जीवितन्धास्यति ।
आलोकेय कथम्मुखं सुकृतिनाङ्किन्ते वदिष्यन्ति मां
राज्यं यातु रसातलम्पुनरिदन्न प्रापितुङ्कामये ॥ (२।११०)

यहाँ कितनी रमणीयता के साथ कवि ने असूया, मति, विषाद, स्मृति, वितर्क, लज्जा, शंका तथा निर्वेद भावों की शबलता ध्वनि प्रस्तुत की गई है। विशेष विवेचन व्याख्या में देखें।

उत्तम काव्य—

"दोर्दंडद्वयकुंडलीकृतलसत्कोदण्डचंडांशुग-
ध्वस्तोद्दंडविवपक्षमंडलमथ त्वां वीक्ष्य मध्ये रणम् ।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत् ॥"
(१।१२५)

यहाँ रौद्र रस चूंकि कविगत राजविषयक रति भाव, अथवा यह कहें कि वाच्य स्मरणालङ्कार को परिपुष्ट करने के लिये प्रस्तुत किया गया है अतः गुणी भूत है। इस लिए उत्तम काव्य है।

मध्यम काव्य--अर्थालङ्कारों से तो सम्पूर्ण भामिनी विलास ही विभूषित है। उनका पर्याप्त विवेचन उनकी व्याख्याओं में किया गया है। निदर्शनार्थं दो एक पद्य यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(क) अप्रस्तुत प्रशंसा—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानींल्लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानाम्पुनरयं
नखानाम्पांडित्यम्प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥" (१।१)

यहाँ मृगराज के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा किसी अत्यन्त पराक्रमी सम्राट् अथवा शास्त्रार्थ में समस्त पंडितम्मन्यों को परास्त कर देने वाले उद्भट विद्वान् के प्रस्तुत वृत्तान्त को कितने रमणीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(ख) उत्प्रेक्षा—

"कलिन्दजा नीरभरेऽर्द्धमग्ना बकाः प्रकामं कृतभूरिशब्दाः ।
ध्वान्तेन वैराद् विनिगीर्य्यमाणाः क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोरा ॥"
(२।१४३)

यहाँ अभेद सम्बन्ध से क्रिया स्वरूपोत्प्रेक्षा कितनी चारुता के साथ प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार अन्य अनेकों अलंकारों के वैविध्यपूर्ण श्लोक भामिनी विलास के विभिन्न विलासों में विद्यमान हैं। उनका वहाँ सम्यक् विवेचन किया गया है। पाठकगण वहीं देख कर स्वयं इस बात का अनुभव कर लेगें।

अधम काव्य--जिसमें शब्दालङ्कारों का वैचित्र्य समुल्लसित होता है। वस्तुतः शब्दालंकारों का विशेष कर यमकादि का कोमल रसों में पूर्ण प्रतिषेध किया गया है। ध्वनिकार का कथन है--

"ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ (ध्व० या० २।१५)

आचार्य मम्मट ने तो इसे 'गडूभूत' (गन्ने की गाँठ की तरह नीरस) कह कर इसका तिरस्कार किया है—'तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम् ।' (काव्य प्र० ४०६) । और यही कारण है कि कुवलयानन्दादि में यहाँ तक कि स्वयं रसगङ्गाधर में ही केवल अर्थालंकारों का विवेचन मिलता है । शब्दालंकारों का नहीं । परन्तु जैसा साहित्य-मर्मज्ञों ने स्वीकार कर रखा है कि रस की व्यञ्जक रचना भी हुआ करती है, जिसे सङ्घटना कहते हैं । वर्णों के एक विशेष प्रकार के विन्यास को सङ्घटना कहते हैं अतः आनुप्रासिक शैली प्रायः रस की व्यञ्जक होती है । पण्डितराज के काव्यों की एक बहुत बड़ी विशेषता उनकी गुणानुकूल अथवा रसानुकूल वर्णों की आनुप्रासिकता भी है । इसका पंडितराज की रचनाओं में पूर्ण सद्भाव है । उसे हर जगह देखा जा सकता है । उदाहरणार्थ—

"गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगम्पण्डितपते-
रधुन्वन् मुर्द्धान्नृपशुरथवाऽयम्पशुपतिः ।। (४३९)

ऐसा लगता है मानों वीणा ही बज रही हो । यह है वर्णों की ध्वन्यमानता अथवा जैसे—

"यस्मिन् वेल्लति सर्व्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै—
र्मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिद्दन्तावलाः पेदिरे ।
सोऽयन्तुङ्गतिमिङ्गलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः
क्रोडे क्रीडतु कस्य कालकलहत्यक्तार्णवो माधवः ।। (१।५४)

मालूम पड़ता है कि समुद्र में ज्वार भाटा आ गया है ।

यमक—कुछ स्थलों पर यमक भी आ गया है पर स्वाभाविक ढङ्ग से उसके लिए कवि का कोई प्रयास नहीं । जैसे—

"शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो ! मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुन्दरमीलन्नयना न्निरीक्षते ।।" (३।१००)

सम्भोग श्रृंगार का वर्णन है । परन्तु यह यमक किसी भी प्रकार उसकी प्रतीति में बाधक न होने के कारण चमत्कारपूर्ण है ।

श्लेष—विशुद्ध रूप से श्लेषालङ्कार तो पण्डितराज ने भामिनीविलास में कहीं प्रयुक्त नहीं किया पर कई स्थलों पर वह अन्य अलङ्कारों के उपस्कारक रूप में आया है । जैसे—

"नितरान्नीचोऽस्मीति त्वङ्खेदङ्कूप ! मा कदाऽपि कृथाः ।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषाङ्गुणगृहीताऽसि ।।" (१।८)

यहाँ श्लेष अप्रस्तुत प्रशंसा का उपस्कारक है।

अथवा—"स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि ! पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम्।
सा सम्प्रति प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं
प्राप्तुं कथं कथय हन्त परम्पुमांसम् ॥" (३।१७)

यहाँ श्लेष विरोधाभास का उपस्कारक है। इसी तरह ऊपर उद्‌धृत (३।६) 'निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा' आदि से श्लेष उपमा का उपस्कारक है।

गुणों का सद्भाव—वैसे वामन आदि आचार्यों ने दस शब्दगत तथा दस अर्थगत गुण स्वीकार किए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) माधुर्य्य (५) सुकुमारता (६) अर्थ-व्यक्ति (७) उदारता (८) ओजस् (९) कान्ति और (१०) समाधि। परन्तु ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने केवल तीन गुण ही माने हैं—(१) माधुर्य (२) प्रसाद और (३) ओजस्। शेष गुणों का इन्हीं में अन्तर्भाव कर दिया है। मम्मट का कथन है—

"केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न न ततो दस ॥"
(काव्य प्र० ८।७२)

वैसे वामनादि के गुणों के उदाहरण भी भामिनीविलास में प्राप्त होते हैं। कहीं कहीं हमने उन्हें प्रदर्शित भी किया है। परन्तु यहाँ हम केवल माधुर्य, प्रसाद और ओजस् के ही उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। माधुर्य आदि को रस रूप आत्मा का धर्म स्वीकार किया गया है। ये गुण समुचित वर्णों के द्वारा व्यञ्जित होते हैं (१) चित्त की द्रुति के कारणभूत आह्लादकत्व को माधुर्य कहते हैं। यह माधुर्य शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त में अतिशय युक्त होता है—

"आह्लादकत्वम्माधुर्य्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥"
(काव्य प्र० ८।६८-६९)

इसके व्यञ्जक टवर्ग को छोड़कर क से लेकर म तक के स्पर्श वर्ण, अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण में संयुक्त वर्ण तथा रेफ और णकार थोड़े थोड़े व्यवधान के बाद आने पर, और समासाभाव से युक्त अथवा मध्यम समास वाली रचनायें होती हैं। जैसे—

'तन्मञ्जुमन्दहसितं श्वसितानि तानि' इत्यादि पूर्वोद्‌धृत पद्य। अथवा जैसे—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपाली—
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥" (२।३)

अथवा जैसे—

"तीरे तरुण्या वदनं सरांसि नीरे सरोजञ्च मिलद्विकासम् ।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला ॥" (२।२०)

(२) चित्त में दीप्ति रूप आत्म-विस्तार को उत्पन्न करने वाला ओजोगुण होता है। यह क्रमशः वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में अतिशयी होता।

"दीप्त्यात्मविस्तृतेहेतुरोजो वीररसस्थिति ।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥" (काव्यप्र. ८।६९-७०)

इसके व्यञ्जक होते हैं णकार को छोड़कर टवर्ग के वर्ग के प्रथम एवं तृतीय वर्णों से संयुक्त द्वितीय और चतुर्थ वर्ण, तुल्य वर्ण से संयुक्त वर्ण, श और ष तथा दीर्घ समास सङ्घटना, रेफ से संयुक्त वर्ण आदि। जैसे—

वज्रम्पापमहीभृतां भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः ।
स्फूर्ज्जत्क्लेशमहीरुहामुरुतरज्ज्वालाजटालः शिखी
द्वारन्निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥ (४।१५)

(३) प्रसाद—प्रसाद के विषय में आचार्य मम्मट ने कहा है कि यह गुण समस्त रसों में तथा समस्त रचनाओं में साधारण हुआ करता है जहाँ केवल सुनने से ही शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ प्रसाद गुण होता है। यह चित्त में उसी तरह व्याप्त हो जाता है जैसे आग में सूखी हुई लकड़ी और स्वच्छ वस्त्र में व्याप्त हो जाते हैं।

"श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ (८।७६)
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥" (८।७०-७१)

पण्डितराज की भामिनीविलासान्तर्गत प्रायः सभी रचनाओं में यह गुण विद्यमान है। उदाहरणार्थ दो एक पद्य यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"आयातैव निशा निशापतिकरैः कीर्णन्दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरंगान्यलङ्कुर्वते ।
मुग्धे ! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा ! हा !! बालमृणालतोऽप्यतितरां तन्वी तनुस्ताम्यति ॥"

कोई नायक अपनी रूठी हुई प्रियतमा को मना रहा है। अर्थ कितना

स्पष्ट है। अथवा प्रसाद का चमत्कार मानिनी से मान त्यागने की प्रार्थना करने वाली सखी की इस उक्ति में देखिये—

"चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत् त्वाम्प्रति बोधयामि मम चेदुक्तिं हिताम्मन्यसे
मुग्धे! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति।।" (२।५१)

श्रुतिपेशलता तो पण्डितराज की समग्र रचनाओं में विद्यमान है। इनकी रचनायें सुनने पढ़ने से ऐसा लगता है मानों उनसे सङ्गीत की ध्वनि आ रही हो। सचमुच कोई सहृदय पण्डितराज की रचनाओं को सुनते समय विना सिर हिलाये नहीं रह सकता। अतः पण्डितराज की यह गर्वोक्ति बहुत कुछ चरितार्थ होती है कि—

"गिरान्देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगम्पण्डितपते—
रधुन्वन्मूर्द्धानन्नरपशुरथवाऽयं पशुपतिः।। (४।३९)

इस बात का अनुभव पाठक स्वयं कर लेगें उसके विषय में अधिक कहने की जरूरत नहीं।

जरा मद्यप की उस उक्ति पर तो ध्यान दीजिए—

'मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं
तरुणि! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं
प-प-पतामि ह हा! भ-भ-भूतले।। (२-१७३)

कितना सुन्दर शराबी का चित्र है। पढ़ने पर लगता है मानो शराबी सामने ही बोल रहा हो। और नशे में चूर लड़खड़ा रहा हो।

और भी—

प्रिये! विषादं जहिहीति वाचं
प्रिये सरागं वदति प्रियायाः।
वारामुदारा विजगाल धारा
विलोचनाभ्यां मनसश्च गानः।।" (२।१५२)

कितना मर्मस्पर्शी चित्र है?

यह तो रही रसों, भावों, गुणों एवं अलंकारों की चर्चा। अब जरा शब्द और अर्थ के प्रयोग की ओर दृष्टिपात करें। आचार्य कुन्तक का कथन है—

वाच्योऽर्थः वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथाऽपि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः॥
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥ (व० जी० १।८-९)

किसी वस्तु का वाचक अर्थात् प्रतिपादन करने वाला शब्द कहा जाता है और उस शब्द के द्वारा वाच्य अर्थात् प्रतिपादित किया जाने वाला अर्थ कहा जाता है। यह तो सर्वविदित है, वैय्याकरण, नैय्यायिक, मीमांसक सभी इसे जानते हैं। परन्तु काव्य में इसे जहाँ सहृदयता की आवश्यकता है वहाँ इनका वास्तविक अर्थ यह नहीं है। वहाँ शब्द उसे कहते हैं जो विवक्षित अर्थ का एकमात्र वाचक होता है अर्थात् विवक्षित अर्थ केवल उसी शब्द के द्वारा आ सकता हैं अन्य वाचकों द्वारा नहीं। कालिदास ने लिखा—

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

क्या कालिदास को शङ्कर के अन्य पर्याय नहीं मालूम थे? वे क्या यहाँ 'पिनाकिनः' का प्रयोग नहीं कर सकते थे? आखिर 'कपालिनः' ही क्यों प्रयुक्त किया? इसका उत्तर एक काव्यमर्म्मज्ञ और सहृदय ही दे सकता है। यहाँ 'कपालाः सन्ति अस्येति कपाली, तस्य कपालिनः' अर्थात् जो कपालों की माला धारण करने वाला है, घृणा का पात्र है, उसकी प्रार्थना में लगी होने के कारण शोचनीय हो। यहाँ 'कपाली' पद बीभत्सरस का व्यंजक है। जो शोचनीयता के औचित्य को प्रस्तुत करता है। जो 'पिनाकी' है, पिनाक धनुष् को धारण करने वाला है उसे प्राप्त करना तो अहोभाग्य होगा, वहाँ शोचनीयता कैसी। यही है पर्याय वक्रता। पण्डितराज इसमें पीछे नहीं। उन्होंने लिखा—

"अनिशं नयनाभिरामया रमया सम्मदिनो मुखस्य ते।
निशि निःसरदिन्दिरं कथं तुलयामः कलयाऽपि पङ्कजम्॥"

यहाँ कवि को विवक्षित है नायिका के मुख का कमल से व्यतिरेक दिखाना इसीलिए उसने 'पङ्कजम्' शब्द का प्रयोग किया है। क्या यहाँ वह 'नीरजम्' अथवा 'वारिजम्' का प्रयोग नहीं कर सकता था? क्यों नहीं किया? आखिर जिस रमा के कारण मुख को नाज है अपने पर वह है क्या? क्या जलजा नहीं? जब 'जलजा' के कारण कोई अपने पर गर्व कर सकता है, तो स्वयं जलज की क्या कहना? इसीलिए कवि ने 'पङ्कज' का प्रयोग किया 'कीचड़ में पैदा होने वाला' जो कीचड़ से पैदा हुआ है उसकी कहीं स्वच्छ नयनाभिराम सौन्दर्य से युक्त मुख के साथ तुलना की जा सकती है? कभी

नहीं ? यह है प्रतिभावान् कवि का शब्दचयन इसीलिए आनन्दवर्द्धन ने कहा है—

"शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥ (ध्वन्या० १।७)
सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥" (ध्वन्या० १।८)

कोई लाख व्याकरण चबा जाय, मीमांसा चाट जाय और कोशों को घोटा लगाकर पी जाय, पर यदि उसमें सहृदयतता नहीं तो उसमें काव्य के शब्द और अर्थ को पहचानने की शक्ति नहीं आ सकती । जरा अभिनव की सहृदय की परिभाषा पर तो ध्यान दें—

"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः ।"

अब काव्य में अर्थ किसे कहते हैं इस पर विचार करें । जो सहृदयों को आनन्दित करने वाले अपने स्वभाव से ही रमणीय होता है वही वाच्य, वही प्रतिपाद्य काव्य में अर्थ कहा जाता है । जैसे—

"नीराग्निर्म्मलतो जनिर्मधुरता वामामुखस्पर्द्धिनी
वासो यस्य हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः ।
सर्वस्वस्तन्दहो ! महाकविगिराङ्कामस्य चाम्भोरुह
त्वञ्चेत् प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत्त्वां किमाचक्ष्महे ? ॥"
(१।६२)

कितना रमणीय अर्थ यहाँ प्रतिपादित किया गया है, निर्म्मल जल से पैदा हुआ, कितना कुलीन है, मधुरता रमणियों के मुख से स्पर्द्धा करने वाली है, गुणों की कमी नहीं, निवास विष्णु के हाथ में है कितना ऊँचा निवास । कितना सम्मान सुगन्ध देवों के चित्त को चुराने वाली है, मनुष्यों की क्या बात ? लोकोत्तर गुण विद्यमान हैं, उतना ही नहीं महाकवियों की वाणी के और कामदेव के प्राण हों, सर्वस्व हो, जो काम सारे जगत् के वश में किए हुए है, क्रुद्ध भगवान् शङ्कर भी जिसके पराक्रम को न छीन सके—

"स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥

तथा—

"कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्य्यवीर्य्याय तस्मै मकरकेतवे ॥"

उस काम के तुम सर्वस्व हो। इतना ही नहीं महाकवियों की वाणी के भी सर्वस्व हो जिनकी सृष्टि के आगे विधाता की सृष्टि तुच्छ है; वह इस विधाता की सृष्टि को जैसा चाहे वैसा बदलने की सामर्थ्य रखता है—

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदम्परिवर्त्तते॥"

तथा नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्म्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥"

ऐसी महाकवियों की वाणी के सर्वस्व होते हुए भी अफसोस है, दुःख का विषय है कि 'मधुप' से प्रीति करते हो, 'मधुप' पद मधु पातीति मधुपः' मद्यप से प्रीति करते हो, क्या कहे तुम्हें ? यह है अर्थ और शब्द का स्वरूप। यही है कुन्तक के शब्दों में शब्द और अर्थ का साहित्य। शब्द और अर्थ का साहित्य होता कहाँ है—

'एतयोः शब्दार्थयोर्यथास्वं यस्यां स्वसम्पत्सामग्रीसमुदायः सहृदयाह्लादकारी परस्परस्पर्धया परिस्फुरति सा काचिदेव वाक्यविन्याससम्पत् साहित्यव्यपदेश भाग्भवति।"

अस्तु ! पण्डितराज की कविता की रमणीयता का वर्णन कहाँ तक किया जाय। उससे तृप्ति होने को नहीं। वाणी मौन हो सकती है पर पण्डितराज की कविता का गुणगौरव समाप्य नहीं। निश्चय ही यदि ध्वनिकार कहीं इसकी आलोचना करने बैठते तो अवश्य ही कह उठते—

"मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा हि पण्डितराजस्य (यथा ह्यमरुकस्य-ध्वन्यलोके) कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एवेति।"

पाठकगण भूमिका को पढ़कर कह सकते हैं कि यह हमारी अतिशयोक्ति है पर हमारा दृढ़ विश्वास है कि वे जब पण्डितराज की 'मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां वाचाम्' का आस्वादन कर लेंगे तो इसे अतिशयोक्ति नहीं समझेंगे।

भामिनी-विलास में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन

प्रत्येक पद्य में चार चरण अथवा पाद हुआ करते हैं। जिन पद्यों में वर्णों की गणना होती है उन्हें वृत्त कहते हैं और जिनमें मात्राओं की गणना होती है उन्हें 'जाति' कहते हैं। जैसे अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा आदि वर्णिक वृत्त हैं तथा आर्या गीति आदि मात्रिक जातियाँ हैं। वृत्त के तीन भेद होते हैं—

(१) समवृत्त—जिनके चारो चरण समान होते हैं।

अर्द्धसमवृत्त—जिसके प्रथम और तृतीय चरण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान होते हैं।

विषमवृत्त—जिनके चारो चरण असमान होते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्रवज्रा समवृत्त, पुष्पिताग्रा अर्द्धसमवृत्त और उद्गता विषमवृत्त है। आर्या आदि जाति छन्दों में चार मात्राओं का एक गण होता है। प्रत्येक लघुवर्ण में एक मात्रा तथा गुरु वर्ण में दो मात्रायें होती हैं। लघु को (।) चिह्न से तथा गुरु को (ऽ) चिह्न से सूचित किया जाता है। वर्णिक वृत्तों में तीन अक्षरों का एक गण माना जाता है। ये गण आठ हैं—

(१) भगण—(ऽ । ।) आदि में गुरु शेष दो लघुवर्ण होते हैं।

(२) जगण—(। ऽ ।) मध्य में गुरु तथा आदि और अन्त में लघुवर्ण।

(३) सगण—(। । ऽ) अन्त में गुरु तथा आदि और मध्य में लघुवर्ण।

(४) यगण—(। ऽ ऽ) आदि में लघु तथा अन्त और मध्य में गुरुवर्ण।

(५) रगण—(ऽ । ऽ) मध्य में लघु तथा आदि और अन्त में गुरुवर्ण।

(६) तगण—(ऽ ऽ ।) अन्त में लघु तथा आदि और मध्य में गुरुवर्ण।

(७) मगण—(ऽ ऽ ऽ) सर्वत्र गुरु वर्ण।

(८) नगण—(। । ।) सर्वत्र लघुवर्ण।

इन सबको सरलता से याद रखने के लिए सूत्र है—

"आदिमध्यावसानेषु भ ज सा यान्ति गौरवम्।
य-र-ता लाघवं यान्ति म-नौ तु गुरुलाघवम्॥" (श्रुतबोध)

अर्थात् क्रम से आदि, मध्य और अन्त में गुरु वर्ण आने पर क्रम से भगण जगण और सगण तथा क्रम से आदि, मध्य और अन्त में लघु वर्ण आने पर क्रम से यगण, रगण और तगण तथा सभी गुरु होने पर मगण और सभी लघु होने पर रगण होते हैं। छन्दों के लक्षण में 'ग' कहने से गुरु और 'ल' कहने से लघु तथा भज आदि कहने से भगण, जगण आदि का बोध होता है। अनुस्वार तथा विसर्ग से युक्त वर्ण, दीर्घ स्वरों से युक्त व्यंजन अथवा स्वयं दीर्घ (आ, ई, ॡ, ए, ऐ, ओ औ) स्वर, तथा संयोग के पूर्व में आनें वाले वर्ण दीर्घ हुआ करते हैं। संयोग से अभिप्राय जैसे 'कक्षा' तथा 'मित्र' में 'क'

और 'मि' दीर्घ हैं क्योंकि इनके आगे क्+षा=क्षा तथा त्+र=त्र संयुक्त वर्ण आये हैं। साथ ही पाद अर्थात् चरण के अन्त में आने वाला वर्ण विकल्प से दीर्घ हुआ करता है। अर्थात् कभी तो दीर्घ होता है और कभी नहीं। इसी प्रकार जब आगे 'प्र' अथवा 'ह्व' आते हैं तो उनके पूर्व का वर्ण भी विकल्प से ही गुरु हुआ करता है। चरणों में जहाँ पर जिह्वा स्वेच्छा पूर्वक विश्राम करती है उसे यति, विच्छेद, विराम आदि के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है।

१. अनुष्टुप्—इसके प्रत्येक चरण में आठ, आठ वर्ण होते हैं। वैसे सूक्ष्म ढङ्ग से चित्रपदा, माणवक; विद्युन्माला आदि अनेक भेद हैं, किन्तु सामान्यतः आठ वर्णों का एक चरण होता है वहाँ अनुष्टुप् नाम से निर्देश किया जाता है। इसी लिए हमने भी अधिक सूक्ष्मता में न जाकर आठ वर्णों के चरण वाले समवृत्तों की अनुष्टुप् सञ्ज्ञा ही दी है। इस छन्द का प्रयोग भामिनी विलास के अधोलिखित पद्यों में हुआ है—

(क) प्रथम विलास—३८, ६१, ६४, ८५, ८६, ८७, ८९; ९१, ९७, १०७, १०८, ११०, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, १२३, १२४, १२६, तथा १२८ वें पद्यों में।

(ख) द्वितीय विलास—७१, ७७, ९२, १०४, १०७, ११२, ११४, १२०, १२१, १२४, १२६, १२७, १२९, १३५, १३८, १४०, १४१, १४७, १४९, १५३, १५४, १५५, १५७, १७५, १७७, १८० तथा १८३ वें पद्यों में।

(ग) चतुर्थ विलास—९ वें तथा ४६ वें पद्यों में।

२. इन्द्रवज्रा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् इन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण में क्रम से दो तगण, एक जगण और दो गुरु हुआ करते हैं। जैसे—

ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
सम्पश्य तान्तामतिमात्रतन्वीं
शोभाभिरामासि त सर्व्वलोकाम्।
सौदामिनी वा सितयामिनी वे-
त्येवञ्ज ना नां हृ दि संशयोऽभूत्॥ (२।१३६)

इसके अतिरिक्त यह कहीं नहीं प्रयुक्त हुआ।

३. उपेन्द्रवज्रा—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' (वृत्तरत्नाकर) अर्थात् उपेन्द्रवज्रा के प्रत्येक चरण में क्रम से जगण, तगण जगण और दो गुरु प्रयुक्त होते हैं—जैसे—

I S I S S I I S I S S

मु धैव नक्तम्प रिकल्प्य गन्तुं
मृ षैव रोषादु पजल्प तो मे ।
उदश्रु चक्षुन्न यना न ताङ्गी
गिरन्न काङ्क्षामु ररीच कार ॥ (२।११)

यहाँ चतुर्थ चरण के अन्त में आने वाला 'र' गुरु हो गया है। इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीय विलास के २२, १३¹, १५६ तथा १६० वें पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

४. उपजाति--यह वृत्त सङ्कीर्ण हुआ करता हैं। जिस किसी वृत्त के कुछ चरणों में इन्द्रवज्रा तथा कुछ में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित हो वहाँ उपजाति वृत्त होगा। इसी तरह यदि अन्य वृत्तों का भी घटित रहता है तो वहाँ भी उपजाति ही कहा जाता है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के लक्षण के अनन्तर छन्दोमञ्जरी में कहा गया है—

"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥"

जैसे—I S I S S I I S I S S =उपेन्द्रवज्रा

न वारयामो भवतीं विशन्तीं

S S I S S I I S I S S =इन्द्रवज्रा

वर्षानादि स्रोतसि जह्नुजायाः ।

I S I S S I I S I S S =उपेन्द्रवज्रा

न युक्तमेतत्तु पुरो यदस्या-
स्तरङ्गभङ्गान् प्रकटीकरोषि । (१।४४)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त अधोलिखित पद्यों में प्रयुक्त है—

(क) प्रथमविलास—७२, ८३ तथा १२२ वें पद्यों में।

(क) द्वितीयविलास—५, २०, २७, ३०, ८६, ९४, ९६, ९७, १०३, ११३, १३०, १४३, १४६, १५२, १६४ तथा १६८ वें पद्यों मे।

५. शालिनी—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः'। (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् शालिनी के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, दो तगण और दो गुरु हुआ करते हैं तथा चौथे और सातवें वर्ण के बाद यति होती है। जैसे—

S S S S, S I S, S I S S

वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृष्य दूरं
यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।
शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां
जोषञ्जोषं जोषमेवावतस्थे ॥ (२।१५)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीय विलास के ही २३ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ है।

६. रथोद्धता—'रात्परैर्नरलगै रथोद्धता' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् रथोद्धता के प्रत्येक चरण में क्रम से रगण, नगण, रगण एक लघु तथा एक गुरु आते हैं। जैसे—

S I S I I I S I S I S
येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्-
मौक्तिकावलिभिरञ्चिता मही।
अद्य तेन हरिणान्तिके कथं
कथ्यतां नु हरिणा पराक्रमः॥ (१।५०)

इसके अतिरिक्त प्रथमविलास के ३४ वें तथा द्वितीयविलास के १३ वें और २१ वें पद्य में यह वृत्त प्रयुक्त हुआ।

(७) स्वागता—'स्वागता रनभगैर्गुरुणा च' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् स्वागतावृत्त में क्रम से रगण, नगण, भगण तथा दो गुरुवर्ण प्रयुक्त होते हैं—जैसे—

S I S I I I S I I S S
सा मदागमनबृंहिततोषा
जागरेण गमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न
प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥ (२।१३२)

यहाँ तृतीय चरण के अन्त में आया हुआ 'न' गुरु हो गया है। इसके अतिरिक्त यह वृत्त चतुर्थविलास के ६ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ है।

(८) वंशस्थबिल—'वदन्ति वंशस्थबिलं जतौ जरौ' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् वंशस्थबिलवृत्त में क्रम से जगण, तगण, जगण और रगण का प्रयोग होता है। इसीको 'वंशस्थ' भी कहते हैं—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' (वृत्तरत्नाकर)। उदाहरण जैसे—

I S I S S I I S I S I S
सपल्लवा किन्तु विभाति वल्लरी
सफुल्लपद्मा किमियन्नु पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदां स्मितानना-
मितीक्षमाणैः समलम्भि संशयः॥ (२।१३७)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त इसी द्वितीयविलास के १४४ वें तथा १७६ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ है।

९. प्रमिताक्षरा—'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता' (छन्दोमञ्जरी)

अर्थात् प्रमिताक्षरवृत्त में क्रम से सगण, जगण और दो सगण आते हैं। यह केवल एक बार प्रथमविलास के १०५ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ है।

। । ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ
किमहं वदामि खल दिव्यतमं
गुणपक्षपातमभितो भवतः।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्
यदहर्निशं न खलु विस्मरसि॥ (१।१०५)

यहाँ चतुर्थ चरण के अन्त में आनेवाला 'सि' दीर्घ हो गया है।

१०. द्रुतविलम्बित--'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् द्रुतविलम्बितवृत्त में क्रम से नगण, दो भगण और रगण प्रयुक्त होते हैं—

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
अविरतं परकार्यकृतां सतां
मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो
विमल शारदपार्वणचन्द्रिका॥ (१।१११)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीय विलास के १५१ वें तथा १७३ वें पद्यों में प्रयुक्त है।

११. प्रहर्षिणी—'म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् प्रहर्षिणी वृत्त में क्रम से मगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। तीन और दश वर्णों के बाद यति होती है। जैसे—

ऽ ऽ ऽ, । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ,
स्वच्छन्दं दलदर विन्दते मरन्दं
विन्दन्तो विदधतु गुञ्जितं मिलिन्दा।
आमोदा नथहरिं दन्तराणि ने तुं
नैवान्यो जगति समीरणात् प्रवीणः॥ (१।१४)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त प्रथम विलास के ९४ वें तथा १२१ वें एवं द्वितीय विलास के ९१ वें पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

१२. मञ्जुभाषिणी–'सहसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् मञ्जुभाषिणी के प्रत्येक चरण में क्रम से सगण, जगण, सगण, जगण और एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

। । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ
गिरिगह्वरेषु गुरुगर्वगुम्फितो
गजराजपोत न कदाऽपि सञ्चरेः।

यदि बुध्यते हरिशिशुः स्तनन्धयो
भविता करेणुपरिशेषिता मही ॥ (१।५२)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीय विलास के १३३ वें पद्य में प्रयुक्त है।

१३. प्रबोधिता—'सजसा जगौ च भवति प्रबोधिता (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् प्रबोधिता के प्रत्येक चरण में क्रम से सगण, जगण सगण, जगण और एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। यह वृत्त केवल एक बार द्वितीय विलास के २८ वें पध मैं प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

। । S । S । । । S । S । ।
तिमिरं हरन्ति हरितां पुरःस्थिताः
स्थिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम् ।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥ (२।२८)

१४. वसन्ततिलक—'ज्ञेयं वसन्ततिलक तभजा जगौ गः' अर्थात् वसन्ततिलक प्रत्येक चरण में क्रम से तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु आते हैं। इसके वसन्ततिलका, सिंहोन्नता, उद्धर्षिणी तथा मधुमाधवी नामान्तर है। वृत्तरत्नाकर में कहा गया है—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः
सिंहोन्नतेयमुदिता मुनिकाश्यपेन।
उद्धर्षिणीति गदिता मुनि सैतवेन
रामेण सेयमुदिता मधुमाधवीति ।'

इसका उदाहरण जैसे—

S S । S । । । S । । S । S S
आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गाः
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्पकतमां गतिमभ्युपैतु॥ (१।१६)

इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग अधोलिखित पद्यों में हैं—

(क) प्रथम विलास—३६, ४६, ४८, ६८, ६९, ७०, ७४, ९२, ९३, ९९, १०२, १०३ तथा ११९ वें पद्यों में।

(ख) द्वितीय विलास—३, ४, ५, ६, १०, ७३, ७६, ८४, १२२, १५८, १७८, तथा १७९ वें में।

(ग) तृतीय विलास—प्रथम से लेकर १८ वें पद्य तक।

(घ) चतुर्थ विलास—८; ३३, और ४० वें पद्यों में।

१५. मालिनी —'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः' (छन्दोमञ्जरी)।
अर्थात् मालिनी के प्रत्येक चरण में क्रम से दो नगण मगण, तथा दो यगण प्रयुक्त होते हैं। इसमें आठ और सात पर यति होती है। जैसे—

। । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ

अयि दलदरविन्द स्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥ (१।४)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त प्रथम विलास के ३५ वे तथा ११८ वें एवं द्वितीय विलास के २६, २९ और ३२ वें पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

१६. शिखरिणी—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् शिखरिणी वृत के प्रत्येक चरण क्रम से यगण, मगण, नगण, सगण, भगण एक लघु तथा एक गुरु प्रयुग्त होते हैं। इसमें ६ और ११ पर यति होती है। जैसे—

। ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ, । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ,

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डा; करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलुः मृगाः।
इदानींल्लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः॥ (१।१)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त अधोलिखित पद्यों मे प्रयुक्त हुआ है—

(क) प्रथम विलास—३१, ३२, ३९, ४२, ५१, ५३, ५९, ७७, ८१ और ८२ वें पद्यों में।

(ख) द्वितीयविलास—५२, ५९, ६०, ६३, ७४, १४८, १५९ तथा १७४ वे पद्यों में।

(ग) चतुर्थविलास—५, ७, १३, २१, ३२, ३९, और ४२ वें पद्यों में।

१७. पृथ्वी—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् पृथ्वीवृत्त के प्रत्येक चरण में क्रम से जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, एक लघु तथा एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। आठ और नौ पर यति होती हैं। जैसे—

। ऽ । । । ऽ । ऽ, । । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ

पुरासरसिमानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य वीतं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्त्तताम्॥ (१।२)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीयविलास के ५८ वें तथा १६२ वें एवं चतुर्थविलास के प्रथम से चतुर्थ तक के पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

१८. मन्दाक्रान्ता—'मन्दक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो मनौ तौ गयुग्मम्' (छन्दोमंजरी) अर्थात् मन्दाक्रान्तावृत्त प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, भगण, नगण दो तगण और दो गुरु प्रयुक्त होते हैं। चार, छः और सात वर्णों पर यति होती है। जैसें—

ऽऽऽऽ, ।।।।।ऽ, ।ऽऽ।ऽऽ

तोयैरल्पैरपि करुणया भीमभानौ निदाघे
मालाकार व्यरचि भवता या तरोरस्य पुष्टिः
सा किं शक्या जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां
धारासारानपि विकिरता विश्वतो वारिदेन ॥ (१।२९)

इसमें चतुर्थचरण के अन्त में आनेवाला 'न' गुरु हो गया है। यह वृत्त इसके अतिरिक्त दितीयविलास के ६२ वें एवं चतुर्थविलास के १७, १८, १९ और २२ वें पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

१९. हरिणी—'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' (छन्दोमंजरी) अर्थात् हरिणीवृत्त के प्रत्येक चरण में क्रम से तगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु तथा एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। इसमें छः, चार और सात और सात वर्णों पर यति होती है। जैसे—

।।।।।ऽ, ऽऽऽऽ, ।ऽ।।ऽ।ऽ,

अकरुण मृषाभाषासिन्धो विमुञ्च ममाञ्चलं
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मयेत्यभिधायिनीम्।
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां
क इह भवतो भद्रे निद्रे विना विनिवेदयेत् ॥ (२।१९)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त चतुर्थविलास के ३५ वें पद्य में भी प्रयुक्त हुआ है।

२०. शार्दूलविक्रीडित—'सूर्य्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'। (छन्दोमंजरी) अर्थात् शार्दूलविक्रीडित वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, सगण, जगण, दो तगण और एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। इसमें बारह और सात वर्णों पर यति होती है। जैसे—

ऽऽऽ।।ऽ।ऽ।।।ऽऽऽ।ऽऽ।ऽ

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीञ्चकोरीगणे
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः किन्नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः ॥ (१।३)

यहाँ द्वितीय चरण के अन्त में आया हुआ 'ति' गुरु हो गया है। इसके अतिरिक्त यह वृत्त अधोलिखित पद्यों में प्रयुक्त है—

(क) प्रथमविलास—१५, ३०, ३३, ३४, ३७, ४०, ४५, ४७, ५४; ५५, ५६, ५७, ५८, ६२, ६५; ६६; ७१, ७६, ८४, १०१ तथा १२५ वें पद्यों में।

(ख) दितोयविलास—५१, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६१, ६४, ६८; ७५, ८३ और ११० वें पद्यों में।

(ग) चतुर्थविलास—१०, ११, १४, १५, १६, २०, ३७, ४१, ४३ तथा ४५ वें पद्यों में।

२. पुष्पिताग्रा—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' (छन्दोमंजरी) अर्थात् पुष्पिताग्रावृत्त के प्रथम और तृतीय चरणों में क्रम से दो नगण, रगण और यगण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में क्रम से नगण, दो जगण, रगण और एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

।।।। ।।ऽ।ऽ। ऽऽ, ।। ।।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽऽ

कमलिनि मलिनीकरोषि चेतः, किमिति वकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः।

परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते जगति भवन्तु चिरायुपो मिलिन्दाः ॥ (१।७)

इसके अतिरिक्त यह वृत्त प्रथमविलास के ७३ वें तथा द्वितीयविलास के ७ वें और बारहवें एवं चतुर्थविलास के २७ वें और ३४ वें पद्यों में प्रयुक्त है।

२२. सुन्दरी—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः, सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी तदा' (छन्दोमंजरी) अर्थात् सुन्दरीवृत्त के प्रथम और तृतीय चरणों में क्रम से दो सगण, एक जगण और एक गुरु तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में क्रम से सगण, भगण, रगण, एक लघु तथा एक गुरु प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

।।ऽ।।ऽ।ऽ।ऽ, ।।ऽऽ।।ऽ।ऽ।ऽ

दयितेर दनत्विषां मिषा–दयि तेऽमी विलसन्ति के दशः।

अपि चातकवेषधारिणो, मकरन्दस्पृहयालोऽलयः ॥

इसके अतिरिक्त यह वृत्त द्वितीयविलास के ७९, ८९, ९५, १००; १०८ तथा १६३ वें तथा चतुर्थविलास के २४ वें और २५ वें पद्यों में प्रयुक्त हुआ है।

२३. स्रग्धरा—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्। (छन्दोमंजरी) अर्थात् स्रग्धरावृत्त के प्रत्येक चरण में क्रम से मगण, रगण; भगण, नगण और तीन यगण प्रयुक्त होते हैं। इसमें तीन बार सात, सात, वर्णों पर यति होती है। जैसे—

S S S S S I S S, I I I I I I S, S I S S I S S
आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधेः
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥ (४।३८)

यह केवल एक ही बार प्रयुक्त हुआ है।

२४. कालभारिणी--'विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् कालभारिणी वृत्त के प्रथम और तृतीय चरणों में क्रम से दो सगण, जगण और दो गुरु तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में क्रम से सगण, भगण, रगण और यगण प्रयुक्त होते हैं। जैसे--

I I S I I S I S I S S, I I S S I I S I S I S S
अयि रोषमुरी करोषि नो चेत् किमपि त्वां प्रति वारिधे वदामः।
जलदे न तवार्थिनाविमुक्तान्यपि तोयानि मनाङ् न हा जहासि ॥
(१।४३)

इसके अतिरिक्त यह प्रथम विलास के १०९ वें, द्वितीय विलास के १, २, ८, १४, १६, १७, १८, २४, २५, ३१, ३५, ८२, ८८, ९०, ९३, ९८ १०९, ११७, १४५ और १६९ वें १८१ तथा १८२ वें पद्यों में, तृतीय विलास के १९ वें एवं चतुर्थ विलास के ३६ वें पद्य में प्रयुक्त हुआ है। इसी को वृत्तरत्नाकर में 'मालभारिणी' तथा वाग्वल्लभ में 'वसन्तमालिका' नाम दिया गया।

२५. आर्या--'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या ॥
(श्रुतबोध)

अर्थात् आर्या छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह मात्रायें द्वितीय चरण में अठारह मात्रायें और चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रायें होती है। जैसे--

S S S I I I I S = १२
तावत् कोकिल विरसान्
S I I I I S I S I I S = १८
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
S S I I I I S S = १२
यावन् मिलदलिमालः
S I I S S I S I I S = १५ (१।६)
कोऽपि रसालः समुल्लसति

यहाँ चतुर्थ चरण के अन्त में प्रयुक्त 'ति' गुरु हो गया है। इसके अतिरिक्त यह अधोलिखित पद्यों में प्रयुक्त है--

(क) प्रथम विलास--९, १२, २०, २१, २३, २४, २५, २७, २८, ४९, ७९, ८८, ९०, ९५, ९६, १००, १०६ एवं १२७ वें पद्यों मे।

(ख) द्वितीय विलास—३७, ४२, ५९, ५०, ६५, ८७, १०२, ११५, १२५, १२८, १३४, १४२, १६१, १६७, तथा ४४ पद्यों में।

(ग) चतुर्थ विलास—१२, २६, २९, ३२ तथा ४४ वें पद्यों में।

२६. गीति--'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् आर्या के प्रथम अर्द्ध के समान ही जिसका उत्तरार्द्ध भी होता है। उसे गीति वृत्त कहते हैं। आशय यह कि जिसके प्रथम और तृतीय चरणों में बारह मात्रायें तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में अठारह मात्रायें होती हैं, उसे गीति वृत्त कहते हैं—

ॱ ।।S।।।।SS = १२
समुपागतवति दैवाद्
।।SS।।।।।।SSS = १८
अवहेलां कुटज मधुकरे मा गाः।
।।S।S।SS = १२
मकरन्दतुन्दिलानाम्
।।SSS।S।SSS =१८
अरविन्दानामयं महामान्यः। (११५)

इसके अतिरिक्त यह छन्द अधोलिखित पद्यों में भी प्रयुक्त हुआ है—

(क) प्रथमविलास—८, ११, १३, १७, १८, १९, २६, ४१, ६७, ७८, ९८, १०४, १२० तथा १२९ वें पद्यों में।

(ख) द्वितीय विलास--३६, ३८, ३९, ४०, ४१, ४३, ४४, ४६, ४८, ६९, ८१, ८५, ९९, १११६, ११८, ११९, १६५, १६६, १७१ तथः १७२ वें पद्यों में।

(ग) चतुर्थ विलास--२३, २८ और ३१ वें।

२७. उपगीति 'आर्यापरार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् आर्या के उत्तरार्द्ध के तुल्य जिसके दोनों दल होते हैं उसे उपगीति कहते हैं। आशय यह कि उपगीति छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरणों में बारह मात्रायें तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में पन्द्रह मात्रायें होती हैं। जैसे—

।।। ।S। ।S।। = १२
तटिनि चिराय विचारय
S ।।S।। ।SSS = १५
विन्ध्यभुवस्तव पवित्रायाः।

ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ=१२।

शुष्यन्त्या अपि युक्तं

ऽ । । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ=१५

किं खलु रथ्योदकादानम् (१।२२)

प्रथम चरण के अन्त में प्रयुक्त 'य' पादान्त में होने पर भी गुरु नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त यह छन्द प्रथमविलास के ६०, ६३ और ८० वें पद्यों में, द्वितीयविलास के ८० वें तथा १०१ वें पद्यों में भी प्रयुक्त है।

२८. उद्गीति—'आर्य्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतः' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् आर्या का पूर्वार्द्ध जहाँ परार्द्ध रूप में तथा परार्द्ध पूर्वार्द्ध के रूप में प्रयुक्त होता है वहाँ उद्गीति छन्द होता है। आशय यह कि प्रथम और तृतीय चरणों में बारह मात्रायें, द्वितीय चरण में पन्द्रह मात्रायें, चतुर्थ चरण में १८ मात्रायें होती हैं।

जैसे—

। । । । । । । । । ऽ ऽ=१५

अयि मलयज महिमाऽयं

ऽ । । ऽ ऽ । । । ऽ ऽ=१५

कस्य गिरामस्तु विषयस्ते।

ऽ । । ऽ ऽ । । ऽ=१२

उद्गिरतो यद् गरलं

। । ऽ ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ ऽ=१८

फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः। (१।१०)

इसके अतिरिक्त यह छन्द प्रथमविलास के ७५ वें तथा द्वितीयविलास के ४७, ६६, ७०, ७२ तथा १५० वे पद्यों में भी प्रयुक्त हुआ है।

२९. वैतालीय—'षड् विषमेऽष्टौ समेकला स्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः॥' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् वैतालीय के प्रथम तथा तृतीय चरणों में छः मात्राओं के बाद एक रगण, एक गुरु होता है। और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में ८ मात्राओं के बाद एक रगण, एक लघु और एक गुरु होता है।

जैसे—

६	८
। । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ	। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
अधरद्युतिरस्तपल्लवा	मुखशोभाशशिकान्तिलङ्घिनी.
६	८
। । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ	। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
तनुरप्रतिमाचसुभ्रुवा	न विधेरस्य कृतिं विवक्षति। (२।६७)

यहाँ चतुर्थ चरण के अन्त में प्रयुक्त 'ति' गुरु है। इसके अलावा द्वितीय-विलास के १११, १२३ तथा १३९ वें पद्यों में भी यही छन्द प्रयुक्त हुआ है।

३०. औपच्छन्दसिक—'तत्रैवान्तेऽधिके गुरौ स्यादोपच्छन्दसिकं कवीन्द्रहृद्यम्' (छन्दोमञ्जरी) अर्थात् वैतालीय वृत्त के प्रत्येक चरणों के आगे यदि एक गुरु अधिक और अधिक होता है तो औपच्छन्दसिक वृत्त होता है।

जैसे—

६ ८

I I I I I I S I S I S S I I I I S I I S I S I S S

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां सहचरि दैववशेन दूरतोऽभूत्।

६ ८

I I I I I I S I S I S S I I I I S I I S I S I S S

तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै रथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु।

(२।१०५)

इसके अतिरिक्त द्वितीयविलास के १०६७ वे पद्य में भी यही छन्द प्रयुक्त है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भामिनी विलास में केवल एक ऐसा पद है जो इन छन्दों के लक्षणों की परिधि के बाहर है, साथ ही जिसने व्याख्याताओं के सामने समस्या प्रस्तुत कर दी है। वह है—

I I S I I S I S I S S I I S S I I S I S I S

लवलीन्तव लीलया कपोले कवलीकुर्वति कोमलत्विषा।

I I S I I S I S I S S I I S S I I S I S I S

परिपाण्डुरपुण्डरीकपण्डे परिपेतुः परितो महाधयः

यदि इस वृत्त को मात्रिक माना जाय तो प्रत्येक चरण में १६ मात्रायें हैं। परन्तु छन्दोमञ्जरी, वाग्वल्लभ तथा वृत्तरत्नाकर में कोई भी मात्रिक पद इस लक्षण से युक्त नहीं बताया गया। और यदि वर्णिक माना जाय तो प्रथम और तृतीय चरणों में 'कालभारिणी' विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम् का आधा (प्रथम और तृतीय चरणों) में लक्षण घटित हो जाता है तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 'सुन्दरी' का आधा (द्वितीय और चतुर्थ चरणों का) लक्षण 'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः, सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा' घटित होता है। पर पूरा लक्षण किसी भी वृत्त का नहीं घटित होता। अतः इसे हम सङ्कीर्ण मान कर उपजाति कह सकते हैं। श्री जीवानन्द जी ने तो यहाँ 'सुन्दरी' वृत्त बताया है। वैसे उन्होंने यहाँ कोई नई भूल नहीं की। अनेकों जगह उन्होंने वृत्तों के बताने में ऐसा प्रमाद व्यक्त किया है। उसका हमने

विभिन्न स्थलों पर अपनी व्याख्या में निर्देश कर रखा है। वस्तुतः हमने जो इतने विस्तार के साथ छन्दों का यह विवेचन प्रस्तुत किया है, उसका मुख्य कारण विशेष रूप से वृत्तों के निर्देश करने में जीवानन्द जी का प्रमाद ही रहा है। क़ोई भी पाठक प्रायः किसी भी व्याख्याता द्वारा दिये गये निर्देश को सही मान बैठता है विशेष कर छन्दादिक के विषय में, जोकि स्वाभाविक ही है। किसे यह पता रहता है कि व्याख्याकार ने विना सोचे समझे ही वृत्तों का निर्देश किया होगा। अन्य वातों के विषय में तो वैमत्य की भी सम्भावना रहती है पर छन्दों के विषय में कदाऽपि नहीं। उसमें तो अन्तर केवल इतना ही पड़ सकता है कि दो शास्त्रकारों द्वारा दिये गये भिन्न नाम हों। पर जो भी नाम दिया जायगा, कम से कम जिस ग्रन्थकार के अनुसार होगा, उसका तो लक्षण घटित होगा ही पर आश्चर्य तो इस बात का है कि जीवानन्द जीने लक्षण तो वही दे रखा है कि जो कि 'छन्दोमंजरी' से हमने उद्धृत कर रखा है पर विचार नहीं किया कि वह यहाँ घटित भी होता है या नहीं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसके विषय में लिखा है—"इसे एक प्रकार की 'उपजाति छन्द कहना चाहिए। इसमें 'वैतालीय' और 'औपच्छन्दसिक' का सङ्कर है।" परन्तु यदि ऐसा संकर मान कर 'उपजाति' वृत्त ही वताना है तो जैसा हमने ऊपर इसमें 'कालभारिणी' के सङ्कर का निर्देश किया है वही अधिक समीचीन है। क्यों कि प्रथम और तृतीय चरणों में 'औपच्छन्दसिक' के प्रथम और तृतीय चरणों का लक्षण तो घटित हो जाता है परन्तु द्वितीय और चतुर्थ चरण में 'वैतालीय' के द्वितीय और चतुर्थ चरणों का लक्षण न घटित होकर प्रथम और तृतीय चरणों का लक्षण घटित होता है। यही असङ्गति हैं। जव कि हमारे विवेचन के अनुसार यहाँ प्रथम और तृतीय चरणों में 'कालभारिणी' के प्रथम और तृतीय चरणों का तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 'सुन्दरी' के द्वितीय और चतुर्थ चरणों का ही लक्षण घटित हो जाता है।

आभार प्रदर्शन

१३ अक्टूबर सन् १९६४ई० को मैं अपने ग्रन्थ 'आचार्य कुन्तकविरचित वक्रोक्तिजीवित' (जिसका हिन्दीरूपान्तर हमने किया था, उस)की पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी को प्रदान करने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसके अनुबन्ध के अनन्तर उनकी ओर से हमें प्रस्तुत ग्रन्थ का रूपान्तर करने का कार्यभार सौंपा गया। पण्डितराज के इस ग्रन्थ के अध्ययनोपरान्त हमारी भी आन्तरिक जिज्ञासा थी कि हम इसका रूपान्तर राष्ट्रभाषा में करें। अभी तक केवल आचार्य महावीर प्रसाद

जी द्विवेदी का ही हिन्दी रूपान्तर उपलब्ध था। सम्भवतः इस ग्रन्थ का कुछ अंश कई विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। इसीलिए विद्यार्थियों की सुविधा का ध्यान रखते हुए हमने इसके प्रत्येक श्लोक का अन्वय, मूलानुसारी हिन्दी रूपान्तर तदन्तर व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्या में यथा सम्भव कठिन पदों के अर्थ समास, व्याकरण, कोश, अलङ्कार, रस, गुण, छन्द आदि का यथोचित विवेचन करने का प्रयास किया है। उस प्रयास में जो त्रुटियाँ रह गयी हों विद्वज्जन उसके लिए क्षमा करेंगे। जहाँ तक इस ग्रन्थ के पद्यों की संख्या का प्रश्न है वह विभिन्न संस्करण में भिन्न-भिन्न हैं। इस संस्करण में हमने यथा सम्भव सभी उपलब्ध पद्यो को संकलित कर उसका हिन्दी रूपान्तर व्याख्या आदि प्रस्तुत कर दिया है, जिससे किसी भी संस्करण द्वारा पढ़ाये जाने पर विद्यार्थियों को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। चूंकि प्रारम्भ में अपने पूज्य गुरुवर्य डा० लालरमायदुपाल सिंह जी, भूतपूर्व प्राध्यापक संस्कृत-विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय की महती अनुकम्पा से जीवानन्द संस्करण ही प्राप्त हो सका था अतः हमने पद्यों का क्रम उसी संस्करण के आधार पर रखा है जितने उसमें उपलब्ध हो सके हैं। शेष खेमराज आदि संस्करणों से संकलिन कर प्रस्तुत किया है। हम डा० साहब के आभारी हैं जिन्होंने पुस्तकों के अतिरिक्त उस कार्य को पूर्ण करने की सतत प्रेरणा दी। यद्यपि उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारी धृष्टता ही होगी। इसके अतिरिक्त हन सभी ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं जिनसे हमें इस कार्य को यह रूप प्रदान करने में सहायता मिली है। हम इस अवसर पर श्री आनन्द माधव शरण जी, श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र जी एवं श्री बद्री प्रसाद पांडेय प्रभृति अपने घनिष्ठ सम्बन्धियों तथा मित्रों को बिना धन्यवाद दिये नहीं रह सकते जिन्होंने तमाम झंझटों में पड़े रहने पर भी हमें यथोचित उत्साह और साहाय्य प्रदान कर इस कार्य को पूर्ण करने की प्रेरणा दी। चौखम्बा सीरीज़ के प्रति तो हम आभारी हैं ही जिनकी प्रेरणा से हमने यह कार्य प्रारम्भ किया और जो इसे प्रकाशित कर रहे हैं।

अस्तु! यदि हमारे इस प्रयास से विद्यार्थियों एवं विद्वानों का कुछ भी लाभ हो सकेगा, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

२४२ मालवीय नगर
इलाहाबाद

विनीत
राधे श्याम मिश्र

* श्रीः *

पण्डितराज जगन्नाथविरचितः

भामिनी-विलासः

सान्वय-'प्रकाश'-हिन्दी-व्याख्योपेतः

प्रथमः प्रास्ताविक-विलासः[1]

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानाम्पुनरयं
नखानाम्पाण्डित्यम्प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ॥१॥

अन्वयः—मदमलिनगण्डाः करटिनः दिगन्ते श्रूयन्ते; करिण्यः कारुण्यास्पदम्, मृगाः खलु असमशीलाः । पुनः इदानीम् अयम् मृगपतिः अस्मिन् लोके अनुपमशिखानां नखानाम् पाण्डित्यं कस्मिन् प्रकटयतु ।

हिन्दीरूपान्तर—मदजल से मलिन हो गये कपोलस्थल वाले हाथी दिशाओं के अन्त में सुनाई पड़ते हैं; हथिनियाँ करुणा की भाजन हैं, हरिण (इत्यादि अन्य पशु) निश्चय ही असमान पराक्रम वाले (क्षुद्र) हैं; तो भला इस समय यह मृगराज इस संसार में अद्वितीय अग्रभाग वाले अपने नाखूनों की निपुणता किस पर जाहिर करे ।

व्याख्या—जैसा कि हमने भूमिका में उताया है कि 'भामिनीविलास' पण्डितराज जगन्नाथ के फुटकल पद्यों का संग्रह है । इसमें के लगभग पैंसठ

---

१ माधुर्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता ।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायां मम सुधाकविता ॥

[इति प्रथमः श्लोकः क्वचिदुपलभ्यते]

माधुर्य की सीमा को प्राप्त करनेवाली, विद्यारूपी समुद्र के मथन से उत्पन्न होनेवाली तथा पान करने में परमानन्द को प्राप्त करानेवाली यह मेरी कविता पृथिवी पर अमृत के समान है ।

प्रतिशत से भी अधिक पद्य 'रसगङ्गाधर' में प्राप्त होते हैं। रस-गङ्गाधर के प्रारम्भ में की गई अपनी प्रतिज्ञा—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यम्ममाऽत्र निहितन्न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसाम्मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

—का पालन करते हुए तमाम उदाहरणों के रूप में उन्होंने इस संग्रह के पद्यों का निर्माण किया है। इसलिये इस सम्पूर्ण काव्य में कथानक के किसी भी प्रकार के तारतम्य को नहीं देखा जा सकता। सभी पद्य अपने में स्वतन्त्र हैं। प्रस्तुत पद्य में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलङ्कार का निरूपण है। प्रथम विलास के लगभग पचास प्रतिशत से अधिक पद्यों में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' ही है। इसीलिए कहीं-कहीं इसका नाम 'प्रास्ताविक-विलास' के बजाय 'अन्योक्ति-विलास' भी मिलता है। परन्तु वह नाम समीचीन नहीं क्योंकि रसगङ्गाधर-कार ही नहीं बल्कि प्राचीन से भी प्राचीन अथवा अर्वाचीनतम किसी भी संस्कृत आलङ्कारिक ने 'अन्योक्ति' अलङ्कार नहीं स्वीकार किया। केवल रुद्रट एक ऐसे आलङ्कारिक हैं जिन्होंने औपम्यमूलक अलङ्कारों में इस अन्योक्ति अलङ्कार को स्वीकार किया है। उनका लक्षण है—

असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साऽन्योक्तिः ॥

इसका उदाहरण उन्होंने दिया है—

मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरःसरसम् ।
बकलुलितजलम्पल्वलमभिलषसि सखे ! न हंसोऽसि ॥

इस पर नमिसाधु कहते हैं—'अत्र हंसेनोपमानेनोक्तेन सज्जनः प्रतीयते।' परन्तु रुद्रट की यह संज्ञा इनसे प्राचीन किसी आलङ्कारिक ने नहीं दी और नहीं बाद के किसी आलङ्कारिक ने इसे स्वीकार ही किया। हिन्दी में भले ही बाबा दीनदयाल की अन्योक्तियाँ प्रसिद्ध हुई हों। अतः वह नाम समीचीन नहीं। पण्डितराज के अनुसार अप्रस्तुत-प्रशंसा वहाँ होती है जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार का वर्णन किया जाता है। यह पाँच प्रकार की होती है—

१. सादृश्यमूला—जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा अपने सदृश प्रस्तुत व्यवहार की प्रतीति कराई जाती है।

२. कार्यमूला—जहाँ अप्रस्तुत कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण की प्रतीति होती है :

३, कारणमूला—जहाँ अप्रस्तुत कारण के द्वारा प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होती है।

४. सामान्यमूला—जहाँ अप्रस्तुत सामान्य के द्वारा प्रस्तुत विशेष की प्रतीति होती है।

५. विशेषमूला—जहाँ अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होती है।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा प्रस्तुत किया है। यहाँ अप्रस्तुत है मृगराज का वर्णन। परन्तु इस मृगराज के व्यवहार से उसी के सदृश उस राजा के व्यवहार की प्रतीति होती है, जिसने समस्त शत्रुओं को परास्त कर अपने राज्य से दूर भगा दिया है, जिनकी वियोगिनी अथवा विधवा स्त्रियाँ ही अवशिष्ट रह गई हैं। यहाँ कविने जो 'श्रूयन्ते' पद का प्रयोग किया है वह इस बात का व्यञ्जक है कि केवल सुनाई ही पड़ते हैं; पता नहीं हैं, भी या नहीं। अथवा शास्त्रार्थ में समस्त पण्डितम्मन्यों को परास्त कर देने वाले विद्वान् के व्यवहार की भी प्रतीति मानी जा सकती है। रसगङ्गाधर में अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण इस प्रकार है—'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाण-प्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसा। प्रशसनञ्च वर्णनमात्रन्न तु स्तुतिः। ×× इयञ्च पञ्चधा। (१) अप्रस्तुतेन स्वसदृशं प्रस्तुतं गम्यते यस्यामित्येका। (२) कार्येण कारणमित्यपरा। (३) कारणेन कार्यमिति तृतीया। (४) सामान्येन विशेष इति चतुर्थी। (५) विशेषण सामान्यमिति पञ्चमी।

कुछ विद्वान् इस पद्य द्वारा स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ के वृत्तान्त को प्रस्तुत रूप में स्वीकार करते हैं। यह सम्भव है क्योंकि पण्डितराज को अपने पर गर्व तो बहुत ही था। जैसा कि इसी ग्रन्थ के चतुर्थ विलास में स्वयं वे यह कह जाते हैं कि—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

(क) दिगन्ते—दिशामन्तः, दिगन्तः तस्मिन् दिगन्ते। दिशति अवकाशं ददाति या सा दिक् (दिश + क्विन्)। 'आशाः ककुभः काष्ठा हरितश्च दिशः' इति हलायुधः। 'अन्तः प्रान्ते स्वरूपे च समीपे निधनेऽपि च' इति नानार्थसंग्रहः। दिशाओं के प्रान्त भाग में। (ख) मदमलिनगण्डाः—मदयतीति मदः (मद + अच्)। 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः' इति मेदिनी। यहाँ मद का अर्थ हाथी के गण्डस्थल से बहने वाला दानजल है।

मदेन मलिनम् मदमलिनम्। 'कश्मलं मलिनं म्लानं मलीमसम्' इति हलायुधः। (मल + इनच्) मदमलिनं गण्डं येषान्ते मदमलिनगण्डाः (बहु०) 'गण्डो गल्लः कपोलश्च हनुः' इति हलायुधः। (गडि आस्यैकदेशे + अच्) जिनके कपोल दान जल से मलिन हो गए हैं। (ग) करटिनः—करट कहते हैं हाथी के गण्डस्थल को 'करटो गजगण्डे स्यात् कुसुम्भे निन्द्यजीविनि' (विश्वप्रकाशः)। किरति विक्षिपति मदवारि इति करटः (कृ + अटन्) करटः अस्ति अस्येति करटी (करट + इनि) तस्य बहुवचने करटिनः। अर्थात् हाथी। (घ) करिण्यः—करिन् शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्। करः अस्यास्तीति करी (कर + इनि) करी माने हाथी होता है इसलिए करिण्यः का अर्थ हथिनियाँ है। अमरकोश है—दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी।' (ङ) कारुण्यास्पदम्—करुणा एव कारुण्यम् (करुणा + ष्यञ्) "कारुण्यं करुणा घृणा कृपा दयाऽनुकम्पा' इत्यमरः। कारुण्यस्य आस्पदम् कारुण्यास्पदम्। 'आस्पदं पदकृत्ययोः (नानार्थसंग्रहः)। आपद्यतेऽस्मिन् इति आस्पदम्। "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' (६।१।१४६) इति साधुः। (च) 'स्मृति' भी स्त्री को अवध्य बताती है—'अवध्याश्च स्त्रियम्प्राहुस्तिर्य्यग्योनिगतामपि।' असमशीलाः—न सममसमम्। असमं शीलं येषां ते असमशीलाः। शीलयतीति शीलम् (शील समाधाने + अच्)। 'चरित्रं चरितं शीलं चारित्रञ्च समं स्मृतम्' इसि हलायुधः। जो असमान चरित्र वाले हैं। जब उनके चरित्र ही समान नहीं—नीचे हैं तो उन पर कैसे पराक्रम दिखाया जाय। फिर कहाँ मृग और कहाँ मृगपति ? दोनों में समानता हो ही कैसे सकती है ? (छ) मृगाः—"मृगः पशौ मार्गशीर्षे एणे यज्ञभेदयोः' (नानार्थसंग्रहः)। यहाँ मृग का अर्थ सामान्य पशु और हरिण दोनों ही लिया जा सकता है। (ज) अनुपमशिखानाम्—न विद्यते उपमा यस्याः सा अनुपमा। अनुपमा शिखा येषान्तेऽनुपमशिखाः, तेषामनुपमशिखानाम्। शिखा का अर्थ यहाँ अगले हिस्से से है—'शिखा शाखाशिफाग्रेषु चूडाप्रवालयोरपि। ज्वालायां बर्हिचूडायाम्' (नानार्थसंग्रहः)। (झ) पाण्डित्यम्—पण्डितस्य भावः पाण्डित्यम् (पण्डित + ष्यञ्)। पण्डित शब्द 'पण्डा' से 'इतच्' करके बनता है 'पण्डा वेदोज्ज्वला तत्त्वविषयिणी वा बुद्धिः जाता अस्य इति पण्डितः 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् (५।२।३६) इति इतच्। यहाँ पर नख का पाण्डित्य बताया गया है। अतः यहाँ पाण्डित्य शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। उससे नखों की अत्यन्त तीव्रता लक्षित होती है। (ञ) मृगपतिः—मृगाणाम्पतिः मृगपतिः। 'पतिः प्रभौ गतौ मूले' (नानार्थसंग्रहः)। 'हरिर्मृगपतिः पञ्चाननः केसरी, हर्य्यक्षो नखरायुधो मृगरिपुः सिंहश्च कण्ठीरवः' इति हलायुधः।

इस पद्य में 'शिखरिणी' छन्द है। लक्षण है—"रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी।" (छन्दोमञ्जरी)॥ १॥

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य वीतं[1] वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे! कथं वर्त्तताम् ॥२॥

अन्वयः—पुरा यस्य वयः मानसे सरसि विकचसारसालिस्खलत्परागसुरभीकृते पयसि वीतम्, सः मरालकुलनायकः अधुना मिलदनेकभेकाकुले पल्वलजले कथं वर्त्तताम् रे! कथय।

हिन्दीरूपान्तर—पहले जिसका यौवन मानससरोवर में खिली हुई कमल-पंक्तियों से गिरते हुए पराग से सुवासित जल में व्यतीत हुई थी, वही श्रेष्ठ राजहंस अब (बुढ़ापे में) इकट्ठे होते हुए तमाम मेढकों से व्याप्त तलइया के जल में कैसे रहे? ज़रा, बताओ तो।

व्याख्या—इस पद्य में भी कवि ने सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। यहाँ पर अप्रस्तुत है राजहंस का वर्णन। उस राजहंस के वर्णन के द्वारा किसी ऐसे महाकवि अथवा पण्डित की प्रतीति होती है जिसने अपना प्रारम्भिक जीवन किसी सर्व-सम्पन्न प्रभु के आश्रय में व्यतीत किया किन्तु दैववशात् उसे अपनी वृद्धावस्था में बाध्य होकर किसी तुच्छ नरेश के आश्रय में बितानी पड़ रही है, जिससे वह कदापि सन्तुष्ट नहीं। यहाँ वाच्यार्थ को कहीं भी प्रतीयमान अर्थ के तादात्म्य की अपेक्षा नहीं है अतः वह बिल्कुल तटस्थ है। (क) सरसि—'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः। (ख) मानसे—मानस का अर्थ यहाँ मानससरोवर से है—'मानसं सरसि स्वान्ते' (विश्वप्रकाशः)। वाल्मीकि-रामायण में मानससरोवर का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—'कैलाशपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्। ब्रह्मणा नरशार्दूल! तेनेदं मानसं सरः॥ तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते। सरित् प्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता॥' (ग) विकचसारसालिस्खलत्परागसुरभीकृते—सरसि भवम् सारसम् (सरस्+अण्)।' सारसः पक्षिभेदे स्यात् सारसं सरसीरुहे' विश्वप्रकाशः। सारस का अर्थ है कमल। अल्यतेऽनयेति आलिः (अल् वारणे +इञ्) पङ्क्तिः 'पुंस्यालिर्विशदाशये। त्रिषु स्त्रियां वयस्यायां सेतौ पङ्क्तौ प्रकीर्त्तिता।' (मेदिनीकोशः) विकचानि सारसानि विकचसारसानि। 'विकचः क्षपणे केतुग्रहे च स्फुटितेऽन्यवत्।' (विश्वप्रकाशः)। यहाँ विकच का

१. 'यातम्' इति पाठान्तरम्।

अर्थ खिले हुए हैं। विकचसारसानामालिः विकचसारसालिः। स्खलन् परागः स्खलत्परागः। विकचसारसालिभ्यः स्खलत्परागः विकचसारसालिस्खलत्परागः। फूल की धूलि को पराग कहते हैं—'पौष्पं रजः परागः स्यात्।' (हलायुध-कोशः)। न सुरभिः असुरभिः। असुरभिः सुरभिः कृतम् इति सुरभीकृतम्। 'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकबलेन 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि-च्विः'' (५।४।५०) इति सूत्रेण च्विः। विकचसारसालिस्खलत्परागैः सुरभीकृतम् विकचसारसालिस्खलत्परागसुरभीकृतम्, तस्मिन्। अर्थात् विकसित कमलों की पंक्तियों से गिरती हुई पुष्पधूलि से सुगन्धित किये गये जल में। (घ) पयसि—''पयः क्षीरे तथाऽम्भसि'' (नानार्थसंग्रहः) अर्थात् जल में। (ङ) वीतम्—विशेषेण इतम् गतम् इति वीतम् (वि + इण् गतौ + क्त)। (च) वयः—वय का अर्थ यहाँ यौवन है—'वयः पक्षिणि धान्यादौ दृश्यते यौवनेऽपि च।' (नानार्थसंग्रहः)। (छ) पल्वलजले—पल्वलस्य जलम् पल्वलजलम्। तस्मिन्। पल्वल का अर्थ छोटा तालाब या तलैया होता है। भावप्रकाश में कहा गया है—''अल्पं सरः पल्वलं स्याद् तत्र चन्द्रार्कगे रवौ। न तिष्ठति जलं किञ्चित् तत्रत्यं वारि पाल्वलम्।' (ज) मिलदनेकभेकाकुले—न एकः अनेकः। अनेके भेकाः अनेकभेकाः। भेक का अर्थ यहाँ मेढक है—'भेको मण्डूकमेघयोः' (मेदिनी)। मिलन्तः अनेकभेकाः मिलदनेकभेकाः। तैः आकुलं मिलदनेकभेकाकुलम्, तस्मिन्। (झ) मरालकुलनायकः—मरालानां कुलानि मरालकुलानि। मराल राजहंस को कहते हैं—'मरालः राजहंसः' इति जटाधरः (शब्दकल्पद्रुमः)। 'कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च' (मेदिनी)। मरालकुलानां नायकः मरालकुलनायकः। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' (विश्वप्रकाशः) यहाँ नायक का अर्थ श्रेष्ठ है। 'रे' सम्बोधन अनादरसूचक है। (ञ) वर्त्तताम्—में वृतु वर्त्तने धातु से सम्भावना अर्थ में लोट्लकार प्रयुक्त हुआ है। आशय है कि कैसे रहे अर्थात् किसी भी तरह नहीं रह सकेगा ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। इसमें 'पृथ्वी' छन्द है। लक्षण है—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।' (छन्दोमञ्जरी)॥ २॥

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीञ्चकोरीगणे
मौनम्मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि[1] प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः ! किन्नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥३॥

---

१. 'प्रस्थानकामेऽधुना' इति पाठान्तरम्।

अन्वयः--हे धातः ! तृष्णालोलविलोचने चकोरीगणे प्राचीं कलयति, किञ्च कैरवकुले मौनम् मुञ्चति, कामे धनुः धुन्वति, अधुना मानवतीजनस्य माने सपदि प्रस्थातुकामे; विधौ धाराधराडम्बरः विधातुम् उचितः किन्नु ?

हिन्दीरूपान्तर—अरे विधाता ! (चन्द्रकिरणों की) पिपासा के कारण चञ्चल नयनों वाली चकोरियों के पूर्व दिशा की ओर दौड़ पड़ने पर, साथ ही कुमुदों के मौन (अर्थात् मुकुलीभाव) को त्याग देने पर, कामदेव के धनुष् उठा लेने पर तथा मानिनियों के मान के तुरन्त भाग जाने की इच्छा-वाले हो जाने पर, चन्द्रमा पर बादलों का (तेरा यह) फैलाव क्या उचित है ? (कदापि उचित नहीं) ।

व्याख्या—यहाँ विधाता को उसकी निर्दयता के लिए उलाहना दे रहा है । कवि का विधि के प्रति असूया भाव यहाँ ध्वनित होता है । यद्यपि अमर्ष भी उस असूया भाव का सहायक माना जा सकता है । असूया का लक्षण है--'असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।

दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ।।' (साहित्यदर्पणः)अर्थात् औद्धत्य-के कारण दूसरे की गुणसमृद्धि का सहन न कर सकना असूया कहलाता है । इसमें दोषकथन, भ्रुकुटिभङ्ग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि कार्य पाये जाते हैं । असूया भावध्वनि के साथ ही यहाँ पर सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा भी है । यहाँ अप्रस्तुत विधाता के द्वारा चन्द्रमा के ऊपर धाराधराडम्बर से प्रस्तुत किसी व्यक्ति का एकदम बना हुआ कार्य विगड़ जाना प्रतीत होता है । (क) तृष्णालोल-विलोचने–तृष्णया लोलं तृष्णालोलम् । 'तृष्णातर्षतृषाशब्दाः पिपासायामथेप्सित ।' (नानार्थसंग्रहः) यहाँ तृष्णा का अर्थ पिपासा ही है क्योंकि चकोर पक्षी चन्द्र-किरणों का पान करता है ऐसा कविसमय है । तृष्णालोलं विलोचनं यस्य सः तृष्णालोलविलोचनः, तस्मिन् । 'लोलः स्याद् वाच्यलिङ्गकः सतृष्णे चञ्चले' (मेदिनीकोशः) । (ख) प्राचीम्-प्रथममञ्चति सूर्यं प्राप्नोतीति प्राची (प्र+अञ्च् + ङीप्) । 'ऐन्द्री पूर्वा प्राची' इति हलायुधः । पूरब दिशा को प्राची कहते हैं । (ग) चकोरीगणे--चकोर एक पक्षीविशेष है जो कि चन्द्रिका का पान करने वाला माना गया है । चकोर शब्द की निष्पत्ति 'चकि तृप्तौ' धातु से 'चकते चन्द्रकिरणैः तृप्यति' इस अर्थ में 'कठिचकिभ्यामोरन्' (उ० ६४) सूत्र से ओरन् प्रत्यय करने से होती है । अतः नान्त होने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्रत्यय कर के चकोरी बनेगा । चकोरीणां गणः चकोरीगणः, तस्मिन् । (घ) कैरवकुले—कैरवाणां कुलम् कैरवकुलम्, तस्मिन् । 'कैरवं कुमुदे चोक्तम्' (विश्वप्रकाशः) । कैरव का अर्थ कुमुद है ।

कुमुदों के लिये जो मौन त्याग देने की बात कही गई है वह लाक्षणिक है क्यों कि मौन धारण करना अथवा उसका त्याग करना चेतन का धर्म है परन्तु जैसे कि चेतन प्राणी मौन धारण करता है तो मुंह वन्द रखता है उसी प्रकार कुमुद के मौन धारण करने से आशय उसके मुकुलित होने से है। मौन-त्याग का मतलब खिल जाने से है। अतः यहाँ उपचार-वक्रता है। (ङ) मानम्—मान नायिकाओं के कोप को कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है १. प्रणयमान और २. ईर्ष्यामान। साहित्य-दर्पण में मान का लक्षण इस प्रकार है—'मानः कोपः सः तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः' प्रणयमान का लक्षण है—

'द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।

प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ॥' अर्थात् प्रेम की कुटिल गति होने के कारण नायक और नायिका दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम के रहने पर भी जो अकारण एक दूसरे पर कोप होता है उसे प्रणयमान कहते हैं। और ईर्ष्यामान का लक्षण है—'पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते। ईर्ष्या-मानो भवेत् स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा। उत्स्वप्नायित-भोगाङ्क-गोत्रस्खलन-सम्भवा।" (साहित्यदर्पणः) पति की दूसरी स्त्री में आसक्ति देखने पर या अनुमान कर लेने पर अथवा सुनाई पड़ने पर स्त्रियों में जो कोप उत्पन्न होता है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं। उसमें अनुमान तीन तरह से होता है—१. नायक के स्वप्न में दूसरी नायिका के सम्बन्ध में बड़-बड़ाने से, २. नायक में दूसरी नायिका के सम्भोगचिह्नों के दिखाई पड़ने से तथा ३. अचानक नायक के मुख से उस नायिका का नाम निकल आने से। (च) विधौ— चन्द्रमा पर 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशेऽपि राक्षसे' (विश्वप्रकाशः)। (छ) धाराधराडम्बरः—धरतीति धरः (धृ + अच्) धाराणां धरः धाराधरः। अभ्रमब्दो घनो मेघः स्तनयित्नुः पयोधरः। धाराधरः' इति हलायुधः। धाराधराणामाडम्बरः धाराधराडम्बरः 'आडम्बरः समारम्भे गजगर्ज्जिततूर्ययोः' (विश्वप्रकाशः)। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।' (छन्दोमञ्जरी) ॥३॥

अयि दलदरविन्द ! स्यन्दमानम्मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ॥ ४ ॥

अन्वयः--अयि दलदरविन्द ! तव स्यन्दमानम् मरन्दं लिहन्तः भृङ्गाः किमपि मञ्जु गुञ्जन्तु, (किन्तु) निरपेक्षः (सन्) दिशि दिशि वावकीनम् परिमलं विवृण्वन् अयम् अन्यः गन्धवाहः (तव) बान्धवः (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर---ऐ खिलते हुए कमल ! तुम्हारे गिरते हुए मकरन्द का पान करते हुए ये भौरें कुछ अस्पष्ट एवं मनोहारी गुञ्जार भले करें, (लेकिन) निरपेक्ष होकर प्रत्येक दिशा में तुम्हारी सुगन्ध को विखेरता हुआ यह दूसरा पवन (ही तुम्हारा असली) बान्धव है।

व्याख्या---यहाँ पर अप्रस्तुत अरविन्द के द्वारा किसी ऐसे प्रस्तुत नासमझ व्यक्ति की प्रतीति कराई गई है जो कि स्वार्थवश प्रेम रखने वाले एवं चापलूसी करने वाले व्यक्तियों को अत्यधिक सम्मान देता है और अपना वड़ा हितैषी समझता है, लेकिन जो सचमुच उससे प्रेम करता है और निरपेक्ष भाव से किर्ति को सर्वत्र प्रकाशित करता है उसके प्रति उपेक्षा का भाव रखता है। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। भँवरे कमल के पास आते हैं और मधुपान करते हुए मधुर गुंजार करते हैं परन्तु जिस समय कमल मधु से हीन हो जाता है या कि भँवरे मधुपान कर चुकते हैं तो उससे दूर हो जाते हैं, अतः वे उसके असली दोस्त नहीं बल्कि बनावटी हैं, आजकल की भाषा में उन्हें हम चाय-पानी के दोस्त कह सकते हैं लेकिन पवन निरपेक्ष भाव से सदैव उसकी सुगन्ध को दूर-दूर चारों ओर फैलाता है, अतः वह श्लाघ्य है और असली दोस्त है। यहाँ कवि ने जो 'कमल' को सम्बोधित किया है वह उसके पुष्प होने के कारण अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए हमें उस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए प्रतीयमान नासमझ व्यक्ति के तादात्म्य की अपेक्षा होती है। पहले के पद्यों से इस पद्य में प्रस्तुत की गई सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा से यही भेद है। वहाँ प्रतीयमानार्थ से वाच्यार्थ बिल्कुल तटस्थ है परन्तु यहाँ आंशिक रूप में प्रतीयमानार्थ के तादात्म्य की वाच्यार्थ को अपेक्षा है। इसीलिए रसगङ्गाधर में कहा गया है—"अस्याञ्च (अप्रस्तुतप्रशंसायाम्) वाच्यार्थः क्वचित् प्रतीयमानार्थताटस्थ्येनैवावतिष्ठते""क्वचिच्च स्वगतविशेषणान्वययोग्यतामासादयितुं प्रतीयमानाभेदमपेक्षते।' (क) दलदरविन्द—दलत् अरविन्दम् दलदरविन्दम्। तत्सम्बुद्धौ हे दलदरविन्द ! (दल विशरणे + शतृ-दलत्)। 'राजीवमरविन्दञ्च पद्म पङ्कजमिष्यते' इति हलायुधः। (ख) स्यन्दमानम् (स्यन्दू प्रस्रवणे + शानच् + अम्)। (ग) मरन्दम्—मरन्द का अर्थ मकरन्द या पुष्परस होता है। शब्दकल्पद्रुम में 'मरं मरणं द्यति खण्डयति भ्रमराणां इति मरन्दः' ऐसी व्युत्पत्ति देकर पुष्परस को

भ्रमरों का प्राणाधायक मान कर मकरन्द अर्थ किया गया है। देखें शब्दकल्पद्रुम। यहाँ कवि ने 'किमपि' के प्रयोग द्वारा भ्रमरों के मधुर गुंजार की अस्फुटता अथवा अनिर्वचनीयता को प्रस्तुत किया है। कुन्तक के अनुसार यहाँ 'संवृति-वक्रता' है। (घ) लिहन्तः—(लिह आस्वादने+शतृ+जस्)। (ङ) मञ्जु—"सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्। कान्तम्मनोरमं रुच्यम्मनोज्ञम्मञ्जु मञ्जुलम्॥" इत्यमरः। (च) भृङ्गाः—"मधुकर-मधुपमधुव्रतशिलीमुखभ्रमरभृङ्गपुष्पलिहः" इति हलायुधः। (छ) निरपेक्षः—निर्गता अपेक्षा यस्मात् सः निरपेक्षः। (ज) तावकीनम्—तव अयन्तावकीनः, तम्। (युस्मद्+खञ्) 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च' (४।३।१) इति खञ् प्रत्ययः। तथा 'तवकममकावेकवचने' (४।३।३) इति तवकादेशः। (झ) परिमलम्—आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यञ्ज सुगन्धिता' इति हलायुधः। (ञ) बान्धव—बन्धुरेव बान्धवः। बन्धुशब्दात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५।४।३८) सूत्रेणाण् प्रत्ययः। (ट) गन्धवाहः—गन्धं वहतीति गन्धवाहः। (गन्ध+वह्+अण्। 'कर्म्मण्यण्' (३।२।१) 'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः।' इत्यमरः। इस श्लोक में कवि ने मालिनीवृत्त का उपयोग किया है। लक्षण है—'ननमययुतेयम्मालिनी भोगिलोकैः।' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४॥

समुपागतवति दैवादवहेलां कुटज! मधुकरे मा गाः।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयं महामान्यः॥ ५॥

अन्वयः—हे कुटज! दैवात् मधुकरे समुपागतवति अवहेलाम् मा गाः, (यतः) अयम् मकरन्दतुन्दिलानाम्, अरविन्दानाम् महामान्यः।

हिन्दीरूपान्तर—हे कुटज! दैवयोग से भँवरे के समीप आ जाने पर (उसका) अपमान मत कर (क्योंकि) यह मकरन्द से परिपूर्ण कमलों का (भी) अत्यन्त आदरणीय है।

व्याख्या—यहाँ पर अप्रस्तुत कुटज से किसी ऐसे घमण्डी व्यक्ति की प्रतीति होती है जो कि दरअसल तो किसी काम का नहीं है परन्तु हमेशा अपनी शेखी में ही मस्त रहता है और किसी योग्य व्यक्ति की अवहेलना कर बैठता है, उसे उचित सम्मान नहीं देता। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है। साथ ही ऊपर पूर्वार्द्ध में कहे गये वाक्यार्थ के समर्थक हेतु रूप में उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ प्रस्तुत किया गया है अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। लक्षण है—'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्'। (कुवलयानन्द) समर्थक हेतु कभी वाक्यार्थ होता है, कभी पदार्थ। (क) कुटज—कुटे (पर्वते) जातः

कुटजः (कुट+जन्+ड)। 'कुटः कोटे घटे गेहे शिलाकुट्टकपूरुषे' इति विश्वप्रकाशः। 'कुटजः शक्रो वत्सको गिरिमल्लिका' इत्यमरसिंहः। 'भावप्रकाश' में कुटज के विषय में कहा गया है—'कुटज. कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका। कालिङ्गः शक्रशाखा च मल्लिकापुष्प इत्यपि। इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः। कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः।' (ख) मधुकरे—करोतीति करः (कृ+अच्)। मधुनः करः मधुकरः, भ्रमरः, तस्मिन्। (ग) मकरन्दतुन्दिलानाम्—तुन्द कहते हैं पेट को 'पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्'। इसी तुन्द शब्द से आजकल 'तोंद' शब्द वन गया है। जिसका पेट बढ़ आता है उसके लिये लोग कहते हैं आजकल उसकी तोंद बढ़ गई है। तुन्दमस्ति अस्येति तुन्दिलः। (तुन्द + इलच्) 'तुन्दादिभ्य इलच्च' '(५।२।११७) जिसका बड़ा पेट हो उसे अथवा जिसकी नाभि बढ़ आयी हो उसे 'तुन्दिल' कहते हैं 'तुन्दिलस्तुन्दिमस्तुन्दी बृहत्कुक्षिः पिचण्डिलः' तथा 'वृद्धनाभौ तुन्दिलतुन्दिभौ' (अमरकोशः)। मकरन्देन तुन्दिलाः मकरन्दतुन्दिलास्तेषाम्। मकरन्द कहते हैं पुष्परस को 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः। पुष्परस के कारण जो बड़ी तोंदवाले हो गये हैं अर्थात् पुष्परस से खूब परिपूर्ण। इससे कमलों का अत्यधिक पुष्परस से परिपूर्ण होना ध्वनित होता है। इस पद्य में कवि ने 'गीतिवृत्त' की रचना की है। लक्षण है—'आर्या प्रथमार्धसमं यस्या अपरार्धमाह तां गीतिम्। (छन्दोमञ्जरी)॥ ५॥

तावत् कोकिल! विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति॥ ६॥

अवन्यः—हे कोकिल! मिलदलिमालः कोऽपि रसालः यावत् समुल्लसति, तावत् वनान्तरे निवसन् विरसान् दिवसान् यापय।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कोकिल! एकत्र होती हुई भ्रमरपंक्तियों वाला कोई आम्रवृक्ष जब तक समुल्लसित होता है तब तक (तू) दूसरे वन में निवास करता हुआ (इन) नीरस दिनों को बिता।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत कोकिल के द्वारा प्रस्तुत किसी ऐसे व्यक्ति की प्रतीति कराई गई है जो गुणवान् है, पण्डित है किन्तु उसके गुणों अथवा पाण्डित्य को सही समादर देने वाला कोई व्यक्ति है नहीं, अथवा जिसे किसी राजा से या गुणग्राही व्यक्ति से उचित सम्मान प्राप्त हो चुका है परन्तु भाग्यवश वह राजा या व्यक्ति किन्हीं शत्रु आदि के द्वारा विपद्ग्रस्त हो गया है और उसे उचित सम्मान देनें में असमर्थ है इसीलिए उसे किसी दुष्ट के संसर्ग में अनचाहे दिन व्यतीत करने पड़ रहे हैं। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुत-

प्रशंसा अलङ्कार है। साथ ही यहाँ 'लोकोक्ति' अलङ्कार भी है क्योंकि अच्छे समय की प्रतीक्षा में कुछ नीरस समय किसी तरह बिताने की बात कही गई है। लोकोक्ति का लक्षण है—"लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।" (कुवलयानन्दः) अर्थात् जहाँ पर लोक-प्रवाद का अनुकरण किया जाय वहाँ लोकोक्ति अलङ्कार होता है। (क) कोकिल—'अन्यभृतः परपुष्टः कलकण्ठः कोकिलः पिकः' (हलायुधकोशः)। तत्सम्बुद्धौ। (ख) विरसान्—विगतः रसः येभ्यस्ते विरसाः, तान्। (ग) वनान्तरे—अन्यद् वनं वनान्तरम्, तस्मिन्, वनान्तरे। 'अरण्यमटवी सत्रं कान्तारं काननं वनम्' इति हलायुधः। (घ) निवसन्—नि + वस निवासे + शतृ। (ङ) मिलदलिमालः—अलीनाम्माला: अलिमालाः। मिलन्त्यः अलिमालाः यस्मिन् स मिलदलिमालः। जिस पर भौरों की पंक्तियाँ इकट्ठा हो रही हैं। (च) रसालः—'रसालश्चेक्षुचूतयोः'—(मेदिनीकोशः) आम्रवृक्ष। इस पद्य में आर्यावृत्त है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।' ॥ ६ ॥

कमलिनि! मलिनीकरोषि चेतः
किमिति बकैरवहेलिताऽनभिज्ञैः।
परिणतमकरन्दमार्मिकास्ते
जगति भवन्तु चिरायुषो मिलिन्दाः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे कमलिनि! अनभिज्ञैः बकैः अवहेलिता चेतः किमति मलिनीकरोषि? परिणतमकरन्दमार्म्मिकाः ते मिलिन्दाः जगति चिरायुषः भवन्तु।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कमलिनी! (मकरन्द के मर्म से) अनभिज्ञ इन बगुलों द्वारा अपमानित होकर तू अपने चित्त को क्यों कलुषित कर रही है? परिपक्व मकरन्द के मर्म को समझनेवाले वे भँवरे संसार में दीर्घजीवी होवें (जो तेरा समादर करते हैं)।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत कमलिनी के द्वारा प्रस्तुत किसी ऐसे गुणी अथवा पण्डित व्यक्ति की प्रतीति कराई गई गई है जिसका कि सचमुच गुणों के अथवा पाण्डित्य के पारखी लोग खूब समादर करते थे लेकिन किन्हीं मूर्खों ने उसका अपमान किया इसीलिए कवि का कथन है कि जो मूर्ख हैं वे गुणी की इज्जत करना क्या जानें? हीरे की परख जौहरी ही कर सकता है, यदि एक जौहरी हीरे को हीरा कहता है लेकिन एक मूर्ख उसे पत्थर ही कहे तो उससे हीरे का क्या अपमान, इसलिये किसी भी पण्डित को मूर्खों द्वारा अपमानित किए

जाने पर खिन्न नहीं होना चाहिए। उसके सच्चे पारखी तो उसका समादर करते ही हैं। इस प्रकार यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही साथ ही काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है क्योंकि पूर्वार्द्ध के समर्थक हेतु रूप में उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ प्रस्तुत किया गया है। साहित्यदर्पण में काव्यलिङ्ग का लक्षण दिया गया है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गन्निगद्यते।' अर्थात् जहाँ पर हेतु वाक्यार्थ अथवा पदार्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाय वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है। यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है। (क) मलिनीकरोषि—अमलिनम्मलिनं करोषि इति मलिनीकरोषि (अभूततद्भावे च्विः)। (ख) चेतः—चेतत्यनेनेति चेतः (चिती संज्ञाने च करणे असुन्। 'चेतश्चित्तम्मनः स्वान्तं हृदयम्मानसं समम्' इति हलायुधः। (ग) अनभिज्ञैः—अभि साकल्येन जानातीति अभिज्ञः (अभि + ज्ञा + कर्त्तरि क) 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः। न अभिज्ञः अनभिज्ञः। तैः अनभिज्ञैः। (घ) परिणतमकरन्दमार्म्मिकाः—मर्म्म वेत्तीति मार्म्मिकः (मर्म्म + कर्त्तरि ठक्)। परिणतः मकरन्दः परिणतमकरन्दः, परिणतमकरन्दस्य मार्म्मिकाः परिणतमकरन्दमार्म्मिकाः। (ङ) चिरायुषः—चिरम् आयुः येषान्ते चिरायुषः। चिरजीविनः इत्यर्थः। लम्बी उम्र वाले ? इसमें कवि ने 'पुष्पिताग्रावृत्त' का प्रयोग किया है। लक्षण है—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि च रजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' (छन्दोमञ्जरी)॥ ७॥

नितरान्नीचोऽस्मीति त्वं खेदं कूप ! मा कदापि कृथाः।
अत्यन्तसरसहृदयो यतः परेषां गुणग्रहीताऽसि ॥ ८॥

अन्वयः—हे कूप ! त्वम् 'नितराम् नीचः अस्मि' इति कदाऽपि खेदम् मा कृथाः, यतः अत्यन्तसरसहृदयः परेषां गुणग्रहीता (च) असि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कुएँ ! तू 'मैं बहुत नीच (गहरा) हूँ' ऐसा सोचकर कभी भी विषाद न कर, क्योंकि तू अत्यन्त सरसहृदय (जलपरिपूर्ण) और दूसरों का गुणग्राही (रस्सी ग्रहण करने वाला) है।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने श्लिष्टविशेषणा सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। यहाँ पर अप्रस्तुत कूप के द्वारा किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति होती है जिसका जन्म तो नीच कुल में हुआ है परन्तु वह परम-रसिक और गुणग्राही है। इस पद्य में 'नीचः' 'अत्यन्तसरसहृदयः' और 'गुणग्रहीता' विशेषण पद श्लिष्ट है। कूप के पक्ष में नीच का अर्थ गहरा है, रस का अर्थ जल है, हृदय का अर्थ मध्यभाग है और गुण का अर्थ रस्सी है, जब कि उस व्यक्ति के पक्ष में नीच का अर्थ हीन अर्थात् नीचकुलोत्पन्न, सरसहृदय का

अर्थं रसिकहृदय वाला है और गुण का तात्पर्य शील, दया आदि गुणों से है। इसीलिए इसे श्लिष्टविशेषण अप्रस्तुतप्रशंसा कहा जाता है। साथ ही पूर्वार्द्ध के समर्थक हेतु रूप में उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के प्रस्तुत किए जाने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। (क) अत्यन्तसरसहृदयः– रसेन सहितं सरसम्। रसो गन्धरसे जले। शृङ्गारादौ विषे वीर्य्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः। देहधातुप्रभेदे च पारदस्वादयोः पुमान्।' (मेदिनीकोशः)। सरसं हृदयं यस्य सः सरसहृदयः। 'हृदयं वक्षसि स्वान्ते' (नानार्थसंग्रहः)। कूप पक्ष में हृदय का लाक्षणिक प्रयोग है, वहाँ उसका अर्थ कुएँ की भीतरी तल अथवा हिस्से से है। अत्यन्तं सरसहृदयः अत्यन्तसरसहृदय;। (ख) गुण-ग्रहीता— गृह्णातीति ग्रहीता। (ग्रह उपादाने + तृच्) गुणानां ग्रहीता गुण-ग्रहीता। 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये। त्यागशौर्य्यादिसत्त्वादि-सन्ध्याद्यावृत्तिरज्जुषु। शुक्लादावपि' इति मेदिनी। इस श्लोक में कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८ ॥

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुटजे खलु तेनेहातेनेहा मधुकरेण कथम्? ॥ ९ ॥

अन्वयः—येन अमन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनानि अनायिषत तेन मधुकरेण इह कुटजे खलु कथम् ईहा आतेने।

हिन्दीरूपान्तर—जिस (भँवरे) ने अक्षीण मकरन्दवाले खिलते हुए कमल में दिन बिताये थे उसी भँवरे ने इस कुटज में भला कैसे (निवास करने की) इच्छा की?

व्याख्या—यहाँ पर अप्रस्तुत भ्रमर-वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत याचक का वृत्तान्त प्रतीत होता है जो इच्छानुकूल समस्त वस्तुओं को प्रदान करने में समर्थ प्रभु के यहाँ याचना कर पुनः किसी साधारण व्यक्ति से याचना करने की इच्छा करता है, अथवा उस शिष्य की प्रतीति मानी जा सकती है जिसने किसी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गुरु से शिक्षा ग्रहण कर पुनः किसी साधारण व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की हो, अथवा किसी ऐसे पण्डित या कवि की प्रतीति मानी जा सकती है जो किसी चक्रवर्ती सम्राट् के आश्रय में रहकर किसी साधारण नृपति का आश्रय ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त करे, अथवा उस व्यक्ति की प्रतीति स्वीकार की जा सकती है जो परमकुलीन, गुणवती एवं सुन्दरी रमणी का पति होते हुए भी किसी निम्न कुल की स्त्री के साथ उपभोग करने की

इच्छा व्यक्त करे। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है, साथ ही 'तेनेहातेनेहा' में यमक शब्दालङ्कार भी है। यमक का लक्षण है—

'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥' (साहित्यदर्पणः)

अर्थात् अर्थ होने पर भिन्न अर्थवाले स्वरव्यञ्जन-समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को यमक कहते हैं एवं अरविन्द के विशेषण रूप में आये 'दलद्' और 'अमन्दमरन्दे' विशेषण हैं उनके साभिप्राय होने के कारण 'परिकर' अलङ्कार भी है। परिकर का लक्षण है—'अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे' (कुवलयानन्दः) अर्थात् साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होने पर परिकर अलङ्कार होता है। 'दलद्' से अभिप्राय है कि अभी जो विकसित ही हो रहा है, मुरझाया नहीं है और न किसी ने जिसका मधुपान आदि ही किया है तथा 'अमन्द-मरन्दे' से अभिप्राय है जिसमें मरन्द की कमी नहीं, भरपूर है। ऐसे कमल में जिसने दिन बिताया वह कुटज में कैसे बिताये। (क) अमरन्दमरन्दे—न मन्दः अमन्दः, अमन्दः मरन्दः यस्मिंस्तत् अमन्दमरन्दम्। तस्मिन्नमन्दमरन्दे। 'मन्दः खले मन्दरते मूर्खे स्वैरेऽल्परागिणोः' (विश्वप्रकाशः) यहाँ मन्द का अर्थ अल्प है अर्थात् जिसमें मरन्द अल्प नहीं बल्कि प्रचुर मात्रा में था। (ख) दलदरविन्दे—दलद् (दल विशरणे + शतृ) अरविन्दं दलदरविन्दम्, तस्मिन् दलदरविन्दे। खिलते हुए कमल में। जिसमें ताजा मकरन्द भरा हुआ था। खिले हुए में नहीं, क्योंकि खिल चुकने पर किसी के द्वारा मकरन्दपान आदि की शंका की जा सकती है। (ग) ईहा—'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः। यहाँ कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या'॥ ९॥

अयि मलयज! महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते?
उद्गिरतो यद् गरलम्फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः॥१०॥

अन्वयः—अयि मलयज! ते अयम् महिमा कस्य गिरां विषयः अस्तु, यद् गरलम् उद्गिरतः फणिनः परिमलोद्गारैः पुष्णासि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चन्दन! तेरा यह महात्म्य (भला) किसकी वाणी का विषय हो सकता है जो तू जहर उगलते हुए नागों को (भी अपनी) सुगन्ध के सञ्चार द्वारा परिपुष्ट करता है।

व्याख्या—इस श्लोक में अप्रस्तुत चन्दन के व्यवहार से उस प्रस्तुत महात्मा की प्रतीति होती है जो परम दयालु है और अपनी क्षति करने वाले

अथवा निन्दित व्यक्तियों को भी अत्यधिक सम्मान प्रदान करता है और हमेशा उनका उपकार करने में ही रत रहता है कभी अपकार की बात भी नहीं सोचता। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है, साथ ही पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ के समर्थक हेतु के रूप में उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के निबद्ध होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी स्वीकार किया जा सकता है। (क) मलयज--मलये (मलयपर्व्वते) जातमिति मलयजम् (मलय + जनी प्रादुर्भावे + ड)। तत्सम्बुद्धौ हे मलयज ! 'चन्दनं स्यान्मलयजं श्रीखण्डं रोहणद्रुमः' इति हलायुधः। (ख) महिमा--महतो भावः महिमा। महत् + इमनिच् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' (५।१।१२२) तदनन्तर 'टेः' (६।४।१५५) इति टिलोपः। माहात्म्यमित्यर्थः। (ग) गरलम्--'विषं स्याद् गरलं गरः' इति हलायुधः। (घ) फणिनः—फणोऽस्ति अस्येति फणी, सर्पः, तस्य बहुवचने फणिनः। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः। × × कुण्डली गूढ़पाच्चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी।' (अमरः)। (ङ) परिमलोद्गारैः—परिमलस्योद्गारः परिमलोद्गारः, तैः परिमलोद्गारैः। 'विमर्दोत्थे परिमलोगन्धे जनमनोहरे' (अमरकोशः) अर्थात् चन्दन में रगड़ने से जो जनमनोहारी गन्ध उत्पन्न होता है उसे परिमल कहते हैं। उद्गरणमुद्गारः (उद् + गॄ शब्दे + घञ्)। उद्गार का अर्थ है आवाज या बाहर निकला हुआ शब्द अथवा वमन करना। यहाँ उद्गार का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। अमरकोशकार का कथन है—'निगारोद्गारविक्षावोद्ग्राहास्तु गरणादिषु' इस पद्य में कवि ने उद्गीति वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण हैं— 'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी) ॥१०॥

पाटीर ! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम् ?
यत् पिंषतामपि नृणाम्पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम् ॥११॥

अन्वयः—हे पाटीर ! कः तव इमाम् परिपाटीम् उरीकर्त्तुम् पटीयान् ? यत् पिष्टः अपि पिंषताम् अपि नृणाम् परिमलैः पुष्टिं तनोषि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चन्दन ! (भला) कौन तुम्हारी इस परम्परा को हृदयस्थ करने में खूब समर्थ हो सकता है, जो कि तुम (स्वयं) पिस करके भी पीसते हुए भी लोगों को (अपनी) सुगन्ध से परिपुष्ट करते हो।

व्याख्या--यहाँ पर भी पहले पद्य की तरह अप्रस्तुत चन्दन के वृत्तान्त से अपने अपकारी का भी परम उपकार करने वाले प्रस्तुत महात्मा पुरुष की प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है, साथ ही पहले के श्लोक की भाँति पूर्वार्द्ध के समर्थक हेतु के रूप में उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के उपनिबद्ध होने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग भी है। (क) पाटीर—

पाटीर कहते हैं चन्दन को। अच्युतराय ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रस्तुत की है—'पटाः सन्ति यस्य स पटी तन्तुवायः। तद्वदीरयति। स्वगुणानन्यत्र पटादौ स यथा प्रेरयति तद्वत् स्वनिष्ठसौरभ्यादिधर्मांश्चन्दनादौ प्रेरयतीति पटीरो मलयाचलः। तत्र भवः पाटीरः। तत्सम्बुद्धावयि मलयनिलयचन्दनेत्यर्थः।' (ख) परिपाटी का अर्थ यहाँ परम्परा है—'परिपाटी आनुपूर्वी स्यात्' इति हलायुधः। (ग) उरीकर्तुम्—स्वीकर्तुमित्यर्थः। अनुरः उरः कर्तुम् इति ऊरीकर्तुम्। अभूततद्भावे च्विः। (उरस् + च्वि + कृ + तुमुन्)। (घ) पिंषताम्—पेषणं कुर्व्वताम्। ('पिष्लृ सञ्चूर्णने (रुधादि०) + शतृ + आम्) (ङ) नृणां—मनुष्याणाम्। (घ) तनोषि—विस्तारयसि। 'तनु विस्तारे + लट् (सिप्) (छ) परिमलैः—'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यम्' इति हलायुधः। आमोदैः। इसमें कवि ने गीति वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥११॥

नीरक्षीरविवेके [1]हंसालस्यन्त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥१२॥

अन्वयः—हे हंस! चेत् त्वम् एव नीरक्षीरविवेके आलस्यम् तनुषे, अन्यः कः विश्वस्मिन् कुलव्रतम् पालयिष्यति?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ हंस! यदि तू ही जल और दुग्ध को अलग-अलग करने में आलस्य करता है (तो भला) दूसरा कौन इस संसार में (अपने) वंश नियम (कुलव्रत) की रक्षा करेगा?

व्याख्या—यहाँ पर अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत राजा की प्रतीति कराई गई है जिसके पूर्वज हमेशा कवियों एवं पण्डितों को समादर देकर उन्हें आश्रय प्रदान करते रहे हैं लेकिन यह उस प्रकार आश्रय प्रदान करने में आलस्य जाहिर करता है। अथवा किसी भी अपनी कुल परम्परा का परित्याग करने वाले व्यक्तिकी प्रतीति मानी जा सकती है। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है। (क) नीरक्षीरविवेके—नीरञ्च क्षीरञ्च नीरक्षीरे। 'अर्णः पाथः कुशजलवनं क्षीरमम्भोऽम्बुनीरम्' इति हलायुधः। तथा 'दुग्धं क्षीरं पयः इत्यमरसिंहः। नीरक्षीरयोः विवेकः नीरक्षीरविवेकः। 'विवेकः पृथगात्मता' इत्यमरः। अर्थात् जल और दुग्ध के अलग-अलग स्वरूप का ज्ञान। तस्मिन्, नीरक्षीरविवेके। (ख) आलस्यम्—अलसस्य भावः आलस्यम्। (अलस + ष्यञ्) 'अलसः शीतको मन्दो जडो जिह्मश्च मन्थरः'

---

१. 'हंसालमालस्यम्' इति पाठान्तरम्। तन्न युक्तिसहम्।

(हलायुधकोश) । (ग) अधुना—एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतन्तथा' इत्यमरः । (घ) कुलव्रतम्—कुलस्य व्रतम् कुलव्रतम् ' 'सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ । वंशोऽन्ववायः' इत्यमरः । नियमोव्रतमस्त्री' इत्यमरः । जैसा कि हमने निर्देश किया है जीवानन्द ने हंसालस्यम् के स्थान पर हंसालमालस्यम्' पाठ दिया है । वैसे अर्थ की दृष्टि से जीवानन्द का पाठ अधिक अच्छा प्रतीत होता है । परन्तु इस पाठ में छन्द सम्बन्धी कठिनाई पड़ती है । जीवानन्द ने इसमें 'आर्यागीति' वृत्त बताया है । उसका लक्षण है—'आर्याप्राग्दलमन्तेऽधिक गुरु तादृक् परार्द्धमार्या गीतिः ।' (छन्दोमञ्जरी) परन्तु वह लक्षण यहाँ घटित नहीं होता क्योंकि द्वितीय चरण में २० मात्राओं के बजाय २१ मात्रायें हो जाती हैं जब कि उत्तरार्द्ध द्वितीय चरण में केवल १५ ही मात्रायें हैं । और जब कि हम 'हंसालस्यम्' पाठ स्वीकार करते हैं तो आर्या' का लक्षण सर्वथा घटित हो जाता है ॥ १२ ॥

उपरि करवालधराकाराः क्रूरा भुजङ्गमपुङ्गवाः[1] ।
अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवो जयन्ति केऽपि जनाः ॥१३॥

अन्वयः—उपरि करवालधाराकाराः क्रूराः भुजङ्गमपुङ्गवाः, अन्तः साक्षाद् द्राक्षादीक्षागुरवः केऽपि जनाः जयन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऊपर से (तो) तलवार की धार के समान, अत्यन्त निर्दय, और बहुत ही जहरीले नाग प्रतीत होने वाले (लेकिन) भीतर से साक्षात् द्राक्षा (को माधुर्य) की दीक्षा देने वाले आचार्य प्रतीत होनेवाले कुल (श्रेष्ठ) जन सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान हैं ।

व्याख्या—पण्डितराज ने प्रस्तुत पद्य को अलङ्कारान्तर से सङ्कीर्ण उल्लेख अलङ्कार के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है । उल्लेखालंकार का लक्षण रसगंगाधर में इस प्रकार है—'एकस्य वस्तुनो निमित्तवशात् यदनेकैर्गृहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः ।' अर्थात् अनेक ग्रहीताओं द्वारा जब किसी कारणवश एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण होता है तो उल्लेख अलङ्कार होता है । परन्तु इस उल्लेख अलंकार का दूसरा भी एक प्रकार होता है जहाँ पर ग्रहीता केवल एक ही होता है परन्तु विषय, आश्रम अथवा समानाधिकरण आदि सम्बन्धियों में किसी एक के ही अनेकत्व के कारण एक वस्तु का अनेकधा उल्लेख होता है—'यत्र असत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्' (रसगङ्गाधर) । इस पद्य में दूसरे प्रकार का ही उल्लेख है क्योंकि ग्रहीता अनेक नहीं हैं ।

१. 'भुजङ्गमपुङ्गवात्' इति पाठान्तरम् ।

यह उल्लेखालंकार जब किसी अलंकार द्वारा संकीर्ण नहीं होता तो शुद्ध और संकीर्ण होने पर संकीर्ण कहा जाता है। यहाँ यह उपमा और रूपक से संकीर्ण है। यहाँ 'जनाः' का 'करवालधाराकाराः' 'भुजङ्गमपुङ्गवाः' तथा 'द्राक्षादीक्षा-गुरवः' के रूप में अनेकधा ग्रहण होने से उल्लेखालंकार है। साथ ही 'कर-वालधाराकाराः' में उपमा और 'भुजङ्गमपुङ्गवाः' में रूपक होने के कारण उल्लेखालंकार उपमा और रूपक से संकीर्ण है। उक्त पद्य में 'भामिनिविलास' के कुछ संस्करणों में साथ ही 'रसङ्गाधर' में भी 'भुजङ्गमपुङ्गवाः' के स्थान पर 'भुजङ्गमपुङ्गवात्' पाठ मिलता है। वैसा पाठ ग्रहण करने पर अन्वय होगा 'भुजङ्गमपुङ्गवात् क्रूरा' 'अर्थात् श्रेष्ठ भुजङ्गों से क्रूर' और इस अवस्था में यहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार वाच्य होगा। अतः उपमा और रूपक के वजाय उपमा और व्यतिरेक से संकीर्ण उल्लेख अलंकार होगा (क) करवालधाराकाराः—करवालस्य धारा करवालधारा। करवाल का अर्थ खड्ग या तलवार होता है। अमर-कोश में करपाल शब्द मिलता है "खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्" इत्यमरः। अमरकोश के टीकाकार भट्टोजी दीक्षितने 'करवालः' इति पाठान्तरम्"कहकर 'करपाल' के स्थान पर करवाल पाठ का भी निर्देश किया है। साथ ही उन्होंने 'रभस' का कथन इस प्रकार उद्धृत किया है "करवालमण्डलाग्रकालेयकासिरिष्टयः। ऋष्टिः खड्गस्तरवारिकौक्षेयकौ च नन्दकः" इति रभसः। धारा का कोश है—'धारा सन्तसौ सैन्याग्रे खड्गाङ्गे वाजिनां गतौ' (नानार्थसङ्ग्रहः)। करवालधारायाः आकार इव आकारः यस्य सः करवालधाराकारः। 'सप्तम्युपानपूर्व्वस्य' इस भाष्यवार्तिक से यहाँ समास और उपमान वाचक आकार शब्द का लोप हुआ है। इसीलिये यहाँ धर्मवाच-कोपमानलुप्ता उपमा है। तस्य वहुवचने करवालधाराकाराः। (ख) क्रूराः—"कठोरः कठिनः क्रूरः कक्खटः कर्कशो दृढः' इति हलायुधः। (ग) भुजङ्गम-पुङ्गवाः—भुजति कुटिलीभवतीति भुजः 'भुजो कौटिल्ये + (क) भुजः सन् गच्छतीति भुजङ्गमः (भुजो + गम् + खच्) सर्पः इत्यर्थः। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहि-र्भुजङ्गमः" इत्यमरः। भुजङ्गमेषु पुङ्गवाः भुजङ्गपुङ्गवाः। सर्पश्रेष्ठा इत्यर्थः। 'पुङ्गवः स्याद् वलीवर्दे प्रभेदेऽप्यौषधस्य च। उत्तरस्थः पुनः श्रेष्ठे' इति मेदिनी। (घ) द्राक्षादीक्षागुरवः—द्राक्षायै दीक्षा(माधुर्यस्य सरसत्वस्य वा)इति द्राक्षादीक्षा। द्राक्षादीक्षायाः गुरवः द्राक्षादीक्षागुरवः। 'मृद्वीका गोस्तनीद्राक्षा हारहूरा च कथ्यते' इति हलायुधः। द्राक्षा को हिन्दी में दाख या अंगूर कहते हैं। दीक्षा का यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग हैं। गुरु द्वारा जो अपने शिष्य को मन्त्र दिया जाता है उसे दीक्षा कहते हैं। यहाँ जो माधुर्य आदि अंगूर में विद्यमान रहता है उसके विषय में कवि—कल्पना है कि उसने माधुर्य की दीक्षा सज्जनों से प्राप्त की

है। इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १३ ॥

स्वच्छन्दं दलदरविन्द ! ते मरन्दं
विन्दन्तो विदधतु गुञ्जितम् मिलिन्दाः ।
आमोदानथ हरिदन्तराणि नेतुं
नैवान्यो जगति समीरणात् प्रवीणः ॥१४॥

अन्वयः—हे दलदरविन्द ! मिलिन्दाः ते मरन्दं विन्दन्तः स्वच्छन्दं गुञ्जितं विदधतु; अथ समीरणाद् अन्यः (कोऽपि) जगति हरिदन्तराणि (तव) आमोदान् नेतुं न एव प्रवीणः ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ खिलते हुए कमल ! भँवरे तुम्हारे मधु को ग्रहण करते हुये (भले ही) स्वतन्त्रतापूर्वक गुञ्जार करें, लेकिन वायु से भिन्न (कोई और) संसार में दिशाओं के बीच (तुम्हारे) सौरभ को पहुँचाने में नहीं ही समर्थ है ।

व्याख्या—यहाँ पर पहले आये हुये चतुर्थ श्लोक—'अयि दलदरविन्द स्यन्दमानम्मरन्दम्, तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।' आदि की तरह अरविन्द के द्वारा नासमझ व्यक्ति की प्रतीति होती है, भँवरों के द्वारा उसके स्वार्थी मित्रों की और समीर के द्वारा वास्तविक हितैषी की। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है। उक्त पद्य का आशय यही है कि अरे नासमझ ! तू इन स्वार्थी चाय-पानी के दोस्तों से अपने को बचा और अपने वास्तविक हितैषी को पहचान। इसी पद्य के भाव को कवि ने पहले भी चतुर्थ श्लोक—'अयि दलदरविन्द ! स्यन्दमानस्मरन्दम्' इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत किया था। (क) हरिदन्तराणि—हरितामन्तराणि हरिदन्तराणि। "दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः" इत्यमरः तथा "अन्तरन्तु परीधाने भेदे रन्ध्रावकाशयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ख) समीरणात्—'पवनः श्वसनो वायुर्मरुदनिलो मारुतो जगत्प्राणः। × × नभस्वान्मातरिश्वा च समीरश्च समीरणः" इति हलायुधः। यहाँ 'अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते (२।३।२९) से पंचमी विभक्ति हुई है। (ग) प्रवीणः—"प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः" इत्यमरः। (घ) स्वच्छन्दम्—स्वस्य छन्दो अभिप्रायो यत्र तद् यथा स्यात्तथा स्वच्छन्दम्। स्वतन्त्रतया यथाकामम् इत्यर्थः। यह क्रियाविशेषण है। 'यथाकामो स्वरुचिः स्यात् स्वच्छन्दो निरवग्रहः' इति हलायुधः। (ङ) दलदरविन्द—दलत् अरविन्दं दलदरविन्दम्। तत्सम्बुद्धौ हे दलदरविन्द !

(दल विशरणे + शतृ = दलत्) 'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलं सहस्र-पत्रं कमलम्' इत्यमरः। (च) विदन्तः—लभमानाः सन्तः। (विद् + शतृ + जस्) विद्धातु के विषय में सिद्धान्तकौमुदी में कहा गया है—

'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दन्ति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नमशेष्विदं क्रमात् ॥'

(छ) गुञ्जितम्—'गुजि अव्यक्ते शब्दे (भ्वादि०) + क्त' गुञ्जनमित्यर्थः। (ज) मिलिन्दाः—भ्रमराः। (झ) आमोदान्—परिमलान्। सौरभ्यानीत्यर्थः। 'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यश्च सुगन्धिता' इति हलायुधः। (ञ) नेतुम्—प्रापयितुम्। ('णीञ् प्रापणे + तुमुन्')। इसमें कवि ने प्रहर्षिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है उसका लक्षण है—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १४ ॥

याते मय्यचिरान्निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां
गन्ता कम्प्रति पान्थसन्ततिरसौ सन्तापमालाकुला ?
एवं यस्य निरन्तराधिपटलैर्नित्यं वपुः क्षीयते
धन्यञ्जीवनमस्य मार्गसरसो धिग् वारिधीनाञ्जनुः ॥१५॥

अन्वयः—'मयि अचिराद् निदाघमिहिरज्वालाशतैः शुष्कतां याते सन्तापमालाकुला असौ पान्थसन्ततिः कम् प्रति गन्ता ?' एवम् निरन्तराधिपटलैः यस्य वपुः नित्यं क्षीयते, अस्य मार्गसरसः जीवनं धन्यम्, वारिधीनां जनुः धिक्।

हिन्दीरूपान्तर—'शीघ्र ही ग्रीष्मकाल के सूर्य की सैकड़ों किरणों के द्वारा मेरे सूख जाने पर अत्यधिक गर्मी से व्याकुल यह राहियों का समुदाय किसके पास जायगा' ? इस प्रकार की अविच्छिन्न मानसी व्यथाओं से जिसका शरीर निरन्तर कमजोर होता जाता है, मार्ग में स्थित इस तालाब का जीवन धन्य है !! (साथ ही) समुद्रों के जन्म को धिक्कार है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से मार्ग में स्थित सरोवर की प्रशंसा तथा समुद्रों की निन्दा की है। मार्ग के सरोवर का जन्म धन्य है इसीलिए कि उसके पास जल थोड़ा है, मधुर है। रास्ता चलनेवाले प्यासे राही उससे अपनी प्यास बुझाते हैं, नहाकर अपना सन्ताप शान्त करते हैं। परन्तु सागर के पास अथाह जल है, पर है खारा, किसी काम का नहीं, किसी की भी प्यास वह नहीं बुझा सकता अतः उसका जन्म बेकार है, धिक्कारने योग्य है। परन्तु यहाँ सरोवर के अप्रस्तुत वर्णन से प्रस्तुत उस व्यक्ति की प्रतीति होती है जो अधिक धनी तो नहीं है पर दानी है, कृपालु है, परोपकारी है, लोगों की आवश्यकताओं की यथाशक्ति पूर्ति करता है और उसे बराबर अपनी निर्धनता के

कारण चिन्ता बनी रहती है। अपनी नहीं बल्कि उन लोगों की जिनका कि वह उपकार करता है अतः उसका जीवन धन्य है। साथ ही सागर के अप्रस्तुत वर्णन से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति होती है जिसके पास अथाह धन है पर वह किसी के काम नहीं आता। खुद गाड़ रखा है। न दान करता है, न परोपकार में लगाता है। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। साथ ही 'इस मार्गसरोवर का जीवन धन्य है' इस वाक्यार्थ के समर्थक रूप में प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ के हेतु रूप में प्रस्तुत किये जाने के कारण यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। (क) निदाघ-मिहिरज्वालाशतैः—निदाघकालिको मिहिरः निदाघमिहिर; 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्' इत्युत्तरपदलोपः। नितरां दह्यतेऽस्मिन्निति निदाघः (नि + दह् + घञ्) ग्रीष्मकाल इत्यर्थः। 'निदाघः कथ्यते ग्रीष्मः' इति हलायुधः। 'सूर्यो गोपतिरर्यमा दिनकरः सूरोंऽशुमाली रविः। मिहिरः' इति च हलायुधः। ज्वालानां शतम् ज्वालाशतम्। निदाघमिहिरस्य ज्वालाशतं निदाघमिहिरज्वालाशतम्। तैः तथोक्तैः। (ख) पान्थसन्ततिः—पान्थानां सन्ततिः पान्थसन्ततिः। 'पान्थोऽध्वगोऽध्वनीनः स्यादध्वन्यः पथिकस्तथा।' इति हलायुधः। सन्तति का अर्थ यहाँ पर पंक्ति है। कोश है—'सन्ततिः पङ्क्तिविस्तारगोत्रेषु कविभिःस्मृता। परम्पराभवेऽपि स्यात् सन्ततिः पुत्र कन्ययोः' (विश्वप्रकाशः)। (ग) सन्तापमालाकुला—सन्तापानाम्माला सन्ताप-माला। 'सन्तापमाला' शब्द का प्रयोग गर्मी की बहुलता एवं नैरन्तर्य को प्रतिपादित करने के लिए किया गया है। ताभिः आकुला सन्तापमालाकुला। (घ) निरन्तराधिपटलैः—निर्गतमन्तरं यस्मात् तन्निरन्तरम्। आधीनाम्पटल-माधिपटलम्। आधि मानसिक पीडा को कहते हैं। 'आधिस्तु मानसी पीडा' इति हलायुधः। निरन्तरम् आधिपटलम् निरन्तराधिपटलम्। तैः निरन्तराधि-पटलैः। पटल का अर्थ समूह है। कोश है—'पटल' पिटके च परिच्छदे। छदिर्हंग्रोगतिलके क्लीबं वृन्दे पुनर्न ना।' इति मेदिनी। (ङ) जनुः—जननं जनुः। जनी प्रादुर्भावे से 'जनेरुसिः' (उणादि सूत्र २७२) के द्वारा उसि प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। अमरकोश का कथन है—'जनुर्जननजन्मानि जनि-रुत्पत्तिरुद्भवः।' इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त उपनिवद्ध किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।' (छन्दोमञ्जरी) ॥१५॥

आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते[1]।

---

१. 'समाश्रयन्ति' इति पाठान्तरम्।

सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो[1]
मीनो नु हन्त ! कतमाङ्गतिमभ्युपैतु ? ॥१६॥

अन्वयः— हे सरः ! त्वयि सङ्कोचम् अञ्चति पतङ्गाः परितः अम्बरपथम् आपेदिरे, भृङ्गाः रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते, नु हन्त ! दीनदीनः मीनः कतमां गतिम् अभ्युपैतु ?

हिन्दीरूपान्तर— ऐ सरोवर ! तेरे सङ्कुचित हो जाने पर (अर्थात् सूख जाने पर) पक्षिगण चारों ओर से आकाश मार्ग को चले गए, भौंरे आम्र-कलिकाओं का आश्रय ग्रहण करने लगे, लेकिन अफसोस ! अत्यन्त दीन वेचारी मछली कौन-सा रास्ता पकड़े ?

व्याख्या— यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से सरोवर और मछली आदि का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। मछली सरोवर से अलग हो नहीं सकती अतः सरोवर के सूख जाने पर उसका सर्वनाश निश्चित है। परन्तु इस अप्रस्तुत सरोवर आदि के वृत्तान्त से किसी राजा एवं एकमात्र उसी के आश्रित व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती है। जिस व्यक्ति ने अपना आश्रय केवल उसी राजा को चुना था किसी दूसरे आश्रयदाता की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। वह वेचारा अपने आश्रयभूत उस राजा के निर्धन हो जाने पर अथवा राज्य-हीन हो जाने पर कहाँ जाय। बाकी लोग जो इसकी भी चापलूसी करते तथा औरों की भी चापलूसी करते रहे, वे तो इसके निर्धन होने पर तुरन्त दूसरे के आश्रय में जा पहुँचे। यहाँ कवि ने जो 'दीनदीनः' विशेषण दिया है वह इस आश्रित व्यक्ति की परम करुणापात्रता एवं बेसहारेपन को सूचित करता है। यहाँ कहीं-कहीं 'दीनदीनाः' के स्थान पर 'दीनदीने! पाठ मिलता है, वह सरोवर का विशेषण होगा अर्थात् दीनों के लिए जो दीन हो गया है ऐसा सरोवर परन्तु यह उतना चारुत्व नहीं उत्पन्न कर सकता जितना कि किसी विपत्तिवश अथवा भाग्यवश दीन हो जाने से आ जाता है। इस प्रकार यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ-साथ ही (मीनः) के विशेषणभूत दीनदीनः के साभिप्राय होने से परिकरालङ्कार भी है। (क) आपेदिरे—(आ + पदगतौ (दि०) + लिट्)। (ख) पतङ्गा—'पतङ्गःशलभे सूर्ये शालिभेदे च पक्षिणि' (नानार्थसङ्ग्रहः) यहाँ पतङ्ग का अर्थ पक्षी है। (ग) रसालमुकुलानि—रसालस्य मुकुलानि रसालमुकुलानि। आम्रकलिका इत्यर्थः। 'आम्रश्चूतो रसालः' इत्यमरः। 'कोरक जालक-कलिकाकुड्मलमुकुलानि तुल्यानि' इति हलायुधः। (घ) गतिम्—गति का अर्थ यहाँ मार्ग अथवा रास्ता है। कोश है—'गतिर्मार्गे

१. 'दीनदीने' इति पाठान्तरम्।

दशायाञ्च ज्ञाने यात्राम्युपाययोः (विश्वप्रकाशः)। (ङ) नु-हन्त—नु का प्रयोग यहाँ वितर्क अर्थ में हुआ है 'नुस्वित् प्रश्नवितर्कयोः' इति हलायुधः। तथा 'हन्त'! का प्रयोग यहाँ विषाद अर्थ में हुआ है—'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरसिंहः। इस श्लोक में कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः (छन्दोमञ्जरी)॥ १६॥

मधुप इव मारुतेऽस्मिन् मा सौरभलोभमम्बुजिनि! [1]मंस्थाः।
लोकानामेव मुदे महितोऽप्यात्माऽमुनार्थितान्नीतः॥१७॥

अन्वयः—हे अम्बुजिनि! अस्मिन् मारुते मधुप इव सौरभलोभम् मा संस्थाः, (यतः) अमुना लोकानाम् एव मुदे महितः अपि आत्मा अर्थिताम् नीतः।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कमलिनी! तू इस पवन में भँवरे जैसा सुगन्ध का लालच मत समझ, (क्योंकि) इसने लोक के ही आनन्द के लिए पूजित भी अपने को याचक बना दिया है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप में भ्रमर, पवन और कमलिनी का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिनसे क्रमशः प्रस्तुत किसी स्वार्थी, परोपकारी तथा किसी स्वार्थी द्वारा ठगे गए व्यक्ति की प्रतीति होती है। भँवरा कमलिनी के पास केवल मधु पीने की इच्छा से आता है, और जब मधुपान कर चुकता है तो कमलिनी से उसका कोई सरोकार नहीं रह जाता। इसीलिए जब पवन उसके पास सौरभ की याचना करने पहुँचा तो कमलिनी जो कि भ्रमर द्वारा ठगी गई थी इस पवन को भी सौरभ का लोभी समझ बैठी, उसी पर कवि का कहना है कि पवन को सौरभ का लोभी न समझ क्योंकि यह अपने लिए नहीं सौरभ माँग रहा है बल्कि संसार के आनन्द के लिए सबके पास तेरी सुगन्ध पहुँचाकर उन्हें आनन्द प्रदान करने के लिए तेरा सौरभ माँग रहा है। इसी प्रकार जिस सीधे व्यक्ति को किसी धूर्त ने उल्टे सीधे पाठ पढ़ाकर ठग लिया था उसके पास कोई परोपकारी व्यक्ति दान मांगने गया तो उसने उसे भी उसी ठग के रूप में सन्देह किया। अतः किसी द्रष्टा का कथन है कि इस पर तुझे लोभी होने का सन्देह उस धूर्त जैसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह तो बहुत महान् व्यक्ति है और जो तेरे सामने याचक के रूप में आया है वह महज लोक कल्याण के लिए। अतः यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। साथ ही वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग और उपमा भी है। (क) महितः—मह पूजा-

---

१. 'अम्बुज! निमंस्थाः' इति पाठान्तरम्।

याम् + क्त-महितः पूजित इत्यर्थः । (ख) आत्मा—यहां आत्मा का अर्थ स्वभाव अर्थात् स्वरूप है क्षेत्रज्ञ अथवा ब्रह्म नहीं है । अमरकोश का कथन है—'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' । (ग) अर्थिताम्—अर्थयत इत्यर्थी । याचकः । 'अर्थी मार्गणकः प्रोक्तो याचकश्च वनीयकः' इति (हलायुध-) अर्थिनो भावः अर्थिता तामर्थिताम् । इस श्लोक में कवि ने 'गीति' छन्द का प्रयोग किया है । लक्षण है—

'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी ॥ १७ ॥

गुञ्जति मञ्जु मिलिन्दे मा मालति ! मानमौनमुपयासीः।[1]
शिरसा वदान्यगुरवः सादरमेनं वहन्ति सुरतरवः ॥१८॥

अन्वयः—हे मालति ! मिलिन्दे मञ्जु गुञ्जति मानमौनम् मा उपयासी, (यतः) वदान्यगुरवः सुरतरवः एनं सादरं शिरसा वहन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मालती ! तू भौंरे के मधुर गुञ्जार करने पर मान के कारण मौन मत हो जा, (क्योंकि) बड़े दानियों में श्रेष्ठ (पारिजातादि) देववृक्ष इसे आदर के साथ सिर पर वहन करते हैं ।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप में भ्रमर मालती और देववृक्ष का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है । परन्तु भ्रमर के वृत्तान्त से किसी अत्यन्त गुणी याचक की तथा मालती के वृत्तान्त से किसी साधारण दानी की और देवतरुओं के वृत्तान्त से श्रेष्ठ दानियों की प्रतीति होती है । अचानक कोई गुणवान् याचक किसी साधारण दानी के पास पहुँच गया और उससे कुछ लाभ की आशा में उसका गुणगान प्रारम्भ किया, पर वह साधारण दानी प्रशंसा सुन रोब में आ गया और कुछ भी न बोला, देने लेने की बात तो दूर रही । उसी को सम्बोधित कर किसी की यह उक्ति है कि अरे क्षुद्र दाता महोदय ! अब इस गुणी व्यक्ति द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर शेखी मत बघारो । तुम्हें नहीं मालूम तुम जैसे दुकौड़िये दानियों को खरीद लेने वाले बड़े-बड़े दानियों का भी यह पूज्य है । इस प्रकार के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होने के कारण यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है । (क) मानमौनम्—मानेन (हेतुना) मौनम् मानमौनम् । "दर्पो मदोऽवलेपो मानो गर्वो भवेदहङ्कारः" इति हलायुधः । (ख) वदान्यगुरवः—वदति सर्वेभ्य एव दास्यामीति मनोहरवाक्यमिति वदान्यः (वद् + आन्य 'वदेरान्यः'—उणादि ३८४), दानशील इत्यर्थः । "वदान्यो दानशौण्डे स्याद् वदान्यश्चारुभाषिणि'—विश्वप्रकाश । अथवा 'वदान्य'

१. "मालति ! मौनमुपयासीः" इति पाठान्तरम् ।

का अर्थ हम सुन्दर भाषण करने वाला भी ले सकते हैं। वह अनुचित भी न होगा, क्योंकि मालती के मौन होने की बात कही गई है। व्यङ्ग्य होगा कि तू कौन बड़ी सुन्दर भाषण करने वाली है जो आये हुए एवं गूंजते हुए अर्थात् बात करने की इच्छा रखनेवाले भौंरे से बात नहीं कर रही है, शेखी बघार रही है। अरी नासमझ! बहुत सुन्दर सुन्दर भाषण करने वालों का भी यह शिरोधार्य है, वे इससे बात करने में अपना गौरव समझते हैं इत्यादि। (ग) सुरतरवः—सुराणां (देवानां) तरवः (वृक्षः) सुरतरवः। मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पतरु और हरिचन्दन इन पांचों वृक्षों को देववृक्ष कहा जाता है। अमरकोश का कथन है—'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्।' इस श्लोक में भी कवि ने 'गीति' छन्द का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पहले वाले श्लोक की व्याख्या में देख लें॥ १८॥

यैस्त्वङ्गुणगणवानपि सतान्द्विजिह्वैरसेव्यतान्नीतः।
तानपि वहसि पटीरज! किङ्कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम् ॥१९॥

अन्वयः—हे पटीरज! गुणगणवान् अपि त्वं यैः द्विजिह्वैः सताम् असेव्यताम् नीतः, तान् अपि वहसि!! त्वदीयम् औन्नत्यं किं कथयामः?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चन्दनपादप! तमाम गुणों से युक्त भी तुम्हें जिन सर्पों ने सज्जनों द्वारा असेव्य बना दिया है उनको भी तुम धारण करते हो! तुम्हारी (इस) उदारता का क्या कहना?

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से चन्दन का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। जिससे प्रस्तुत किसी मूर्ख व्यक्ति की प्रतीति होती है जिसने अपना अपकार करनेवाले दुष्टों को अपना बना रखा है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ ही व्याजस्तुति भी है। क्योंकि यहाँ 'तुम्हारी उन्नति का क्या कहना' से ऊपर से वाच्य रूप में स्तुति प्रतीति होती है परन्तु वस्तुतः उससे निन्दा की अभिव्यक्ति होती हैं—"कि तुझ जैसा नासमझ या मूर्ख कोई नहीं जो कि अपने अपकारी को भी धारण करता है। व्याजस्तुति का लक्षण है—"उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः। निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः।' (साहित्यदर्पण) अर्थात् जहाँ पर वाच्य निन्दा से स्तुति व्यङ्ग्य हो अथवा वाच्य स्तुति से निन्दा व्यङ्ग्य हो वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार होता है। अथवा यहाँ अप्रस्तुत चन्दन के वृत्तान्त से किसी प्रस्तुत महात्मा की भी प्रतीति मानी जा सकती है जो कि 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' के अनुसार जिस व्यक्ति को आश्रय दे दिया वह उसकी निन्दा का अपमान का कारण बन गया परन्तु

फिर भी उसे अपने आश्रय से दूर नहीं हटा देता। इस दशा में 'व्याजस्तुति' नहीं होगी। हाँ, चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ से समर्थक हेतु के रूप में प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ के प्रस्तुत किए जाने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग भी स्वीकार किया जा सकता है। (क) गुणगणवान्--गुणानां गणः (समुदायः) गुणगणः। "समुदायः समुदयः समवायश्चयो गण;" इत्यमरः। गुणगणः अस्त्यस्मिन्निति, गुणगणाः सन्त्यस्मिन्निति वा गुणगणवान् (गुणगण + मतुप्) 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) इति सूत्रेण)। (ख) द्विजिह्वैः-- द्वे जिह्वे यस्य स द्विजिह्वः सर्पः। तैः द्विजिह्वैः। 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः। अर्थात् सर्प और चुगलखोर को द्विजिह्व कहते हैं। (ग) असेव्यताम्--सेवितुं योग्यः सेव्यः (षेवृ सेवने + ण्यत्)। न सेव्यः असेव्यः। असेव्यस्य भावः असेव्यता (असेव्य + तल् 'तस्य भावस्त्वतलौ' ५।१।११९)। (घ) त्वदीयम्--तव इदम् त्वदीयम् (युष्मद् + छ)। अस्य निष्पत्तिः एवं युष्मच्छब्दस्य 'त्यदादीनि च' (१।१।७४) इत्यनेन त्यदादित्वात् वृद्धसञ्ज्ञायां 'वृद्धाच्छः' (४।२।१४४) इत्यनेन छप्रत्यये 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) इत्यनेन छस्येयादेशे 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) इत्यनेन 'युष्म' इत्यस्य 'त्व' इत्यादेशे विभक्तिकार्ये 'त्वदीयम्' इति रूपं सिद्धम् भवति। (ङ) औन्नत्यम्--उन्नतस्य भावः औन्नत्यम् (उन्नत + ष्यञ्)। इस श्लोक में भी कवि ने 'गिति' वृत्त का प्रयोग किया है ॥१९॥

गाहितमखिलङ्गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
सहकार ! न प्रपेदे मधुपेन भवत्समञ्जगति ॥२०॥

अन्वयः--हे सहकार ! मधुपेन अखिलम् गहनम् गाहितम्, परितः च सर्वे विटपिनः दृष्टाः, (किन्तु) भवत्समं जगति न प्रपेदे।

हिन्दीरूपान्तर--हे आम्र ! भौंरे ने सारा जंगल छान डाला और चारों ओर सभी पेड़ों को देख डाला (लेकिन) तुम्हारी बराबरी का संसार में (कोई दूसरा) न मिला।

व्याख्या--यहाँ पर अप्रस्तुत वृत्तान्त है आम्र और भ्रमर का, परन्तु इससे प्रतीत होता है प्रस्तुत किसी आश्रय और आश्रित का वृत्तान्त। गुरु के आश्रित शिष्य के वृत्तान्त को प्रस्तुत मानने पर आशय होगा कि 'मैंने बहुत से गुरु बनाये, विद्वानों से अध्ययन किया परन्तु आप जैसा विद्वान् कोई न मिला। अथवा किसी राजा के आश्रित कवि का वृत्तान्त मानने पर आशय होगा कि 'मैं अनेक राजाओं के आश्रय में गया पर आप जैसा दानी और कवि सम्मान देने वाला कोई न मिला। इस प्रकार इससे अनेकों प्रस्तुत वृत्तान्तों की

कल्पना की जा सकती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। साथ ही 'भवत्समम्' में उपमा। जिसमें उपमान और धर्म का लोप है। इसलिये धर्मोपमानलुप्ता उपमा भी है। क्योंकि यहाँ केवल 'आपकी तुलना वाला' इतना ही कहा गया है। कौन ? और किसके कारण ? यह नहीं बताया गया। अथवा 'आपके समान कोई दूसरा नहीं मिला' इसका व्यंग्य होता है 'आपके समान बस आप ही हैं दूसरा नहीं' इस प्रकार अनन्वयालंकार ध्वनि भी स्वीकार की जा सकती है। (क) गाहितम्—(गाहू विलोडने + क्त)। (ख) अखिलम्—"विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम्" इत्यमरः। (ग) गहनम्—'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। (घ) सहकार—'स्यादाम्रश्चूतश्च सहकारः' (हलायुधकोश)। (ङ) भवत्समम्—भवता समं भवत्समम् 'पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः (२।१।३१) इति तृतीयातत्पुरुषसमासः। इसमें कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या।" ॥२०॥

अपनीतपरिमलान्तरकथे पदं न्यस्य देवतरुकुसुमे।
पुष्पान्तरेऽपि गन्तुं वाञ्छसि चेद् भ्रमर! धन्योऽसि॥२१॥

अन्वयः—हे भ्रमर! अपनीतपरिमलान्तरकथे देवतरुकुसुमे पदं न्यस्य चेत् पुष्पान्तरे अपि गन्तुं वाञ्छसि धन्यः असि!

हिन्दीरूपान्तर—ऐ भँवरे! दूसरी सुगन्ध की चर्चा को दूर हटा देने वाले देववृक्ष के फूल में निवास बनाकर यदि तू दूसरे फूलों में भी (निवास करने के लिए) जाना चाहता है तो धन्य है तू।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से भ्रमर का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिससे प्रस्तुत किसी लोभी एवं क्षुद्र व्यक्ति की प्रतीति होती है। उसने किसी महान् दानी अथवा किसी महान् पण्डित के संसर्ग में रहने के बाद किसी साधारण दानी अथवा साधारण पण्डित के संसर्ग में जाने की इच्छा व्यक्त की है। अतः उसी को सम्बोधित करके कवि का यह कथन है। इस तरह यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ ही व्याजस्तुति भी है। क्योंकि वाच्यरूप में 'तुम धन्य हो' कहकर स्तुति की गई है. परन्तु व्यंग्य रूप से 'तुम महा मूर्ख लोभी एवं नीच हो' ऐसी निन्दा की प्रतीति होती है। साथ ही 'कुसुम' की विशेषता बताने वाले 'देवतरु' और अपनीतपरिमलान्तरकथे' विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार भी है। देवतरु का अभिप्राय है कि तुमने किसी साधारण पुष्प में नहीं बल्कि देववृक्ष के लोकोत्तर पुष्प में निवास

किया है। तथा 'अपनीतपरिमलान्तरकथे' का अभिप्राय है कि जिसने केवल फूलों की सुगन्ध की ही चर्चा को नहीं समाप्त कर दिया बल्कि समस्त सुगन्धों की भी चर्चा जिसके आगे बेकार है। ऐसे पुष्प का परित्याग कर 'पुष्पान्तर' दूसरे साधारण पुष्प में निवास बनाने की इच्छा मूर्खता नहीं तो और क्या है। अथवा अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत महात्मा की प्रतीति स्वीकार की जा सकती, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को मानने वाला है अथवा 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' के अनुसार समदर्शी पण्डित है। उसने यदि अपने चरणरज से किसी सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का घर पवित्र किया है। तो उसी जगह किसी साधारण व्यक्ति का घर पवित्र करने में उसे कोई हिचक नहीं है। इसलिए वह धन्य है। इस पक्ष में व्याजस्तुति नहीं होगी। बल्कि वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग स्वीकार किया जा सकता है। (क) अपनीत-परिमलान्तरकथे— अन्यत् परिमलम् परिमलान्तरम्। 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) इति समासः। परिमलान्तरस्य कथा परिमलान्तरकथा। अपनीता परिमलान्तरकथा येन तदपनीतपरिमलान्तरकथम् तस्मिन् अपनीतपरिमलान्तर-कथे। (ख) देवतरुकुसुमे—देवानां तरवः देवतरवः। तेषां कुसुमे देवतरु-कुसुमे। 'मन्दारपारिजातकहरिचन्दन-कल्पवृक्ष—सन्तानाः पञ्चैते सुरतरवः' इति हलायुधकोशः। (ग) पुष्पान्तरे—अन्यत्पुष्पं पुष्पान्तरम् तस्मिन् पुष्पान्तरे। 'मयूरव्यंसकादयश्च'। (घ) चेत्—चेत् यहाँ पक्षान्तर के वाचक रूप में आया है। अमरकोष का कथन है—'पक्षान्तरे चेद् यदि च' इसमें भी कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है ॥२१॥

तटिनि ! चिराय विचारय विन्ध्यभुवस्तव पवित्रायाः।
शुष्यन्त्या अपि युक्तम् किं खलु रथ्योदकादानम् ॥

अन्वयः—हे तटिनि ! चिराय विचारय !! विन्ध्यभुवः पवित्रायाः तव शुष्यन्त्याः अपि रथ्योदकादानं किं खलु युक्तम्।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ नदी ! (जरा) पहले की ओर तो सोच !! विन्ध्याचल से जन्म लेने वाली एवं पवित्र तेरे सूखते जाने पर भी तेरा रास्ते में जल ग्रहण करना क्या भला उचित हो सकता है ?

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से नदी का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिसके किसी प्रस्तुत अविवेकी व्यक्ति को प्रतीति होती है। वह व्यक्ति अत्यन्त कुलीन है, उच्चकुल में पैदा हुआ है। उसके पूर्वजों ने किसी महान् व्यक्ति के सामने भी अपना हाथ नहीं फैलाया। परन्तु उसे किसी साधारण व्यक्ति से कुछ माँगते देख किसी व्यक्ति की उक्ति है कि ऐ मूर्ख ! जरा तू अपने पूर्वजों

का अपनी उत्पत्ति का अपने कुल का तो ख्याल कर। अगर तू विपत्तियों में पड़कर मरता भी रहे तो भी तेरा किसी साधारण व्यक्ति के सामने हाथ फैलाना ठीक नहीं, मर जाना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार यहाँ साहश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ साथ परिकर अलंकार भी है। क्योंकि नदी के जो विशेषण उपात्त किये गये हैं वे तथा उदक के विशेषण रूप में जो रथ्या पद आया है सभी साभिप्राय हैं। तेरा जन्म विन्ध्यपर्वत से हुआ है। तू किसी बरसाती ताल तलैया से बह निकलने वाली नदी नहीं है। तू पवित्र है क्योंकि विन्ध्य जैसे पुण्य क्षेत्र से जन्मी है। इसलिए ऐसे तेरा जल ग्रहण करना तो दूर रहा, सूखते रहने पर भी तेरा जल ग्रहण करना ठीक नहीं। फिर जल भी कैसा ? किसी पवित्र पर्वत से बहने वाला नहीं बल्कि रथ्या का जल। रथ्या का अर्थ मार्ग गली आदि है—"रथ्या रथौघविशिखावर्त्तनीषु च योषिति" (मेदिनीकोश) तथा हलायुध कोश में भी कहा गया है—"प्रतोली विशिखा रथ्या"। और विशिखा का अर्थ मेदिनीकोश में नलिक अर्थात् नाली भी दिया गया है "विशिखा तू खनित्र्याञ्च रथ्यानलिकयोरपि" अतः यदि हम रथ्या का अर्थ नाली कर सके तो ज्यादा अच्छा होगा। (क) तटिनि—तटमस्त्यस्याः इति तटिनी। 'तट'—शब्दात् 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) इतीनिस्ततः 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इत्यनेन ङीपि विभक्तिकार्ये तटिनीति रूपम्। नदीत्यर्थः। 'सिन्धुः स्रवन्ती तटिनी तरङ्गिणी नदी धुनी निर्झरिणी च निम्नगा' इति हलायुधः। (ख) विन्ध्यभुवः—विन्ध्यः विन्ध्यपर्वतः भूः उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा विन्ध्यभूः (विन्ध्य + भू + क्विप्) तस्याः विन्ध्यभुवः। (ग) पवित्रायाः—पवित्र + टाप् पवित्रा। तस्याः पवित्रायाः। पावन्याः विमलाया इत्यर्थः। 'पवित्रं च पुण्यं पावनमुच्यते विमलम्' इति हलायुधः। (घ) रथ्योदकादानाम्—रथ्याया उदकं रथ्योदकम्, तस्य आदानं रथ्योदकादानम्। रथ्योदग्रहणम्। (ङ) युक्तम्—उचितम्। कदापि नोचितमिति भावः। इसमें कवि ने 'उपगीति' वृत्त का प्रयोग किया। लक्षण है—

"आर्या परार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥२२॥

पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या कदाऽप्यदृष्टं वृतञ्च खलु शूकैः।
उपसर्पेम भवन्तं बर्बुर[1] ! वद कस्य लोभेन ? ॥२३॥

अन्वयः—हे बबुर ! कदाऽपि पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या अदृष्टम्, खलु च शूकैः वृतम् भवन्तं कस्य लोभेन उपसर्पेम ? वद !!

हिन्दीरूपान्तर—ऐ बावले ! कभी भी पत्तों, फलों एवं फूलों की सम्पत्ति

---

१. "बर्बर" इति पाठान्तरम्।

द्वारा न देखे गए बल्कि हमेशा कांटों से घिरे हुए ही तुम्हारे पास हम किस लालच से आवें ? जरा बताओ तो !

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत बावले के वृत्तान्त से किसी ऐसे प्रस्तुत राजा की प्रतीति होती है जिसके पास न धन है, न पराक्रम है, न साहित्य आदि का ज्ञान है और न कभी किसी पण्डित का सम्मान ही किया है बल्कि दुष्टों का आश्रय है और चाहता है किसी पण्डित को अपने आश्रय में बुलाना। तो उससे पण्डित की यह उक्ति है कि किस लालच से हम तेरे पास आवें। न तुझसे हमें धन ही मिलने वाला है, और तेरी तारीफ से मुझे यश भी नहीं मिलने वाला क्योंकि यदि कोई साहित्यमर्मज्ञ किसी साहित्यकार की तारीफ करे तब तो उसका महत्व है और जो साहित्यानभिज्ञ है, उसकी तारीफ से क्या ? कमल के मकरन्द के मर्म्म को न समझने वाला बगुला यदि कमल की बड़ी तारीफ भी करे तो क्या ? फिर सज्जनों का तो तेरे यहाँ वास नहीं, दुष्टों का गिरोह इकट्ठा कर रखा है। अतः तू मेरे ऊपर दया कर, मुझे अपने पास न बुला। इस प्रकार सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ-साथ परिकर अलङ्कार भी है। क्योंकि बावले के जो विशेषण प्रस्तुत किए गए हैं वे सभी साभिप्राय हैं। (क) पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या—पत्राणि च फलानि च पुष्पाणि चेत्येतेषामितरेतरयोगः पत्रफलपुष्पाणि। तेषां लक्ष्मीः पत्रफलपुष्पलक्ष्मीः। तया पत्रफलपुष्पलक्ष्म्या। (ख) अदृष्टम्—दृश् + क्त = दृष्टम्। न दृष्टमदृष्टम्। (ग) शूकैः—कण्टकैः इति जीवानन्दः। इसमें कवि ने आर्या वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥ २३॥

एकस्त्वङ्गहनेऽस्मिन् कोकिल ! न कलङ्कदाचिदपि कुर्य्याः।
साजात्यशङ्कयाऽमी न त्वान्निघ्नन्तु[1] निर्द्दया काकाः॥२४॥

अन्वयः—हे कोकिल ! त्वम् एकः अस्मिन् गहने कदाचिद् अपि कलं न कुर्य्याः, (यतः) अमी निर्दयाः काकाः त्वां साजात्यशङ्कया न निघ्नन्तु।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कोकिल ! तू अकेले इस जंगल में कभी भी अव्यक्त मधुर आवाज न करना (जिससे कि) ये क्रूर कौए तुझे सजातीयता के विषय में उत्पन्न शङ्का के कारण मार न डालें !

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत कौओं और कोकिल के वृत्तान्त से कवि ने प्रस्तुत मूर्खों के बीच में रहने वाले किसी गुणी विद्वान् का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। मूर्ख और विद्वान् की पहचान उनके परस्पर सम्भाषण से ही होती है। जब तक

---

१. "निघ्नन्ति" इति पाठान्तरम्।

विद्वान् कुछ बोलेगा नहीं उसकी विद्वत्ता जाहिर नहीं होगी और मूर्ख यही समझेंगे कि यह भी हमारी तरह मूर्ख ही है अतः विरोध नहीं करेंगे। परन्तु यदि विद्वान् ने बोलकर अपनी विद्वत्ता जाहिर कर दी तब तो निश्चित ही मूर्ख उसके शत्रु बन जायेंगे और उसकी जान को लेने के देने पड़ जायेंगे। जैसे वर्ण और आकार-साम्य के कारण कौवे कोयल को अपना सजातीय समझते हैं अतः उसका वध नहीं करते। लेकिन यदि कोयल ने अव्यक्त मधुर ध्वनि की तो वे निश्चित ही उसकी सजातीयता के विषय में शङ्कित होकर उसकी हत्या कर डालेंगे। इस प्रकार यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा के साथ 'भ्रान्तिमान्' अलंकार की ध्वनि भी मानी जा सकती है। क्योंकि 'साजात्य के विषय में शंका के कारण कौवे तुझे मार न डालें' से यह ध्वनित होता है कि 'कौए अभी तुझे अपना सजातीय समझ कर नहीं मार रहे हैं' अतः भ्रान्ति ध्वनित होती है। भ्रान्तिमान् का लक्षण है—'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः' (साहित्यदर्पण) अर्थात् सादृश्य के कारण अन्य वस्तु में अन्य वस्तु के कवि प्रतिभा से उत्थापित निश्चयात्मक ज्ञान को 'भ्रान्तिमान्' अलंकार कहते हैं।
(क) गहने--अरण्ये। 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः।
(ख) कलम्--मधुरास्फुटध्वनिम्। 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः' इत्यमरः।
(ग) साजात्यशङ्कया—समाना जातिर्यस्य स सजातिः। तस्य भावः साजात्यम्। (सजाति + ष्यङ्) साजात्ये शङ्का साजात्यशङ्का। तया साजात्यशङ्कया। अर्थात् अभी तुम्हें कौये अपना सजातीय समझ रहे हैं परन्तु यदि तुमने 'कल' किया तो वे तुम्हारे साजात्य के विषय में सन्देह करेंगे और तुझको मार डालेंगे। (घ) निर्दयाः--निर्गता दया येभ्यस्ते निर्दयाः इत्यर्थः।

इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या'॥२४॥

तरुकुलसुषमापहरां जनयन्तीं जगति जीवजातार्तिम्।
केन गुणेन भवानीतात! हिमानीमिमां वहसि॥२५॥

अन्वयः—हे भवानीतात! तरुकुलसुषमापहराम् जगति जीवजातार्त्तिम् जनयतीम् इमाम् हिमानीम् केन गुणेन वहसि?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ भवानी के पिता हिमालय! वृक्षों की सुषमा को छीन लेने वाली तथा संसार में समस्त प्राणियों को पीड़ा पहुँचाती हुई इस विशाल हिमराशि को तुम (भला) किस खूबी के कारण वहन करते हो?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से हिमालय और हिमानी का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिससे प्रस्तुत रूप में किसी श्रेष्ठ व्यक्ति और वारांगना

अथवा किसी दुर्गुणी को आश्रय देने वाले श्रेष्ठ व्यक्ति की प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। साथ ही कवि ने 'हिमानी' के जिन विशेषणों का उपादान किया है वे सभी उसके दुर्गुणों को प्रकट कर उसकी त्याज्यता के अभिप्राय से युक्त हैं। जैसे 'तरुकुलसुषमापहराम्' पर ध्यान दीजिए। वह एक तरु की सुषमा का अपहरण नहीं करती है बल्कि 'तरुकुलों' की सुषमा का अपहरण करती है। केवल हरण ही नहीं बल्कि 'अपहरण' करती है। फिर एक जीव को पीड़ित नहीं करती बल्कि 'जीवजात' को पीड़ा पहुँचाती है। ऐसी तो है हिमानी और तुम, तुम साधारण नहीं बल्कि भवानी के तात हो, भवानी कौन? भव अर्थात् शङ्कर की पत्नी; और उसके तुम जनक हो अतः तुम्हारे उस हिमानी के वहन करने से केवल तुम्हारा ही अपयश नहीं, बल्कि भवानी और शङ्कर भी अपयश से युक्त हो जाते हैं। अतः परिकर अलंकार भी है। (क) तरुकुलसुषमापहराम्—तरूणां कुलानि तरुकुलानि। तेषां सुषमा तरुकुलसुषमा। तामपहरतीति तरुकुलसुषमापहरा। तां तरुकुलसुषमापहराम्। 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः। 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः। (ख) जीवजातार्त्तिम्—जीवानां जातम् जीवजातम्। प्राणिसामान्यमित्यर्थः। 'जातिर्जातं च सामान्यम्' इत्यमरः। तस्य आर्त्तिः जीवजातार्त्तिः। तां जीवजातार्त्तिम्। 'दुःखमार्त्तिः पीडा' इति हलायुधः। (ख) भवानीतातः—भवस्य स्त्री भवानी। भवशब्दात् 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) इति ङीप्। 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक' (४।१।४९) इति आनुगागमश्च। पार्वतीत्यर्थः। तस्याः तातः (पिता) भवानीतातः। तत्सम्बुद्धौ हे भवानीतात, हिमालय, इत्यर्थः। 'भवानी च। आर्याम्बिका मृडानी हैमवती पार्वती गौरी' इति हलायुधः। 'तातोऽनुकम्प्ये जनके' इति विश्वप्रकाशः। (ग) हिमानीम्—हिमसंहतिमित्यर्थः। 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यमरः। हिम शब्दादत्र 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' इति वार्तिकेन महद्धिमम् इत्यर्थे ङीष् आनुगागमश्च। इसमें कवि ने 'आर्यावृत्त' उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥२५॥

कलभ! तवान्तिकमागतमलिमेनम् मा कदाऽप्यवज्ञासीः।
अपि दानसुन्दराणान्द्विपधुर्य्याणामयं शिरोधार्यः ॥२६॥

अन्वयः— हे कलभ! तव अन्तिकम् आगतम् एनम् अलिम् कदाऽपि मा अवज्ञासीः (यतः) अयम् दानसुन्दराणां द्विपधुर्य्याणाम् अपि शिरोधार्य्यः।

हिन्दीरूपान्तर—रे हाथी के बच्चे ! तू अपने पास आये हुए इस भँवरे का कभी भी अपमान न कर (क्योंकि) यह मदजल से सुशोभित होने वाले गजेन्द्रों का भी शिरोधार्य है ।

व्याख्या—इस पद्य के भाव से मिलता-जुलता एक श्लोक "समुपागतवति दैवादवहेला कुटज ! मधुकरे मा गाः । मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामयम्महामान्यः ॥" आ चुका है । वहाँ कवि ने कुटज को सम्बोधित किया था । यहाँ पर कलभ को संबोधित करके कह रहा है । यहाँ कलभ से किसी क्षुद्र अहंकारी व्यक्ति की प्रतीति होती है तथा भ्रमर से किसी विद्वान्, गुणज्ञ की प्रतीति होती है । अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है । साथ ही पूर्वार्द्ध में कहे गये वाक्यार्थ के समर्थक हेतु के रूप में उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के उपनिवद्ध होने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार भी है । साथ ही कवि ने द्विपधुर्य्याणां का जो विशेषण 'दानसुन्दराणाम्' उपात्त किया है वह साभिप्राय है अर्थात् अरे हाथी के बच्चे ! तेरे पास क्या है जो तू इतना इठलाता है । जानता है, इस भँवरे का वे गजेन्द्र केवल सम्मान ही नहीं करते बल्कि सिर पर वहन करते हैं जो दान अर्थात् मदजल से सुशोभित होने वाले हैं, साधारण नहीं । अतः परिकारलंकार भी है । (क) कलभ—करिशावक । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । तत्सम्बुद्धौ हे कलभ ! (ख) अलिम्—भ्रमरम् । (ग) दानसुन्दराणाम्—दानेन मदजलेन सुन्दराः दानसुन्दराः । तेषां दानसुन्दराणाम् । 'दानं मदः' इति हलायुधः । (घ) द्विपधुर्य्याणाम्—द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबतीति द्विपः (द्वि + पा + क) 'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः' इत्यमरः । तेषां तेषु वा धुर्य्याः श्रेष्ठाः द्विपधुर्य्याः । तेषां द्विपधुर्याणाम् । (ङ) शिरोधार्य्यः—धारयितुं योग्यः धार्य्यः । शिरोभिः धार्यः शिरोधार्य्यः । इसमें कवि ने गीति वृत्त प्रयुक्त किया है । लक्षण है—आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥२६॥

अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णसकलकामस्य ।
पुष्पान्तरसेवेयम् भ्रमरस्य विडम्बना महती ॥२७॥

अन्वयः—अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णसकलकामस्य भ्रमरस्य इयम् पुष्पान्तरसेवा महती विडम्बना (अस्ति) ।

हिन्दीरूपान्तर—देववृक्ष के पुष्पों की सुगन्ध के सेवन से भलीभाँति पूर्ण हो गई समस्त अभिलाषाओं वाले भँवरे की यह दूसरे पुष्पों की सेवा (दैवकृत) बहुत बड़ी प्रवञ्चना है ।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत भ्रमर के वृत्तान्त से प्रस्तुत किसी ऐसे लोभी

एवं क्षुद्र व्यक्ति की प्रतीति होती है जिसने पहले किसी बहुत बड़े राजा अथवा सर्वज्ञ गुरु का आश्रण किया। राजा से धनादिक प्राप्त किया अपनी सारी इच्छाएँ पूरी कर लीं। गुरु से समस्त शास्त्रादिकों की शिक्षा प्राप्त की कुछ भी शेष न रह गया। फिर भी किसी साधारण राजा अथवा अल्पज्ञ गुरु की सेवा में लगा हुआ है। अतः यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही साथ ही परिकर और काव्यलिङ्ग अलंकार भी हैं। क्योंकि भ्रमर का जो विशेषण कवि ने उपात्त किया है उसका अभिप्राय यह है कि भ्रमर की दूसरे पुष्प की सेवा केवल अनुचित ही नहीं बल्कि सर्वथा अनुचित है क्योंकि उसने जी भर कर किसी साधारण वृक्ष के पुष्प की सुगन्ध का सेवन नहीं किया बल्कि अमर-तरु देववृक्ष के पुष्प की सुगन्ध का सेवन किया है। तथा चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ के समर्थक हेतु रूप में पहले तीन चरणों का वाक्यार्थ उपनिबद्ध किया गया है इसलिए वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग भी है। (क) अमरतरु-कुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णसकलकामस्य—अमराणां तरवः अमरतरवः। देव-वृक्षाः पारिजातादयः। तेषां कुसुमानि अमरतरुकुसुमानि। तेषां सौरभममरतरु-कुसुमसौरभम्। तस्य सेवनं अमरतरुकुसुमसौरभसेवनम्। तेन सम्पूर्णाः अमरतरु-कुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णाः। सकलाः कामाः सकलकामाः। अमरतरुकुसुमसौरभ-सेवनसम्पूर्णाः सकलकामाः यस्य सः अमरतरुकुसुमसौरभसेवनसम्पूर्णसकलकामः। तस्य तथोक्तस्य। 'अमरा निर्जरा देवाः' इति, 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।' इति चामरः। 'पुष्पं प्रसवः कुसुमम्' इति हलायुधः। कामाः अभिलाषाः। 'कामः स्मरेऽभिलाषे च' इति विश्वप्रकाशः। (ख) पुष्पान्तर-सेवा—अन्यत्पुष्पं पुष्पान्तरम्। तस्य सेवा पुष्पान्तरसेवा। इसमें कवि ने आर्या-वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण २५ वें श्लोक की व्याख्या में देखें ॥२७॥

पृष्टाः खलु परपुष्टाः परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे।
माकन्द ! न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥२८॥

अन्वयः—हे माकन्द ! मधुपेन खलु परपुष्टाः पृष्टाः परितः च सर्वे विटपिनः दृष्टाः (किन्तु) जगति तव उपमा न प्रपेदे।

हिन्दीरूपान्तर—हे आम्र ! भँवरे ने निश्चय ही कोकिलों से पूछा और चारों ओर के सभी पेड़ों को देख डाला (लेकिन) संसार भर में (कोई) तुम्हारी उपमा न मिल सकी।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप में आम्र वृक्ष को प्रस्तुत किया है। जिससे किसी भी प्रस्तुत गुणी अथवा विद्वान् या राजा आदि की प्रतीति होती, जिसकी तुलना का कोई व्यक्ति उसके आश्रित को ढूँढ़ने से भी नहीं उपलब्ध हो

सका। अतः अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही। साथ ही यहाँ 'तुम्हारी उपमा संसार में नहीं मिली' इस बात से यह ध्वनित होता है कि 'तुम्हारे समान तुम्हीं हो दूसरा कोई नहीं' जो कि अनन्वय अलङ्कार का स्वरूप है—क्योंकि अनन्वय का लक्षण है—"उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः" (साहित्यदर्पण)। एक वाक्य में जहाँ एक वस्तु को उपमान और उपमेय बनाया जाता है वहाँ अनन्वयालंकार होता है। इस प्रकार यहाँ अनन्वयालंकार वाच्य रूप नहीं आया अतः ध्वनि रूप है। अतः यहाँ वस्तुमूलक अनन्वयालङ्कार ध्वनि है। (क) परपुष्टाः—परेण (काकेन) पुष्टाः (पालिताः) परपुष्टाः। कोयल के लिए ऐसी प्रसिद्धि है कि कोयल कभी भी अपने बच्चे का पालन नहीं करती। वह अपना अण्डा अपने घोंसले से हटाकर कौए के घोंसले में रख आती है और कौए का अण्डा बाहर फेंक देती है। कौआ मादा इतनी बेवकूफ होती है कि वह कोयल के अण्डे और बच्चे का पालन करती है। बड़े होने पर वे कौओं से अलग हो जाते हैं। इसी लिए कोकिलों का परपुष्ट कहा जाता है। "परपुष्टः परभृते परपुष्टाऽऽपण स्त्रियाम्" (विश्वप्रकाश) तथा "वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि" (अमरकोश)। (ख) विटपिनः—विटपः शाखा अस्ति अस्येति विटपी (विटप + इनि) तस्य बहुवचने विटपिनः। "विटपः पल्लवे शृङ्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः" (विश्वप्रकाश)। तथा "वृक्षोऽङ्घ्रिपः क्षितिरुहः शिखरी च शाखी शालो वनस्पतिरगो विटपी कुटश्च" इति हलायुधः। (ग) माकन्द—माकन्द अत्यन्त सुगन्धित आम्र को कहते हैं। विश्वप्रकाश का कथन है—"माकन्दः सहकारे स्यात्" और अमरकोश में कहा गया है—"आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः।" (घ) प्रपेदे—प्र + पद गतौ + लिट्। इस पद्य में कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया गया है। लक्षण है—यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥२७॥

> तोयैरल्पैरपि करुणया भीमभानौ निदाघे
> मालाकार! व्यरचि भवता या तरोरस्य पुष्टिः।
> [1]सा किं शक्या! जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां
> धारासारानपि विकिरता विश्वतो वारिदेन ॥

अन्वयः—हे मालाकार! भीमभानौ निदाघे भवता करुणया अल्पैः अपि तोयैः अस्य तरोः या पुष्टिः व्यरचि, सा किम् इह प्रावृषेण्येन वारिदेन विश्वतः वारां धारासारान् अपि विकिरता शक्या?

---

१. "किञ्चिन्मात्रम्" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ माली ? भयङ्कर सूर्य वाले ग्रीष्मकाल में तुमने दया के कारण थोड़े से भी जल के द्वारा इस पेड़ का जो पोषण किया था, वह (भला) क्या इस समय वर्षाकालीन बादल के द्वारा चारों ओर से जल के धारासम्पात को भी विकीर्ण करने से सम्भव हो सकता है ? (कदाऽपि नहीं)।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से माली, बादल और वृक्ष के वृत्तान्त का वर्णन किया है। परन्तु उससे क्रमशः प्रस्तुत विपत्ति के समय पर सहायता करने वाले, पहले विपत्तिग्रस्त फिर विपत्ति से मुक्त, और विपत्ति के दूर हो जाने पर आवश्यकता से भी अधिक सहायता करने वाले व्यक्तियों की प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही साथ ही यहाँ प्रतीपालङ्कार विशेष भी माना जा सकता है। क्योंकि मालाकार के द्वारा की गई पुष्टि के आगे वारिद के द्वारा की जाने वाली पुष्टि को निरर्थक बताया जा रहा है। कुवलयानन्दकार का लक्षण है—'प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते।' इति। (क) करुणया—कृपया। 'कारुण्यं करुणा घृणा कृपा दयाऽनुकम्पा' इत्यमरः। (ख) भीमभानौ—भीमः (घोरः) भानुः सूर्यः यस्मिन् सभीमभानुः। तस्मिन् भीमभानौ। 'भीमोऽम्लवेतसे शम्भौ घोरे चापि वृकोदरे' इति विश्वप्रकाशः। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। (ग) निदाघे—ग्रीष्मकाले। 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वप्रकाशः। (घ) मालाकारः—मालां करोतीति मालाकारः। (माला + कृ + अण्)। तत्सम्बुद्धौ हे मालाकार। (ङ) प्रावृषेण्येन—प्रावृषि भवः = प्रावृषेण्यः। प्रावृष् + एण्यः (प्रावृष एण्यः) (४।३।१७) इति सूत्रेण। तेन प्रावृषेण्येन : वर्षाकालिकेनेत्यर्थः। 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः। (च) वाराम्—जलानाम्। 'वार्वारि सलिलम् कमलं जलम्' इत्यमरः। (छ) धारासारान्—धाराणामासाराः धारासाराः। तान् धारासारान्। 'धारा सम्पात आसारः' इत्यमरः। (ज) विकिरता—वि + किर + शतृ + टा। (झ) वारिदेन—मेघेन। वारि ददाति इति वारिदः तेन वारिदेन। इसमें कवि ने मन्दाक्रान्ता वृत्त प्रयुक्त किया है लक्षण है—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ २९ ॥

आरामाधिपतिर्विवेकविकलो नूनं रसा नीरसा
वात्याभिः परुषीकृता दश दिशश्चण्डातपो दुःसहः।
एवन्धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतावपि
त्वं सिञ्चन्नमृतेन तोयद ! कुतोऽप्याविष्कृतो वेधसा ॥३०॥

अन्वयः—हे तोयद ! आरामाधिपतिः विवेकविकलः; नूनं रसा नीरसा,

दश दिशः वात्याभिः परुषीकृताः, चण्डातपः दुःसहः, एवम् धन्वनि चम्पकस्य सकले संहारहेतौ अपि वेधसा अमृतेन सिञ्चन् त्वम् कुतोऽपि आविष्कृतः ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ जलद ! उपवन का स्वामी विवेकहीन है, निश्चित रूप से पृथ्वी जलहीन है, दशो दिशायें झंझावातों के द्वारा कठोर बना दी गयी हैं, तेज धूप असह्य है, इस प्रकार रेगिस्तान में चम्पक के समस्त विनाश हेतुओं के विद्यमान रहने पर भी विधाता ने अमृत (जल) सींचते हुए तुम्हें न जाने कहाँ से पैदा कर दिया ।

व्याख्या—कोई व्यक्ति चारो ओर से विपत्तियों द्वारा घिरा हुआ था । अचानक किसी महापुरुष ने उस व्यक्ति को साहाय्य प्रदान कर उसे कष्टों से छुटकारा दिलाया । इस प्रकार अत्यन्त कष्ट में फँसे हुए व्यक्ति एवं उसके सहायक के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति कवि ने यहाँ अप्रस्तुत चम्पक और मेघ के वृत्तान्त द्वारा कराई है । अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । साथ ही यहाँ प्रहर्षणालंकार भी स्वीकार किया जा सकता है । प्रहर्षण का लक्षण है—

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम् ।' (कुवलयानन्द) अर्थात् अभीष्ट अर्थ की बिना प्रयत्न के ही सिद्धि हो जाने पर प्रहर्षण अलंकार होता है । यहाँ चम्पक वृक्ष (अथवा विपद्ग्रस्त व्यक्ति) का उत्कण्ठित अर्थ है जलवृष्टि आदि के द्वारा उसका सेचन (अथवा सहायता द्वारा विपत्ति से छुटकारा पाना) और उसकी सिद्धि बिना प्रयत्न के दिखाई गई है क्योंकि कहा गया है 'विधाता ने कहीं से प्रकट कर दिया' । अतः प्रहर्षण अलंकार भी स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है । (क) आरामाधिपतिः - आरामस्य (उपवनस्य) अधिपतिः (स्वामी) आरामाधिपतिः । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । 'स्वामी प्रभुः × × अधीशोऽधिपतिस्तथा' इति हलायुधः । (ख) विवेकविकलः—विवेकेन (विचारेण) विकलः (विरहितः) विवेक-विकलः । विचारहीनः । (ग) नूनम्—निश्चयेन । 'तर्कनिश्चययोर्नूनम्' इति हलायुधः । (घ) रसा –'रसा क्षितिरिला क्षोणी क्ष्मा क्ष्मा चला कुः पृथ्वी' पृथिवी' इति हलायुधः । (ङ) नीरसा—निर्गतः रसः यस्याः सा नीरसा । (च) वात्याभिः—वातानां समूहः वात्या । 'पाशादिभ्यो यः' (४।१।४९) इति यप्रत्ययः । ताभिः वात्याभिः । 'स्याद् वात्या वातस्य मण्डली' इति हलायुधः । (छ) परुषीकृताः—अपरुषाः परुषाः कृता इति परुषीकृताः । अभूततद्भावे च्विः । (ज) चण्डातपः—चण्डः (तीक्ष्णः) आतपः रविप्रकाशः चण्डातपः । भीषण धूप । (झ) धन्वनि—मरुस्थले । 'मरुधंन्वा' इति हलायुधः । (ञ) संहारहेतौ—संहारस्य हेतुः । संहारहेतुः विनाशकारणम् । तस्मिन्

संहारहेतो। विनाश के कारणों के विद्यमान रहने पर भी। श्रीजीवानन्द ने 'सकले' का एक वार समूह अर्थ लेकर-चम्पकस्य सकले अर्थात् चम्पकस्य समूहे अमृतेन जलेन सिञ्चन् त्वं कुतोऽपि आविष्कृतः प्रकटीकृतः।' अर्थ किया है। परन्तु यह उतना महत्वपूर्ण एवं चत्मकारी नहीं है जितना कि 'सकले संहार-हेतावपि' अर्थ है। क्योंकि आरामाधिपति विवेकहीन है। रसा नीरसा है इत्यादि उस चम्पक के विनाश के समस्त हेतु विद्यमान हैं फिर भी अकेले इस मेघ ने जलवृष्टिकर उसे प्राणदान दिया: (ट) अमृतेन—अमृत का अर्थ सुधा और जल दोनों होता है—'अमृतं यज्ञशेषे स्यात् पीयूषे सलिले घृते' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ वाच्य रूप से तो अमृत का जल अर्थ ही अन्वित होगा। परन्तु व्यंग्य रूप से अमृत का सुधा अर्थ भी चमत्कारी होगा। मेघ का जल उस चम्पक के लिए ठीक उसी प्रकार है जैसे कि मरणासन्न व्यक्ति के लिए अमृत। इस प्रकार यहाँ पर अमृत पद से उपमालंकार ध्वनित होता है। अतः शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनि है। यहाँ कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। 'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३० ॥

न यत्र स्थेमानन्दधुरतिभयभ्रान्तनयना
गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः।
लुठन्मुक्ताभारे भवति परलोकङ्गतवतो
हरेरद्य द्वारे शिव शिव! शिवानाङ्कलकलः ॥३१॥

अन्वयः—यत्र गलद्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः करटिनः अतिभयभ्रान्तनयना स्थेमानम् न दधुः, शिव शिव! अद्य परलोकम् गतवतः हरेः लुठन्मुक्ताभारे (तत्र) द्वारे शिवानाम् कलकलः भवति।

हिन्दीरूपान्तर—यहाँ पर झरते हुए मदजल के उद्रेक के कारण मँडराते हुए भ्रमर समुदाय वाले हाथी अत्यन्त भय के कारण भ्रान्त (चञ्चल) आँखों वाले होकर (कभी) ठहर नहीं पाते थे, शिव शिव! आज परलोक सिधार गये हुए सिंह के लुढ़कती हुई गजमुक्ताओं के समूहवाले (उसी) दरवाजे पर सियारों का कोलाहल हो रहा है।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत रूप से कवि ने सिंह और सियारों का वृत्तान्त वर्णित किया है जिसके द्वारा प्रस्तुत किसी महामहिमशाली व्यक्ति एवं उसकी मृत्यु के अनन्तर उसके स्थान को कलङ्कित करनेवाले दुकौड़िये लोगों की प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही, साथ ही यहाँ पर पर्यायालङ्कार भी है। पर्याय का लक्षण है—

'क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥' (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ कहीं एक वस्तु अनेकों में अथवा अनेक वस्तुयें एक में क्रमशः होती हैं अथवा की जाती हैं वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है। यहाँ पहले जहाँ जिस दरवाजे पर सिंह का सम्राज्य था उसी दरवाजे पर वहीं आज शृगालों का साम्राज्य वर्णित किया गया है। अतः एक आश्रय में अनेक का क्रमिक वर्णन होने के कारण पर्यायालङ्कार है। (क) स्थेमानम्—स्थितिम्। (स्था + इमनिच्। (ख) अतिभयभ्रान्तनयनाः—अतिशयेन भयमतिभयम्। तेन-भ्रान्तानि अतिभयभ्रान्तानि। अतिभयभ्रान्तानि नयनानि येषान्ते अतिभय-भ्रान्तनयनाः। अत्यधिक भय के कारण घूमती हुई आँखोंवाले। (ग) गल-द्दानोद्रेकभ्रमदलिकदम्बाः—गलद् दानं गलद्दानम्। तस्य उद्रेकः (उदयः) गलद्दानोद्रेकः। हाथी के मदजल को दान कहते हैं—'मदो दानम्' इत्यमरः। अलीनां कदम्बानि अलिकदम्बानि। भ्रमरसमूहाः। कदम्बमाहुः सिद्धार्णे नीपेऽपि निकुरम्बके' इति 'अलिः सुरापुष्पलिहोः' इति च विश्वप्रकाशः। भ्रमन्ति अलि-कदम्बानि भ्रमदलिकदम्बानि। गलद्दानोद्रेकेण भ्रमदलिकदम्बानि येषु ते गलद्दा-नोद्रेकभ्रमदलिकदम्बानि। (घ) करटिनः—हाथियों के गण्डस्थल को करट कहते हैं—'करटः स्यात् कटो गण्डः' इति हलायुधः। करटः अस्त्यस्येति करटी (करट + इनि)। तस्य बहुवचने करटिनः। गजा इत्यर्थः। (ङ) लुठन्मुक्ता-भारे—मुक्तानां (गजमौक्तिकानां) भाराः मुक्ताभाराः। लुठन्तः मुक्ताभाराः यस्मिन् तत् लुठन्मुक्ताभारम्। तस्मिन् लुठन्मुक्ताभारे। (च) परलोकम्—परः लोकः परलोकः। स्वर्ग इति यावत् परलोकम्। (छ) हरेः—सिंहस्य 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्य्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। (ज) शिव—शिव इति खेदे। (झ) शिवानाम्—शृगालानामित्यर्थः। 'स्त्रियां शिवाभूरिमाय-गोमायु-मृगधूर्नकाः। शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः' इत्यमरः। (ञ) कलकलः—कोलाहलः इत्यर्थः। यहाँ पर कवि ने प्रथम चरण में 'यत्र' पद का उपादान किया है, जैसा कि नियम है 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' यत्र-पद के साथ तत्र-पद का प्रयोग अत्यावश्यक था। परन्तु कवि ने उसका उपादान नहीं किया अतः यहाँ 'न्यूनपदता' दोष विद्यमान है। श्री जीवानन्दजी ने 'तत्र द्वारे 'यच्छब्देन तु तच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः' इति नयेन 'यच्छब्देन तच्छब्दोपस्थितेः' लिखा है। परन्तु उससे न्यूनपदता दोष नहीं समाप्त हो जाता। इसमें कवि ने शिख-रिणीवृत्त का प्रयोग किया है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३१ ॥

दधानः प्रेमाणन्तरुषु समभावेन विपुलं[1]
न मालाकारोऽसावकृत करुणां बालबकुले ।
अयन्तु द्रागुद्यत्कुसुमनिकराणाम्परिमलै-
र्दिगन्तानातेने मधुपकुलझङ्कारभरितान् ॥३२॥

अन्वयः—असौ मालाकारः तरुषु समभावेन विपुलम् प्रेमाणम् दधानः बालबकुले करुणाम् न अकृत, तु अयम् द्राक् उद्यत्कुसुमनिकराणाम् परिमलैः दिगन्तान मधुपकुलझङ्कारभरितान् आतेने ।

हिन्दीरूपान्तर—इस माली ने सभी पेड़ों पर समान रूप से बड़ा स्नेह रखते हुए छोटे से बकुल वृक्ष पर (कोई) दया नहीं की लेकिन इसने शीघ्र ही खिलते हुए फूलों की सुगन्ध से दिगन्तों को भौरों की झंकार से परिपूर्ण कर दिया।

व्याख्या—किसी गुरु ने समस्त शिष्यों पर समभाव रखते हुए किसी अल्पवयस्क परन्तु अत्यन्त प्रबुद्ध शिष्य पर यद्यपि कोई विशिष्ट अनुकम्पा नहीं दिखाई फिर भी अत्यन्त प्रबुद्ध होने के कारण अन्य शिष्यों की अपेक्षा पहले ही उस शिष्य द्वारा दिगदिगन्त में अपने पाण्डित्य से अपने यश के साथ-साथ अपने गुरु के यश को फैलाते देखकर कवि की यह उक्ति है। यहाँ प्रस्तुत है यद्यपि गुरुशिष्यवृत्तान्त, परन्तु कवि ने उसे साक्षात् उपनिबद्ध न कर अप्रस्तुत मालाकार और बालबकुल के वृत्तान्त द्वारा प्रतीत कराया है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। साथ ही यहाँ हम 'असम्भवालंकार' भी मान सकते हैं। असम्भव का लक्षण है—असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्' (कुवलयानन्द) अर्थात् अर्थनिष्पत्ति की असम्भाव्यता का वर्णन करने पर असम्भव अलंकार होता है। किसे पता था कि यह बालबकुल अपनी सुगन्ध से दिग्दिगन्त को भर देगा अथवा कौन जानता था कि वह अल्पवयस्क शिष्य इतनी जल्दी अपनी एवं अपने गुरु की कीर्ति को चारों ओर फैला देगा। अतः असम्भाव्यता वर्णित होने के कारण यहाँ असम्भवालंकार भी है। (क) प्रेमाणम्—स्नेहम्। 'प्रेमन्' शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है। अमरकोश का कथन है—'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इति। द्वितीयैकवचनम्। (ख) तरुषु—वृक्षेषु। 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः। (ग) समभावेन—समः (तुल्यः) भावः (स्वरूपं) समभावः। तेन समभावेन। तुल्यरूपेणेत्यर्थः। (घ) विपुलम्—'बृहद् विशालं पृथुलं महत्। वड्रोरुविपुलम्' इत्यमरः। (ङ) मालाकारः—मालां करोतीति मालाकारः। (माला + कृ + अण्) मालीत्यर्थः। (च) बालबकुले—बाल।

१. 'विपुलाम्' इति पा०।

(शिशुः) बकुलः बालबकुलः। तस्मिन् बालबकुले। बकुल मौलसिरी को कहते हैं—'अथ केसरे बकुलः' इत्यमरः। (छ) द्रागुद्यत्कुसुमनिकराणाम्—द्राक् उद्यन्ति इति द्रागुद्यन्ति। द्रागुद्यन्ति कुसुमानि द्रागुद्यत्कुसुमानि। तेषां निकराः (समूहाः) द्रागुद्यत्कुसुमनिकराः ; तेषां द्रागुद्यत्कुसुमनिकराणाम्। 'स्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राक्' इति, 'पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इति, 'समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः। स्तोमौघनिकरव्रातवारसङ्घातसञ्चयाः' इति चामरः। (ज) तु—तु निपात यहाँ बालबकुल की महत्ता के अतिशय को अभिव्यक्त करता है। आशय यह है कि माली ने तो इसके ऊपर कोई कृपा नहीं दिखाई फिर भी यह अपनी सुगन्ध से उसके यश को चारों ओर दिग्दिगन्तों में पहुँचा रहा है। अतः यहाँ कुन्तक के अनुसार निपातवक्रता और आनन्दवर्द्धन के अनुसार निपातध्वनि है। (झ) परिमलैः—सौरभैः। (ञ) दिगन्तान्—दिशामन्ताः दिगन्ताः। तान् दिगन्तान्। (ट) मधुपकुलझङ्कारभरितान्—मधु पिबन्तीति मधुपाः। भ्रमराः। तेषां कुलानि मधुपकुलानि। तेषां झङ्काराः मधुपकुलझङ्काराः। तैः भरिताः मधुपकुलझङ्कारभरिताः तान् मधुपकुलझंकारभरितान्। इसमें भी कवि ने शिखरिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥२३॥

मूलं स्थूलमतीव बन्धनदृढं शाखाः शतम्मांसला
वासो दुर्गमहीधरे तरुपते ! कुत्रास्ति भीतिस्तव ?
एकः किन्तु मनागयञ्जनयति स्वान्ते ममाधिज्वरं
ज्वालालीवलयीभवन्नकरुणो दावानलो घस्मरः ॥२३॥

अन्वयः—हे तरुपते ! तव मूलम् अतीव स्थूलम् बन्धनदृढम्, शतंमांसलाः शाखाः, दुर्गमहीधरे वासः अस्ति, कुत्र भीतिः ? किन्तु ज्वालालीवलयीभवन् अकरुणः घस्मरः अयम् एकः दावानलः मम स्वान्ते मनाक् आधिज्वरं जनयति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ वृक्षश्रेष्ठ ! तुम्हारा मूल बहुत ही मोटा और मजबूत बँधा हुआ है, (तुम्हारे) सैकड़ों मजबूत डालें हैं, दुर्गम पर्वत पर (तुम्हारा) निवास हैं, कहाँ तुम्हें डर है ? लेकिन लपटों की पंक्तियों से मण्डलाकार होता हुआ, निर्दय एवं बहुभक्षी यह अकेला दावानल मेरे हृदय में थोड़ा मानसिक सन्ताप पैदा कर रहा है।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत रूप से कवि ने तरुपति के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है जिससे प्रस्तुत समस्त प्रकार के वैभव से सम्पन्न किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती है। जो यहाँ अप्रस्तुत तरुपति के साथ दावानल का वृत्तान्त वर्णित किया गया है उसने उस प्रस्तुत वैभवशाली व्यक्ति के वैभव को

सहन न कर सकनेवाले दुष्ट की प्रतीति होती है। अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत दोनों ही पक्षों में वक्ता दोनों का शुभचिन्तक है। अतः यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। (क) मूलम्—'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः' इत्यमरः। पेड़ की जड़ जो जमीन के भीतर रहती है उसे मूल कहते हैं, जिसे 'मुसरा' कहते हैं। वह अत्यन्त स्थूल है। अर्थात् आँधी आदि से उखड़ने की आशङ्का नहीं है।

(ख) शाखाः—डालें। 'समे शाखालते' इत्यमरः। (ग) दुर्गमहीधरे—दुर्गमगिरौ। दुर्गः महीधरः धरतीति धरः (धृ+अच्) मह्याः धरः महीधरः) दुर्गमहीधरः। 'दुर्गः स्याद् दुर्गमे' इति विश्वप्रकाशः। (घ) तरुपते—तरूणां वृक्षाणां पतिः तरुपतिः; । तत्सम्बुद्धौ हे तरुपते ! वृक्षश्रेष्ठ इत्यर्थः। भीतिः—भयम्। (च) 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। (छ) 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः (ज) 'आधिस्तु मानसी पीडा' इति हलायुधः। तस्य ज्वरः आधिज्वरः। तमाधिज्वरम् (झ) ज्वालालीवलयीभवन्—ज्वालानां (वह्निशिखानाम्) आल्यः ज्वालाल्यः। अवलयः वलयः भवन्निति वलयीभवन्। अभूततद्भावेच्विः। ज्वालालीभिः वलयीभवन् ज्वालालीवलयीभवन्। (ञ) अकरुणः—क्रूरः। न करुणः अकरुणः। (ट) दावानलः—दावस्य वनस्य अनलः अग्निः दावानलः। द्रवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः। (ठ) घस्मरः—घस्लृ अदने+'सृघस्यदः क्मरच्' (३।२।१६०) इति क्मरच् प्रत्ययः। 'आद्यूनः स्यादौदरिको भक्षको घस्मरोऽद्मरः' इति हलायुधः।' श्री अच्युतराय ने इस श्लोक में श्लेष अलंकार माना है और दूसरा विरक्तपरक अर्थ भी किया है। जो इस प्रकार है—'पक्षे तरवः एव पतयः फलादिप्रदानेन पालयितारो यस्य तत्सम्बुद्धौ। अतएव तव वासो दुर्गमहीधरः इति सङ्गतम्। एतेनारण्यविहारित्वेन विरक्तत्वं सूचितम्। यतस्तव मूलम्—'ऊर्ध्वमूलम्—'इति स्मृतेरधिष्ठानीभूत ब्रह्म स्थूलमतीव परममहत्परिमाणम्। परिच्छेदत्रयशून्यमेवास्तीत्यर्थः। कीदृशं तत्? बन्धनेति। बन्धने संसारबन्धने त्वदृशानुभूतेऽपि दृढम्। अविनाशीति यावत्। एवं ज्ञाने सामग्री केत्यत्राह—शाखा इति। तैत्तिरीयादिरूपा इत्यर्थः। दावानलपदादौ गौणी लक्षणा। तेन लुप्तोपमा। एतेन दावानलो यथा वनस्थवृक्षयोरेवान्योऽन्यसंघर्षादुत्पन्नस्तद्दाहकोऽन्यदाहकश्च भवति तद्वद् अत्रारण्ये स्त्रीपुंसयोः परस्परसन्निकर्षतः प्रादूर्भूतः कामोऽपि तद् घातकः। श्रवणादिनाऽन्यघातकश्चेति व्यक्तम्। एतादृशः। अघेति छेदः। अघहेतुः परस्त्रीविषयकत्वेन पापकारणीभूतो यः स्मरः कामः स तथेत्यर्थः। शेषन्तूक्तार्थम्। तस्मात् 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्' इति स्मृतेः काम एव जेय इत्याशय.।' इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है।

लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।" (छन्दोमञ्जरी) ॥३३।

ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृता दग्धोऽपि यश्चातक-
स्त्वान्ध्यायन् घन ! वासरान् कथमपि द्राघीयसो नीतवान् ।
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत् कम्प्रति ब्रूमहे ? ॥३४॥

अन्वयः—हे घन ! यः चातकः ग्रीष्मे दिनकृता भीष्मतरैः करैः दग्धः अपि त्वाम् ध्यायन् कथमपि द्राघीयसः वासरान् नीतवान्, दैवात् लोचन-गोचरेण भवता इदानीम् तस्मिन् यदि करकानिपातनकृपा स्वीचक्रे तत् कम् प्रति ब्रूमहे ?

हिन्दीरूपान्तर—हे बादल ! जिस चातक ने गर्मी में सूर्य द्वारा अत्यन्त भयङ्कर किरणों से जलाये जाने पर भी तुम्हारा ध्यान करते हुए किसी तरह से बहुत लम्बे दिनों को बिताया था; भाग्य से नजरों में आये हुए तुमने इस समय उस पर यदि ओलों की वृष्टि रूप कृपा स्वीकार कर ली तो फिर किससे (क्या) कहें !

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से मेघ और चातक का वृत्तान्त-वर्णन किया है परन्तु प्रस्तुत रूप में उससे रक्षक रूप में भक्षक तथा उसके द्वारा रक्षित होने की आशा रखने वाले व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती है। कोई व्यक्ति अनेक विपक्षी लोगों द्वारा सताये जाने पर भी एकमात्र अपने आश्रयभूत व्यक्ति के आगमन की आशा में अपने कष्ट के दिन बिताये जा रहा था। सोचता था कि उस व्यक्ति के आ जाने पर मुझे आश्रय मिल जायगा और आज का मेरा सारा कष्ट दूर हो जायगा। परन्तु दुर्भाग्य कि उस अधम ने आने पर आश्रय देना तो दूर उसे और भी कष्ट देकर दुतकार दिया। उसी के वृत्तान्त की कवि ने यहाँ अप्रस्तुत चातक के वृत्तान्त द्वारा प्रतीति कराई है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही, साथ ही इष्ट के लिए प्रयत्न करने पर इष्ट की प्राप्ति तो दूर रही अनिष्ट भी मिल गया अतः 'विषमालंकार' भी है। चातक घन का कष्ट सहते हुये भी बराबर ध्यान करता रहा, किस लिए ? कि उसे जल मिलेगा। उसकी तृष्णा शान्त होगी। पर हुआ क्या ? न तो जल मिला न तृष्णा ही शान्त हुई, उलटे ओलों की वर्षा मिली। 'विषम' के इस प्रकार का लक्षण कुवलयानन्द में यह कहा गया है—'अनिष्टस्याप्य-वाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्' अर्थात् इष्ट अर्थ के लिये प्रयत्न करने पर (इष्ट प्राप्ति तो दूर) अनिष्ट की भी प्राप्ति हो जाने पर विषमालंकार होता है।

(क) ग्रीष्मे निदाघे। 'ग्रीष्म ऊष्मकः निदाघः' इत्यमरः। (ख) भीष्मतरैः- अतिशयेन भीष्माः भीष्मतराः (भीष्म + तरप्) तैः भीष्मतरैः। अतिभीषणैः। 'भीष्मस्तु भीषणे रुद्रे' इति विश्वप्रकाशः। (ग) करैः—किरणैः! 'करो वर्षोपले पाणौ शुण्डाप्रत्ययरश्मिषु' इति विश्वप्रकाशः (घ) दिनकृता—सूर्येण। दिनं करोति इति दिनकृत्। (दिन + कृ + क्विप्)। तेन दिनकृता। (ङ) घन—मेघ! 'घनं सान्द्रे दृढे दार्ढ्ये विस्तारे लोहमुद्गरे। मेघमुस्तकयोश्चापि' इति विश्वप्रकाशः। (च) वासरान्—दिवसान्। 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः (छ) द्राघीयसः—अतिशयेन दीर्घाः द्राघीयसः। (दीर्घ + ईयसुन्)। (ज) दैवात्—भाग्यवशात्। 'दैवं दिष्टं भागधेये भाग्यम्' इत्यमरः। (झ) लोचनगोचरेण—लोचनानां गोचरः (विषयः) लोचन-गोचरः। तेन लोचनगोचरेण। दृष्टिपथगतेन इत्यर्थः (ञ) करकानिपातनकृपा—करकाणां निपातनम् (निःशेषेण पातनम्) करकानिपातनम्। 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः करकानिपातनमेव कृपा करकानिपातनकृपा। यहाँ किसी के ऊपर ओले बरसाना कृपा रूप में कहा गया है। अतः मुख्यार्थ बाध हुआ। और विपरीत-लक्षणा से कृपा का अर्थ अकृपा, अकरुणा प्राप्त होता है। लक्षणा का प्रयोजन यहाँ मेघ की क्रूरता और निर्दयता के अतिशय को प्रतिपादित करना है। (ट) कम्—में 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' वार्तिक के अनुसार द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। इसमें कवि शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूल-विक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३४ ॥

दवदहनजटालज्वालजालाहतानाम्
परिगलितलतानां म्लायतामभूरुहाणाम्।
अपि जलधर! शैलश्रेणिश्रृङ्गेषु तोयं
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः ॥३५॥

अन्वयः—हे जलधर! दवदहनजटालज्वालाहतानाम् परिगलितलतानाम् म्लायताम् अपि भूरुहाणाम् शैलश्रेणिश्रृङ्गेषु बहुतोयं वितरसि, अयम् कः तावकीन श्रीमदः?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मेघ! दावानल की भीषण लपटों से आक्रान्त (सूख-कर) गिर गयी हुई लताओंवाले एवं मुरझाते हुए भी वृक्षों का अनादर करके पर्वतमालाओं की चोटियों पर (जो) तू बहुत सा जल बाँट रहा है यह कैसा तेरा लक्ष्मी का मद है?

व्याख्या —किसी व्यक्ति के पास अथाह सम्पत्ति थी। परन्तु उस सम्पत्ति के मद में चूर हुआ वह व्यक्ति अपने विवेक को खो बैठा। उसे पात्र-अपात्र का ध्यान ही न रहा। किसे धन देना चाहिये किसको इसकी आवश्यकता है ऐसे विवेक से हीन हो गया। अपनी सम्पत्ति से अमीरों की तिजोरियाँ तो भरने लगा पर भूखे एवं गरीबों को धन देना तो दूर रहा उन्हें ठुकराने लगा। उसे देख कर कवि ने उसके प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति अप्रस्तुत जलधर के दृष्टान्त द्वारा कराई है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा यहाँ भी है। साथ ही यहाँ पर परिकर अलंकार भी है। परिकर का लक्षण है 'अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे' (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ विशेषण अभिप्राय से युक्त होते हैं वहाँ परिकर अलंकार होता है। यहाँ कवि ने वृक्षों के विशेषण दिये हैं। १. दावानल की भीषण लपटों के समूह से आहत जिससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि अरे जलधर तेरे पास जल है, और वृक्ष जल रहे है, उन्हें जल देकर तू उन्हें जलने से बचा। इतना ही नहीं। २. उनकी लतायें सूख गई हैं अर्थात् जिन्होंने उनका सहारा लिया जिन वेसहारों को उन्होंने आश्रय दिया था आज उनकी भी प्राण रक्षा करने में वे असमर्थ हैं इसी कारण वे मुरझा रहे हैं, झुलसे जा रहे हैं, अतः तेरा कर्त्तव्य है कि तू उनकी मदद कर, लेकिन तू एक ऐसा श्रीमद के कारण अविवेकी ठहरा कि उनका अनादर कर रहा है। और जल बाँटता है कहाँ, पहाड़ों की ऊँची-ऊँची चोटियों पर जहाँ कोई जरूरत नहीं है। अतः साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलङ्कार है। (क) दवदहनजटालज्वालजालाहतानाम्—जटाः सन्ति एष्विति जटालाः। (जटा + लच्) जटालाः ज्वालाः जटालज्वाला। दवस्य दहनः दवदहनः। दवदहनस्य (दावाग्नेः) जटालज्वालाः दवदहनजटालज्वालाः। तेषां जालानि दवदहनजटालज्वालजालानि। तैः आहताः दवदहनजटालज्वालजालाहताः तेषां तथोक्तानाम्। 'दव' का अर्थ अरण्य और अरणयाग्नि दोनों होता है। यहाँ दव का अर्थ केवल अरण्य है क्योंकि आगे दहन शब्द आया है। अन्यथा पुनरुक्त दोष होगा। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्नि × × दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः। ज्वाल शब्द पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में होता है वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इत्यमरः 'जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ख) परिगलितलतानाम्—सरितः गलिताः परिगलिताः। परिगलिताः लताः येषान्ते परिगलितलताः तेषां परिगलितलतानाम्। (ग) म्लायताम्—म्लानिं गच्छताम्। (घ) भूरुहाणाम्—भुवि रोहन्तीति भूरुहाः। तेषां भूरुहाणाम्। वृक्षाणामित्यर्थः। (ङ) जलधर—जलानि धरतीति जलधरः। मेघः। तत्सम्बुद्धौ हे जलधर! (च) शैलश्रेणि-

शृङ्गेषु—शैलानां श्रेणयः शैलश्रेणयः। तासां शृङ्गानि शैलश्रेणिशृङ्गानि। तेषु शैलश्रेणिशृङ्गेषु। शिलाः सन्त्यत्रेति शैलः। (शिला+अण्) पर्वतः। 'श्रेणिः पंक्तौ सेकपात्रे' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ श्रेणी का अर्थ पंक्ति है। 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने' (विश्वप्रकाश) यहाँ शृङ्ग का अर्थ शिखर है। (छ) तोयम्—जलम्. 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमरः। (ज) श्रीमदः—श्रियः मदः श्रीमदः। सम्पत्तिगर्वः। (झ) तावकीनः—त्वायं तावकीनः (युष्मद्+खञ्). 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। इसमें कवि ने मालिनीवृत्त उपनिबद्ध किया है—'ननमयययुतेयम्मालिनी भोगिलोकैः' (छन्दोमञ्जरी) ॥३५॥

शृण्वन् पुरः परुषगर्जितमस्य हन्तः !
रे पान्थ ![1] विह्वलमना न मनागपि स्याः।
विश्वार्त्तिवारणसमर्पितजीवितोऽयं[2]
नाकर्णितः किमु सखे ! भवताऽम्बुवाहः ॥३६॥

अन्वयः—रे पान्थः ! हन्त !! पुरः अस्य परुषगर्जितम् शृण्वन् मनाक् अपि विह्वलमनाः न स्याः सखे ! किमु भवता विश्वार्त्तिवारणसमर्पितजीवितः अयम् अम्बुवाहः न आकर्षितः ?

हिन्दीरूपान्तार—ऐ राही ! क्या कहूँ !! सामने से इसके कठोर गर्जन को सुनकर तुम थोड़ा भी व्यथितचित न होना, अरे मित्र ! क्या तुमने समस्त संसार के कष्टों को दूर करने के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर कर देनेवाले इस जलधर को नहीं सुना ?

व्याख्या—अप्रस्तुत रूप से कवि ने पथिक और जलधर के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है परन्तु प्रस्तुत रूप से उस महान् परोपकारी व्यक्ति की प्रतीति होती है जो आपाततः कटुभाषी है। और ठीक भी है—कड़वी दवा अधिक फायदेमन्द हुआ ही करती है—'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। कोई अनभिज्ञ व्यक्ति उस महात्मा के पास पहुँचा परन्तु जैसे ही उसकी लम्बी फटकार सुनी विह्वल हो उठा। उसे देखकर उस महात्मा के स्वभाव से परिचित व्यक्ति की यह उक्ति है। इस प्रकार यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो है ही। साथ ही पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित किये गये वाक्यार्थ के समर्थक हेतुरूप में उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ के उपनिबद्ध किये जाने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्य-

१. "विस्मितमना" इति पाठान्तरम्।
२. "०जीवनोऽयम्" इति पाठान्तरम्।

लिङ्ग अलंकार भी है। उसका लक्षण 'कुवलयानन्द' में इस प्रकार दिया गया है--'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम्' अर्थात् समर्थन किये जाने योग्य अर्थ का समर्थन काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। यह वाक्यार्थहेतुक और पदार्थहेतुक दो प्रकार का होता है। (क) पुरः--अग्रतः 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः (ख) परुषगर्ज्जितम्---परुषं गर्ज्जितं परुषगर्ज्जितम्। 'निष्ठुरं परुषम्' इत्यमरः। 'गर्ज्जितं मेघनिर्घोषः' इति चामरः। (ग) पान्थ—पथिक। (घ) विह्वलमनाः—विह्वलं मनः यस्य सः विह्वलमनाः। 'विक्लवो विह्वलः' इत्यमरः। (ङ) मनाक्—अल्पमपि जरा-सा भी। 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। (च) विश्वार्त्तिवाराणसमर्पितजीवितः—विश्वेषामार्त्तिः विश्वर्तिः। तस्याः वारणं विश्वार्तिवारणम्। तस्मिन् समर्पितम विश्वार्त्तिवाराणसमर्पितम्। तथाभूतं जीवितं यस्य सः विश्वार्त्तिवाराणसमर्पितजीवितः। 'विश्वं समस्ते जगति विश्वदेवेऽपि नागरे' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ विश्व का अर्थ जगत् है। 'दुःखमार्त्तिः पीडा व्यथा' इतिहलायुधः। 'असवो जीवितं प्राणाः' इति च हलायुधः। (छ) किमु—किमु का प्रयोग यहाँ विकल्प अर्थ के वाचक रूप में हुआ है—'आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च' इत्यमरः। (ज) सखे! समानं ख्यायते जनैः इति सखा। 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उणादि ५७६) इति सूत्रेण इण्, तस्य डित्वात् यलोपः समानस्य स इत्यादेशश्च (समान + ख्या + इण्) मित्रमित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ हे सखे! (झ) अम्बुवाहः—अम्बूनि (जलानि) वहतीति अम्बुवाहः। (अम्बु + वह + अण्) मेघः इत्यर्थः। श्री जीवानन्द ने 'विश्वार्त्तिवारणसमर्पितजीवितोऽयम्' पाठ दिया है। उसकी व्याख्या उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—'विश्वेषां जगताम्, आर्त्तिवारणेन सन्तापनिवारणेन, समर्पितं सम्पूजितम्, लोकैरिति भावः, जीवितं जीवनधारणं यस्य तथाभूतः; इति। इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥३६॥

सौरभ्यम्भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यन्नु[1] लोकोत्तरं
कीर्तिः किञ्च दिगङ्गनाङ्गणगता किन्त्वेतदेकं शृणु।
सर्वानेव गुणानियन्निगिरति श्रीखण्ड! ते सुन्दरा-
नुज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालान्द्विजिह्वावली ॥३७॥

अन्वयः—हे श्रीखण्ड! (तव) सौरभ्यम् भुवनत्रये अपि विदितम् शैत्यम् नु लोकोत्तरम्, किञ्च कीर्तिः दिगङ्गनाङ्गणगता किन्तु एतत् एकं शृणु, कोटरेषु

१. "तु" इति पाठान्तरम्।

गरलज्वालाम् उज्झन्ती इयम् द्विजिह्वावली खलु ते सर्वान् एव सुन्दरान् गुणान् निगिरति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चन्दन! (तुम्हारी) सुगन्ध तीनों ही लोकों में सर्वविदित है, शीतलता भी अलौकिक है; साथ ही तेरा यश भी दिशारूपी अङ्गनाओं के आँगन तक पहुँचा हुआ है, फिर भी इस एक बात पर तो ध्यान दो, कि (तुम्हारे) खोंखलों में जहर की लपटों को उगलती हुई यह सर्पों की श्रेणी निश्चय ही तुम्हारे सारे सुन्दर गुणों को निगल जाती है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से चन्दन और सर्पों का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जो कि विशेष रूप है। इससे इस सामान्य प्रस्तुत की प्रतीति होती है, सर्वगुणसम्पन्न व्यक्तियों के सारे गुण कुछ दुष्टों के संसर्ग से अथवा उन्हें आश्रय दे देने से अपार्थ हो जाते हैं। अतः यहाँ अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने से विशेषनिबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है। (क) सौरभ्यम्—सुरभेर्भावः सौरभ्यम् (सुरभि + ष्यञ्) 'आमोदः स्यात्परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता' इति हलायुधः (ख) भुवनत्रये—भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनम् भू + क्युन्। 'भुवनं विष्टपं लोको जगदेकार्थवाचकाः' इति हलायुधः। तेषां त्रयम् भुवनत्रयम्। तस्मिन् भुवनत्रये। (ग) विदितम्—ज्ञातम् (विद् ज्ञाने + क्त)। (घ) शैत्यम्—शीतस्य भावः शैत्यम्। (शीत + ष्यञ्) शीतलता। (ङ) लोकोत्तरम्—लोकेभ्यः उत्तरं लोकोत्तरम्। अलौकिकमित्यर्थः। (च) 'कीर्तिः श्लोको यशोऽभिख्या' इति हलायुधः। (छ) दिगङ्गनाङ्गणगता—दिशः एव अङ्गनाः दिगङ्गनाः। रूपक। तासाम् अङ्गणं दिगङ्गनाङ्गणम्। तां गतां दिगङ्गनाङ्गणगता। दिगन्तगामिनीति यावत्। (ज) श्रीखण्डः—श्रियः शोभायाः खण्ड इव यत्र सः श्रीखण्डः। 'चन्दनं स्यान्मलयजं श्रीखण्डं रोहणद्रुमः' इति हलायुधः। तत्सम्बुद्धौ हे श्रीखण्ड। (झ) सुन्दरान्—मनोहरान्। 'हृद्यं हारि मनोहरञ्च रुचिरं कान्तं परं सुन्दरम्' इति हलायुधः। (ञ) उज्झन्ती—'उज्झ उत्सर्गे (तुदादि०) + शतृ + ङीप्। (ट) द्विजिह्वावली द्वे जिह्वे यस्य सः द्विजिह्वः। सर्पः। 'द्विजिह्वौ सर्पसूचको' इत्यमरः। तेषामवली द्विजिह्वावली। 'आली श्रेण्यावली पङ्क्तिः' इति हलायुधः। खलु—का यहाँ प्रयोग निश्चय के वाचक रूप में हुआ है। वृक्षों के अन्दर जो खोंखले गड्ढे हो जाते हैं उनको कोटर कहते हैं। 'निष्कुहः कोटरं वा ना' इत्यमरः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्य्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ १७॥

नापेक्षा न च दाक्षिण्यन्न प्रीतिर्न च सङ्गतिः ।
तथाऽपि हरते तापँल्लोकानामुन्नतो घनः ।।३८।।

अन्वयः—न अपेक्षा, न च दाक्षिण्यम्, न प्रीतिः, न च सङ्गतिः तथाऽपि उन्नतः घनः लोकानाम् तापं हरते ।

हिन्दीरूपान्तर—न (कोई प्रत्युपकार आदि की) अपेक्षा है, और न (लोभादिजन्य कोई) चातुर्य है, न (कोई) प्रेम है, और न (किसी भी तरह का) सहवास (ही) है, फिर भी (यह) ऊँचा मेघ मनुष्यों के सन्ताप को हरता रहता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने उन्नत मेघ द्वारा लोगों के सन्तापहरण रूप कार्य की निष्पत्ति का वर्णन कारण के अभाव में किया है । अतः विना हेतु के कार्य की उत्पत्ति वर्णित होने से यहाँ विभावना अलङ्कार है । लक्षण है—'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' (साहित्यदर्पण) अर्थात् कारण के विना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाता है तो विभावना अलङ्कार होता है । साथ ही अप्रस्तुत इस मेघ के विशेष वृत्तान्त से प्रस्तुत इस सामान्य की भी प्रतीति होती है कि 'सज्जन अकारण ही परोपकार परायण हुआ करते हैं' । अतः विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा भी है । (क) अपेक्षा—उपकार प्राप्त्यादीनां प्राप्त्याशां इति जीवानन्दः । (ख) दाक्षिण्यम्—दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यम् (दक्षिण + ष्यञ्) । (ग) प्रीतिः—प्रीञ् तर्पणे + भावे क्तिन् । 'प्रमोद प्रमदो हर्षः प्रीतिरुत्कर्षः' इति हलायुधः । (घ) सङ्गतिः—सम् + गम् + क्तिन्, सहवास इत्यर्थः । (ङ) तापम्—सन्तापम् । लोकानाम्—जनानाम् 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । (च) उन्नतः—उत् + नम् + क्त 'प्रांशूच्चमुन्नतं तुङ्गम्' इति हलायुधः । (छ) घनः – मेघः । इसमे कवि ने अनुष्टुप्वृत्त उपनिबद्ध किया है ।

समुत्पत्तिः स्वच्छे सरसि हरिहस्ते निवसतिः[1]
[2]निवासः पद्मायाः सुरहृदयहारी परिमलः ।
गुणैरेतैरन्यैरपिच ललितस्याम्बुज ! तव
द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिरतीवोन्नतिरियम् ।।३९।।

अन्वयः—हे अम्बुज ! स्वच्छे सरसि समुत्पत्तिः, हरिहस्ते निवसतिः,

१. "निवसनम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "निवासः" इति पाठान्तरम् ।

पद्मायाः निवासः, परिमलः सुरहृदयहारी; एतैः अन्यैः अपि च गुणैः ललितस्य तव द्विजोत्तंसे हंसे यदि रतिः इयम् अतीव उन्नतिः ।

हिन्दीरूपान्तर—हे कमल ! निर्मल सरोवर में (तुम्हारा) जन्म हुआ है, विष्णु के हाथ में (तुम्हारा) निवास है, लक्ष्मी के निवासभूत हो, (तुम्हारा) सौरभ देवताओं के चित्तों को आकृष्ट करनेवाला है, इन सभी तथा दूसरे भी गुणों से रमणीय तुम्हारा पक्षियों के आभूषणभूत हंस में यदि अनुराग है तो यह बहुत बड़ा (तुम्हारा) अभ्युदय है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने कमल के अत्यधिक अभ्युदय का वर्णन किया है । उस अभ्युदय में स्वच्छ सरोवर से उत्पन्न होना, हरि के हाथ में निवास होना आदि अनेक कारणों का अहमहमिका अथवा खले कपोतन्याय से वर्णन होने के कारण समुच्चयालङ्कार है । लक्षण है—

'अहम्प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः' (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ एकही कार्य की सिद्धि में अनेक कारण अहमहमिका से प्रवृत्त होते हैं वहाँ भी समुच्चय अलङ्कार होता है । साथ ही अप्रस्तुत कमल के वृत्तान्त से उसके सदृश प्रस्तुत किसी ऐसे गुणी व्यक्ति की प्रतीति होती है जो कि तमाम अच्छे गुणों से युक्त होने पर भी सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति की संगति करता है । अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा भी स्वीकार की जा सकती है । (क) समुत्पत्ति—जन्म इत्यर्थः । (ख) स्वच्छे—निर्मले । (ग) सरसि—सरोवरे । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । (घ) हरिहस्ते—हरेः हस्तः हरिहस्तः तस्मिन् हरिहस्ते । जीवानन्द ने हरि के यहाँ दो अर्थ किए हैं एक तो विष्णु और दूसरा सूर्य । उनके शब्दों में—'हरेर्नारायणस्य हस्ते निवसतिः निवासः । हरेः शङ्खचक्रगदापद्मधारित्वादितिभावः । महानाश्रय इति तात्पर्यम् । यद्वा हरेः सूर्यस्य हस्ते करे किरणे इत्यर्थः निवास इत्यर्थः निवसतिः विकासइति यावत् ।' (घ) निवसतिः—नि + वस + क्तिन् । निवास इत्यर्थः । (च) निवासः पद्मायाः—पद्मा लक्ष्मी को कहते हैं उनका तू निवास है । आश्रय है । क्यों ? लक्ष्मी के पर्याय हैं 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया । पद्मालयः निवासः यस्याः सा पद्मालया । तथा पद्मं वासस्थलत्वेनास्त्यस्याः इति पद्मा 'अर्श आदिभ्यो अच्' (५।२।१८७) इति अच् ततष्टाप् (छ) सुरहृदयहारी—सुराणां हृदयानि सुरहृदयानि । हरतीति हारी (हृ + णिनि) सुरहृदयानां हारी सुहृदयहारी । (ज) परिमलः 'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यश्च सुगन्धिता' इति हलायुधः । (झ) ललितस्यः—सुन्दरस्य । 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इत्यमरः । जीवानन्द ने एक दूसरा अर्थ 'अलङ्कृतस्य' भी दिया है (ञ) अबुम्जः—अम्बुनि जातमम्बुजम् ।

तत्सम्बुद्धौ हे अम्बुज, कमलेत्यर्थः ; (ट) द्विजोत्तंसे—द्विर्जाताः द्विजाः पक्षिणः इत्यर्थः । 'द्विजो विप्रेऽण्डजे' इति विश्वप्रकाशः द्विजानामुत्तंसः अलङ्कारभूतः श्रेष्ठ इत्यर्थः द्विजोत्तंसः । तस्मिन् द्विजोत्तंसे, जीवानन्द ने इस श्लोक के चतुर्थ चरण का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया है, द्विजानां पक्षिणाम् उत्तंसे भूषणविशेषे श्रेष्ठे इत्यर्थः अथच ब्राह्मणश्रेष्ठे, हंसे रतिः अनुरागः, यदि, भवतीति शेष, तदा इयं रतिः, अतीव उन्नतिः अभ्युदयः ब्राह्मणा हि त्वया देवानर्चयन्तीति तव समुन्नतेः पराकाष्ठा किं वक्तव्या ? इति भावः । (ठ) रतिः—रागः प्रेम । 'रतिः स्मरप्रियायाञ्च रागे च रमणेरतिः इति विश्वप्रकाशः । इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसमला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥३९॥

साकङ्ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयस्तीरेऽर्कबिम्बोपमाः
नीरे नीरचरैः समं स भगवान् निद्राति नारायणः ।
एवं वीक्ष्य तवाविवेकमपि च प्रौढिम्परामुन्नतेः
किन्निन्दान्यथवा स्तवानि कथय क्षीरार्णव ! त्वामहम् ॥

अन्वयः— हे क्षीरार्णव ! (तव) तीरे ग्रावगणैः साकम् अर्कबिम्बोपमा मणयः लुठन्ति, नीरे नीरचरैः समं सः भगवान् नारायणः निद्राति । एवम् तव अविवेकम् अपि च उन्नतेः पराम् प्रौढिं वीक्ष्य किम् अहम् त्वाम् निन्दानि अथवा स्तवानि ? कथय ।

हिन्दीरूपान्तर— ऐ क्षीरसागर ! (तुम्हारे) तट पर पत्थरों के साथ सूर्यमण्डल-सदृश मणियाँ लोट रही हैं, जल में जलचरों के साथ वे (प्रसिद्ध), भगवान् विष्णु शयन करते हैं, इस प्रकार तुम्हारी विवेकहीनता और साथ ही अभ्युदय के परम उत्कर्ष को देखकर क्या मैं तुम्हारी निन्दा करूँ अथवा प्रशंसा करूँ ? तुम्ही बताओ !!

व्याख्या— यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से क्षीरसागर का वृत्तान्त वर्णित किया है परन्तु उससे प्रस्तुत किसी ऐसे राजा के वृत्तान्त की प्रतीति होती है जिसके आश्रय में गुणी से गुणी, योग्य से योग्य व्यक्ति तथा अत्यन्त दुर्गुणी और अयोग्य व्यक्ति सामान रूप से निवास करते हैं । उसे यह परखने की शक्ति नहीं है कि इस गुणी व्यक्ति को हमें अत्यधिक सम्मान देना चाहिए और दुर्गुण व्यक्ति को दूर कर देना चाहिए यही उसका अविवेक है । इसके कारण तो उनकी निन्दा करने को जी चाहता है कि यह महान् अविवेकी है, मूर्ख है इत्यादि । लेकिन जब दूसरी ओर दृष्टि जाती है तो भले ही उसने गुणी और निर्गुण के साथ समानता दिखाकर अविवेक व्यक्त किया है परन्तु उसके आश्रय में सर्वाधिक

गुणी व्यक्ति भी विद्यमान है तो उसकी प्रशंसा करने को जी चाहता है। इस प्रकार आलोचक यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह प्रशंसा करे या निन्दा करे। अतः यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। साथ ही वक्तृगत वितर्क व्यभिचारी भाव की ध्वनि भी है। वितर्क का लक्षण है—'तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः' अर्थात् सन्देह के कारण उत्पन्न विचार को वितर्क कहते हैं। इसमें भौहों का टेढ़ा होना, सिर हिलाना, अँगुलियों को नचाना आदि क्रियाएँ होती हैं। यहाँ पर सागरगत अविवेक तथा विष्णु आदि की स्थिति विभाव है, और अनुमान कर लिए जानेवाले भ्रूनर्तन इत्यादि अनुभव हैं जिनसे वक्तृगत वितर्क व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है। (क) साकम्—'साकं सार्धं समं सत्रं सहार्थे सम्प्रकीर्तिताः।' इति हलायुधः। (ख) ग्रावगणैः—ग्रावणां (प्रस्तराणाम्) गणाः ग्रावगणाः। तैः ग्रावगणाः। 'शिलोपलाश्मपाषाणग्रावाणः प्रस्तरो दृषद्' इति हलायुधः। 'गणः समूहे प्रथमे सङ्ख्यासैन्यप्रभेदयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ गण का अर्थ समूह है। (ग) अर्कबिम्बोपमाः—अर्कस्य बिम्बम्। तद् उपमा येषां ते अर्कबिम्बोपमाः। 'अर्कोऽर्कपर्णे स्फटिके रवौ' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ अर्क का अर्थ रवि, सूर्य है। 'बिम्बं फले बिम्बिकायां प्रतिबिम्बे च मण्डले' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ पर बिम्ब का अर्थ मण्डल है। उपमा का अर्थ सादृश्य है। सूर्यमण्डल के सदृश। (घ) नीरचरैः—नीरे चरन्तीति नीरचराः। तैः नीरचरैः जलजन्तुभिः मीनादिभिरित्यर्थः। (ङ) भगवान्—भगः नित्ययुक्तः अस्मिन्निति भगवान् (भग+मतुप्) भगः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।' यहाँ पर नित्ययोग के अर्थ में 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' से मतुप् प्रत्यय हुआ है। काशिका का कथन है—भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।" श्रीनारायणो विष्णुः। विष्णुः नारायणः कृष्णा इत्यमरोक्तेः। (छ) अविवेकः—विवेकः ज्ञानम्। न विवेकः अविवेकः। तमविवेकम्। (ज) उन्नतेः—अभ्युदयस्य। (झ) पराम्—श्रेष्ठाम्। उत्तमामित्यर्थः। 'परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वप्रकाशः। (ञ) क्षीरार्णव—क्षीरः अर्णवः क्षीरार्णव। क्षीर इति ख्यातः समुद्रः। अथवा क्षीराणामर्णवः क्षीरार्णवः। तत्सम्बुद्धौ हे क्षीरार्णव। हे क्षीरसागर इत्यर्थः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४॥

किं खलु रत्नैरेतैः? किम्पुनरभ्रायितेन वपुषा ते?
सलिलमपि यन्न तावकमर्णव! वदनम्प्रयाति तृषितानाम्॥५॥

अन्वयः--हे अर्णव ! ते एतैः रत्नैः किम् खलु ? पुनः अभ्रायितेन वपुषा किम् ? यत् तावकं सलिलम् अपि तृषितानां वदनम् न प्रयाति ।

हिन्दीरूपान्तार--ऐ समुद्र ! तेरे इन रत्नों से भला क्या लाभ ? साथ ही मेघों की तरह आचरण करने वाले (इस श्यामल) शरीर से क्या लाभ ? जब तेरा जल भी प्यासों के मुँह तक नहीं पहुँच पाता ।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत रूप से कवि ने समुद्र विशेष के वृत्तान्त को वर्णित किया है । तथा उसके रत्नों को उसके शरीर को व्यर्थ बताया है जिससे प्रस्तुत इस सामान्य की प्रतीति होती है 'उन लक्ष्मी के ठेकेदारों की वह सम्पत्ति बिल्कुल बेकार है जो कि गरीबों के काम नहीं आती । उन धनीमानी व्यक्तियों का जीवन व्यर्थ है जो धन संजो-संजोकर रखते हैं पर दान नहीं देते हैं। अतः अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने के कारण यहाँ विशेष-निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है । साथ ही 'अभ्रायितेन वपुषा' से धर्मवाचकलुप्ता उपमा' भी है । (क) रत्नैः--रमयति हर्षयतीति रत्नम् । रम + णिच् 'रमेस्त च' इति न, तकारश्चान्तादेशः । मणिभिरित्यर्थः । 'रत्नं वसुमणिः' इति हलायुधः । (ख) अभ्रायितेन—अपो बिभर्तीति अभ्रम् । अप् + भृ + क । मेघ इत्यर्थः । अभ्रमिवाचरितेन अभ्रायितेन । (अभ्र + क्यङ् + क्त) मेघ के सदृश आचरण करनेवाले । (ग) वपुषा--शरीरेण । 'गात्रं वपुः संहननं शरीरम्' इत्यमरः । (घ) सलिलम्--जलम् । 'क पानीयं सलिलमुदकं वारि' इति हलायुधः । (ङ) तावकम्--तवेदं तावकम् (युष्मद् + अण्) 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । वदनं मुखम् । (च) तृषितानाम्—तृट् तृषा वा सञ्जाता अस्येति तृषितः । 'तदस्य सञ्जातमिति तारकादिभ्य इतच्' इतीतच् तेषां तृषितानाम् । प्यासे लोगों के । इसमें कवि ने गीतिवृत्त का प्रयोग किया है । 'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' छन्दोमञ्जरी ॥ ४१ ॥

इयत्यां सम्पत्तावपि च सलिलानान्त्वमधुना
न तृष्णामार्त्तानां हरसि यदि कासार ! सहसा ।
निदाघे चण्डांशौ किरति परितोऽङ्गारनिकरम्[१]
कृशीभूतः केषामहह !! परिहर्त्ताऽसि खलु ताम् ॥४२॥

अन्वयः--हे कासार ! यदि त्वम् अधुना सलिलानाम् इयत्यां सम्पत्तौ अपि च आर्त्तानाम् तृष्णां सहसा न हरसि (तर्हि) निदाघे चण्डांशौ परितः

१. "परितोऽङ्गारनिकरान्" इति पाठान्तरम् ।

अङ्गारनिकरम् किरति कृशीभूतः अहह ! केषाम् ताम् खलु परिहर्त्तासि ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सरोवर ! अगर तुम इस समय जल की इतनी (अगाध) समृद्धि के विद्यमान रहने पर भी प्यासों की प्यास को सहसा नहीं हर लेते तो भला ग्रीष्मकाल में प्रचण्डकिरणों वाले (सूर्य) के चारों ओर से अंगारे बिखेर देने पर अत्यन्त कृश हो (सूख) कर हाय किसकी उस (प्यास) का परिहार करोगे ?

व्याख्या—यहाँ पर भी पहले के श्लोक की भाँति कवि ने अप्रस्तुत रूप से सरोवर विशेष के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है। पर उस सरोवर के वृत्तान्त से प्रस्तुत इस सामान्य की प्रतीति होती है 'धनिकों' के पास जब तक धन है उन्हें खूब दान पुण्य कर लेना चाहिए अन्यथा लक्ष्मी किस की है वह तो 'चञ्चला' है आज यहाँ तो कल वहाँ। यदि लक्ष्मी चली गई तो फिर दान क्या होगा उस समय दान देने की इच्छा तो 'का वर्षा जब कृषी सुखाने' की ही भाँति होगी।" इस तरह इस श्लोक में भी अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य को प्रतीति होने से विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) इयस्याम्—एतत् + वतुप् 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' (५।२।९३) इति वतुप् 'किमिदम्भ्यां वोधः' (५।२।४०) इति वस्य घः। इयत् + ङीप्=इयती। तस्या नियत्याम्। भावे सप्तमी। (ख) सम्पत्तौ—सम् + पद् + क्तिन्=सम्पत्तिः। समृद्धिरित्यर्थः। तस्यां सम्पत्तो। भावे सप्तमी। (ग) सलिलानाम्—जलानाम्—'कं पानीयं सलिल-मुदकं वारि' इति हलायुधः। (घ) अधुना—इस समय जब कि तेरे पास अथाह जल है।' 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं यथा' इत्यमरः। (ङ) तृष्णाम्—पिपासाम्। 'तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे' इत्यमरः। (च) आर्तानाम्—तृष्णापीडितानामित्यर्थः। (छ) कासार सरोवर। 'कासारः सरसीसरः' इत्यमर। (ज) सहसा अकस्मात्। अर्थात् बिना किसी विचार के तुझे शीघ्र ही प्यासों की प्यास बुझा देनी चाहिए 'अतर्किते तु सहसा' इत्यमरः। (झ) निदाघे ग्रीष्मकाले। 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोदपि' इति विश्वप्रकाशः। (ञ) चण्डांशौ—चण्डाः अंशवः किरणाः यस्य स चण्डांशुः। तस्मिन् चण्डांशो। सूर्ये इत्यर्थः। भावे सप्तमी। (ट) किरति—विक्षिपति, वर्षति सतीत्यर्थः। 'कृ विक्षेपे तुदादि) + शतृ + ङि)। भावे सप्तमी। (ठ) परितः—चारों ओर से, सभी ओर से। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। (ड) अङ्गारनिकरम्—अङ्गाराणां निकरम् अङ्गम् निकरम्। अङ्गम् समूहम्। 'समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः। स्तोमौघनिकरव्रातवारसङ्घात-सञ्चयाः।" इत्यमरः। (ढ) कृशीभूतः—अकृशः कृशः भूतः इति कृशीभूतः। अभूततद्भावे च्विः। 'कृशं क्षीणम्' इति हलायुधः (ण) अहह—खेदो परि-

हर्तासि—परि + हृ + लुट् (सिप्)=परिहर्तासि। परिहरिष्यसीत्यर्थः । अर्थात् उस समय जब तेरी सारी सम्पत्ति समाप्त हो जायगी। सूर्य की प्रचण्ड किरणें तुझे सुखा देंगी तो तू किसकी प्यास बुझायेगा ? किसी की नहीं बुझा सकेगा क्यों तब तू सर्वथा अक्षम रहेगा। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है। उसका लक्षण है—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसमलागः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४२॥

अपि रोषमुरीकरोषि नो चेत्
किमपि त्वाम्प्रति वारिधे ! वदामः ।
जलदेन तवार्थिना विमुक्ता-
न्यपि तोयानि मनाङ्[1] न हा !! जहासि ॥४३॥

अन्वयः—अयि वारिधे ! चेत् रोषम् नो उरीकरोषि (तदा) त्वाम् प्रति किमपि वदामः। हा ! तव अर्थिना जलदेन विमुक्तानि तोयानि मनाक् अपि न जहासि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सागर ! अगर तुम गुस्सा मन में न लाओ (तो) तुम से कुछ कहूँ। हाय ! (खेद है) कि अपने याचक मेघ द्वारा परित्यक्त जल को थोड़ा भी नहीं छोड़ते (सबका सब ग्रहण कर लेते हो)

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से तो वारिधि का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है परन्तु प्रस्तुत रूप में उससे किसी ऐसे कृपण व्यक्ति की प्रतीति होती है जो कि दिए गए दान को भी पुनः उसके लौटाने पर वापस ले लेता है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) अयि—स्नेहपूर्वक किया गया कोमल सम्बोधन है। (ख) रोषम्–(रुष् + घञ्=रोषः) तं रोषम्। क्रोधमित्यर्थः। 'कोपः क्रोधस्तथाऽमर्षो रोषः प्रतिघ उच्यते' इति हलायुधः। (ग) उरीकरोषि—स्वीकरोसीत्यर्थः। (घ) चेत्—यदि। 'पक्षान्तरे चेद् यदि च' इत्यमरः। (ङ) त्वाम्—इत्यत्र 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन द्वितीया। (च) वारिधे—वारीणि धीयन्तेऽस्मिन्निति वारिधिः (वारि + धा + कि) समुद्रः इत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ हे वारिधे। (छ) जलदेन—जलं ददातीति जलदः (जल + दा + क) मेघः इत्यर्थः। तेन जलदेन। (ज) अर्थिना—अर्थयते इत्यर्थी। तेन अर्थिना। याचकेनेत्यर्थः। 'अर्थी मार्गणकः प्रोक्तो याचकश्च' इति हलायुधः। (झ) तोयानि—जलानि। 'आपस्तोयम्' इति हलायुधः। (ञ) मनाक्—जरा सी भी। 'किञ्चिदीषन्म-

1. "महान्" इति पाठान्तरम्।

नागलपे' इत्यमरः। इसमें कवि ने कालभारिणी वृत्त का प्रयोग किया है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् समरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४३॥

न वारयामो भवतीं विशन्तीं वर्षानदि! स्रोतसि जह्नुजायाः।
न युक्तमेतत्तु पुरो यदस्यास्तरङ्गभङ्गान् प्रकटीकरोषि॥४४॥

अन्वयः—हे वर्षानदि! जह्नुजायाः स्रोतसि विशन्तीम् भवतीम् न वारयामः तु अस्याः पुरः तरङ्गभङ्गान् प्रकटीकरोषि तत् युक्तम् न।

हिन्दीरूपान्तर-- ऐ बरसाती नदियाँ! गङ्गा की धारा में घुसती हुई तुम को हम नहीं रोकते लेकिन इसके आगे (जो) तू लहरों में कुटिलता को पैदा करती है वह ठीक नहीं है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से वर्षा नदी और गंगा के वृत्तान्त को वर्णित किया है। परन्तु उससे किसी अल्पज्ञ और महाज्ञानी पुरुष के वृत्तान्त की प्रतीति होती है। एक अल्पज्ञ पुरुष जो बड़े बड़े ज्ञानियों की सङ्गति करते हुए उन्हीं के सामने उनसे भी अधिक अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने की धृष्टता करता है उसके विषय में अप्रस्तुत रूप से वर्षानदी को सम्बोधित कर कही गई यह उक्ति है। अतः यहाँ पर भी सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) विशन्तीम्—अन्तर्गच्छन्तीमित्यर्थः। (विश+शतृ+ङीप्-विशन्ती)। ताम्। (ख) वर्षानदि—वर्षायाः नदी वर्षानदी। तत्सम्बुद्धौ हे वर्षानदि। (ग) स्रोतषि—प्रवाहे। (घ) जह्नुजायाः—जह्नोः जाता जह्नुजा। तस्याः जह्नुजायाः। गङ्गायाः इत्यर्थः। 'जानुद्वारा पुरा दत्त्वा जह्नुः सम्पीय कोपतः। तस्य कन्यास्वरूपा च जाह्नवी तेन कीर्तिता।' "इति ब्रह्मवैवर्त्तखण्डे। (ङ) युक्तम् न्याय्यमित्यर्थः। 'युक्तमौपयिकं लभ्यं भजमाना-भिनीतवत् न्याय्यञ्च त्रिपु षट्' इत्यमरः। (च) 'स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः' इत्यमरः। (छ) तरङ्गभङ्गान्—तरङ्गेषु भङ्गः कौटिल्यं तरङ्गभङ्गः। तान् तरङ्गभङ्गान्। 'वीची भङ्गस्तरङ्गः स्यात्' इति हलायुधः। यहाँ तरङ्ग और भङ्ग शब्दों में पुनरुक्ति का आभास होता है अतः पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है। यहाँ 'द्विरुक्त' दोष नहीं मानना चाहिए क्योंकि भङ्ग से आशय यहाँ कुटिलता से है। (ज) प्रकटीकरोषि—अप्रकटान् प्रकटान् करोषि इति प्रकटीकरोषि। अभूत तद्भावेच्विः। इसके प्रथम तृतीय और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण उपजाति-वृत्त है॥ ४४॥

पौलोमीपतिकानने विलसताङ्गीर्वाणभूमीरुहाम्
येनाघ्रातसमुज्झितानि कुसुमान्याजघ्रिरे निर्जरैः ।
तस्मिन्नद्यमधुव्रते विधिवशान्माध्वीकमाकाङ्क्षति
त्वञ्चेदञ्चसि लोभमम्बुज ! तदा किन्त्वाम्प्रति ब्रूमहे ?

अन्वयः--हे अम्बुज ! येन पौलोमीपतिकानने विलसताम्, गीर्वाणभूमीरुहाम्, आघ्रातसमुज्झितानि कुसुमानि निर्जरैः आजघ्रिरे; अद्य विधिवशात् तस्मिन् मधुव्रते माध्वीकम् आकाङ्क्षति चेत् त्वम् लोभम् अञ्चसि तदा त्वाम् प्रति किम् ब्रूमहे ?

हिन्दीरूपान्तर--ऐ कमल ! जिसके द्वारा शचीपति भगवान इन्द्र के नन्दन वन में सुशोभित होने वाले देववृक्षों के सूँघकर छोड़ दिये गये हुए फूलों को देवतागण सूंघते थे, आज दैववश उसी भ्रमर के मधु की अभिलाषा करने पर अगर तू लालच करता है तो तुझसे हम क्या कहें ?

व्याख्या--कोई व्यक्ति अथवा पण्डित जिसे कि हमेशा महान् राजाओं का आश्रय प्राप्त रहा । दैववशात् उसे कुछ याचना किसी साधारण राजा से करनी पड़ी उस समय उसे उस याचक को सन्तुष्ट करने में हिचकिचाते देख किसी तीसरे व्यक्ति की यह उक्ति है । इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत तो है उस महान् सम्राट् के आश्रय में रह चुके हुए पण्डित और साधारण राजा का वृत्तान्त जिसकी प्रतीति यहाँ कवि ने अप्रस्तुति भ्रमर और कमल के वृत्तान्त द्वारा कराई है । अतः यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है (क) पौलोमीपतिकानने—पुलोम्नः अपत्यं स्त्री पौलोमी (पुलोमन् + अण् + ङीप्) 'इन्द्राणी पौलोमी शची' इति हलायुधः । तस्याः पतिः पौलोमीपतिः । इन्द्रः इत्यर्थः । तस्य काननं पौलोमीपतिकाननम् । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । नन्दनवनमित्यर्थः । 'नन्दनमुद्यानमिन्द्रस्य' इति हलायुधः । तस्मिन् पौलोमीपतिकानने । (ख) विलसताम्--वि + लस् + शतृ + आम् । (ग) गीर्वाणभूमीरुहाम्—गीर्वाणानां भूमीरुहः गीर्वाणभूमीरुहः । देववृक्षाः पारिजातादय इत्यर्थः । तेषां गीर्वाणभूमीरुहाम् । 'अमरा निर्जरा देवाः गीर्वाणा दानवारयः' इत्यमरः । (घ) घ्रातसमुज्झितानि—घ्रातानि चेमानि समुज्झितानि च घ्रातसमुज्झितानि । सूंघ कर त्याग दिये गए । (ङ) निर्जरैः--निर्गता जरा येभ्यस्ते निर्जराः । वार्द्धक्यरहिताः, देवाः इत्यर्थः । 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यमरः । (च) मधुव्रते--मधु मधुसञ्चयो व्रतं व्रतमिव सततानुशीलनीयं यस्य सः मधुव्रतः । भ्रमरः । तस्मिन् मधुव्रते । भावे सप्तमी । 'मधुकरमधुपमधुव्रतशिलीमुखभ्रमरभृङ्गपुष्पलिहः' इति हलायुधः । (छ) विधिवशात्--

दैववशात्। दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः। (ज) माध्वीकम्—मकरन्दम्। पुष्परसम् इत्यर्थः। 'मधुमाक्षीकमाध्वीकक्षौद्रसारघ्य-मीरितम्। मक्षिकावरटीभृङ्गवातपुष्परसोद्भवम्' इति भावप्रकाशः। (झ) आकाङ्क्षति—अभिलषति सति। भावे सप्तमी। (ञ) अम्बुज—अम्बुनि-जातमम्बुजम्। कमलम् तत्सम्बुद्धौ हे अम्बुज। (ट) त्वाम्—इत्यत्र 'अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि' इति वार्त्तिकेन द्वितीया। (ठ) किं ब्रूमहे—क्या कहें? इससे अम्बुजगत अविवेकिता का अतिशय द्योतित होता है। तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट है जो तुम कुछ उचित या अनुचित नहीं समझ पा रहे हो। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४५॥

भुक्ता मृणालपटली भवता निपीता-
न्यम्बूनि यत्र नलिनानि निषेवितानि।
रे राजहंस! वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकारः॥ ४६॥

अन्वयः—रे राजहंस! वद, भवता यत्र मृणालपटली भुक्ता, अम्बूनि निपीतानि, नलिनानि निषेवितानि, तस्य सरोवरस्य केन कृत्येन कृतोपकारः भवितासि?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ राजहंस! जरा बताओ तो कि जहाँ तुमने बिसतन्तुओं का भक्षण किया, खूब पानी पिया और भलीभाँति कमलों का सेवन किया, उस सरोवर के तुम (भला) किस कार्य के द्वारा उपकारक बनोगे?

व्याख्या—किसी व्यक्ति के साथ किसी महापुरुष ने बड़े उपकार किये। उसको खिलाया पिलाया अच्छी तरह उसका पोषण किया। उसे योग्य बनाया। उसके विषय में अप्रस्तुत राजहंस के वृत्तान्त द्वारा किसी की यह उक्ति है कि तुम इसके उपकार का बदला कैसे चुकाओगे? इस प्रकार यहाँ सरोवर और राजहंस के अप्रस्तुत वृत्तान्त से महापुरुष और उसके द्वारा उपकृत व्यक्ति के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) मृणालपटली—मृणालानां पटली मृणालपटली। 'मृणालं बिसम्' इति 'छदिर्नेत्र-रुजोः क्लीबं समूहे पटलं ना' इति चामरः। यहाँ समूह अर्थ में पटली का प्रयोग हुआ है। जैसा अमरकोश से स्पष्ट है, पटल शब्द पुल्लिङ्ग में समूहार्थक नहीं होता। यहाँ कवि यदि चाहता तो 'मृणालपटलम्' नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग कर सकता था। परन्तु उसने जो स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया वह इस रचना में

कोमलता, पेशलता को प्रस्तुत करने के लिए ही। अतः यहाँ लिङ्गवक्रता है। कुन्तक का कथन है--

"सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥" (वक्रोक्तिजीवित)

(ख) अम्बूनि--जलानि। 'कुशजलवनं क्षीरमम्भोऽम्बु नीरम्' इति हलायुधः। (ग) नलिनानि--कमलानि। 'नलिनमरविन्दं महोत्पलम्। सहस्र-पत्रं कमलम्' इत्यमरः। कवि ने निपीतानि और निषेवितानि में जो 'पा' और 'सेव' धातु के पहले 'नि' उपसर्ग का प्रयोग किया है उससे यह द्योतित होता है कि अच्छी तरह से खूब जी भरकर पान किया और सेवन किया। निःशेषेण पीतानि, निःशेषेण सेवितानि च। (घ) राजहंस—हंसानां राजा राजहंसः। 'अत्र 'राजदन्तादिषु परम्' (२।२।३१) इति परनिपातः। हंसश्रेष्ठः इत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ हे राजहंस। कृत्येन कार्येण। (ङ) भवितासि—भू धातोः लुटि (सिपि) रूपम्। भविष्यसीत्यर्थः। (च) कृतोपकारः--उपक्रियतेऽनेनेति उपकारः। कृतः उपकारः येन स कृतोपकारः। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४६ ॥

प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मञ्जरी-
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयंस्तानातनोरुत्सवान्।
तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशान्दैवात् कृशामञ्चति
त्वञ्चेन्मुञ्चसि चञ्चरीक! विनयन्नीचस्त्वदन्योऽस्ति कः ॥४७॥

अन्वयः—हे चञ्चरीक! कुसुमाकरस्य प्रारम्भे यस्य परितः उल्लसन्मञ्जरी-पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जतान् रचयन् तान् उत्सवान् आतनोः, अद्य दैवात् तस्मिन् रसालशाखिनि कृशाम् दशाम् अञ्चति चेत् त्वं विनयम् मुञ्चसि (तदा) त्वत् अन्यः कः नीचः अस्ति?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ भँवरे! वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में जिसके चारों ओर उल्लसित होती हुई वल्लरियों के समूह पर मनोहारी गुञ्जार करते हुए तुमने उन (अनिर्वचनीय) सुखों को भोगा था, आज भाग्यवश उस आम्रवृक्ष के दीन दशा को प्राप्त हो जाने पर अगर तुम शिष्टता को छोड़ते हो तो तुमसे भिन्न और कौन नीच है?

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से भ्रमर और आम्रवृक्ष के वृत्तान्त का वर्णन किया है। परन्तु उससे किसी कृतघ्नी एवं महापुरुष के वृत्तान्त की प्रस्तुत रूप में प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। उस

महापुरुष ने उस कृतघ्नी का भरण-पोषण स्वयं किया था। जब उसके पास खूब ऐश्वर्य था तब वह नीच उसके प्रति अत्यन्त विनीत और श्रद्धालु था। किन्तु दुर्दैववश उस महापुरुष की सम्पत्ति समाप्त हो गई वह निर्धन हो गया तो यह तुच्छ व्यक्ति उसे रास्ता बताने लगा। अतः उसी को प्रस्तुत रूप से हृदय में रखकर कवि की यह उक्ति है। (क) कुसुमाकरस्य कुसुमानामाकरः समूहः यस्मिन् सः कुसुमाकरः। वसन्तः। तस्य कुसुमाकरस्य। (ख) परितः--सर्वतः। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। (ग) उल्लसन्मञ्जरीपुञ्जे–उल्लसन्त्यः मञ्जर्यः उल्लसन्मंजर्यः। तासां पुञ्जः उल्लसन्मञ्जरी पुञ्जः तस्मिन् उल्लसन्मञ्जरीपुञ्जे। 'पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः। (मञ्जरी + ङीप् = मञ्जरी) 'वल्लरी मञ्जरी तथा' इति हलायुधः। (घ) मञ्जुलगुञ्जितानि--मञ्जुलानि मनोहराणि गुञ्जितानि मञ्जुलगुञ्जितानि। 'मञ्जुलं हृद्यं हारिमनोहरम्' इति हलायुधः। मनोहारी गुञ्जार। (ङ) उत्सवान्—आनन्दानित्यर्थः। (च) रसालशाखिनि–शाखाः सन्त्यस्येति शाखी। वृक्षः। रसालस्य शाखी रशालशाखी। आम्रवृक्ष इत्यर्थः। तस्मिन् रसालशाखिनि। भावे सप्तमी। 'आम्रश्चूतो रसाल' इत्यमरः। 'वृक्षो महीरुहः शाखी' इति चामरः। (छ) दशाम्—अवस्थाम्। (ज) दैवात्—विधिवशात्। 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिविधिः। इत्यमरः (झ) कृशम्—दीनामित्यर्थः। (ञ) चञ्चरीक--भ्रमर। 'इन्दिन्दिरालिषट्चरणचञ्चरीकालिनो द्विरेफाः स्युः' इति हलायुधः। 'नीचस्त्वदन्योऽस्ति कः ?' तुझसे बढ़कर नीच कौन है। अर्थात् तू सबसे नीच है तुझसे नीच और दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है। उसका लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदिमः सजो सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४७ ॥

एणीगणेषु गुरुगर्वनिमीलिताक्षः
किङ्कृष्णसार ! खलु खेलसि काननेऽस्मिन् ?
सीमामिमाङ्कलय भिन्नकरीन्द्रकुम्भ-
मुक्तामयीं हरिविहारवसुन्धरायाः ॥४८॥

अन्वयः—हे कृष्णसार ! अस्मिन् कानने गुरुगर्वनिमीलिताक्षः एणीगणेषु खलु किम् खेलसि ? इमां हरिविहारवसुन्धरायाः भिन्नकरीन्द्रकुम्भमयी सीमाम् कलय।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृष्णसार ! तू इस जंगल में बड़े गर्व के साथ आंखे बन्द किये हुए मृगियों के साथ भला कैसे क्रीडा कर रहा है ? इसे तू सिंह की

विहारभूमि को विदीर्ण किए हुए गजराजों के कुम्भस्थल मुक्ताओं वाली सीमा समझ।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से कृष्णसार और सिंह का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। परन्तु उससे प्रतीति होती है—क्रमशः किसी महान् चक्रवर्ती सम्राट् के साम्राज्य में दखल देने वाले मामूली राजा और उस सम्राट् की। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) एणीगणेषु—एणीनां गणाः एणीगणाः। तेषु एणीगणेषु। (एण+ङीप्=एणी=मृगीत्यर्थः) 'एणः कुरङ्गो हरिणो मृगः स्यात्' इति हलायुधः। 'गणः समूहे प्रथमे सङ्ख्यासैन्यप्रभेदयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ गण का अर्थ समूह है। (ख) गुरुगर्वनिमीलिताक्षः—गुरुर्महान् गर्वोऽहङ्कारः गुरुगर्वः। तेन निमीलिते गुरुगर्वनिमीलिते। तथाभूते अक्षिणी (नयने) यस्य सः गुरुगर्वनिमीलिताक्षः। 'गुरुर्महतिवाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' इत्यमरः 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इतिहलायुधः। (ग) कृष्णसार—एक हरिणविशेष को कहते हैं। कृष्णसार जहाँ भ्रमण करते हैं वह परमपवित्र स्थान माना जाता है। मनुस्मृति का कथन है—'कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। सः ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः।' (घ) कानने—वने। 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। (ङ) सीमाम्—अवधिम्। 'अवधिर्मर्यादा स्यादाघाटः सीम सीमा च' इति हलायुधः। (च) भिन्नकरीन्द्रकुम्भमुक्तामयीम्—करिषु इन्द्राः, श्रेष्ठाः, करीन्द्राः। तेषां कुम्भाः करीन्द्रकुम्भाः। भिन्ना करीन्द्रकुम्भाभिन्नकरीन्द्रकुम्भाः। तेषां मुक्ताः भिन्नकरीन्द्रकुम्भमुक्ताः ताभिः पूर्णा करीन्द्रकुम्भमुक्तामयी। (करीन्द्रकुम्भमुक्ता+मयट्+ङीप्) तां करीन्द्रकुम्भमुक्तामयीम्। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः' इत्यमरः (छ) हरिविहारवसुन्धरायाः—हरेः सिंहस्य विहारः हरिविहारः। तस्य वसुन्धरा हरिविहारवसुन्धरा। तस्याः हरिविहारवसुन्धरायाः। 'हरिर्वाताकंचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु। सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च' इति विश्वप्रकाशः। 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये' इति च विश्वप्रकाशः। यहाँ विहार का अर्थ 'लीला' ही अधिक चमत्कारक होगा। वैसे भ्रमण अर्थ भी लिया जा सकता है। लीला अर्थ लेने पर आशय यह होगा कि ऐ कृष्णसार! जहाँ तुम हरिणियों के साथ स्वयं मस्त होकर लीला कर रहे हो यह भूमि तुम्हारे लिए नहीं है यहाँ तो मृगराज लीलायें करता है। उसकी लीला भी क्या है? बड़े बड़े गजेन्द्रों के कुम्भों को विदीर्ण करना। उसी से निकली हुई मुक्तायें इस पृथ्वी पर विद्यमान हैं। इस तरह उसकी विहारस्थली में आने पर जब बड़े-बड़े गजराज कालकवलित करा दिए जाते हैं तो तेरी क्या गिनती है। कल्याण इसी

में है कि यह स्थान छोड़कर भाग जा। वसूनि धारयतीति वसुन्धरा। वसु + धृ + 'संज्ञायांमृतृवृ जिधारिसहितपिदमः' (३।२।४६) इति खच् ततः 'खचि ह्रस्वः' (६।४।९४) इति ह्रस्वः 'अरुर्द्विपदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) इति मुमागमः। 'मही काश्यपी भूतधात्री च रत्नगर्भा वसुन्धरा' इति हलायुधः। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४८ ॥

जठरज्वलनज्वलताऽप्यगतशङ्कं समागताऽपि पुरः।
करिणामरिणा हरिणा हरिणाली हन्यतान्नु कथम् ?॥४९॥

अन्वयः—करिणाम् अरिणा हरिणा जठरज्वलनज्वलता अपि अपगतशङ्कम् पुरः समागता अपि हरिणाली नु कथं हन्यताम्।

हिन्दीरूपान्तर—हाथियों का दुश्मन सिंह जठराग्नि से जलते हुए भी निःशङ्क होकर सामने आ गई हुई भी मृगपंक्ति को भला कैसे मारे ?

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत रूप से कवि ने हरिणों तथा सिंह के वृत्तान्त को वर्णित किया है किन्तु प्रस्तुत रूप में किसी महान् पराक्रमी व्यक्ति और उससे वैर करने वाले साधारण शत्रु की प्रतीति होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। अथवा यहाँ प्रस्तुत सिंह और मृग के वृत्तान्त विशेष से 'पराक्रमी व्यक्ति हमेशा अपने समान पराक्रम वालों से ही भिड़ते हैं असमान (कम) पराक्रमवालों से नहीं' इस सामान्य की प्रस्तुत रूप में प्रतीति स्वीकार कर विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा मानी जा सकती है। (क) जठरज्वलनज्वलता—जठरस्योदरस्य ज्वलनो वह्निः जठरज्वलनः तेन ज्वलता जठरज्वलनज्वलता। (ज्वल + शतृ + टा=ज्वलता) जठरानल से जलते हुए भी। अर्थात् अत्यधिक भूखा रहने पर भी ! (ख) अपगतशङ्कम्—अपगता विनष्टा शङ्का यस्मात् तद् यथा स्यात्तथा अपगतशङ्कम्। क्रियाविशेषणमेतत्। 'ज्वलनः क्षुधानुरनलः' इति हलायुधः। 'जठरोदरतुन्दकुक्षिगर्भाः स्युः' इति च हलायुधः। (ग) अरिणा—शत्रुणा। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। (घ) हरिणा—सिंहेन, इसका कोश इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में दिया जा चुका है। वहीं देखें (ङ) हरिणाली—हरिणानाम् मृगाणाम् आली हरिणाली। हरिण का कोश इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में दिया जा चुका है। 'आली श्रेण्यावली पंक्तिः' इति हलायुधः ! इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है। 'यस्याः प्रथम पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ४९ ॥

येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्--
मौक्तिकावलिभिरञ्चिता मही ।
अद्य तेन हरिणान्तिके कथम्
कथ्यतान्नु हरिणा पराक्रमः ।। ५० ।।

अन्वयः—येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्मौक्तिकावलिभिः मही अञ्चिता, तेन हरिणा हरिणान्तिकेनु कथम् पराक्रमः कथ्यताम् ?

हिन्दीरूपान्तर—जिससे हाथियों के विदीर्ण किए गए कुम्भस्थल से गिरती हुई मुक्तावलियों से पृथ्वी की पूजा किया है आज वही सिंह हरिणों के समीप भला कैसे (अपने) पराक्रम को जाहिर करे ?

व्याख्या--इस पद्य का भी भाव इसके पूर्व श्लोक का ही है । और उसी श्लोक की भाँति यहाँ भी हम सादृश्यमूला अथवा विशेषमूला दोनों प्रकार की अप्रस्तुत प्रशंसा स्वीकार कर सकते हैं । विशेषमूला अधिक चमत्कारिणी है । (क) भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्मौक्तिकावलिभिः—करिणां कुम्भाः करिकुम्भाः । भिन्ना विदीर्णाः करिकुम्भाः भिन्नकरिकुम्भाः । तेभ्यः विस्खलन्त्यः (प्रभ्रश्यन्त्यः भिन्न करिकुम्भविस्खलन्त्यः । मौक्तिकानामावलयः मौक्तिकावलयः भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्त्यः मौक्तिकावलयः । भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्मौक्तिकावलयः । ताभिः यथोक्ताभिः । विदीर्ण किए गए हाथियों के कुंभस्थल से गिरती हुई मोतियों की श्रेणियों से । (ख) अञ्चिता–'अञ्चुगति पूजनयोः (भ्वादि०) +क्त टाप्=पूजिता इत्यर्थः । (ग) मही—पृथ्वी । (ग) हरिणान्तिके--हरिणस्यान्तिकं हरिणान्तिकम् । तस्मिन् हरिणान्तिके । मृगसमीपे इत्यर्थः । 'सन्निधानान्तिके सन्निकृष्टम्' इति हलायुधः (घ) नु--' नु पृच्छायां विकल्पे च' इत्यमरः । यहाँ प्रश्न अर्थ में नु प्रयुक्त हुआ है । इसमें कवि ने रथोद्धता वृत्त का प्रयोग किया है । 'रात्परैर्नरलगैः रथोद्धता' (छन्दोमञ्जरी) ।।५०।।

स्थितिन्नो रे ! दध्याः क्षणमपि मन्दान्धेक्षण ! सखे !
गजश्रेणीनाथ ! त्वमिह जटिलायां वनभुवि ।
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहा-
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः ।।५१।।

अन्वय—रे ! मन्दान्धेक्षण !! सखे ! गजश्रेणीनाथ !! त्वम् इहजटिलायाम् वनभुवि क्षणम् अपि स्थितिम् नो दध्याः, (यतः) असौ हरिपतिः कुम्भिभ्रान्त्या खरनखरविद्रावितमहागुरुग्रावग्रामः गिरिगर्भे स्वपिति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मद के कारण अन्धी आँखों वाले !! मित्र गजयूथ-पति !! तुम इस जटिल काननप्रवेश में क्षण भर भी खड़े न होना, (क्योंकि) यह सिंहराज हाथियों के भ्रम से अपने तेज नाखूनों द्वारा बड़ी-बड़ी एवं वजनी शिलाओं को विदीर्ण करके गिरिकन्दरा में शयन कर रहा है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से गजेन्द्र और सिंहराज के वृत्तान्त का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत रूप में क्रमशः शत्रु का तनिक भी उत्कर्ष सहन न कर सकने वाले पराक्रमी सम्राट् के साम्राज्य में गर्ववश प्रविष्ट किसी अल्पपराक्रमी राजा और उस महान् पराक्रमी सम्राट् की प्रतीति होती है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो है ही साथ ही मृगराज की शिलाओं में गजों की भ्रान्ति का वर्णन होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार भी है। भ्रान्तिमान् का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार है—'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः' अर्थात् सादृश्य के उससे भिन्न में उसका निश्चयात्मक ज्ञान कवि शक्ति से समुल्लसित होने पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है। (क) क्षणमपि—याने अधिक देर तो कहने की बात बहुत दूर रही क्षण भर भी टिकने में खतरा है अतः तुरन्त भाग जाओ। (ख) मदान्धेक्षण—मदेनान्धे मदान्वे। मदान्धे ईक्षणे यस्य सः मदान्धेक्षणः, तत्सम्बुद्धौ हे मदान्धेक्षण। 'मदो रेतसि कस्तूर्य्यां गर्वे हर्षेभदानयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ मद का अर्थ गर्व है। 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' इत्यमरः। (ग) गजश्रेणीनाथ—गजानां श्रेणी गजश्रेणी। तस्याः नाथः (स्वामी) गजश्रेणीनाथः। तत्सम्बुद्धौ हे गजश्रेणीनाथ। (घ) जटिलायाम्—'त्वरया पलायितुमशक्यायामिति भावः' इति जीवानन्दः। (ङ) वनभुवि—वनस्य भूः वनभूः। तस्मिन् वनभुवि। अरण्यभूमौ इत्यर्थः। (च) कुम्भिभ्रान्त्या—कुम्भाः सन्त्यस्येति कुम्भी (कुम्भ + इति) तस्य भ्रान्तिः कुम्भिभ्रान्तिः। तया कुम्भिभ्रान्त्या। गजभ्रमेणेत्यर्थः। 'इमे गजा' न तु गुरुग्रावग्रामः इति बुद्ध्वा इत्यर्थः। (छ) खरनखरविद्रावितमहागुरुग्रावग्रामः—खराः तीक्ष्णाः नखराः। खरनखराः। महान्तश्चेमे गुरवश्च महागुरवः। महागुरवः ग्रावाणः महागुरुग्रावाणः तेषां ग्रामाः महागुरुग्रावग्रामाः। खरनखरैः विद्राविताः खरनखरविद्राविताः। तथाभूताः महागुरुग्रावग्रामाः येन सः खरनखरविद्रावितमहागुरुग्रावग्रामः। तीक्ष्ण नखों द्वारा विशाल एवं वजनी शिलाओं के समूहों को विदीर्णकर देने वाला। यहाँ कवि ने महान् और 'गुरु' शब्दों का एक साथ ही प्रयोग किया है। यद्यपि दोनों के अर्थ एक हैं। पर ऐसा मानने पर पुनरुक्त दोष आ जाएगा। अतः महत् का अर्थ तो विशाल माने और गुरु का अर्थ वजनी भारायमाण स्वीकार करे तो इस दोष का भी परिहार हो जायगा और पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार की विच्छित्ति भी आजायगी

'रघुवंश' महाकाव्य के (१२।१०२) 'अथ मद्गुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानाम्' आदि श्लोक आये हुए गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ ने लिखा है—'अथ मदेन गजवाण्डसञ्चारसङ्क्रान्तेन गुरुपक्षेः मारायमाणपक्षैः अलिवृन्दैः 'इत्यादि' ग्राम शब्द समूह के अर्थ में आया है—'ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः' इति विश्वप्रकाशः। (ज) गिरिगर्भे—गिरेः पर्वतस्य गर्भः कुक्षिः गह्वर इत्यर्थः गिरिगर्भः। तस्मिन् गिरिगर्भे। (झ) हरिपतिः—हरीणां सिंहानां पतिः हरपतिः सिंहेश्वरः इत्यर्थः, इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी'(छन्दोमञ्जरी)॥५१॥

गिरिगह्वरेषु गुरुगर्वगुम्फितो
गजराजपोत ! न कदाऽपि सञ्चरेः ।
यदि बुध्यते हरिशिशुः स्तनन्धयो
भविता करेणु परिशेषिता मही ॥५२॥

अन्वयः—हे गजराजपोत ! गुरुगर्वगुम्फितः गिरिगह्वरेषु कदाऽपि न सञ्चरेः यदि स्तनन्धयः हरिशिशुः बुध्यते (तदा) मही करेणु परिशेषिता भविता।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ गजेन्द्रशावक ! बड़े घमण्ड में आकर गिरि कन्दराओं में कभी भी न घूमना (नहीं तो) यदि दुधमुँहा शेर का बच्चा जाग गया तो पृथ्वी पर केवल हथिनियाँ ही शेष रह जायगी।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से सिंहशावक तथा गजराजशावक के वृत्तान्त को वर्णित किया है, जिनसे किसी राजा के पराक्रमी शत्रु के और उस राजा के पुत्रों के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है। पराक्रमी शत्रु ने इस राजा को परास्त कर दिया है। अतः राजा साहब की हिम्मत तो पुनः सर उठाने की नहीं। परन्तु उनके शाहजादे बड़े पराक्रम के घमण्ड में चूर हैं, अतः उनको सम्बोधित करते हुए किसी की उक्ति है कि श्रीमान् जी ऐसा घमण्ड न कीजिए। तुमसे लड़ने के लिए राजा तो आवेगा नहीं। उसका बच्चा ही आवेगा। वह भी बच्चा कैसा ! दुधमुंहा। लेकिन यदि वह भी जगा तो फिर खैर नहीं यह पृथ्वी पुरुषों से हीन हो जायगी। केवल स्त्रियाँ मात्र ही बची रहेंगी। क्योंकि वे अवध्य होती हैं ऐसा शास्त्रसम्मत नियम है। अतः यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) गिरिगह्वरेषु—गिरीणां (पर्वतानाम्) गह्वराणि गिरिगह्वराणि। तेषु गिरिगह्वरेषु। पर्वत की अपने आप बनी हुई गुफा को गह्वर कहते हैं। अमरकोश का कथन है—'देवखातबिले गुहागह्वरम्'। 'अचल शिलोच्चय-शैलक्षितिधर गिरिगोत्र पर्वताहार्यीः' इति हलायुधः। (ख) गुरुगर्व-गुम्फितः—गुरुः (महान्) गर्वः गुरुगर्वः। तेन गुम्फितः गुरुगर्वगुम्फितः। 'गुम्फ

+क्त=गुम्फितः। 'गुरुर्महति वाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। 'दर्पो मदोवलेपो मानो गर्वो भवेदहङ्कारः' इति हलायुधः। (ग) गजराजपोत—गजानां राजा गजराजः। तस्य पोतः गजराजपोतः। तत्सम्बुद्धौ हे गजराजपोत। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः! (घ) हरिशिशुः—हरेः सिंहस्य शिशुः शावकः हरिशिशुः। 'हरिर्वातार्क चन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु। सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च' इति विश्वप्रकाशः (ङ) स्तनन्धयः—स्तनं धयतीति पिबतीति स्तनन्धयः। 'नासिका स्तनयोर्ध्माधेटो' (३।२।२९) इति खश्। दुधमुँहा बच्चा। (च) भविता—भू+लुट् (तिप्) भविष्यतीत्यर्थः। (छ) करेणु परिशेषिता—करेणुभिः परिशेषिता करेणुपरिशेषिता। आशय यह कि हथिनियाँ हैं स्त्रियाँ और शास्त्र के अनुसार स्त्रियाँ अवध्य होती हैं अतः वे ही इस पृथ्वी पर बची रह जायँगी। बाकी जितने हाथी हैं उन्हें यह सिंहशावक समाप्त कर देगा। स्मृति का कथन है—'अवध्यश्च स्त्रियं प्राहुस्तिर्यग्योनि गतामपि'। 'करेणुर्गजहस्तिन्योः' इति हलायुधः। (ज) मही—पृथ्वी। 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः। इसमें कवि ने मञ्जुभाषिणी वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥५२॥

निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती-
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे।
इदङ्को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो
जगज्जालङ्कर्त्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः:—निसर्गात् तरुकुलसमारोपसुकृती कृती मालाकारः आरामे कुत्रापि बकुलम् अपि निदधे, कः इदम् जानीते यत् अयम् इह कोणान्तरगतः जगज्जालम् कुसुमभरसौरभ्यभरितम् कर्त्ता?

हिन्दीरूपान्तर—स्वभावतः वृक्षों को लगाने में बहुत ही होशियार एवं कार्य दक्ष माली ने उपवन में कहीं पर बकुल वृक्ष को भी लगा दिया, किसे यह मालूम था कि यहाँ एक कोने में पड़ा हुआ यह सारे संसार को पुष्पों की सुगन्ध से भर देगा?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से बकुल के वृत्तान्त का वर्णन किया है। जिससे किसी ऐसे गुणी एवं विद्वान् व्यक्ति के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है जिससे किसी राजा आदि ने सभी साधारण विद्वानों के बीच ही स्थान दिया। उस पर विशेष दृष्टि नहीं डाली। परन्तु उसने अपने पाण्डित्य से राजा की आँखें खोल दी। अथवा किसी गुरु ने एक अत्यन्त प्रतिभाशाली शिष्य को भी सभी साधारण शिष्यों की भाँति समान स्थान दिया। परन्तु

उसने अपनी प्रतिमा से विद्वानों के समक्ष अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। इस प्रकार यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो है ही। साथ ही कवि ने असम्भव नामक अलङ्कार प्रस्तुत किया। असम्भव का लक्षण है—'असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्' (कुवलयानन्द) अर्थात् किसी पदार्थ की निष्पत्ति की असम्भावनीयता का वर्णन करने पर असम्भव अलङ्कार होता है। प्रस्तुत श्लोक में बकुल आगे चलकर अपनी सुगन्ध से सारे संसार को भर देगा, ऐसी किसी ने सम्भावना ही नहीं की थी। इस प्रकार यहाँ बकुल की सुगन्ध से सारे संसार को भर देने की बात की असम्भावनीयता वर्णित किए जाने से असम्भव अलङ्कार है। (क) निसर्गात्—स्वभावतः। 'स्वरूपञ्च स्वभावञ्च निसर्गः' इत्यमरः। (ख) आरामे— उपवने। 'आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्' इत्यमरः। (ग) तरुकुलसमारोपसुकृती—सुशोभनं कृतं सुकृतम्। सुकृतमस्त्यस्येति सुकृती (सुकृत + इति)। तरूणां कुलानि तरुकुलानि। सम्यगारोपः समारोपः। तरुकुलानां समारोपः तरुकुल समारोपः। तस्मिन् सुकृती तरुकुलसमारोपसुकृती। (घ) कृती—कृतं कर्म प्रशस्तमस्यास्तीति कृती। (कृत + इनि) 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः। वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः। (ङ) मालाकारः—मालां करोतीति मालाकारः। माला + कृ + अण् माली। (च) कोणान्तरगतः—कोणस्यान्तरम् कोणान्तरम्। तत्र गतः कोणान्तरगतः। कोणमध्यस्थितः। कोने के भीतर विद्यमान। (छ) जगज्जालम्—जगतां जालं जगज्जालम्। भुवनसमूहमित्यर्थः। 'जगती लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इति 'जालं समुह आनाय गवाक्षक्षारकेष्वपि' इति चामरः। (ज) कर्ता—कृ + लुट् (तिप्) करिष्यतीत्यर्थः। (झ) कुसुमसौरभ्यभरितम्—कुसुमानां सौरभ्याणि कुसुमसौरभ्याणि तैः भरितं कुसुमसौरभ्यभरितम्। 'पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमनम्' इत्यमरः। 'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता' इति हलायुधः। फूलों की महक से परिपूर्ण। इसमें कवि ने शिखरिणीवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन समला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी)॥ ५३॥

यस्मिन् वेल्लति सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलै-
र्मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमं हृदि हरिद्दन्तावलाः पेदिरे !
सोऽयन्तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः
क्रोडे क्रीडतु कस्य [1]कालकलहत्यक्तार्णवो राघवः॥

---

१. "केलिकलहत्यक्तार्णवः" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—यस्मिन् वेल्लति हरिद्दन्तावलाः सर्वतः परिचलत्कल्लोलकोलाहलैः हृदि मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमम् पेदिरे, सः अयम् तुङ्गतिमिङ्गिलाङ्गकवलीकारक्रियाचिदः राघवः कालकलहत्यक्तार्णवः कस्य क्रोडे क्रीडतु ?

हिन्दीरूपान्तर—जिसके चलने पर दिग्गजों को चारों ओर फैलते हुए तरङ्गों के कलकल निनाद के कारण मन में मन्दराचल के मन्थन का भ्रम हो जाता था, वही यह बड़ी बड़ी तिमिङ्गल मछलियों के अंगों को निगलने में प्रवीण राघव अचानक विरोध के कारण समुद्र को छोड़ कर (अब भला) किसकी गोद में खेले !

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुतरूप से राघव मछली का और समुद्र का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। परन्तु राघव के वृत्तान्त से किसी प्रकाण्ड विद्वान् के वृत्तान्त की प्रतीति होती है और समुद्र के वृत्तान्त से किसी महान् सम्राट् के वृत्तान्त की जिसके आश्रय में वह रहता था। उस विद्वान् के सामने मामूली पण्डितों की तो बात ही छोड़िए जो अपने को लगानेवाले पण्डित थे, उन्हें भी उसने परास्त कर दिया था और उसका नाम सुनकर ही चारों ओर विख्यात पण्डित भी थर्रा जाते थे किसी को दुःसाहस नहीं होता था कि उसका सामना करने को तैयार हो। परन्तु उस महान् विद्वान् के आश्रयभूत नरेश से किसी बात पर अचानक उसका विरोध हो गया, वह अन्यत्र कहीं जा भी नहीं सकता क्योंकि छोटे मोटे राजा स्वयं उस महान् सम्राट् के आश्रित हैं, अतः हिम्मत किसकी कि उसे आश्रय दे। इसी लिए कवि ने सम्भावना प्रस्तुत की कि अब वह कहाँ जाय ? यहाँ जो कवि ने 'राघव' का अप्रस्तुत रूप में वर्णन किया है उससे इस अप्रस्तुतप्रशंसा में जान आ गई है ? राघव मत्स्य का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"अस्ति मत्स्यः तिमिर्नाम शतयोजनमायतः।
तिमिङ्गिलगिलोप्यस्ति तद्गिलोप्यस्ति राघवः॥"

अर्थात् सौ योजन विशाल तो 'तिमि' नाम का मत्स्य होता है, उसका भक्षण करनेवाला तिमिङ्गल होता है और उसको भी निगल जानेवाला राघव होता है। अब आप राघव की विशालता का अन्दाजा लगा सकते हैं। उसी प्रकार यह यह विद्वान् तिमि जैसे मामूली पण्डितों की तो बात ही क्या उनको परास्त कर देने वाले और अपने को बड़ा पण्डित लगाने वालों को भी परास्त कर देने वाला था। यह बात 'राघव' पद से सूचित होती है। और जो आश्रय रूप में समुद्र को प्रस्तुत किया वह इस बात को व्यञ्जित करता है उस विद्वान् का आश्रय भी सबसे महान् था। छोटे-मोटे तालाबों और बरसाती नदियों की तो बात छोड़िये

बड़ी बड़ी नदियाँ उसी सागर में जाकर आश्रय पाती हैं। वैसे ही छोटे-मोटे राजओं की तो बात क्या, बड़े-बड़े नरेश भी जिनके आश्रित थे। उससे विरोध करके वह कहाँ शरण पायेगा, किसे अपना आश्रय चुनेगा! इस बात की सम्भावना कवि ने प्रस्तुत की है। यहाँ वाच्यार्थ को प्रतीयमान के तादात्म्य की कोई अपेक्षा नहीं। (क) परिछलत्कल्लोलकोलाहलैः—परितः चलन्तः परिचलन्तः। परिचलन्त; कल्लोलाः इति परिचलत्कल्लोलाः। "ऊर्म्मिरुत्कलिकोल्लोलः कल्लोलो लहरी तथा" इति हलायुधः। परिचलत्कल्लोलानां कोलाहलः परिचलत्कल्लोलकोलाहलः। तैः। "कोलाहलःकलकलः" इत्यमरः। अर्थात् चञ्चल तरङ्गों के कलकल से। (ख) मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमम्— मथ्यतेऽनेनेति मन्थः (मन्थ+करणे घञ्)। अर्थात् मथानी। मन्थायाद्रिः मन्थाद्रिः अर्थात् मन्दर पर्वत। जैसा कि महाभारत के आदिपर्व के अठारहवें अध्याय के १२ वें श्लोक में कहा गया है—

"मन्थानं मन्दरङ्कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।
देवा मथितुमारब्धा समुद्रन्निधिमम्भसाम्॥"

मन्थाद्रेः भ्रमणम् मन्थाद्रिभ्रमणम्। तस्य भ्रमः मन्थाद्रिभ्रमणभ्रमः। तम्। (ख) हरिद्दन्तावलाः—हरितां दन्तावलाः हरिद्दन्तावलाः। दिग्गजाः इत्यर्थः। अमरकोश में दिग्गजों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं "ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः। (ग) पेदिरे—पदगतौ (दिवादि)+लिट् (झि)। जग्मुः प्रापुरित्यर्थः। (घ) तुङ्गतिमिङ्गलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः-तिमिङ्गिलस्याङ्गानि तिमिङ्गलाङ्गानि। तुङ्गानि तिमिङ्गलाङ्गानि। अकवलः कवलः क्रियतेऽनेनेति कवलीकारः, तुङ्गतिमिङ्गलाङ्गानां कवलीकारः तुङ्गतिमिङ्गलाङ्गकवलीकारः। तस्य क्रियातुङ्गतिमिङ्गलाङ्गकवलीकारक्रिया। तस्यां कोविदः तुङ्गतिमिङ्गलाङ्गकवलीकारक्रियाकोविदः। 'कोविदः स्यात्प्रबुद्धः बुधः सुधीः कृती वृष्टिः कविर्व्यक्तो विशारदः इति हलायुधः। (ङ) कालकलहत्यक्तार्णवः—कालेन (कालवशाद्) कलहः कालकलहः। तेन त्यक्तः कालकलहत्यक्तः। कालकलहत्यक्तः अर्णवः येन सः कालकलहत्यक्तार्णवः। कालवश अचानक विरोध हो जाने के कारण समुद्र को छोड़ देने वाला। जीवानन्द ने इसका एक दूसरा भी अर्थ दिया है। 'यद्वा-कालेन अन्तकेन सह कलहे विरोधे' मरणान्ते इति भावः त्यक्तार्णवः सन् कस्य क्रोडे क्रीडतु। कहीं कहीं 'केलिकलहत्यक्तार्णवः।' पाठ भी मिलता है। अर्थात् कीड़ा ही क्रीड़ा में जो विरोध हो गया। उसके कारण समुद्र को छोड़ने वाला। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग

किया है। लक्षण है 'सूर्य्याश्वैर्यंदि मः सजो सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५४ ॥

लूनम्मत्तमतङ्गजैः कियदपि च्छिन्नन्तुषारार्द्दितैः
शिष्टङ्ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैर्भस्मीकृतङ्काननम् ।
एषा कोणगता मुहुः पैरिमलैरामोदयन्ती दिशः ।
हा ! कष्टम्!! ललिता लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते ॥५५॥

अन्वयः—कियदपि काननम् मत्तमतङ्गजैः लूनम् (कियदपि) तुषारार्द्दितैः छिन्नम्, शिष्टम् ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैः भस्मीकृतम्। हा ! कष्टम् !! मुहुः परिमलैः दिशः आमोदयन्ती कोणगता ललिता एषा लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते।

हिन्दीरूपान्तर—कुछ तो जङ्गल मतवाले हाथियों ने तोड़ डाला, कुछ शिशिर के उपद्रवों ने नष्ट कर दिया, और शेष को ग्रीष्मकालीन सूर्य की भीषण किरणों ने जला दिया, हाय ! अफसोस !! बार-बार अपनी सुगन्ध से दिशाओं को सुगन्धित करती हुई एक कोने में विद्यमान इस रमणीय लौंग की लतिका को दावानल जलाये दे रहा है।

व्याख्या—यहाँ अप्रस्तुत रूप से वर्णित किए गए लवङ्गलतिका के वृत्तान्त से किसी ऐसी अबला सतीसाध्वी के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है जिसके पति, पुत्र एवं समस्त परिवार को समाप्त कर देने के बाद कोई शत्रु उसके सतीत्व पर भी डाका डालने के लिए उद्यत हो गया है। अथवा जैसा कि महावीरप्रसाद द्विवेदी ने माना है यहाँ किसी दुराचारी राजा द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिए गये विजित देश में कहीं भूल से बची हुई सज्जनों की नगरी का वृत्तान्त प्रतीत होता है जिसे कि वह शत्रु पुनः नष्ट कर रहा है। यहाँ वक्तृगत शोक की अभिव्यक्ति होने के कारण करुण-रस की निष्पत्ति होती है। लवङ्गलतिका आलम्बन है, मत्तमतङ्गज दावाग्नि आदि के व्यापार उद्दीपन हैं, गम्यमान अश्रु-पातादिक अनुभाव हैं, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव है, जिनसे शोकस्थायी अभिव्यञ्जित होकर सहृदय को करुणरस की प्रतीति कराता है। (क) लूनम्—छिन्नम् ('लूञ् छेदने' (क्र्यादि०) + क्त)। (ख) मत्तमतङ्गजैः—मत्ताः मतङ्गजाः मत्तमतङ्गजाः। तैः मत्तमतङ्गजैः। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। (ग) छिन्नम्—द्वैधीकृतम्। ('छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधादि०) + क्त)। (घ) तुषारार्दितैः—तुषारस्य आर्दिताः ! तुषारार्दिताः ! भावे क्त प्रत्ययः। तैः तुषारार्द्दितैः। शिशिरोपद्रवैः इत्यर्थः। 'तुहिनं शिशिरं हिमं तुषारश्च' इति हलायुधः। (ङ) ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैः—भीष्मः भानुः

भीष्मभानुः। प्रचण्डसूर्यः। 'भीष्मस्तु भीषणे रुद्रे गाङ्गेये च निशाचरे' इति विश्वप्रकाशः। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। तस्य किरणाः भीष्मभानुकिरणाः। ग्रीष्मे जाताः ग्रीष्मजाः। ग्रीष्मजाः भीष्मभानुकिरणाः ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणाः। तैः ग्रीष्मजभीष्मभानुकिरणैः। (च) भस्मीकृतम्—अभस्म भस्म कृतमिति भस्मीकृतम्। अभूततद्भावे च्विः। दग्धमित्यर्थः। (छ) काननम्—'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। (ज) कोणगता—कोणं गता कोणगता। जंगल के एक कोने में स्थित। (झ) मुहुः—पुनः पुनः। (ञ) परिमलैः—सौरभैः। 'आमोदः स्यात्परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता' इति हलायुधः। (ट) आमोदयन्ती—(आङ् + मुद् + णिच् + शतृ + ङीप्) आह्लादयन्तीत्यर्थः। (ठ) ललिता—मनोहारिणी। 'ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इत्यमरः। (ड) लवङ्गलतिका—अनुकम्पनीया लता लतिका। (अनुकम्पायां कन्) लवङ्गस्य लतिका लवङ्गलतिका। (ढ) दावाग्निना—दावस्य (वनस्य) अग्निः दावाग्निः। 'दवदावौ वनारण्यवह्नी'। इत्यमरः। तेन दावाग्निना। दावानलेनेत्यर्थः। इसमें कवि ने शार्दूल विक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। (छन्दोमञ्जरी)॥ ५५॥

स्वर्लोकस्य शिखामणिः सुरतरुग्रामस्य धामाद्भुतम्
पौलोमीपुरुहूतयोः परिणतिः पुण्यावलीनामसि।
सत्यन्नदन ! किन्त्विदं सहृदयैर्नित्यं विधिः प्रार्थ्यते
त्वत्तः खाण्डवरङ्गताण्डवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः॥५६॥

अन्वयः—हे नन्दन! सत्यम् (त्वम्) स्वर्लोकस्य शिखामणिः, सुरतरुग्रामस्य अद्भुतम् धाम, पौलोमीपुरुहूतयोः पुण्यावलीनाम् परिणतिः (च) असि, किन्तु सहृदयैः नित्यम् 'खाण्डवरङ्गताण्डवनटः वैश्वानरः त्वत्तः दूरे अस्तु' इदं विधिः प्रार्थ्यते।

हिन्दीरूपान्तर—हे नन्दन! सचमुच तू स्वर्गलोक का चूड़ामणि है, देववृक्षों का अद्भुत निवास स्थान है, और शची तथा इन्द्र के पुण्यों का परिणाम है (अतः तुझे किसी प्रकार का भय नहीं) फिर भी सहृदय हमेशा 'खाण्डववन रूपी रङ्गमञ्च पर ताण्डव करने वाला नटभूत दावानल तुझसे दूर रहे' यही विधाता से प्रार्थना करते हैं।

व्याख्या—यहाँ पर अप्रस्तुत रूप से नन्दनवन की कल्याण कामना वर्णित की गई है। परन्तु प्रस्तुत रूप से किसी वैसे ही गुणी एवं साधु व्यक्ति की

घुमाशंसा के प्रतीत होने के कारण यहाँ सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो स्वीकार ही की जा सकती है। परन्तु उससे भी अधिक चमत्कारी यहाँ रूपक अलङ्कार है। नन्दन पर शिखामणि धाम तथा परिणति का आरोप किया गया है। इसलिए मालारूपक है। (क) स्वर्लोकस्य—स्वर्गलोकस्य। 'स्वः स्वर्गः सुरसद्म' इति हलायुधः। (ख) शिखामणिः—शिखायाः मणिः शिखामणिः चूडामणिरित्यर्थः। 'शिखा शिफायां चूडायां ज्वालायामग्रमात्रके' इति विश्व-प्रकाशः। (ग) सुरतरुग्रामस्य—सुराणां देवानां तरवः वृक्षाः सुरतरवः। पारिजातादयः। तेषां ग्रामः (समूहः) सुरतरुग्रामः। 'ग्रामः स्वरे सवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः' इति विश्वप्रकाशः। तस्य सुरतरुग्रामस्य। (घ) धाम—गृहम्। 'धिष्ण्यं धाम निकेतनं च सदनम्' इति हलायुधः। (ङ) 'चित्रमद्भुतमाश्चर्यम्' इति हलायुधः। (च) पौलोमीपुरुहूतयोः—पुलोम्नः अपत्यं स्त्री पौलोमी (पुलोमन् + अण् + ङीप्) 'इन्द्राणी पौलोमी शची' इति हलायुधः। पुरु प्रचुरं हूतमाह्वानं यज्ञेषु यस्य सः पुरुहूतः। इन्द्र इत्यर्थः। 'पुरुहूतः पृतनाषाट् पुरन्दरः' इति हलायुधः। पौलोमी च पुरुहूतश्च पौलोमीपुरुहूतौ। तयोः पौलोमीपुरुहूतयोः। (छ) पुण्यावलीनाम्—पुण्यानाम् अवली पुण्यावली, तासां पुण्यावलीनाम्। (ज) परिणतिः—परि + नम् + क्तिन्। परिणामः, फलमित्यर्थः। (झ) नन्दन—नन्दयतीति नन्दनम्। (नन्द् + ल्यु 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (३।१।१३४) इति सूत्रेण। तत्सम्बुद्धौ हे नन्दन। 'नन्दनमुद्यानमिन्द्रस्य' इति हलायुधः। (ञ) सहृदयैः—हृदयेन सह वर्तमानः सहृदयः। प्रशस्तमनाः। तैः सहृदयैः। सहृदय से आशय यहाँ पर निष्कपट हृदय वालों से है। क्योंकि जो कपटी व्यक्ति होता है वह मन में कुछ और वाणी में कुछ और तथा कर्म में कुछ और ही दिखाई पड़ता है। जैसा कहा भी गया है—'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। तथा 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥' (ट) विधिः—विधाता। (ठ) खाण्डव-रङ्गताण्डवनटः—खाण्डव एव रङ्गः खाण्डवरङ्गः। तत्र ताण्डवं खाण्डवरङ्ग-ताण्डवम्। तस्मिन् नटः नटरूपः खाण्डवरङ्गताण्डवनटः। खाण्डव वनरूपी रङ्गमञ्च पर नृत्य करने में नट रूप। 'ताण्डवं नटनं नाटयं लास्यं नृत्यञ्च नर्तने' इत्यमरः। (ड) वैश्वानरः—विश्वानरस्यापत्यं वैश्वानरः 'ऋष्यन्धकवृष्णि-कुरुभ्यश्च' (४।१।११४) इति सूत्रेण विश्वानर शब्दात् अण् प्रत्ययः। अग्निरित्यर्थः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः' इत्यमरः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूल-विक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ५६॥

स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया मत्तो निवृत्ते जने
चञ्चूकोटिविपाटितारपुटो यास्याम्यहम्पञ्जरात् ।
एवङ्कीरवरे मनोरथमयम्पीयूषमास्वादय-
त्यन्तः सम्प्रविवेश वारणकराकारः फणिग्रामणीः ॥५७॥

अन्वयः—'स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया जने मत्तः निवृत्ते अहम् चञ्चूकोटि-विपाटितारपुटा पञ्जरात् यास्यामि' एवम् कीरवरे मनोरथमयम् पीयूषम् आस्वादयति वारणकरावकारः फणिग्रामणीः अन्तः सम्प्रविवेश ।

हिन्दीरूपान्तर—अपने अपने कार्यों में हृदय के तल्लीन हो जाने के कारण लोगों के मेरे पास से हट जाने पर मैं अपनी चोंच की नोक से दरवाजों को तोड़कर पिंजड़े से निकल भागूंगा, इस प्रकार श्रेष्ठ तोते के सङ्कल्पात्मक अमृत का आस्वादन करते समय (ही) हाथी की सूंड़ के आकारवाला नागराज पिंजड़े के भीतर घुस आया ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से तोते का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, परन्तु उससे किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती है जो कि खयाली पुलाव पकाते समय ही, असली पुलाव पकाने का उद्यम करने के पूर्व ही कालकवलित हो गया । जिसके मन की मुरादें मन में ही रह गईं । इस प्रकार सादृश्यवश अप्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होने से सादृश्य-मूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार तो है ही । साथ ही यहाँ 'विषादन' नाम का अलङ्कार भी है जो अप्रस्तुत प्रशंसा को परिपुष्ट करता है । विषादन का लक्षण है—

"इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ।" (कुवलयानन्द) अर्थात् जिस वस्तु की इच्छा की जा रही है उसके विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर विषादन अलङ्कार होता है । यहाँ तोते का इष्यमाण था लोगों के अपने अपने व्यापार में लग जाने पर दरवाजा तोड़कर पिंजड़े से भाग निकलना । परन्तु उसने इसके लिए प्रयास भी नहीं किया था कि उसके पहले ही विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति हुई अर्थात् सर्प ने उसे डँस लिया । उसकी जीवनलीला ही समाप्त हो गई तो पिंजड़े से भागे कौन ? इसी का एक समानार्थी श्लोक 'शिवराजविजयम्' में इस प्रकार है --

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा ! हन्त !! हन्त !!! नलिनीङ्गज उज्जहार ॥"

(क) स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया—स्वस्य स्वस्य व्यापृतिः स्वस्वव्या-

पृतिः। तत्र मग्नम्मानसं येषान्ते स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसाः। तेषां भावः स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसता। तया स्वस्वव्यापृतिमग्नमानसतया। व्यापृति-व्यापारः। मानसं हृदयम्। अपने अपने व्यापारों में मन के तल्लीन हो जाने के कारण। (ख) निवृत्ते–जने—में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) इति सप्तमी विभक्तिः। (ग) चञ्चूकोटि-विपाटितारपुटः– चञ्च्वोः कोटी चञ्चुकोटी। ताभ्यां विपाटितम् चञ्चूकोटिविपाटितम्। अररमेव पुटमररपुटम्। चञ्चूकोटिविपाटितमररपुटं येन सः चञ्चूकोटिविपाटितारपुटः। यहाँ पर कोटि शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है धनुष के अग्रभाग को कोटि कहते हैं—'कोटिरश्रौ चापाग्रे' इति विश्वप्रकाशः। इसीलिए यहाँ पर केवल अग्रभाग के अर्थ में कोटि का प्रयोग हुआ है। अरर कहते हैं दरवाजे को। 'अररं कपाटञ्च' इति हलायुधः। (घ) पञ्जर—पिंजड़े को कहते हैं। (ङ) कीरवरे—कीरेषु वरः कीरवरः। तस्मिन् कीरवरे। शुक-श्रेष्ठे इत्यर्थः। 'शुकः कीर उदाहृतः'इति हलायुधः। 'वरो जामातृषिङ्गयोःश्रेष्ठेऽन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। अत्र भावे सप्तमी। (च) मनोरथमयम्—(मनोरथ + स्वरूपार्थे मयट्) मनोरथस्वरूपमित्यर्थः। (छ) पीयूषममृतम् सुधा' इत्यमरः। (ज) अन्तः—मध्ये। (झ) वारणकराकारः—वारणस्य करः वारणकरः। गजशुंडादण्ड इत्यर्थः। तस्य आकार इव आकारो यस्य सः वारणकराकारः। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः'इति समासः, उपमानवाचकाकारपदलोपश्च। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'करो वर्षोपले पाणौ शुंडाप्रत्ययरश्मिषु' इति विश्वप्रकाशः। 'आकारा-विङ्गिताकृती' इत्यमरः। यहाँ आकार का अर्थ आकृति है। (ञ) फणि-ग्रामणीः—फणः अस्त्यस्येति फणी (फण् + इनि) 'सर्पः पृदाकुर्भुजगः × × काकोदरफणो' इत्यमरः। फणीनां (फणिषु वा) ग्रामणीः प्रधानः फणि-ग्रामणीः। 'ग्रामणीर्भोगिके पत्यौ प्रधाने नापितेऽपि च' इति विश्वप्रकाशः। इसमें भी कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें॥ ५७॥

रे ! चांचल्यजुषो मृगाः !! श्रितनगाः !! कल्लोलमालाकुला-
मेतामम्बुधिगामिनीं[1] व्यवसिताः सङ्गाहितुं वा कथम् ?
अत्रैवोच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्त्तैः समावर्त्तितो
यद् ग्रावेव[2] रसातलम्पुनरसौ यातो[3] गजग्रामणीः॥५८॥

---

१. "अम्बुधिकामिनीम्" इति पाठान्तरम्।

२. "ग्राहेण" इति पाठान्तरम्। ३. "नीतः" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—रे ! श्रितनगाः ! चाञ्चल्यजुषः ! मृगाः ! कल्लोलमालाकुलाम् अम्बुधिगामिनीम् एतां सङ्गाहितुम् कथं वा व्यवसिताः, यत्, अत्र एव असौ गजग्रामणीः उच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्त्तैः ग्रावेव समावर्त्तितः पुनः रसातलं यातः।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ ! पहाड़ों का आश्रयण करने वाले !! चपल ! हरिणो !! तरङ्गमालाओं से व्याप्त समुद्रगामिनी इस नदी में नहाने की भला कैसे तुम सबने हिम्मत की, क्यों कि इसी में उछलते हुए पानी की बड़ी बड़ी भँवरों के द्वारा पहाड़ की तरह खूब नचाया गया यह गजराज रसातल को चला गया है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से मृगों, नदी एवं गजराज का वृत्तान्त वर्णित किया है जिनसे क्रमशः किसी प्रबल सम्राट् को परास्त करने की इच्छावाले साधारण राजाओं, उस प्रबल सम्राट् और उसके द्वारा परास्त किए गए किसी पराक्रमी नरेश के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है। अतः सादृश्य-मूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो है ही। साथ ही 'ग्रावेव' में उपमा भी है। (क) चाञ्चलजुषः—चञ्चलस्य भावः चाञ्चल्यम्। (चञ्चल+ष्यञ्) चाञ्चल्यं जुषन्ते सेवन्ते इति चाञ्चल्यजुषः। अर्थात् चञ्चल। (ख) मृगाः—हरिणाः। 'एणः कुरङ्गो हरिणो मृगः स्यात्' इति हलायुधः। (ग) श्रितनगाः—श्रितः नगाः यैस्ते श्रितनगाः। पर्वतवासिनः इत्यर्थः। 'शैलवृक्षौ नगाविगौ' इत्यमरः। (घ) कल्लोलमालाकुलाम्—कल्लोलानाम्माला: कल्लोलमालाः ताभिः आकुला व्याप्ता कल्लोलमालाकुला। तां कल्लोलमालाकुलाम्। बड़ी बड़ी तरङ्गों को कल्लोल कहते हैं। अमरकोश का कथन है—"अथोर्मिषु महत्सूल्लोल-कल्लोलौ।" (ङ) अम्बुधिगामिनीम्—अम्बूनि धीयन्तेऽत्रेति अम्बुधिः। सागरः। तं गच्छतीति अम्बुधिगामिनी। तामम्बुधिगामिनीम्। सागरगां नदी-मित्यर्थं। (च) उच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्त्तैः—अम्बूनाम् निर्भराः निचयाः येषु ते अम्बुनिर्भराः। अम्बुनिर्भराश्च इमे महान्तश्च अम्बुनिर्भरमहान्तः। तथा-भूताः आवर्त्ताः अम्बुनिर्भरमदावर्त्ताः "स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमः" इत्यमरः। उच्छ-लन्तः उद्गच्छन्तः अम्बुनिर्भरमहावर्त्ताः इति उच्छलदम्बुनिर्भरमहावर्त्ताः। तैः तथोक्तैः। (छ) ग्रावेव पर्वत इव। इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च। जैसे बड़ा भारी पर्वत नचाया जाय उसी तरह अत्यन्त भीमकाय यह गजराज नचाया गया। 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः। (ज) रसातलम्—पातालम्। 'अतलं वितलञ्चैव नितलञ्च तलातलम्। महातलञ्च सुतलं सप्तमं च रसातलम्। पातालभेदाः सप्तैव नामतः कीर्तिता अमी। तत्र पातालमेकैकं दश-साहस्रयोजनम्।' इति शब्दमाला। इससे नदी की अत्यधिक गहराई द्योतित होती है। जिससे प्रतीयमान महान् पराक्रमी सम्राट् का पराक्रमातिशय द्योतित

होता है। (झ) गजग्रामणीः—गजानां गजेषु वा ग्रामणी प्रधानः गज-ग्रामणीः। गजेन्द्र इत्यर्थः। 'मतङ्गजो मजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'अग्रय' प्रधानं प्रमुखं पुरोगम् ×× ग्रामण्यमग्रण्यमुदाहरन्ति' इति हलायुधः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वै-र्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ५८॥

पिब स्तन्यम्पोत ! त्वमिह मददन्तावलधिया
दृगन्तानाधत्से किमिति हरिदन्तेषु परुषान् ?
त्रयाणाँल्लोकानामपि हृदयतापम्परिहरन्
अयन्धीरन्धीरन्ध्वनति नवनीलो जलधरः॥५९॥

अन्वयः—हे पोत ! स्तन्यम् पिब। मददन्तावलधिया इह हरिदन्तेषु परुषान् दृगन्तान् किमिति आधत्से ? अयम् (तु) त्रयाणाम् अपि लोकानां हृदयतापम् परिहरन् नवनीलः जलधरः धीरम् धीरम् ध्वनति।

हिन्दीरूपान्तर—(कोई सिंहिनी अपने बच्चे से कहती है कि) ऐ बेटे ! तू दूध पी। मतवाले हाथी समझ कर इन दिगन्तों में (अपने) कठोर नेत्रा-पाङ्गों को काहे फेंक रहा है, यह तो तीनों ही लोकों के मानसिक सन्ताप को दूर करता हुआ नवीन और श्यामल मेघ अत्यन्त गम्भीर ध्वनि कर रहा है। (कोई हाथी नहीं है)।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से सिंहशावक विशेष का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिससे इस प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होती है कि कोई भी कुलीन व्यक्ति अपने कुलागत शत्रु की आवाज को बर्दाश्त नहीं कर सकता। वीर चाहे वह बच्चा ही क्यों न हो शत्रु का सामना करने के लिए तैयार रहता है। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने से विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है। साथ ही सिंह शावक की जलधर को मतवाला हाथी समझ लेने की भ्रान्ति वर्णित होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार भी है। भ्रान्तिमान का लक्षण है—

'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिः भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः' (साहित्यदर्पण) अर्थात् सादृश्य के कारण दूसरे पदार्थ में दूसरे पदार्थ का कवि प्रतिभा से उल्लिखित निश्चयात्मक ज्ञान भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है। यहाँ मेघ की गर्जना और हाथी के चिग्घाड़ने में समानता सादृश्य होने के कारण सिंह शिशु को मेघ में हाथी की भ्रान्ति हुई है। (क) स्तन्यम्—स्तने भवं स्तन्यम्। स्तन+'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इति यत् प्रत्ययः। 'क्षीरं स्याद्दुग्धं स्तन्यं पयश्च

पीयूषम्' इति हलायुधः । (ख) पोतः—प्रोक्तः किशोरकः' इति हलायुधः । तत्सम्बुधौ हे पोत । ऐ बच्चे । (ग) मददन्तावलधिया—मददन्तावलः मत्तगजः । तस्मिन् धीः मददन्तावलधीः । तया मददन्तावलधिया । मत्तगज-बुद्ध्या । 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः : 'धीर्धिषणा शेमुषी मनीषा च बुद्धिः' इति हलायुधः । (घ) दृगन्तान्—दृशामन्ताः दृगन्ताः । तान् दृगन्तान् । अपाङ्गानित्यर्थः । (ङ) हरिदन्तेषु—हरितामन्ताः हरिदन्ताः । तेषु हरिदन्तेषु । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । दिगन्तेष्वित्यर्थः । (च) लोकानाम्—जगतां भुवनानाम् । 'लोकस्तु भुवने जने' इति विश्व-प्रकाशः । (छ) हृदयतापम्–हृदयस्य तापः हृदयतापः । मनस्सन्ताप इत्यर्थः । तं हृदयतापम् । (ज) परिहरन्—(परि + हृ + शतृ) नाशयन् इत्यर्थः । (झ) धीरं धीरम्—यथा स्यात्तथा धीरन्धीरम् (अतिगम्भीरम्) । वीप्सायां द्वित्वम् । (ञ) नवनीलः—नवश्चासौ नीलश्च नवनीलः । जलधरो मेघः । इसमें कवि ने शिखरिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५९ ॥

धीरध्वनिभिरलन्ते नीरद ! मे मासिको गर्भः
उन्मदवारणबुद्धया मध्येजठरं समुच्छलति ॥ ६० ॥

अन्वयः—हे नीरद ! ते धीरध्वनिभिः अलम् (यतः) उन्मदवारणबुद्धया मे मासिकः गर्भः मध्येजठरम् समुच्छलति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ बादल ! तू अपनी गम्भीर ध्वनियों को बन्द कर, (क्योंकि) मतवाला हाथी समझकर मेरा महीने भर का गर्भ पेट के भीतर उछलने लगता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने असम्बन्ध में सम्बन्ध प्रतिपादित कर अतिशयोक्ति अलङ्कार को प्रस्तुत किया है । यहाँ बादलों की गम्भीर ध्वनि को सुनकर सिंहिनी के मासिक गर्भ के उछलने में जो सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है वह वस्तुतः सम्भव नहीं है ! इसलिए यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का प्रतिपादन करने से सम्बन्धातिशयोक्ति मानी जायगी उसका लक्षण है—

"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।" (कुवलयानन्द) इस अतिशयोक्ति से सिंहगत शौर्योत्कर्ष प्रतिपादित होता है । इससे यह बात ध्वनित होती है कि 'कोई भी स्वाभिमानी एवं प्रतापी व्यक्ति किसी भी अवस्था में शत्रु की अभिमान भरी बातें सहन नहीं कर सकता ।' अतः कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कार मूलक वस्तु ध्वनि भी मानी जा सकती है । साथ ही प्रथम चरण में कहे हुए वाक्यार्थ को बाद के तीन चरणों के वाक्यार्थ द्वारा समर्थन होने

से वाक्यार्थ हेतुक 'काव्यलिङ्ग' भी स्वीकार किया जा सकता है। (क) धीरध्वनिभिः—धीराः गम्भीराः ध्वनयः धीरध्वनयः। तैः धीरध्वनिभिः। गम्भीरनिर्घोषैः 'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः, स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः' इत्यमरः। यहाँ पर 'अलम्' के द्वारा चूंकि यह द्योतित होता है कि तू अपनी ध्वनि बन्द कर। ध्वनि करना बेकार है। इसीलिए ध्वनि शब्द से तृतीया विभक्ति हुई है। सिद्धान्तकौमुदी में 'हेतौ' (२।३।२३) सूत्र पर कहा गया है—"गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका, अलं श्रमेण, साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियाम्प्रति श्रमः करणम्।" (ख) नीरद—नीरं ददातीति नीरदः, मेघः। तत्सम्बुद्धौ हे नीरद। (ग) मासिकः—मासे भवः मासिकः। (मास+ठञ्) महीने भर का। (घ) उन्मदवारणबुद्ध्याः—उन्मदः उन्मत्तः वारणः उन्मदवारणः। तस्मिन् बुद्धि उन्मदवारणबुद्धिः। तया उन्मदवारणबुद्ध्या। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। (ङ) मध्येजठरम्—जठरस्य मध्ये मध्येजठरम्। 'पारे मध्येषष्ठ्या वा' (२।१।१८) इति अव्ययीभावसमासः 'जठर कठिनेऽन्यवत् कुक्षौ वृद्धे च जठरम्' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ जठर शब्द का अर्थ कुक्षि है जिसे भाषा में 'कोख' कहते हैं। इसमें कवि ने उपगीति वृत्त उपनिबद्ध किया है। उसका लक्षण है—'आर्यापरार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ६०॥

[1]वैतुण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थिना।
हरिणा हरिणालीषु कथ्यतां कः पराक्रमः?॥६१॥

अन्वयः—वैतुण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थिना हरिणा हरिणालीषु कः पराक्रमः कथ्यताम्?

हिन्दीरूपान्तर—हाथियों के गण्डस्थल की खुजलाहट का बड़ी ही निपुणता से विरोध करनेवाले मृगराज मृगपंक्तियों पर (भला) कौन सा पराक्रम जाहिर करे?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से सिंह का वर्णन प्रस्तुत किया है, जिससे किसी उद्भट विद्वान् के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है। जिस विद्वान् ने शास्त्रार्थ में अपने को लगाने वाले बड़े-बड़े विद्वानों के दाँत खट्टे कर दिये हैं उससे कोई यह आशा करे कि वह जरा से पाण्डित्य के कारण अपने को उद्भट विद्वान् समझ लेने वाले नादानों से शास्त्रार्थ करे उन पर अपना पाण्डित्य प्रकट करे यह कैसे सम्भव है। पराक्रम की पहचान किसी

---

१. "वेतण्ड" इति पाठान्तरम्।

समान पराक्रमी से अथवा अपने से अधिक पराक्रमी से भिड़ने में होती है न कि जो स्वयं ही परास्त है उसे परास्त करने में। अतः यहाँ पर साहृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) वैतुण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थिना—विशिष्टं तुण्डमाननं येषान्ते वितुण्डाः। वितुण्डाः एव वैतुण्डाः, गजाः इत्यर्थः। 'स्वार्थेऽण्' प्रत्ययः। तेषां गण्डाः वैतुण्डगण्डाः। तेषां कण्डूतिः वैतुण्डगण्डूतिः। तत्र पाण्डित्यं वैतुण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यम्। तस्य परिपन्थी वैतुण्डगण्डकण्डूतिपाण्डित्यपरिपन्थी। तेन तथोक्तेन। आशय यह है कि सिंह केवल गजों के मारने से ही उनका विरोधी हो इतनी ही बात नहीं है बल्कि वह उनके कण्डूतियुक्त कपोलों का भी विरोधी है। 'तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इति 'गण्डौ कपोलौ' इति चामरः। 'रिपो × × अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिशरिपन्थिनः' इत्यमरः। (ख) हरिणा—सिंहेन। "हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु। सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च।" इति विश्वप्रकाशः। (ग) हरिणालीषु—हरिणानां मृगाणाम् आल्यः हरिणाल्यः। तासु हरिणालीषु। 'एणः कुरङ्गो हरिणो मृगः स्यात्' इति 'आली श्रेण्यावली पङ्क्तिर्वीथी राजी च कथ्यते' इति च हलायुधः। (घ) पराक्रमः-पराक्रम्यतेऽनेनेति पराक्रमः। परा+क्रम्+घञ् 'हलश्च' (३।३।१२१) इति सूत्रेण। तथा च 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (७।३।३४) इति वृद्धिनिषेधः। 'प्रतापः पौरुष तेजो विक्रमः स्यात् पराक्रमः' इति हलायुधः। इसमें अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त किया गया है॥ ६१॥

नीरान्निर्म्मलतो जनिर्मधुरता [1]वामामुखस्पर्द्धिनी
वाचो यस्य हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
सर्वस्वन्तदहो! महाकविगिराङ्कामस्य चाम्भोरुह!
त्वञ्चेत् प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत्त्वाङ्किमाचक्ष्महे॥६२॥

अन्वयः—हे अम्भोरुह! यस्य जनिः निर्म्मलतः नीरात्, मधुरतः वामामुखस्पर्धिनी, वासः हरेः करे, परिमलः गीर्वाणचेतोहरः महाकविगिराम् कामस्य च सर्वस्वम् तत् त्वम् चेत् मधुपे प्रीतिम् उरीकरोषि, तत् अहो! त्वाम् किम्, आचक्ष्महे।

हिन्दीरूपान्तर--ऐ कमल! जिसका जन्म स्वच्छ जल से हुआ, (जिसका) माधुर्य स्त्रियों के मुखों से होड़ करनेवाला है, (जिसका) निवास भगवान् विष्णु की हथेली में है और जिसकी सुगन्ध देवताओं की मनोहारिणी है, महाकवियों की वाणी और कामदेव के सर्वस्व वही तुम यदि भौंवरे में प्रेम अङ्गीकार करते हो, तो हाय! तुम्हें क्या कहें?

---

१. "रामामुखस्पर्द्धिनी" इति पाठान्तरम्।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से कमल और भ्रमर का वृत्तान्त-वर्णन किया है। कमल स्वच्छ, मधुर, कुलीन, मनोहर तथा ऐश्वर्य सम्पन्न है जब कि भँवरा गन्दा काला कलूटा। परन्तु फिर भी जब भँवरा उसके पास आता है तो वह उसे दुत्कारता नहीं, उससे प्रेम करता है, उसे आश्रय देता है। इस प्रकार कमल की महानता सूचित होती है। ऐसा व्यङ्ग्य मानने पर इस अप्रस्तुत कमल के वृत्तान्त से किसी ऐसे ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत रूप से सामने आता है जिसे अपने ऐश्वर्य का जरा भी मद नहीं है, जो छोटे लोगों पर अत्यधिक सहानुभूति रखता है, उनसे प्रेम करता है, उनका सादर करता है। परन्तु इस कमल और भ्रमर के वृत्तान्त से एक दूसरा व्यङ्ग्य जो कि इस पहले व्यङ्ग्य से चारुतर प्रतीत होता है वह यह कि कमल इतना स्वच्छ आदि होते हुए भी जो गन्दे भँवरे से प्रेम करता है यह उसका दूषक है, उसके अन्दर बहुत बड़ा दुर्गुण है। और तब हमें इस अप्रस्तुत वृत्तान्त से एक ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति होगी जिसका जन्म उच्चकुल में हुआ, जो बहुत ही गुणवान है, जिसका अच्छे लोगों का संसर्ग है, जो बड़ा ही ऐश्वर्य सम्पन्न है परन्तु जिसके अन्दर एक सबसे बड़ा दुर्गुण है, वह यह कि नीचों को, दुराचारियों को आश्रय देता है, उन पर कृपा करता है। इस व्यङ्ग्य की पुष्टि 'मधुप' शब्द से भी हो जाती है अर्थात् जो मधु (शराब आदि) पीने वाला है, दुराचारी है उससे प्रेम करना सर्वथा अनुचित है। इस तरह यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार तो है ही, साथ ही अननुरूप संसर्ग होने के कारण विषमालङ्कार भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि कहाँ उतना स्वच्छ मधुर कमल और कहाँ काला-कलूटा भँवरा। इन दोनों में कोई अनुरूपता नहीं। अतः अननुरूप का संबन्ध होने के कारण विषमालङ्कार भी है। लक्षण है—'विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननु-रूपयोः।' (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ अननुरूपों के सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है वहाँ विषमालङ्कार होता है। (क) नीरात्—जलात्। 'कुशलजलवनं क्षीरमम्भोऽम्बु नीरम्' इति हलायुधः। (ख) निर्म्मलतः—निर्गतं मलं यस्मात् तन्निर्मलम्। तस्मात् निर्मलतः। पञ्चम्यर्थे तसिल्। (ग) जनिः—उत्पत्तिः। 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। (घ) मधुरता—मधुरस्य भावः मधुरता। 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) इति तल् प्रत्ययः। (ङ) वामामुखस्पर्धिनी—वामायाः (स्त्रियाः) मुखं वामामुखम्। वामामुखं स्पर्द्धते इति वामामुख-स्पर्धिनी। सुन्दरीमुखानुरूपेत्यर्थः। (च) हरेः—हरि का अर्थ जीवानन्द ने विष्णु अथवा सूर्य ग्रहण किया है—"हरेर्नारायणस्य सूर्यस्य वा, करे हस्ते वासः स्थितिः। हरेः शङ्खचक्रगदापद्मधारित्वादिति भावः। साधुसङ्गस्तवास्तीति तात्पर्यम्।" परन्तु नारायण अर्थ ही समीचीनतर है। (छ) गीर्वाणचेतो-

हरः—गीर्वाणानां चेतांसि गीर्वाणचेतांसि, हरतीति हरः (हृ+अच्)। गीर्वाणचेतसां हरः गीर्वाणचेतोहरः। 'स्वर्गौकसो देवता गीर्वाणा ऋभवोऽमराश्च' इति हलायुधः (ज) महाकविगिराम्—महान्तः कवयः महाकवयः। तेषां गिरः महाकविगिरः। तासां महाकविगिराम्। 'भाषा गीर्वाग्वाणी' इत्यमरः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त उपनिबद्ध किया है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ६२॥

लीलामुकुलितनयनं किं सुखशयनं समातनुषे ?
परिणामविषमहरिणा करिनायक ! वर्द्धते वैरम् ॥६३॥

अन्वयः—हे करिनायक ! लीलामुकुलितनयनम् किं सुखशयनं समातनुषे (यतः) परिणामविषमहरिणा (ते) वैरं वर्द्धते।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ गजराज ! विलासपूर्वक आँखों को बन्द किए हुए तू क्यों सुख की नींद फैला रहा है ! (क्योंकि) परिणाम के विषय में अत्यन्त दारुण सिंह के साथ (तेरी) शत्रुता बढ़ रही है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से हाथी और सिंह का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। हाथी और सिंह परस्पर वैरी हैं। अतः हाथी का धर्म है कि वह अपने वैरी से अपने को बचाने की कोशिश करे, न कि ऐसे कार्य करे जिससे और भी शत्रुता बढ़े। परन्तु यहाँ हाथी विलासपूर्वक आँखें बन्द किए हुए सुख की नींद ले रहा है। एक तो शेर ऐसे ही वैरी ठहरा फिर इसकी विलासिता को देख उसका वैर और अधिक क्यों न बढ़े ? इसीलिए कोई सज्जन उसे सचेत कर रहा है। इस प्रकार इस अप्रस्तुत हाथी और सिंह के वृत्तान्त से हमें एक ऐसे प्रस्तुत राजा की प्रतीति होती है जो कि अपने शत्रु राजा के राज्य में उसके साथ युद्धादि करने की तैयारी न कर विलासितापूर्वक चैन की वंशी बजाने लगा है। इस प्रकार यहाँ भी सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। (क) लीलामुकुलितनयनम्—मुकुलानि सञ्जातान्यस्येति मुकुलितम्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (५।२।३६) इति सूत्रेण इतच् प्रत्ययः। यहाँ पर कवि ने उपचारवक्रता प्रस्तुत की है। मुकुल का अर्थ होता है अधखिली कली। 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। आँखों में कलियाँ उत्पन्न हो गई हों ऐसा सम्भव नहीं। अतः लक्षणा से इसका यह अर्थ निकलता है कि अधखिली कली की तरह आँखें कुछ खोले हुए, कुछ बन्द किए हुए। अर्द्धनिमीलित, क्योंकि नेत्र विलास (लीला) पूर्वक निमीलित किए गए हैं। लीलया मुकुलिते लीला-मुकुलिते। लीलामुकुलिते नयने यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा लीलामुकुलितनयनम्।

क्रियाविशेषणमेतत् । 'लीलां विदुः केलिविलासखेलाशृङ्गारभावप्रभवक्रियासु' इति विश्वप्रकाशः । यहाँ लीला का अर्थ विलास है । (ख) सुखशयनम्— सुखेन शयनं सुखशयनम् । द्वितीयैकवचनम् । (ग) परिणामविषमहरिणा— परिणामे विषमः (दारुणः) परिणामविषमः । परिणामविषमः हरिः (सिंहः) परिणामविषमहरिः । तेन परिणामविषमहरिणा । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः । (घ) करिनायक—करीणां नायकः करिनायकः । तत् सम्बुद्धौ हे करिनायक । गजश्रेष्ठ इत्यर्थः । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वप्रकाशः । (ङ) 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इत्यमरः । इसमें कवि ने उपगीति वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—'आर्यापरार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६३ ॥

विदुषां वदनाद् वाचः सहसा यान्ति नो बहिः ।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥६४॥

अन्वयः—विदुषां वदनात् वाचः सहसा बहिः नो यान्ति, चेत् याताः द्विरदानां रदा इव न पराञ्चन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—विद्वानों के मुँह से बातें अचानक ही (बिना सोचे विचारे) बाहर नहीं निकलतीं (लेकिन) यदि निकल गईं (तो) हाथियों के दाँतों की तरह पीछे नहीं लौटतीं ।

व्याख्या—यहाँ कवि विद्वानों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहता है कि विद्वान् लोग कोई भी बात बिना अच्छी तरह विचार किए हुए अपने मुख से बाहर नहीं निकालते । किसी बात को कहने के पहले उसके परिणाम आदि का गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तब कुछ कहते हैं । लेकिन जिस बात को कह दिया फिर उससे पलटते नहीं । अपनी बात पर दृढ़ रहते हैं चाहे फिर जैसी भी परिस्थिति सामने आवे । यहाँ कवि ने विद्वानों की वाणियों का हाथियों के दाँतों के साथ सादृश्य प्रस्तुत किया है । जैसे हाथी के दाँत यदि बाहर निकल आये तो फिर वे भीतर (पीछे की ओर) नहीं लौटते उसी प्रकार विद्वानों के मुख से निकली हुई बात उलटती नहीं । यहाँ 'वाचः' उपमेय है । 'रदाः' उपमान है । 'इव' उपमावाचक शब्द है । 'न पराञ्चन्ति' (पीछे की ओर न पलटना) साधारण धर्म है । इस प्रकार उपमा के चारों तत्त्वों का उपादान होने के कारण पूर्णोपमा है । 'इव' के प्रयोग से सादृश्य का तुरन्त बोध हो जाने के कारण 'श्रौती' है । तथा 'रदाः' और 'इव' के समस्त होने के कारण 'पदगता' है । (क) विदुषां—पण्डितानाम् । 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः । धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः

कविः' इत्यमरः। (ख) वदनात्—मुखात्। 'वदनं वक्त्रं लपनं मुखम्' इति हलायुधः। (ग) सहसा—अचानक, विना विचारे। 'अतर्किते तु सहसा' इत्यमरः। (घ) 'पक्षान्तरे चेत् यदि च' इत्यमरः। (ङ) द्विरदानाम्—द्वौ रदौ (दन्तौ) प्रधानतया येषान्ते द्विरदाः गजाः। तेषां द्विरदानाम्। 'मातङ्गद्विरदद्विपाः करिगजस्तम्बेरमानेकपाः' इति हलायुधः। (च) रदा इव—यहाँ पर 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक से समास और विभक्ति का अलुक् हुआ है। 'रदो विलेखने दन्ते' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ रद का अर्थ दाँत है। खाने के दाँतों के अलावा हाथियों के दो दाँत दिखाने के होते हैं जो हमेशा बाहर निकले रहते हैं। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिवद्ध किया है॥ ६४॥

औदार्य्यम्भुवनत्रयेऽपि विदितं सम्भूतिरम्भोनिधे-
र्वासो नन्दनकानने परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
एवन्दातृगुरोर्गुणाः सुरतरोः सर्वेऽपि लोकोत्तराः
स्यादर्थिप्रवरार्थितार्पणविधावेको विवेको यदि॥६५॥

अन्वयः—औदार्यम् भुवनत्रये अपि विदितम्, अम्भोनिधेः सम्भूतिः नन्दनकानने वासः, गीर्वाणचेतोहरः परिमलः, एवम् दातृगुरोः सुरतरोः सर्वे अपि गुणाः लोकोत्तराः, यदि अर्थिप्रवरार्थितार्पणविधौ एकः विवेकः स्यात्।

हिन्दीरूपान्तर—उदारता तीनों ही लोकों में विख्यात है, समुद्र से जन्म हुआ है, नन्दनवन में निवास है, देवों की मनोहारिणी सुगन्ध है, इस प्रकार दानियों में श्रेष्ठ देववृक्ष के सारे ही गुण अलौकिक हैं, अगर श्रेष्ठ याचकों द्वारा प्रार्थित वस्तु के प्रदान करने में एक विवेक (भी) होता।

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से सुरतरु का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। उसकी उदारता, उसका जन्म, उसका निवास इत्यादि सभी लोकोत्तर है। दानियों में वह सर्वश्रेष्ठ है। जो कोई भी उससे जिस किसी वस्तु की याचना करता है वह उसे प्रदान कर उसे सन्तुष्ट करता है। परन्तु इतना सब होते हुए भी कवि ने उसमें एक दोष बताया वह यह कि वह याचकों द्वारा याचित वस्तु के प्रदान करने में विवेक नहीं रखता। किसे क्या देना चाहिए क्या नहीं, इस बात का विचार नहीं करता। वक्ता यह सम्भावना करता है कि अगर यह विवेक भी होता तो सोने में सुहागे का काम करता। उसके गुणों की लोकोत्तीर्णता में चार चाँद लग जाते। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुतरूप से सुरतरु का वृत्तान्त वर्णित है जिससे प्रस्तुत रूप में उसी के सदृश अत्यन्त उदार, कुलीन, गुणवान् दानी व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति है। अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा

है। (क) औदार्य्यम्—उदारस्य भावः औदार्य्यम्। 'उदार + ष्यञ्' उदारते-त्यर्थः। 'उदात्तश्च तथोदीर्णे महात्मोदार उच्यते' इति हलायुधः। (ख) भुवनत्रये—'भुवनानां त्रयं भुवनत्रयम्' तस्मिन् भुवनत्रये। 'भुवनं विष्टपं लोको जगदेकार्थवाचकाः' इति हलायुधः। (ग) सम्भूतिः - सम् + भू + क्तिन् 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) इति सूत्रेण। जन्मेत्यर्थः (घ) अम्भोनिधेः—अम्भसां निधिः अम्भोनिधिः। सागरः तस्य अम्भोनिधेः। (ङ) परिमलः—अमरकोश के अनुसार मसलने या रगड़ने से उत्पन्न एवं जनमनोहारिणी गन्ध को परिमल कहते हैं—'विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' (अमर०)। (च) गीर्व्वाणचेतोहरः—हरतीति हरः (हृ + अच्)। गीर्व्वाणानां चेतांसि गीर्व्वाणचेतांसि। तेषां हरः गीर्व्वाणचेतोहरः। देवताओं के मनों को मोहित कर लेने वाला। (छ) दातृगुरोः—दातृणां दातृषु वा गुरुः दातृगुरुः। दातृश्रेष्ठः इत्यर्थः। तस्य दातृगुरोः। (ग) लोकोत्तराः—लोकेभ्यः उत्तराः (उत्तीर्णाः) लोकोत्तराः। अलौकिका इत्यर्थः। (झ) अर्थिप्रवरार्थितार्पणविधौ—अर्थिषु प्रवराः अर्थिप्रवराः। 'वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः। 'मुख्यं परार्ध्यं प्रवरं प्रवर्हम्' इति हलायुधः। याचकमुख्या इत्यर्थः। अर्थिप्रवरैः अर्थितं याचितं अर्थिप्रवरार्थितम्। तस्य अर्पणं प्रदानम् अर्थिप्रवरार्थितार्पणम्। तस्य विधिः (विधानम्) अर्थिप्रवरार्थितार्पणविधिः। तस्मिन् तथोक्ते। 'विधिर्विधाने दैवेऽपि' इत्यमरः। (ञ) एकः—केवलः 'एकन्तु केवलं श्रेष्ठ इतरस्मिश्च वाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। विवेकः—विचारः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'सूर्य्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।' (छन्दोमञ्जरी) ॥६५॥

एको विश्वसतां हराम्यपघृणः प्राणानहम्प्राणिनाम्
इत्येवम्परिचिन्त्य [1]मा स्वमनसि व्याधानुतापङ्कृथाः।
भूपानाम्भवनेषु किञ्च विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः
साधूनामरयो [2]वसन्ति कति नो त्वत्तुल्यकक्षाः खलाः? ॥६६॥

अन्वयः—हे व्याध ! अहम् एकः अपघृणः विश्वसताम् प्राणिनाम् प्राणान् हरामि इति, एवम् परिचिन्त्य स्वमनसि अनुतापम् मा कृथाः (यतो हि) भूपानाम् भवनेषु किञ्च विमलक्षेत्रेषु गूढाशयाः साधूनाम् अरयः त्वत्तुल्यकक्षाः कति खलाः नो वसन्ति ?

---

१. 'माऽऽत्ममनसि' इति पाठान्तरम्।

२. 'न' इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर-ऐ बहेलिये ! 'मैं अकेला निर्दय विश्वास करते हुए प्राणियों के प्राणों को छीन लेता हूँ' इस प्रकार ऐसा सोचकर अपने हृदय में पश्चात्ताप न करना (क्योंकि) राजभवनों में साथ ही निर्मल क्षेत्रों (अर्थात् तीर्थों) में गुप्त अभिप्राय वाले, सज्जनों के वैरी एवं तुम्हारे समकक्ष कितने दुष्ट नहीं रहते हैं ?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने 'प्रतीपालङ्कार' प्रस्तुत किया है। प्रतीप का लक्षण है—

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ।।
उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ।। (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप में प्रस्तुत किया जाय वह पहला प्रतीप है। जहाँ उपमान को निष्फल बताया जाय वह दूसरा प्रतीप है। तथा जहाँ किसी अत्युत्कृष्ट वस्तु का उत्कर्ष कहकर उसको उपमान रूप में कल्पित किया जाय वहाँ तीसरा प्रतीप है। यहाँ पर तीसरे प्रकार का प्रतीप ही है। यहाँ पर कवि ने पहले व्याघ्र को यह कह कर कि 'तुम सन्ताप न करो' उसके उत्कर्ष को प्रतिपादित किया, तदनन्तर तीर्थों और राजभवनों में रहने वाले दुष्टों का उसे उपमान बना दिया 'त्वत्तुल्यकक्षाः खलाः' कह कर। अतः साहित्य दर्पणकार के अनुसार यहाँ तीसरे प्रकार का प्रतीप अलङ्कार माना जायगा। (क) अपघृणः अप अपगता घृणा यस्मात् सः अपघृणः। निष्कृपः निर्दयः इत्यर्थः। घृणा का अर्थ कृपा या दया भी होता है—'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति विश्वप्रकाशः। (घ) प्राणिनाम्—प्राणाः सन्त्येषामिति प्राणिनः। (प्राण + इति) तेषां प्राणिनाम्। 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः। (ङ) परिचिन्त्य—परि + चिंति स्मृत्याम् (चुरादि०) + ल्यप्। पर्यालोच्येत्यर्थः। (च) अनुतापम्—पश्चात्तापमित्यर्थः। (छ) भूपानाम्—नृपाणाम्। भुवं पान्ति रक्षन्तीति भूपाः। तेषाम्। भू + पा रक्षणे (अदादि०) + 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति क प्रत्ययः। (ज) विमलक्षेत्रेषु—विगतं मलं येभ्यस्तानि विमलानि। तथाभूतानि क्षेत्राणि विमलक्षेत्राणि। तेषु विमलक्षेत्रेषु। तीर्थेष्वित्यर्थः। (झ) गूढाशयाः—गूढाः अविज्ञाताः आशयाः अभिप्रायाः येषान्ते गूढाशयाः। 'आशयः स्यादभिप्राये मानसाधारयोरपि' इति विश्वप्रकाशः। (ञ) साधूनाम्—सज्जनानाम्। 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्वप्रकाशः। (ट) अरयः—शत्रवः। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। (ठ) त्वत्तुल्यकक्षाः—तुल्या कक्षा येषान्ते तुल्यकक्षाः। तव तुल्यकक्षाः त्वत्तुल्य-

कक्षाः । त्वत्प्रतिरूपाः इत्यर्थः । (ङ) खलाः—दुर्जनाः । 'दुर्ज्जनः पिशुनः क्षुद्रो नीचः कर्णेजपः खलः' इति हलायुधः । इसमें भी कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ।। ६६।।

विश्वास्य मधुरवचनैः साधून् ये वञ्चयन्ति नम्रतमाः ।।
तानपि दधासि मातः ! काश्यपि!! यातस्तवापि च विवेकः?।। ६७

अन्वयः—हे मातः ! काश्यपि !! ये नम्रतमाः (सन्तः) मधुरवचनैः साधून् विश्वास्य वञ्चयन्ति तान् अपि च दधासि !! तव अपि विवेकः यातः ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ जननी ! वसुन्धरे !! जो (नीच) अत्यन्त नम्र होकर बातों से सज्जनों को विश्वास दिला कर ठग लेते हैं उनको भी (तू) धारण करती है !!! तेरा भी विवेक जाता रहा ?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने जननी वसुन्धरा के विवेक के नष्ट होने की बात कही है । उस बात को सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में उसने 'चूंकि तू मीठी बातों से विश्वास दिलाकर साधुओं को ठग लेने वाले अत्यन्त नीचों को भी धारण करती है' इस वाक्यार्थ को प्रस्तुत किया है । अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है—'हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम्' (अलङ्कारसर्वस्व) अर्थात् जहाँ किसी का हेतु वाक्यार्थ अथवा पदार्थ होता है वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है । प्रस्तुत पद्य में चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ के हेतु रूप में प्रथम तीनों चरणों के वाक्यार्थ को प्रस्तुत किया गया है । (क) मधुरवचनैः—मधुराणि मनोहराणि वचनानि मधुरवचनानि । तैः मधुरवचनैः । (ख) नम्रतमाः—अतिशयेन नम्राः नम्रतमाः । नम्र + तमप् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।३५) इति सूत्रेण । (ग) काश्यपि—कश्यपस्येयं काश्यपी । कश्यप + अण् 'तस्येदम्' (४।३।१२०) सूत्रेण । ततः ङीप् । पृथिवीत्यर्थः । 'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः ।' इत्यमरः । और जैसा कि महाभारत में वर्णित है—'अथागम्य महाराज ! नमस्कृत्य च कश्यपम् । पृथिवी काश्यपी जज्ञे सुता तस्य महात्मनः ।।' इत्यादि । तत्सम्बुद्धौ हे काश्यपि । इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम् (छन्दोमञ्जरी) ।। ६७ ।।

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्तिः
अन्यैव काऽपि रचना वचनावलीनाम् ।
लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्त्तहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरान्दवीयः ।। ६८ ।।

अन्वयः—विद्यावताम् मनसः जगद्धितमयी प्रवृत्तिः अन्या, वचनावलीनाम् काऽपि रचना अन्या एव, च कृतिः लोकोत्तरा, आकृतिः आर्त्तहृद्या (किम्बहुना) सकलम् एव गिराम् दवीयः।

हिन्दीरूपान्तर—विद्वानों के हृदय की संसार का भला करनेवाली प्रवृत्ति दूसरी ही होती है, वचनों का कोई (अपूर्व) विन्यास दूसरा ही होता है और कार्य अलौकिक होता है, आकृति दुःखियों की मनोहारिणी होती है (अधिक क्या कहें उनका) सभी कुछ वाणी की पहुँच के बाहर है।

व्याख्या—विद्वानों की प्रशंसा करते हुए कवि ने यहाँ पर 'भेदकातिशयोक्ति' नामक अलङ्कार प्रस्तुत किया है। भेदकातिशयोक्ति का लक्षण है—-

"भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्।" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ पर किसी वर्णनीयतज्जातीयवस्तु का तज्जातीयवस्तु से भिन्न रूप में वर्णन किया जाता है, वहाँ भेदकातिशयोक्ति अलङ्कार होता है। यहाँ विद्यावानों के हृदय की प्रवृत्ति को लोकप्रसिद्ध प्रवृत्ति से भिन्न बताया गया है तथा उनकी वचनावली की रचना को लोकप्रसिद्ध रचना से भिन्न बताया गया है। अतः भेदकातिशयोक्ति अलङ्कार है। इससे विद्यावानों का लोकोत्तरत्व एवं उनका परमोत्कर्ष प्रतिपादित होता है। (क) जगद्धितमयी—हित + मयट् = ङीप् = हितमयी। जगतां हितमयी जगद्धितमयी। लोकहितस्वरूपिणीत्यर्थः। (ख) मनसः—हृदयस्य। (ग) काऽपि—अनिर्वचनीयेत्यर्थः। यहाँ पर आचार्य कुन्तक के अनुसार संवृतिवक्रता है। (घ) वचनावलीनाम्—वचनानामावलिः वचनावलिः। तासां वचनावलीनाम्। 'व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' इति 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इति चामरः। (ङ) लोकोत्तरा—लोकेभ्यः उत्तरा लोकोत्तरा। अलौकिकीत्यर्थः। (च) कृतिः—(कृ + क्तिन्) कार्यमित्यर्थः। (छ) आकृतिः—रूपं वपुः वा। 'आकृतिः कथिता रूपसामान्यवपुषोरपि' इति विश्वप्रकाशः। (ज) आर्त्तहृद्या—हृदयस्य प्रिया हृद्या।' हृदय शब्दात् 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' (६।३।५०) इति यत् प्रत्ययः हृदयस्य हृदादेशश्च। स्त्रियां टाप्। आर्त्तानां दुःखितानां हृद्या आर्त्तहृद्या। दुःखितानां मनोहारिणीत्यर्थः। 'हृद्यं हारि मनोहरञ्च रुचिरम्' इति हलायुधः। (झ) विद्यावताम्—विद्याः सन्त्येषामिति विद्यावन्तः। (विद्या + मतुप्) तेषां विद्यावताम् विदुषां, पण्डितानामित्यर्थः। (ञ) गिराम्—वाचाम्। 'गीर्वाग्वाणी' इत्यमरः। (ट) दवीयः—अतिदूरवर्तीत्यर्थः। 'दूर + ईयसुन् = दवीयः। अत्र दूरशब्दात् ईयसुन प्रत्यये कृते 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (६।४।१५६) इति सूत्रेण रलोपः ऊकारस्य गुणश्च। ततः 'एचोऽयवायावः (६।१।७८) इति अवादेशे तत्सिद्धिः। इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध

किया है । लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)॥६८॥

आपद्गतः किल महाशयचक्रवर्त्ती
विस्तारयत्यकृतपूर्वमुदारभावम् ।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरम्परिमलम्प्रकटीकरोति ॥ ६९ ॥

अन्वयः—महाशयचक्रवर्ती आपद्गतः किल अकृतपूर्वम् उदारभावम् विस्तारयति, (तथा हि) कालागुरुः दहनमध्यगतः समन्तात् लोकोत्तरम् परिमलम् प्रकटीकरोति ।

हिन्दीरूपान्तर—महाशय सम्राट् विपत्तियों में पड़कर ही पहले कभी नी न किए गए औदार्य का विस्तार करता है (जैसे कि) कालागुरु आग में पड़कर चारों ओर अलौकिक सुगन्ध को फैलाता है ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि ने महाशय सम्राट् और कालागुरु में सादृश्य प्रतिपादित किया है । परन्तु वह सादृश्य वाच्य रूप में नहीं कहा गया । प्रतीयमान है । साथ ही उस सादृश्य को एक वाक्य द्वारा न प्रतिपादित कर दो भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रतिपादित किया गया है । इसके अतिरिक्त दोनों का ही 'विस्तार करना या फैलाना' रूप एक ही साधारण धर्म 'विस्तारयति' और 'प्रकटयति' दो क्रियाओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रतिपादित किया गया है । अतः यहाँ पर 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है । लक्षण है—

'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥' (साहित्यदर्पण)

अर्थात् 'प्रतीयमान सादृश्यवाले दो वाक्यों में जहाँ एक भी साधारणधर्म अलग-अलग निर्दिष्ट होता है, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है ।' (क) आपद्गतः—आपदं गतः (प्राप्तः) आपदगतः । विपत्तिग्रस्त इत्यर्थः । (ख) महाशयचक्रवर्ती—महान्तः आशयाः येषान्ते महाशयाः । आशय का अर्थ हम अभिप्राय अथवा हृदय दोनों ग्रहण कर सकते हैं । जिनके अभिप्राय महान् हैं वे भी महापुरुष ही होंगे अथवा जिनके हृदय विशाल हैं, जो दरियादिल हैं वे भी महात्माजन ही होंगे । कोश है —'आशयः स्यादभिप्राये मानसाधारयोरपि' इति विश्वप्रकाशः । महाशयानां चक्रवर्ती महाशयचक्रवर्ती । चक्रवर्ती का आशय यहाँ पर श्रेष्ठ है । महात्माओं में श्रेष्ठ । (ग) अकृतपूर्वम्—पूर्वं कृतः कृतपूर्वः । न कृतपूर्वः अकृतपूर्वः । तमकृतपूर्वम् । (घ) उदारभावम्—उदारस्य भावः उदारभावः । तमुदारभावम् । उदारतामित्यर्थः । (ङ) दहनमध्यगतः—दहनस्य अग्नेः मध्यं दहनमध्यम् । दहनमध्यं गतः (प्राप्तः) दहनमध्य-

गतः। अग्निमध्यवर्त्ती सन्नित्यर्थः। अग्निर्वैश्वानरो वह्निः × × × दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः। (च) समन्तात्—सर्वत इत्यर्थः। (छ) लोकोत्तरम्—लोकेभ्यः उत्तरः लोकोत्तरः। अलौकिकः। तं लोकोत्तरम्। (ज) प्रकटीकरोति—अप्रकटं प्रकटं करोतीति प्रकटीकरोति। अभूतसद्भावे च्विः। इस पद्य में भी कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में दिया जा चुका है ॥ ६९ ॥

विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानां
　　रोषोऽपि निर्म्मलधियां रमणीय एव।
लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य
　　काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या ॥ ७० ॥

अन्वयः—विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानाम् निर्म्मलधियां रोषः अपि रमणीयः एव, (तथाहि) लोकम्पृणैः परिमलैः परिपूरितस्य काश्मीरजस्य कटुता अपि नितान्तरम्या।

हिन्दीरूपान्तर—समस्त रमणीय गुणों की गुरुता से समन्वित एवं विशुद्ध बुद्धिवाले व्यक्तियों का क्रोध भी रमणीय ही होता है (जैसे कि) संसार भर को प्रसन्न कर देनेवाली सुगन्धों से परिपूर्ण कुङ्कुम की कड़ुवाहट भी बहुत ही मनोहारिणी होती है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने रमणीय गुणों से सम्पन्न एवं निर्मल बुद्धि व्यक्तियों का कुङ्कुम के साथ सादृश्य प्रस्तुत किया है परन्तु वाच्यरूप से नहीं। वह सादृश्य गम्यमान है। साथ ही रमणीयता रूप एक ही साधारण धर्म 'रमणीय एव' तथा 'नितान्तरम्या' दो भिन्न शब्दों के द्वारा अलग-अलग दो वाक्यों में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार यहाँ साधर्म्य के कारण प्रस्तुत किया गया प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। अलङ्कारसर्वस्व में प्रतिवस्तूपमा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।' (क) विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फितानाम्—विश्वस्मिन् अभिरामाः मनोहाराः विश्वाभिरामाः। विश्वाभिरामाः गुणाः विश्वाभिरामगुणाः। गुरोर्भावः गौरवम्। गुरु + अच् 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५।१।१३) इति सूत्रेण। उत्कर्ष इत्यर्थः। विश्वाभिरामगुणानां गौरवं विश्वाभिरामगुणगौरवम्। गुम्फः ग्रन्थनम् सञ्जातः अस्येति गुम्फितः। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यः इतच्' (५।१।३६) इति सूत्रेण गुम्फशब्दादितच् प्रत्ययः। युक्तः समन्वित इत्यर्थः। विश्वाभिरामगुणगौरवेन गुम्फिताः विश्वाभिरामगुणगौरवगुम्फिताः। तेषां तथोक्तानाम्। लोकाभिराम गुणों के उत्कर्ष से समन्वित। (ख) रोषः—

(रुष् + घञ्) क्रोध इत्यर्थः । 'कोपः क्रोधस्तथाऽमर्षो रोषः प्रतिघ उच्यते' इति हलायुधः । (ग) निर्मलधियाम्—निर्गतं मलं यस्याः सा निर्म्मला । निर्म्मला धीः बुद्धिः येषां ते निर्म्मलधियः । तेषां निर्म्मलधियाम् । स्वच्छमतीनामित्यर्थः । 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः' इत्यमरः । (घ) लोकम्पृणैः—लोकं पृणन्तीति लोकम्पृणाः । (लोक + मुम् + पृण + खश्) । तैः लोकम्पृणैः । लोकप्रीतिकरैः इत्यर्थः । (ङ) परिपूरितस्य—परितः पूरितः परिपूरितः तस्य परिपूरितस्य । भलीभाँति पूर्ण । (च) काश्मीरजस्य—काश्मीरे जातं काश्मीरजम् । काश्मीर + जन् + ड 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) इति सूत्रेण । तस्य काश्मीरजस्य कुङ्कुमस्येत्यर्थः । "कुङ्कुमं घुसृणं वर्ण प्रोक्तं लोहितचन्दनम् । काश्मीरजं च विह्वद्भिः ।" इति हलायुधः । (छ) कटुता—कटोः भावः कटुता । कटु + तल् + टाप् । कड़ुवाहट । (ज) नितान्तरम्या—नितान्तं रम्यां नितान्तरम्या । अतिशयरमणीयेत्यर्थः । इसमें भी कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिवद्ध किया है । लक्षण है—'ज्ञेयंवसन्ततिलकं तभजा जगौ गः ।' छन्दोमञ्जरी) ।। ७० ।।

लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराणां पुरो[1]
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत् पामराः ।
अद्यश्वाः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां वृकाः[2]
सिंहानाञ्च सुखेन मूर्द्धसु पदन्धास्यन्ति शालावृकाः[3] ।। ७१ ।।

अन्वयः—विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषः पामराः चेत् लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराणाम् पुरः वल्गन्ति (तदा) अद्यश्वाः शकुन्तशिशवः फणिनाम्, वृकाः दन्तावलानाम्, च शालावृकाः सिंहानाम् मूर्द्धसु सुखेन् पदम् धास्यन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—विद्यामन्दिर से निकलते हुए कुछ कणों को चुरा लेने वाले नीच जन यदि खेल ही खेल में सरस्वती मन्दिर की महान् सम्पत्तियों को लूट लेने वाले (विद्वानों) के समक्ष डींग हाँकते हैं (तो) आज और कल में पैदा होने वाले चिड़ियों के बच्चे सर्पों, भेड़िये, हाथियों के और सियार सिंहों के सिर पर सुखपूर्वक पैर रखेंगे ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अर्थापत्ति नामक अलङ्कार प्रस्तुत किया है । अलङ्कारसर्वस्व में अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार है—'दण्डापूपिकयाऽर्थान्त-

---

१. "सम्पन्नराणाम्पुरः" इति पाठान्तरम् ।
२. "अद्य श्वः" इति पाठान्तरम् ।
३. "शशाः" इति पाठान्तरम् ।

रापतनमर्थापत्तिः' अर्थात् 'दण्डापूपिका' न्याय से दूसरे अर्थ का ज्ञान होने पर अर्थापत्ति अलङ्कार होता है। किसी ने डण्डे में मालपुआ बाँध रखा था। एक चूहा आया और उसे चट कर गया। उसे देखकर उसने कहा 'डण्डा तो चूहा खा गया'। अब इतना कह देने से यह बात अपने आप सिद्ध हो जाती है कि चूहा मालपुए भी झाड़ गया। क्योंकि जब वह उतने कठोर डण्डे को खा सकता है तो बेचारे मुलायम मालपुये को कब छोड़ने वाला है। इसी को कहते हैं 'दण्डापूपिकान्याय'। इस न्याय का आशय यह हुआ कि जहाँ किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा सुकर कार्य की सिद्धि अपने आप हो जाती है। अब प्रस्तुत श्लोक पर नजर डालें। कवि कहता है, कहाँ एक ओर खेल ही खेल में शारदा नगर की महान् सम्पत्तियों को लूट लेने वाले स्वच्छन्द प्रतिभावान् महाकविजन और कहाँ विद्यामन्दिर से कण-कण चुराने वाले दुकौड़िये कुकवि। यदि ये कुकविजन उन महाकवियों के सामने डींग हाकते हैं जो कि सर्वथा असम्भव है तब तो निश्चित ही आजकल में पैदा होने वाले चिड़ियों के बच्चे सर्पों के सिर पर, भेड़िये हाथियों के शिर पर और सियार सिंहों के शिर पर पैर रखने लगेंगे। यहाँ पूर्वार्द्ध द्वारा प्रतिपादित अर्थ के द्वारा उत्तरार्द्ध की सिद्धि अपने आप 'दण्डापूपिकान्याय' से हो जाती है। अतः अर्थापत्ति अलङ्कार है। (क) लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराणाम्——शारदायाः सरस्वत्याः पुरं शारदापुरम्। सम्पदां भराः सम्पद्भराः। महान्तः सम्पद्भराः महासम्पद्भराः। शारदापुरस्य महासम्पद्भराः शारदापुरमहासम्पद्भराः। लीलया लुण्ठिताः लीलालुण्ठिताः। लीलालुण्ठिताः शारदापुरमहासम्पद्भराः यैस्ते लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्भराः। खेल ही खेल में सरस्वती भवन की महान् सम्पदाओं को लूट लेने वाले। (ख) विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषः—विद्यायाः सद्म विद्यासद्म। तस्माद् विनिर्गलन्तः कणाः विद्यासद्मविनिर्गलत्कणाः। तान् मुष्णन्तीति विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषः। विद्यामंदिर से बिखरे हुए कुछ कणों को चुरा लेने वाले। 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। (ग) वल्गन्ति——वैसे भ्वादिगणी वल्ग धातु गत्यर्थक है। इसीलिए जीवानन्द ने 'वल्गन्ति व्यापकतया विचरन्तीत्यर्थः' यह अर्थ दिया है। इसका आशय यहाँ डींग हाँकने से है। (घ) पामराः——'विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतस्तु पृथग्जनः' इत्यमरः। (ङ) शकुन्तशिशवः - शकुन्तानां पक्षिणां शिशवः शकुन्तशिशवः। 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः। (च) दन्तावलानाम्—गजानाम्। 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः। (छ) वृकाः—भेड़िये। 'कोकस्त्वीहामृगो वृकः' इत्यमरः। (ज) शालावृकाः——सियार तथा कुत्ता दोनों को शालावृक कहते हैं—'शालावृकः शृगालेऽपि सारमेये बलीमुखे'

इति विश्वप्रकाशः । इसमें शार्दूलविक्रीडित वृत्त प्रयुक्त है—'सूर्याश्वैर्यदिमः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७१ ॥

गीर्भिर्गुरूणाम्परुषाक्षराभि-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां
न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥ ७२ ॥

अन्वयः—गुरूणाम् परुषाक्षराभिः गीर्भिः तिरस्कृताः नराः महत्त्वं यान्ति । (तथा हि) अलब्धशाणोत्कषणाः मणयः जातु नृपाणाम् मौलौ न वसन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुओं के कठोर वर्णों वाले वचनों के द्वारा तिरस्कृत होकर लोग बड़प्पन को पहुँच जाते हैं (क्योंकि) बिना सान पर रगड़ खाये हुए रत्न कभी भी राजाओं के मुकुट में नहीं रह पाते ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने प्रतीयमान ढंग से गुरुजनों की कठोर वाणी से तिरस्कृत मनुष्यों का और सान पर न चढ़ी हुई मणियों का साम्य प्रस्तुत किया है । दो वाक्यों में भिन्न भिन्न शब्दों में 'यान्ति' और 'वसन्ति' के द्वारा एक ही बात को प्रस्तुत किया है । अन्तर केवल इतना है कि दूसरा वाक्यार्थ निषेधार्थक है इसीलिए यहाँ पर वैधर्म्य से होनेवाली प्रतिवस्तूपमा मानी जायेगी । क्योंकि अन्ततः इन दोनों वाक्यार्थों का साम्य ही प्रतीत होता है, जैसे उत्तरार्द्ध का यहाँ पर यह अर्थ है 'बिना सान पर चढ़ा हुए मणियाँ राजाओं के मुकुट में स्थान नहीं पातीं' अर्थात् सान पर चढ़कर ही मणियाँ राजा के मुकुट में स्थान पाती हैं । अतः जिस प्रकार मणियाँ सान पर चढ़ कर राजाओं के मुकुट में वास करती हैं उच्च स्थान पाती हैं, उसी तरह गुरुजनों की कठोर वाणी से तिरस्कृत लोग उच्च स्थान प्राप्त करते हैं । यह सादृश्य व्यङ्ग्य होता । अतः यहाँ पर वैधर्म्य से होने वाली प्रतिवस्तूपमा है । (क) गीर्भिः—वाग्भिः । वाणियों से । 'गीर्वाग्वाणी' इत्यमरः । (ख) गुरूणाम्—गुरु से । यहाँ आशय पिता, माता, आचार्य आदि सभी श्रेष्ठ लोगों से हैं—'गुरुर्निषेकादिकरे पित्रादौ सुरमन्त्रिणि' इति विश्वप्रकाशः । (ग) परुषाक्षराभिः—परुषाः अस्निग्धाः अक्षराः यासां यासु वा ताः परुषाक्षराः । 'परुषमस्निग्धम्' इति हलायुधः । ताभिः परुषाक्षराभिः (घ) महत्त्वम्—महतः भावः महत्त्वम् । महत् शब्दात् 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) इति सूत्रेण त्वप्रत्ययः । गौरवमित्यर्थः । द्वितीयैकवचनम् । (ङ) अलब्धशाणोत्कषणाः—शाणेन शाणे वा उत्कषणम् उद्घर्षणम् शाणोत्कषणम् । न लब्धमलब्धम् । अलब्धं शाणोत्कषणं याभिः ताः अलब्धशाणोत्कषणाः । 'शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः । (च) नृपाणाम्—नॄन्

पान्तीति नृपाः । राजानः । तेषां नृपाणाम् । (छ) जातु—कभी, कदाचित् । 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः । (ज) मौलौ—किरीटे । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले कङ्केलिद्रुमचूडयोः' इति विश्वप्रकाशः । (झ) मणयः—रत्नानि । 'रत्नं वसु मणिः' इति हलायुधः । इस पद्य के प्रथम चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण दोनों से मिश्रित 'उपजाति' वृत्त है । इन्द्रवज्रा का लक्षण है—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' तथा उपेन्द्रवज्रा का लक्षण है 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' (वृत्तरत्नाकर) । तथा उपजाति का लक्षण छन्दोमञ्जरी में इस प्रकार दिया गया है—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः । इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम'' ॥ ७२ ॥

वहति विषधरान् पटीरजन्मा
शिरसि मसीपटलन्दधाति दीपः ।
विधुरपि भजतेतराङ्कलङ्कम्
पिशुनजनङ्खलु बिभ्रति क्षितीन्द्राः ॥७३॥

अन्वयः—पटीरजन्मा विषधरान् वहति, दीपः शिरसि मसीपटलम् दधाति, विधुः अपि कलङ्कम् भजतेतराम्, क्षितीन्द्राः पिशुनजनम् बिभ्रति खलु ।

हिन्दीरूपान्तर—चन्दन वृक्ष नागों को धारण करता है, दीपक शिर पर काजल समूह को वहन करता है, चन्द्रमा भी कलङ्क को खूब धारण करता है और राजा लोग दुर्जनों का पालन करते ही हैं ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने चार भिन्न-भिन्न वाक्यों में, जो कि क्रमशः एक एक चरण द्वारा उपनिबद्ध है, क्रमशः 'वहति' 'दधाति' 'भजतेतराम्' तथा 'बिभ्रति' पदों के द्वारा 'धारण करना' रूप एक ही साधारण धर्म को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया है । इसीलिए इन चारों वाक्यों का सादृश्य वाच्य न होकर प्रतीयमानरूप में आया है । अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार है । परन्तु चूँकि यहाँ पर वह माला रूप में प्रस्तुत की गई है अतः मालारूपा प्रतिवस्तूपमा कही जायगी । प्रतिवस्तूपमा का लक्षण है--

'वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा' (अलङ्कारसर्वस्व) । 'वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता' । (कुवलयानन्द) । 'प्रतिवस्तूपमा सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः । एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।' (साहित्यदर्पण) इस प्रकार दो ही वाक्यों का सादृश्य प्रायः सभी आचार्यों ने वर्णित किया है । साथ ही किसी ने उसका विवेचन करते हुए भी मालारूपा प्रतिवस्तूपमा की उद्भावना नहीं व्यक्त की । पण्डितराज का

लक्षण भी यद्यपि 'वाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा' ही है। तथापि आगे चलकर उसके उदाहरण रूप में उक्त पद्य को प्रस्तुत कर उन्होंने कहा है—'अत्र वहनाधानभजनभरणानां वस्तुत ऐकरूप्यात् प्रतिवस्तूपमेयं मालारूपा।' (रसगङ्गाधर)। अतः उन्हीं के आधार पर हमने यहाँ मालारूपा प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार बताया है। (क) विषधरान्—धरन्तीति धराः (धृ+अच्)। विषस्यधराः विषधराः। तान् विषधरान् सर्पानित्यर्थः। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः। आशीविषो विषधरः' इत्यमरः। (ख) पटीरजन्मा—पटीरात् मलयाचलात् जन्म यस्य सः पटीरजन्मा। चन्दनवृक्षः इत्यर्थः। पटीर का अर्थ मलयाचल अच्युत राय ने इस प्रकार सिद्ध किया है—'पटाः सन्ति यस्य सः पटी तन्तुवायः। तद्वदीरयति। स्वगुणानन्यत्र पटादौ स यथा प्रेरयति तद्वत् स्वनिष्ठ-सौरभ्यादिधर्मांश्चन्दनादौ प्रेरयतीति पटीरो मलयाचलः।' (ग) मसीपटलम्—मस्याः पटलं मसीपटलम्। कज्जलसमूहमित्यर्थः द्वितीयैकवचनम्। 'छदिनेत्ररुजोः क्लीबं समूहे पटलं न ना' इत्यमरः। (घ) विधुः—चन्द्र। 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशेऽपि राक्षसे' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) भजतेतराम्—अतिशयेन धारयतीत्यर्थः। क्रियाओं में आतिशय्य को सूचित करने के लिए 'तराम्' और 'तमाम्' जोड़ा जाता है। (च) पिशुनजनम्—पिशुनः जनः पिशुनजनः। तं पिशुनजनम्। अमरकोश का कथन है, 'पिशुनः खलसूचकौ'। अर्थात् पिशुन का अर्थ खल, दुष्ट और सूचक, चुगलखोर (अथवा सी० आई० डी०) होता है। यहाँ जब हम दुष्ट अर्थ ग्रहण करेंगे तभी राजाओं के अन्दर दोष की प्रतीति होगी। अन्यथा सूचक या गुप्तचर रखना तो राजा का गुण ही है (छ) क्षितीन्द्राः—क्षितौ पृथिव्याम् इन्द्राः क्षितीन्द्राः। राजानः इत्यर्थः। इसमें कवि ने पुष्पिताग्रा-वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' (छन्दोमञ्जरी)॥ ७३॥

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकाशयति कैरविणीकुलानि ?॥ ७४॥

अन्वयः—सत्पूरुषः अनुक्तः एव हिताचरणैः अखिललोकम् अमन्दम् आनन्दयति खलु। (त्वमेव) कथय! केन आराधितः इन्दुः उदारैः करैः कैरविणीकुलानि विकाशयति?

हिन्दीरूपान्तर—श्रेष्ठ व्यक्ति बिना कहे ही भले आचारों से समस्त संसार

को खूब आनन्दित करता ही है। (तुम्हीं) बताओ! किसके द्वारा आराधित होकर चन्द्रमा (अपनी) उदार किरणों से कुमुदिनियों को खिला देता है।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने 'दृष्टान्त' अलङ्कार प्रस्तुत किया है। इसका लक्षण मम्मट ने दिया है—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषाम् प्रतिबिम्बनम्' (काव्यप्रकाश) अर्थात् जहाँ उपमान, उपमेय और साधारण धर्म सभी में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से विद्यमान रहता है वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है। यहाँ पर 'सत्पुरुष' जो कि उपमेय है तथा 'चन्द्रमा' जो कि उपमान है दोनों में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव तो है ही, पर साथ ही दोनों के साधारण धर्मों 'आनन्दित करना' और 'विकसित करना' में भी परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। अतः उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म सभी का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है। (क) सत्पूरुषः—सन् पूरुषः सत्पूरुषः। सज्जन इत्यर्थः। पुरति अग्रे गच्छतीति पूरुषः। पुर अग्रगमने (तुदादि०) धातोः 'पुरः कुषन्' (उणादि० ५१४) सूत्रेण कुषन् प्रत्ययः 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घश्च। (ख) हिताचरणैः—हिताय आचरणं हिताचरणम्। तैः हिताचरणैः। (ग) अमन्दम्—न मन्दं यथा स्यात्तथा अमन्दम्। अत्यधिकमित्यर्थः। (घ) अखिललोकम्—अखिलः लोकः अखिललोकः। तमखिललोकम्। 'कृत्स्नं समग्रं सकलं समस्तं सर्वञ्च विश्वं निखिलाखिले च' इति हलायुधः। (ङ) अनुक्तः—न उक्तः अनुक्तः। अप्रार्थितः सन्। (च) करैः—किरणैः 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। इन्दुः चन्द्रः। (छ) कैरविणीकुलानि—कैरविणीनां कुमुदिनीनां कुलानि कैरविणीकुलानि। इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)॥ ७४॥

कृतमपि महोपकारम्पय इव पीत्वा निरातङ्कम्।
प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति॥७५॥

अन्वयः—काकोदरसोदरः खलः जगति कृतम् महोपकारम् अपि पय इव पीत्वा प्रत्युत निरातङ्कं हन्तुं यतते।

हिन्दीरूपान्तर—सर्पों का सहोदर दुष्ट व्यक्ति संसार में (किसी के) किए गए महान् उपकार को भी दूध की तरह पीकर उल्टे निःशङ्क ढङ्ग से (उसे) मारने के लिए प्रयत्न करता है।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने सामान्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। यहाँ अप्रस्तुतरूप से कवि ने सामान्य रूप से दुष्टों का वर्णन किया है परन्तु उसके द्वारा किसी ऐसे प्रस्तुत निर्घृण व्यक्तिविशेष की प्रतीति

होती है जिससे अपना उपकार करने वाले का बदला अपकार के द्वारा चुकाया है। हो सकता है कि किसी राजा के मन्त्री आदि का वर्णन प्रस्तुत हो जिसने विपक्षी से मिलकर राजा का अहित किया हो। यहाँ पर जो कवि ने दुष्ट की उपमा सर्प से दी है वह इसी अप्रस्तुतप्रशंसा को और भी पुष्ट करती है। जैसे कि साँप को आप चाहे जितना दूध पिला दीजिए किन्तु मौका पाने पर वह काट ही लेता है उसी तरह दुष्ट व्यक्ति के साथ कोई कितना भी बड़ा उपकार क्यों न करे वह उसे भूलकर अपकार करने से बाज नहीं आता है। (क) महोपकारम्—महानुपकारः महोपकारः। तं महोपकारम्। (ख) पय इव—दुग्धमिवेत्यर्थः। अत्र 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इति वार्तिकेन समासो विभक्तेरलुक् च। 'पयः क्षीरम्पयोऽम्बु च' इत्यमरः (ग) निरातङ्कम्—निर्गतः आतङ्कः यस्मात् तद् यथा स्यात्तथा निरातङ्कम् (क्रियाविशेषणम्)। निःशङ्कमित्यर्थः। 'आतङ्को रोगसन्तापशंकासुमुरजध्वनौ' इति विश्वप्रकाशः। (घ) काकोदरसोदरः—काकेन सह समानमुदरं यस्य सः सोदरः। 'सहस्य सः संज्ञायाम्' (६।३।७८) इति सहस्य सः आदेशः। काकोदरस्य सोदरः काकोदरसोदरः। भुजङ्गतुल्यः इत्यर्थः। 'काकोदरः फणी' इत्यमरः। इसमें कवि ने उद्गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—"आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः।" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७५ ॥

पाण्डित्यं परिहृत्य यस्य हि कृते वन्दित्वमालम्बितम्
[1]दुष्प्रापं मनसाऽपि यो गुरुतरैः क्लेशैः पदं प्रापितः।
रूढस्तत्र स चेन्निगीर्य सकलां पूर्वोपकारावलीम्
दुष्टः प्रत्यवतिष्ठते तदधुना कस्मै किमाचक्ष्महे ? ॥७६॥

अन्वयः—यस्य कृते हि पाण्डित्यम् परिहृत्य वन्दित्वम् आलम्बितम्, यः मनसा अपि दुष्प्रापम् पदम् गुरुतरैः क्लेशैः प्रापितः, सः दुष्टः तत्र रूढः चेत् सकलाम् पूर्वोपकारावलीम् निगीर्य्य अधुना प्रत्यवतिष्ठते तत् कस्मै किम् आचक्ष्महे ?

हिन्दीरूपान्तर—जिसके लिए तो पाण्डित्य का परित्याग करके वन्दिता का आश्रयण किया और जिसे मन से दुर्लभ स्थान पर बहुत बड़े कष्टों के साथ पहुँचाया, वही दुष्ट उस (पद) पर प्रतिष्ठित होकर यदि पहले किए गए समस्त उपकारों को निगल कर अब खिलाफत करता है तो किससे क्या कहें ?

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने विशेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार

---

१. "दुष्प्राप्यम्" इति पाठान्तरम्।

प्रस्तुत किया है। यहाँ अप्रस्तुत है एक दुष्ट विशेष का वृत्तान्त। जिससे 'दुष्टों के साथ किया गया उपकार निष्फल होता है' इस प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होती है। इसलिए अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने से यहाँ विशेषनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जायगी। (क) पाण्डित्यम् पण्डितस्य भावः पाण्डित्यम्। (पण्डित + ष्यञ्)। (ख) परिहृत्य (परि + हृ + ल्यप्) परित्यज्येत्यर्थः। (ग) वन्दित्वम्—वन्दिनः भावः वन्दित्वम्। 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५।१।११९) इति त्वप्रत्ययः। स्तुतिपाठकत्वमित्यर्थः। 'हि' पद से यह व्यञ्जित होता है कि यद्यपि पण्डित के लिये स्तुति पाठ करना अशोभन है फिर भी उसकी परवाह न कर जिसके लिए स्तुति पाठक बना वही खिलाफत करता है, कितनी बड़ी नीचता है उसकी। (घ) दुष्प्रापम्—दुर्लभम्। (ङ) मनसाऽपि—अपि शब्द इस बात को व्यञ्जित करता है कि उस पद पर आसीन होने की बात तो दूर रही, कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कल्पना द्वारा भी वह अप्राप्य था, दुर्लभ था। इससे उस दुष्ट की नीचता का और भी अतिशय व्यक्त होता है। जिसके लिए मामूली कष्ट नहीं बल्कि 'गुरुतर' बड़े से बड़े कष्ट उठाये वही खिलाफत करे, कितनी बड़ी नीचता है। (च) पूर्वोपकारावलीम्—उपकाराणामवली उपकारावली। पूर्वस्य उपकारावली पूर्वोपकारावली। तां पूर्वोपकारावलीम्। अर्थात् पहले किए गए तमाम उपकार। 'आली श्रेण्यावली पङ्क्तिर्वीथी राजी च कथ्यते' इति हलायुधः। (छ) तदधुना कस्मै किमाचक्ष्महे—तो अब आज किससे क्या कहें? आशय यह कि जब अपने ही अपना साथ नहीं दे रहे हैं तो दूसरे से क्या उम्मीद। अतः कुछ भी किसी से कहने लायक नहीं। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्।' (छन्दोमञ्जरी)॥ ७६॥

परार्थव्यासङ्गादुपजहदर्थं[1] स्वार्थपरता-
मभेदैकत्वं यो वहति[2] गुणभूतेषु सततम्
स्वभावाद्यस्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा
समर्थो यो नित्यं स जयतितराङ्कोऽपिऽपुरुषः॥७७॥

अन्वय—यः परार्थव्यासङ्गाद् अथ स्वार्थपरताम् उपजहद् गुणभूतेषु सततम् अभेदैकत्वं वहति, यस्य अन्तः स्वभावाद् ललितोदात्तमहिमा स्फुरति, यः नित्यं समर्थः सः कोऽपि पुरुषः जयतितराम्।

---

१. "उपजदहपि" इति पाठान्तरम्।
२. "गुरु भूवेषु" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—जो (पुरुष) परार्थ (परोपकार तथा अन्य अर्थ) को दत्तचित्त होने के कारण स्वार्थपरता (स्वार्थपरायणता तथा अपने अर्थ की प्रतिपादकता) को छोड़ते हुए गुणभूतों (आश्रितों तथा अप्रधान अर्थों) में हमेशा अभेद से एकता को धारण करता है और जिसके भीतर स्वभाव से ही ललित उदात्तमहिमा (उदार माहात्म्य तथा उदात्त स्वर का माहात्म्य) स्फुरित होता रहता है तथा जो नित्य समर्थ (सामर्थ्यवान् तथा एकार्थीभाव से सम्पन्न) है वह कोई 'अनिर्वचनीय लोकोत्तर' पुरुष (तत्पुरुष) सर्वोत्कर्ष से युक्त है।

व्याख्या—पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में इस पद्य को लौकिक-व्यवहार में शास्त्रीय व्यवहार के आरोप वाली समासोक्ति के उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ किसी लौकिक पुरुष के व्यवहार में व्याकरण शास्त्र के तत्पुरुष के व्यवहार का समारोप होने से समासोक्ति है। (क) परार्थ व्यासङ्गात्—पुरुष के पक्ष में—परस्यार्थः परार्थः। परोपकार इत्यर्थः। तस्मिन् व्यासङ्गः दत्तचित्तता परार्थव्यासङ्गः। तस्मात् अर्थात् परोपकार में दत्तचित्त होने के कारण। तत्पुरुष के पक्ष में—परः अन्यः अर्थः परार्थः। तस्य व्यासङ्गः, तस्मात्। जैसे 'राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः' में न राजा शब्द अपना अर्थ देता है न पुरुष शब्द ही बल्कि दोनों अपना अर्थ किसी तीसरे अन्य अर्थ के लिये त्याग देते हैं। (ख) स्वार्थपरताम्—स्वस्यार्थः स्वार्थः। तत्परः स्वार्थपरः। तस्य भावः, ताम् स्वार्थपरताम्। भावे तल्। परोपकारी मनुष्य अपना कार्य छोड़ दूसरे का कार्य सिद्ध करता है। उसी तरह तत्पुरुष समास में भी दोनों पद अपना अर्थ छोड़ दूसरा अर्थ देते हैं। (ग) अभेदैकत्वं यो वहति गुणभूतेषु सततम्—परोपकारी व्यक्ति गौण लोगों में भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सिद्धान्त के अनुसार अभेदैक्य को स्थित करता है। उसी प्रकार तत्पुरुष में प्रथम पद गौण होता है। उसमें वह अभेदैक्य को स्थापित करता है चाहे—'राज्ञः' पुरुषः, हो चाहे 'राज्ञोः' और चाहे 'राज्ञाम्' सर्वत्र अभेदैक्य रहता है। (घ) स्वभावाद्यस्यान्तः स्फुरति ललितोदात्तमहिमा—परोपकारी पुरुष के पक्ष में जिसके हृदय में स्वभाव से ही सुन्दर और उदात्त अर्थात् उदार महिमा स्फुरित होती रहती हैं (ललितश्च उदात्तश्च महिमा ललितोदात्तमहिमा)। और तत्पुरुष में—'ललितस्य उदात्तस्य उदात्तस्वरस्य महिमा माहात्म्यम्' सुन्दर उदात्त स्वर की महिमा स्फुरित होती रहती है। पाणिनि का सूत्र है 'समासस्य' (६।१।१२३) जिसके अनुसार समास का अन्त उदात्त हुआ करता है। अतः तत्पुरुष में उस उदात्त का माहात्म्य स्फुरित होता रहता है। (ङ) समर्थो यो नित्यम्—परोपकारी पुरुष भी हमेशा दूसरों का उपकार करने में समर्थ होता है। तभी तो उपकार करता है अन्यथा कैसे करे ? और तत्पुरुष समास

भी नित्य समर्थ होता है, क्योंकि पाणिनि का सूत्र है—'समर्थः पदविधिः' (२।१।१)। आशय यह कि समास हमेशा समर्थ पदों का ही होता है। समर्थ से आशय उनके अन्वय से है। जिन पदों का अन्वय नहीं हो सकता वे समर्थ नहीं होगे और न उनका समास ही होगा। (च) जयतितराम्—अतिशयेन जयतीत्यर्थः। सर्वातिशायी रूप में विद्यमान है। इसमें कवि ने शिखरणीवृत्त उपनिबद्ध किया है! 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७७ ॥

वंशभवो गुणवानपि सङ्गविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
न हि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥७८॥

अन्वयः—वंशभवः गुणवान् अपि पुरुषः सङ्गविशेषेण पूज्यते हि (वंशभवः गुणवान् अपि) वीणादण्डः तुम्बीफलविकलः महिमानम् न प्रयाति।

हिन्दीरूपान्तर—श्रेष्ठकुल में उत्पन्न और गुणवान् भी मनुष्य सङ्गति-विशेष के द्वारा ही सम्मानित होता है क्योंकि बांस से बना हुआ और तन्तुओं से युक्त भी वीणा का दण्ड तुम्बीफल से हीन होने पर महत्व को नहीं पहुँचता।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने पुरुष और वीणादण्ड में सादृश्य प्रस्तुत किया है जो वाच्य न होकर प्रतीयमान रूप से हमारे सामने आता है। साथ ही जो धर्म उपमेयवाक्य में अर्थात् पूर्वार्द्ध में 'पूज्यते' के द्वारा प्रतिपादित किया गया हैं वही निषेध के रूप में उपमानवाक्य में 'न प्रयाति महिमानम्' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अतः यहाँ दोनों का सादृश्य साधर्म्य द्वारा न प्रतिपादित होकर वैधर्म्य द्वारा प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि दोनों का सादृश्य हमारे सामने इस रूप में आता है—'जैसे वीणादण्ड तुम्बीफल के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त करता है वैसे ही पुरुष भी सङ्गविशेष के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त करता है।' अतः यहाँ पर वैधर्म्य के कारण होने वाली 'प्रतिवस्तूपमा' है। "यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथङ् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। × × प्रतिवस्तूपमा तु वैधर्म्येणापि दृश्यते।" (कुवलयानन्द)। (क) वंशभवः—वंशे वंशात् च (सत्कुले + वेणौ च) भवः जन्म यस्य सः वंशभवः। पुरुष सत्कुल में पैदा हुआ है और वीणादण्ड बांस से बना है। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वप्रकाशः। (ख) गुणवान्—गुणः (शीलशौर्यादयः, तन्तवश्च) सन्त्यस्मिन्निति गुणवान्। पुरुष में शीलशौर्यादि गुण हैं और वीणादण्ड में तन्तु हैं। "सत्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः। गुणशब्दः सिञ्जिन्यां प्रयोजयन्त्यप्रधानेऽपि।" इति हलायुधः। (गुण + मतुप् = गुणवान्)। (ग) तुम्बीफल-विकलः—तुम्ब्याः फलं तुम्बीफलम्। तेन विकलः विरहितः तुम्बीफलविकलः।

(घ) महिमानम्—महतः भावः महिमा। तं महिमानम्। (महत् + इमनिच्) माहात्म्यमुत्कर्षमित्यर्थः। इसमें कवि ने गीति वृत्त उपनिबद्ध किया है—"आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्" छन्दोमञ्जरी ॥ ७८ ॥

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव ॥७९॥

अन्वयः—निखिलरसायनमहितः लशुनः उग्रेण गन्धेन इव अमितगुणः अपि पदार्थः एकेन दोषेण निन्दितः भवति।

हिन्दीरूपान्तर—समस्त रसायनों में श्रेष्ठ लहसुन तीक्ष्ण गन्ध के द्वारा जैसे (निन्दित होता है, वैसे ही) असंख्य गुणों से युक्त भी पदार्थ एक दोष के द्वारा निन्दित हो उठता है।

व्याख्या—यहाँ पर प्राचीन आचार्यों के मतानुसार तो उपमा अलङ्कार है, परन्तु पण्डितराज ने एक नवीन 'उदाहरण' नामक अलङ्कार स्वीकार किया है जिसके उदाहरण रूप में उन्होंने इस पद्य को प्रस्तुत किया है। उदाहरणालङ्कार का लक्षण है—"सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमानः उदाहरणम्" (रसगङ्गाधर)। अर्थात् "सामान्य ढङ्ग से निरूपित अर्थ की सुखपूर्वक प्रतीति कराने के लिए उसके एक देश का निरूपण करके उन दोनों का प्रतिपादित किया जाता हुआ अङ्गाङ्गिभाव उदाहरण अलङ्कार होता है।" जैसे उक्त उदाहरण में सामान्य रूप से पदार्थ का निरूपण किया गया कि कोई भी पदार्थ असंख्य गुणों वाला होते हुए भी एक दोष से निन्दित होता है, अब उसी बात को सरलता से समझाने के लिए पदार्थ के एकदेशभूत लहसुन का निरूपण किया गया, क्योंकि लहसुन भी तो एक पदार्थ ही है। यद्यपि वह समस्त रसायनों में श्रेष्ठ है फिर भी उग्रगन्ध के कारण निन्दनीय है। इस प्रकार लहसुन और पदार्थ का अङ्गाङ्गिभाव भी कहा जा रहा है 'निन्दित होता है' इस क्रिया से दोनों का सम्बन्ध 'इव' द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है। उन दोनों के अङ्गाङ्गिभाव को प्रस्तुत करने वाला शब्द 'इव' शब्दतः उपात्त है। अतः यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। (क) अमितगुणः—न मिताः अमिताः, असङ्ख्याः। अमिताः गुणाः यस्मिन् सः अमितगुणः। (ख) निखिलरसायनमहितः—निखिलानि रसायनानि निखिलरसायनानि। तेषु महितः श्रेष्ठः आदृतः वा निखिलरसायनमहितः। (ग) उग्रेण—तीक्ष्णेन। इसमें आर्या वृत्त प्रयुक्त हुआ है। "यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥" ॥ ७९ ॥

उपकारमेव तनुते विपद्गतः सद्गुणो नितराम् ।
मूर्च्छाङ्गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ॥ ८० ॥

अन्वयः—सद्गुणः विषद्गतः नितराम् उपकारम् एव तनुते । अत्र मूर्च्छाम् गतः वा मृतः पारदः रसः निदर्शनम् ।

हिन्दीरूपान्तर—श्रेष्ठ गुणों से युक्त व्यक्ति विपत्ति में पड़ने पर अत्यधिक उपकार को ही विस्तृत करते हैं । इस विषय में मूर्च्छा को प्राप्त अथवा मरा हुआ पारा द्रव उदाहरण है ।

व्याख्या—इस पद्य में भी पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार 'उदाहरणालङ्कार' ही है । यहाँ सामान्य ढङ्ग से अच्छे गुणों से युक्त व्यक्ति का (अथवा पदार्थ का) निरूपण किया गया है कि सद्गुणी पदार्थ विपत्तियों में पड़कर भी उपकार ही करता है । इसे सुखपूर्वक समझाने के लिये सद्गुण पदार्थ के एक देशभूत पारदरस का निरूपण किया गया है कि जैसे कि मूर्च्छित अथवा मृत पारा परमलाभदायक औषधि होता है उसी तरह सद्गुणी व्यक्ति विपत्तियों में पड़कर उपकार ही करता है । अब पारा और सद्गुण के अङ्गाङ्गिभाव को 'निदर्शन' शब्द प्रस्तुत करता है जो कि शब्दतः उपात्त है और दोनों को 'उपकारमेव तनुते' क्रिया से ही अन्वय है, अतः उदाहरणालङ्कार है । (क) तनुते—विस्तारयति । 'तनुविस्तारे (तनादि०) + लट् (तिप्) । (ख) विपद्गत—विपदि गतः विपद्गतः । विपत्तिग्रस्तः सन्नित्यर्थः । (ग) सद्गुणः—'सन्तः प्रशस्ताः गुणाः यस्य यस्मिन् वा सः सद्गुणः । 'सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्' इत्यमरः । (घ) नितराम्—अतिशयेनेत्यर्थः । (ङ) मूर्च्छाम्—'आयुर्वेदोक्तसंस्कारविशेषम्' इति जीवानन्दः । (च) मृतः 'प्रक्रिया विशेषेण भस्मीकृतः' इति जीवानन्दः । (छ) निदर्शनम्—दृष्टान्तः । इसमें कवि ने 'उपगीति' वृत्त उपनिबद्ध किया है—'आर्यापरार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८० ॥

वनान्ते खेलन्ती शशकशिशुमालोक्य चकिता
भुजप्रान्तं भर्तुर्भजति भयहर्त्तुः सपदि या ।
अहो ! सेयं सीता दशवदननीता हलरदैः
परीता रक्षोभिः श्रयति विवशा कामपि दशाम् ? ॥८१॥

अन्वयः—या वनान्ते खेलन्ती शशकशिशुम् आलोक्य चकिता सपदि भयहर्त्तुः भर्त्तुः भुजप्रान्तम् भजति, दशवदननीता सा इयं हलरदैः रक्षोभिः परीता सीता विवशा काम् अपि दशां श्रयति ।

हिन्दीरूपान्तर—जो जंगल में खेलती हुई खरगोश के बच्चे को देखकर भयभीत हो तुरन्त भय को मिटाने वाले पति के बाहु प्रदेश का आश्रय करती थी; रावण द्वारा (हर कर) लाई हुई वह यह हल की तरह दांतो वाले राक्षसों से घिरी हुई सीता विवश होकर किसी अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त हो रही है।

व्याख्या—राक्षसाधिपति रावण के द्वारा हर ले जायी गई सीता का वर्णन करते हुए कवि ने यहाँ विषमालङ्कार प्रस्तुत किया है। जो सीता खरगोश के बच्चे को भी देखकर भयभीत हो जाती थी वही सीता हल की तरह बड़े-बड़े भयंकर दाँतों वाली राक्षसियों से घिरी हुई है। कहाँ अत्यन्त डरावनी राक्षसियाँ और कहाँ सुकोमल हृदया सीता इन दोनों में किञ्चिन्मात्र भी अनुरूपता नहीं है। अतः अननुरूपों का सम्बन्ध वर्णित होने के कारण विषमालङ्कार है। लक्षण है--"विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः" (कुवलयानन्द)। अर्थात् जहाँ अननुरूपों के सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है वहाँ विषमालङ्कार होता है। (क) वनान्ते—वनस्यान्तः वनान्तः। तस्मिन् वनान्ते। वनप्रान्ते इत्यर्थः। 'अन्तःप्रान्तेऽन्तिके नाशे' इति विश्वप्रकाशः। (ख) शशकशिशुम्—शशकस्य शिशुः शशकशिशुः। तं शशकशिशुम्। खरगोश के बच्चे को। (ग) चकिता—भीता सतीत्यर्थः। 'चकितो भीतस्त्रस्तः' इति हलायुधः। (घ) भुज-प्रान्तः—भुजयोः प्रान्तः भुजप्रान्तः। तम्। बाहुप्रदेशमित्यर्थः। (ङ) भर्त्तुः—पत्युः रामस्येत्यर्थः। (च) सपदि--शीघ्रमेव। स्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्-मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः। (छ) अहो--विस्मये खेदे वा। (ज) दश-वदननीता --दश वदनानि मुखानि यस्य सः दशवदनः। रावणः तेन नीता अपहृता दशवदननीता सती। (झ) हलरदैः—हलानीव रदाः येषान्ते हलरदाः। तैः हलरदैः। 'हलं स्याल्लाङ्गलं सीरः' इति दशनद्विजदन्तरदरदनाः। इति च हलायुधः। (ञ) कामपि—अनिर्वचनीयामित्यर्थः। अत्यन्तकष्टा-पन्नामित्यर्थः। इसमें कवि ने शिखरिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है--'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८१ ॥

पुरो गीर्वाणानान्निजभुजबलाहोपुरुषिकाम्
अहो! कारङ्कारं पुरभिदि शरं सम्मुखयतः।
स्मरस्य स्वर्बालानयनशुभमालार्च्चनपदम्
वपुः सद्यो भालानलभसितजालास्पदमभूत् ॥ ८२ ॥

---

१. "०नयनसुममालार्च्चनपदम्" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—गीर्वाणानाम् पुरः निजभुजबलाहोपुरुषिकाम् कारम् कारम् पुरभिदि शरं सम्मुखयतः स्मरस्य अहो ! स्वर्बालानयनशुभमालार्च्चनपदं वपुः सद्यः मालानलमसितजालास्पदम् अभूत् ।

हिन्दीरूपान्तर—देवताओं के समक्ष अपने बाहुबल की आहोपुरुषिका को बार-बार प्रकट करके शंकर भगवान् पर बाण का निशाना लगाते हुए कामदेव का हाय ! अप्सराओं को नयनरूपी शोभनमालाओं की पूजा का स्थानभूत शरीर तुरन्त ही ललाटाग्नि की लपटों का पात्र बन गया ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने विषमालङ्कार प्रस्तुत किया है। अनुरूप-संसर्ग को विषमालङ्कार कहते हैं—'अननुरूपसंसर्गो विषमम्' (रसगङ्गाधर)। इस विषमालङ्कार के अनेक प्रकार आलङ्कारिकों ने निरूपित किए हैं। अभीष्ट प्रयोजन को उद्देश्य में रखकर किसी कर्म को प्रारम्भ करनेवाले व्यक्ति की जहाँ अभीष्ट सिद्धि तो होती ही नहीं बल्कि उल्टे उससे अनिष्ट की प्राप्ति होती है तो भी विषमालङ्कार होता है—"अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।" (कुवलयानन्द)। प्रस्तुत श्लोक में कामदेव चले तो थे शङ्कर की समाधि-भङ्ग कर उनका अनिष्ट करने सो तो हुआ नहीं, उल्टे उन्हीं का शरीर जल कर खाक हो गया। अतः यहाँ विषमालङ्कार है। (क) पुरः—अग्रे। सामने। (ख) गीर्वाणानाम्—सुराणाम्। 'सुराः सुमनसः स्वर्गौकसो देवतागीर्वाणाः' इति हलायुधः। (ग) निजभुजबलाहोपुरुषिकाम्—निजस्य भुजौ निजभुजे। तयोः बलं निजभुजबलम्। अहोऽहमेव पुरुषः इति अहोपुरुषः। अहोपुरुषस्य भावः आहोपुरुषिका (अहोपुरुष + वुञ् + टाप्) दर्प के कारण किसी में जो एक प्रकार का व्यर्थ अभिनिवेश होता है उसे आहोपुरुषिका कहते हैं—'यत्र वृथाभिनिवेशस्तामाहोपुरुषिकां विदुः प्राज्ञाः।" इति हलायुधः। निजभुजबलस्य आहोपुरुषिका निजभुजबलाहोपुरुषिका। तां निजभुजबलाहो-पुरुषिकाम्। (घ) कारङ्कारम्—कृत्वा कृत्वेत्यर्थः। कृधातोः 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति (६।४।२२) सूत्रेण णमुल्प्रत्ययः। 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इत्यनेन द्विर्वचनञ्च। (ङ) पुरभिदि—शङ्करे। (च) स्मरस्य—कामदेवस्य। 'कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः। (छ) स्वर्बालानयनशुभ-मालार्चनपदम्—स्वर्बाला स्वर्गसुन्दर्य्यः। तासां नयनानि स्वर्बालानय-नानि। शुभाः शोभनाः मालाः स्रजः शुभमालाः स्वर्बालानयनान्येव शुभमालाः स्वर्बालानयनशुभमालाः। ताभिः अर्चनं पूजनं स्वर्बालानयनशुभ-मालार्चनम्। तस्य पदं स्थानं स्वर्बालानयनशुभमालार्चनपदम्। 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः पादपचिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः' इति विश्व-प्रकाशः। 'माला पुष्पादिदामनि' इति च विश्वप्रकाशः। (ज) वपुः—

शरीरम् । 'गात्रं वपुः संहननं शरीरम्' इत्यमरः । (झ) भालानलभसित-जालास्पदम्—भालस्य (ललाटस्य) अनलः (अग्निः) भालानलः । तस्य भसितं (भस्म) (भस्+क्त) भालानलभसितम् । तस्य जालं भालानल-भसितजालम् । तस्य आस्पदम् भालानलभसितजालास्पदम् । 'भूतिर्भसितं भस्म' इति हलायुधः । 'जालं गवाक्ष अनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः' इति विश्वप्रकाशः । यहाँ जाल का अर्थ वृन्द अर्थात् समूह है । इसमें कवि ने शिखरिणीवृत्त उप-निबद्ध किया है । लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८२ ॥

युक्तं सभायाङ्खलु मर्कटानां
शाखास्तरूणां मृदुलासनानि ।
सुभाषितञ्चीत्कृतिरातिथेयी
दन्तैर्नखाग्रैश्च विपाटितानि ॥ ८३॥

अन्वयः—मर्कटानां सभायाम् तरूणां शाखाः मृदुलासनानि, चीत्कृतिः सुभासितम्, दन्तैः च नखाग्रैः विपाटनानि आतिथेयी युक्तम् खलु ।

हिन्दीरूपान्तर—बन्दरों की सभा में वृक्षों की डालें कोमल आसन के रूप में, चीत्कार सूक्तियों के रूप में तथा दाँतों और नाखूनों के अगले हिस्सों द्वारा परस्पर विदारण अतिथि-सत्कार के रूप में ठीक ही तो होता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने समालङ्कार प्रस्तुत किया है । सम का लक्षण है—'समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः' अर्थात् जहाँ परस्पर अनुरूप पदार्थों का वर्णन होता है वहाँ समालङ्कार होता है । यहाँ जब सभा बन्दरों की हो रही है तो उसमें डालों का मृदुल आसन होना, चीत्कारों का सुभाषित होना तथा दाँतों और नाखूनों द्वारा विदारण का अतिथि-सत्कार होना अनुरूप ही है । अतः समालंकार है । साथ ही इन मर्कटों के वृत्तान्त को अप्रस्तुत मानकर हम उससे तत्सदृश प्रस्तुत अविवेकियों के वृत्तान्त की प्रतीति मान लें तो सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा भी हो सकती है । (क) मर्कटानाम्—वानराणाम् । 'मर्कटो वानरः कीशः' इत्यमरः । (ख) मृदुलासनानि—मृदुलानि सुकोमलानि आसनानि मृदुलासनानि । (ग) सुभाषितम्—सुशोभनं भाषितं वचनं सुभाषितम् । (घ) आतिथेयी—अतिथौ साधुः आतिथेयः (अतिथि+ढञ्) स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप् । 'आतिथेयं तथातिथ्यमातिथेयी च कथ्यते । इस पद्य के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने से उपजाति वृत्त है ॥ ८३ ॥

किन्तीर्थं हरिपादपद्मभजनम्, किं रत्नमच्छा मतिः,
किं शास्त्रं श्रवणेन यस्य गलति द्वैतान्धकारोदयः।
किम्मित्रं सततोपकाररसिकम् तत्त्वावबोधः सखे !
कः शत्रुर्वद खेददानकुशलः दुर्व्वासनासञ्चयः[1] ॥८४॥

अन्वयः——हे सखे, वद तीर्थम् किम् ? हरिपादपद्मभजनम्। रत्नम् किम् ? अच्छा मतिः। शास्त्रम् किम् ? यस्य श्रवणेन द्वैतान्धकारोदयः गलति। सततोपकाररसिकम् मित्रम् किम् ? तत्त्वावबोधः। खेददामकुशलः शत्रुः कः ? दुर्व्वासनासञ्चयः।

हिन्दी रूपान्तर–ऐ मित्र ! बताओ कि तीर्थ क्या है ? भगवान् के चरणकमलों की भक्ति। मणि क्या है ? निर्मल बुद्धि ! शास्त्र क्या है ? जिसके सुनने से द्वैत रूप अन्धेरे का उदित होना नष्ट हो जाता है। निरन्तर उपकार चाहने वाला मित्र कौन है ? तत्त्वज्ञान और कष्ट पहुँचाने में निपुण शत्रु कौन है ? दुष्ट वासनाओं का समूह।

व्याख्या——यहाँ पर कवि ने परिसङ्ख्या अलंकार प्रस्तुत किया है। परिसंख्या का लक्षण है—

"प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथिताद् वस्तुनो भवेत्।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा। परिसंख्या—"।

(साहित्यदर्पण) अर्थात् यदि कहीं पर प्रश्न के द्वारा अथवा बिना प्रश्न के ही कही हुई वस्तु से उस प्रकार की वस्तु से भिन्न वस्तु की शब्दों द्वारा व्यावृत्ति की गई होती है या कि आर्थी व्यावृत्ति होती है तो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है। इस प्रकार यह परिसंख्या शुद्धा और प्रश्नपूर्विका दो भेदों में युक्त होती है जिसके पुनः शाब्दी और आर्थी भेद से दो दो भेद हो जाते हैं। अतः चार प्रकार की होती है। प्रस्तुत पद्य में प्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या है क्योंकि पहले प्रश्न किया गया है कि तीर्थं क्या है ? रत्न क्या है ? इत्यादि। इसलिए प्रश्न पूर्विका हुई। जो उत्तर दिया गया जैसे - भगवान् की चरण कमलों की भक्ति तीर्थं है, निर्मल बुद्धि मणि है इत्यादि। उससे भिन्न वस्तु जैसे—काशी, प्रयाग आदि तीर्थं नहीं हैं, आभूषण जिनसे बनते हैं वे रत्न, रत्न नहीं है इत्यादि की व्यावृत्ति शब्दों द्वारा नहीं की गई है अतः आर्थी है। (क) हरिपादपद्मभजनम्—हरेः विष्णोः पादौ चरणौ हरिपादौ। तावेव पद्मौ हरिपादपद्मौ अथवा तौ पद्माविव हरिपादपद्मौ। तयोः भजनं हरिपादपद्मभजनम्। वा

१. "दुर्व्वासनानाश्चयः" इति पाठान्तरम्।

पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् । सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः । (ख) अच्छा—निर्मला । 'अच्छः स्फटिक मल्लूकनिर्मलेषु' इति विश्वप्रकाशः । (ग) मतिः—बुद्धि । (बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः । (घ) द्वैतान्धकारोदयः—द्वैतम् (भेदज्ञानम्) एवान्धकारः द्वैतान्धकारः । तस्योदयो द्वैतान्धकारोदयः । 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' । इति ज्ञानं यस्य श्रवणेन उदेति तदेव शास्त्रमित्युत्तरम् । इति जीवानन्दः । (ङ) सततोपकाररसिकम्—उपकारे रसिकम् (तत्परं) उपकाररसिकम् । सततमुपकाररसिकम् । हमेशा उपकार में तत्पर रहने वाला । (च) तत्त्वाववोधः—तस्य भावो तत्त्वम् । तस्य 'भावस्त्वतलौ' । इति त्वप्रत्ययः । ब्रह्म इत्यर्थः । तस्य अवबोधो ज्ञानं तत्त्वावबोधः । (छ) खेददानकुशलः—खेदस्य (दुःखस्य) दानं खेददानम् । तस्मिन् कुशलः निपुणः खेददानकुशलः । (ज) दुर्वासनासञ्चयः—दुष्टाः वासनाः दुर्वासनाः । तासां सञ्चयः दुर्वासनासञ्चयः । देहात्मबुद्धिजन्यमिथ्या संस्कार को वासना कहते हैं । 'वासयति कर्मणा योजयति जीवमनासीति वासना । (वस् + णिच् + युच् + टाप्) सञ्चयः समूहः । 'समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः । स्तोमौघनिकरव्रातवारसङ्घातसञ्चयाः' इत्यमरः । इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है 'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८४ ॥

निष्णातोऽपि च वेदान्ते साधुत्वन्नैति दुर्जनः ।
चिरञ्जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः— जलनिधौ चिरम् मग्नः मैनाकः मार्दवम् इव वेदान्ते च निष्णातः अपि दुर्ज्जनः साधुत्वम् न एति ।

हिन्दीरूपान्तर—सागर में चिरकाल तक डूबा हुआ मैनाक पर्वत कोमलता को जैसे (नहीं प्राप्त करता, वैसे ही) वेदान्त में प्रवीण भी दुष्ट व्यक्ति सज्जनता को नहीं प्राप्त कर पाता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने पूर्णोपमा अलङ्कार प्रस्तुत किया है । दुर्जन उपमेय है, मैनाक उपमान है । इव उपमावाचक शब्द है । रही साधारण धर्म की बात वे हैं 'साधुता को नहीं प्राप्त करता' तथा 'मार्दव को नहीं प्राप्त करता' इन दोनों में परस्पर वस्तु-प्रतिवस्तु भाव है तथा 'वेदान्त में निष्णात होना' और 'चिर काल तक जलनिधि में मग्न रहना' इन दोनों में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है । इस तरह यहाँ साधारण धर्म बिम्बप्रतिबिम्बभाव से मिश्रितवस्तु प्रतिवस्तु भावापन्न है । मैनाक का इव के साथ समास होने से पदगता तथा श्रौती है । (क) निष्णातः—नितरां स्नातिस्मेवि निष्णातः । नि+स्ना+

क्त) 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' (८।३।८९) इति सस्य षत्वम् निपुणः प्रवीण इत्यर्थः। 'निष्णातः शिक्षितः प्रवीणश्च' इति हलायुधः। (ख) वेदान्ते-- वेदानामन्तः वेदान्तः। तस्मिन् वेदान्ते। उपनिषदि इत्यर्थः। 'वेदान्तश्च रहस्यञ्च बुधैरुपनिषन्मता।' इति हलायुधः। (ग) चिरम्--दीर्घकालपर्यन्त-मित्यर्थः (घ) जलनिधौ--जलानां निधिः जलनिधिः। समुद्रः। तस्मिन् जलनिधौ। (ङ) मैनाक इव--पर्वतविशेष इव। 'इवेन सह समासो विभक्त्य-लोपश्च' इति समासः। (च) मार्द्दवम्--मृदोर्भावः मार्दवम्। अण्। कोमल-तामित्यर्थः। इसमें अनुष्टु वृत्तप् प्रयुक्त है ॥ ८५ ॥

नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम्।
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्डयन्ते चन्दनद्रुमाः ॥८६॥

अन्वयः—नैर्गुण्यम् एव साधीयः, गुणगौरवम् धिक् अस्तु। (तथा हि) अन्ये शाखिनः विराजन्ते (किन्तु) चन्दनद्रुमाः खण्डयन्ते।

हिन्दीरूपान्तर—निर्गुण रहना ही श्रेयस्कर है, गुणों के बड़प्पन को धिक्कार है। (क्योंकि) दूसरे पेड़ तो ठाट से सुशोभित होते रहे हैं (लेकिन बेचारे) चन्दन के पेड़ काट डाले जाते हैं।

व्याख्या—निर्गुण रहना एक दोष है। परन्तु कवि ने उसे यहाँ गुणरूप में प्रस्तुत किया है। उसका गुणरूप कर्म प्रतिपादित किया गया है, निर्गुण पेड़ सुशोभित होते रहते हैं जब कि गुणी चन्दन के पेड़ काट डाले जाते हैं। अतः यहाँ पर 'लेश' अलङ्कार है। रुद्रट के अनुसार—

"दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः।
अभिधीयते तथा विधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात्।" (काव्यालङ्कार)

अर्थात् 'जहाँ पर गुणविषयक कर्म के निमित्त रूप में दोष को गुण रूप से प्रस्तुत किया जाय या कि जहाँ पर दोप विषयक कर्म के निमित्त रूप में गुण को दोष रूप से प्रस्तुत किया जाय वहाँ 'लेश' अलङ्कार होता है। यहाँ पर दोष को गुण रूप में वर्णित किया गया है। (क) नैर्गुण्यम्—निर्गताः गुणाः यस्मात् स निर्गुणः। तस्य भावः नैर्गुण्यम्। (निर्गुण + ष्यञ्)। गुणराहित्य-मित्यर्थः। (ख) साधीयः—अतिशयेन साधुरित्यर्थः। (साधु + ईयसुन्)। (ग) गुणगौरवम्—गुरोर्भावः गौरवम्। गुरु + अण् 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५।१।१३१) इति सूत्रेण। गुणानां गौरवं गुणगौरवम्। (द्वितीयैकवचनम्)। (घ) शाखिनः—शाखाः सन्त्येषामिति शाखिनः। (शाखा + इनि + जस्) वृक्षाः इत्यर्थः। 'वृक्षो महीरुहः शाखी' इत्यमरः। (ङ) विराजन्ते--विशेषेण

शोभन्ते । (च) चन्दनद्रुमाः—चन्दनानां द्रुमाः चन्द्रनद्रुमाः । चन्दनवृक्षा इत्यर्थः । इसमें भी कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥ ८६ ॥

परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः ।
अचुम्बितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः अचुम्बितान्तःकरणाः पादपाः साधु जीवन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—दूसरे के अनुवर्तन की कभी भी न खत्म होने वाली चिन्ता रूपी अग्नि की असङ्ख्य लपटों से अछूते हृदय वाले पेड़ (ही) भली जिन्दगी बसर करते हैं ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने वृक्षों की अप्रस्तुत रूप से सराहना की है जो कि प्रस्तुत स्वाधीन व्यक्तियों की प्रतीति कराते हैं । जैसे वृक्ष स्वाधीन हैं, उन्हें किसी का अनुवर्तन करने की चिन्ता नहीं अपने आप सानन्द अपनी जिन्दगी बसर करते हुए दूसरों को भी छाया फल आदिक से आनन्दित करते हैं । उसी प्रकार स्वतन्त्र व्यक्ति जिन्हें दूसरे का मुँह नहीं ताकना है, आनन्द से अपना जीवन बसर करते हैं इस प्रकार यहाँ पर सादृश्य मूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है । लेकिन यदि हम यहाँ पर 'पादप' के द्वारा अपराधीन वृत्ति 'मनुष्य' का निगरण स्वीकार कर लें तो 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार माना जा सकता है—'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानः" (कुलयानन्द) अर्थात् जहाँ पर विषयी द्वारा विषय का निगरण करके अध्यवसान को प्रस्तुत किया जाता है वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार होता है । इसके साथ ही यहाँ पर 'पराधीन वृत्ति लोगों का जीवन बेकार होता है' इस प्रकार की निन्दारूप' वस्तु भी व्यञ्जित होती है । (क) परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः—परेषामुपसर्पणम् (अनुवृत्तिः) परोपसर्पणम् । न अन्तः विद्यते यस्याः सा अनन्ता । अनन्ता चिन्ता अनन्तचिन्ता । सैव अनिलः अग्निः अनन्तचिन्तानलः । परोपसर्पणे अनन्तचिन्तानलः परोपसर्पणानन्तचिन्तानलः । तस्य शिखाः परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाः । तासां शतानि । तैः परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः । 'कृशानुः पावकोऽनलः, इत्यमरः । 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखास्त्रियाम् । इति चामरः । (ख) अचुम्बितान्तःकरणाः—न चुम्बितानि अचुम्बितानि । तथा भूतानि अन्तःकरणानि चेतांसि येषां तेऽचुम्बितान्तःकरणाः । (ग) पादपाः—वृक्षाः । पादैः मूलैः पिबन्ति रसानिति पादपाः । (पाद + पा + क + जस्) 'द्रविष्टरनगद्रुमपादपाश्च' इति हलायुधः । इसमें अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया गया है ॥ ८७ ॥

शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः स्वकीयगुणजालैः ।
विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सुजनो जयति ॥८८॥

अन्वयः—शून्ये अपि च स्वकीयगुणजालैः गुणवत्ताम् आतन्वानः द्राक् विवराणि मुद्रयन् उर्णायुरिव सुजनः जयति ।

हिन्दीरूपान्तर—अवलम्ब रहित प्रदेश में भी अपने तन्तुओं के जालों से तन्तुमत्ता का विस्तार करते हुए तुरन्त छिद्रों को बन्द करते हुए मकड़े के सदृश (गुणों से) शून्य व्यक्ति में भी अपने गुणों के द्वारा गुणवत्ता का विस्तार करते हुए तुरन्त दोषों को आच्छादित करते हुए सज्जन सर्वोत्कर्ष से युक्त हैं ।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने श्लिष्टपरम्परित उपमालंकार प्रस्तुत किया है । यहाँ कवि ने जो सुजन की उपमा मकड़े से दी है उसे सिद्ध करने में उनके विशेषण रूप 'शून्येऽपि च गुणवत्तामातन्वानः' । आदि पदों द्वारा श्लेष से प्राप्त अर्थों में विद्यमान केवल. शाब्दी उपमा सहायक है । अतः श्लिष्ट परम्परित उपमा है । (क) शून्य—शून्ये में । मकड़े के पक्ष में शून्य का आशय अवलम्बरहित स्थान से है तथा सुजन के पक्ष में शौर्य विनयादिगुणों से हीन व्यक्ति है । (ख) गुणवत्ताम्—गुणाः सन्त्यस्मिन्निति गुणवत् । (गुण+मतुप्) । तस्य भावः गुणवत्ता । (भावे तल्+टाप्) तां गुणपत्ताम् । मकड़े के पक्ष में गुणों का आशय तन्तुओं से है तथा सुजन के पक्ष में गुणों का आशय शौर्य विनयादि से है । (ग) स्वकीयगुणजालैः—स्वस्य इमे स्वकीयाः, स्वकीयाः गुणाः स्वकीयगुणाः । तेषां जालानि, तैः स्वकीयगुणजालैः । यहाँ भी मकड़े के पक्ष में गुणों का आशय शौर्यादि से तथा जाल का आशय समूह है ! "सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः । गुणशब्दं शिञ्जिन्यां प्रयोजयन्त्यप्रधानेऽपि" इति हलायुधः । तथा 'जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः' इति विश्वप्रकाशः । (घ) विवराणि—छिद्राणि । दोषान् च । मकड़े के पक्ष में विवर का अर्थ छिद्र अथवा अवकाश है जब कि सुजन के पक्ष में विवर का अर्थ दोष है । (ङ) द्राक्—शीघ्रम् । (च) ऊर्णायुरिव—ऊर्णनाभ इव । 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इति वार्तिकेन समासः विभक्तेरलुक् च । मकड़े की तरह । (घ) सुजनः—शोभनः जनः सुजनः सज्जन इत्यर्थः । (ज) जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । इसमें 'आर्या' वृत्त उपनिबद्ध है । (यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥८८॥

खलः सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः ।
परदुःखाग्निशमने मारुतः केन वर्ण्यताम् ? ॥८६॥

अन्वयः—सज्जनकार्पासरक्षणैकहुताशनः परदुःखाग्निशमने मारुतः खलाः केन वर्ण्यताम् ?

हिन्दीरूपान्तर—सज्जन रूपी कपास की रक्षा करने में अद्वितीय अग्नि-स्वरूप तथा दूसरों की दुःख रूपी आग को बुझाने में वायु स्वरूप दुष्ट का (भला) कौन वर्णन करे ?

व्याख्या—यहाँ कवि ने दुष्ट के साथ अग्नि और वायु का तादात्म्य स्थापित किया है तथा सज्जन के साथ कपास का और परदुःख के साथ अग्नि का तादात्म्य स्थापित किया है। सज्जन पर किया गया कपास का आरोप दुष्ट पर किए गये हुताशन के आरोप का समर्थक है। इसी तरह परदुःख पर किया गया अग्नि का आरोप दुष्ट पर किए गये मारुत के आरोप का समर्थक है। इसलिए इन दोनों ही स्थलों पर परम्परित रूपक है क्योंकि परम्परित रूपक वहीं होता है जहाँ पर एक आरोप दूसरे आरोप का समर्थक होता है--"यत्र चारोपान्तस्य निमित्तन्तत् परम्परितम्" (रसगंगाधर) अथवा 'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्। तत् परम्परितम्' (साहित्यदर्पण)। और क्योंकि इनमें समर्थक आरोप श्लिष्ट नहीं हैं साथ ही माला रूप में उपनिबद्ध हैं, अतः यहाँ पर शुद्ध परम्परित माला रूपक है। यहाँ पर 'रक्षण' और 'शमन' शब्द विपरीत लक्षणा से विनाशन' और प्रज्वालन' के बोधक हैं। कपास की रक्षा आग द्वारा नहीं हो सकती, अतः मुख्यार्थबाध के कारण वैपरीत्य सम्बन्ध से उसके विनाश-नातिशय को द्योतित करने के लिए विपरीत लक्षणा प्रवृत्त होती है। इसी तरह वायु के द्वारा अग्नि का शमन असम्भव होने मुख्ययार्थबाधादि के कारण विपरीत लक्षण से उसे और भी अधिक प्रज्वलित करना अर्थ लक्षित होता है जिससे वायु के अग्नि के प्रज्वलित करने का अतिशय व्यङ्ग्य होता है। साथ ही यहाँ पर दुष्टों के सज्जनों को अत्यधिक सन्तप्त करने और दूसरे को नाना प्रकार के कष्ट पहुँचाने का आतिशय्य ध्वनित होता है। (क) सज्जन-कार्पासरक्षणैकहुताशनः—सन्तः जनाः सज्जनाः। त एव कार्पासाः (कर्पासः एव कार्पासाः स्वार्थेऽण्) सज्जनकार्पासाः। तेषां रक्षणं सज्जनका-र्पासरक्षणम्। तस्मिन् एकः (अद्वितीयः) हुताशनः सज्जनकार्पासरक्षणैक-हुताशनः। अर्थात् जिस तरह रुई को आग तुरन्त भस्म कर देती है उसी प्रकार दुष्ट सज्जनों का विनाश कर देता है। (ख) परदुःखाग्निशमने--परेषां दुःखं परदुःखम्। तदेवाग्निः परदुःखाग्निः। तस्य शमनं परदुःखाग्निशमनम्।

तस्मिन् परदुःखाग्निशमने। (ग) 'वायुर्मरुदनिलो मारुतः' इति हलायुधः। अर्थात् जिस प्रकार हवा आग को और भी अधिक प्रज्वलित कर देती है उसी प्रकार दुष्टजन दूसरों के दुःख को खूब बढ़ा देते हैं। यहाँ सर्वत्र विपरीत लक्षणा है। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥८९॥

परगुह्यगुप्तिनिपुणङ्गुणमयमखिलैः समीहितन्नितराम्।
ललिताम्बरमिव सज्जनमाखव इव दूषयन्ति खलाः ॥९०॥

अन्वयः—खलाः आखव इव परगुह्यगुप्तिनिपुणम् गुणमयम् अखिलैः नितरां समीहितम् ललिताम्बरमिव सज्जनम् दूषयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर--दुष्ट लोग मूषकों की तरह दूसरों के गोपनीय (अंगों) को ढकने में निपुण, तन्तुओं से बने हुए एवं सभी के द्वारा अत्यधिक समीहित रमणीय वस्त्र की तरह दूसरे के दोषों को छिपाने में निपुण, गुणी एवं सभी के द्वारा अत्यधिक सम्प्रार्थित सज्जन को दूषित कर देते हैं।

व्याख्या--यहाँ पर कवि ने श्लिष्टपरम्परित उपमा प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि ने दुष्टों की उपमा चूहों से दी है तथा सज्जन की उपमा रमणीय वस्त्र से प्रस्तुत की है। शेष जो विशेषण ललिताम्बर और सज्जन के दिये हैं वे श्लिष्ट हैं। दोनों पक्षों में उनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। अतः वहाँ उनमें केवल शब्दगत साम्य है, अर्थगत नहीं। सज्जन की ललिताम्बर से उपमा को सिद्ध करने में परगुह्य गुप्ति निपुण आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित अर्थों की परस्पर उपमा सहायक है अतः श्लिष्टपरम्परित उपमा है। (क) परगुह्यगुप्तिनिपुणम्—परेषां गुह्यं परगुह्यम्। तस्य गुप्तिः संवरणं परगुह्यगुप्तिः। तत्र निपुणः परगुह्यगुप्तिनिपुणः। तं तथोक्तम्। गुह्य का अर्थ गोपोनीय होता है। सज्जन के पक्ष में गुह्य से आशय दूसरे के गोपनीय अर्थात् दोषों से है जो दूसरे के दोषों को छिपा लेने में निपुण हैं तथा वस्त्र के पक्ष में गुह्य का अर्थ गोपनीय पुरीषमार्ग आदि स्थानों से हैं। 'गुह्यं पुरीषमार्गेऽपि' विश्वप्रकाशः। दूसरे के पुरीषमार्ग आदि गोपनीय स्थानों को ढकने में निपुण। (ख) गुणमयम्—गुण + मयट् + अम्। सज्जन के पक्ष में गुण का अर्थ शौर्य, विनय आदि है और वस्त्र के पक्ष में तन्तु है। वस्त्र तन्तुओं से बना होता है। सज्जन शौर्यादि गुणों से युक्त होता है। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः। गुणं शब्दं शिञ्जिन्यां प्रयोजयन्त्यप्रधानेऽपि' इति हलायुधः। (ग) ललिताम्बरमिव—ललितमम्बरम् ललिताम्बरम्। तदिव ललिताम्बरमिव। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासः विभक्तेरलुक्च। 'अम्बरमंशुकमुक्तं वस्त्रम्' इति हलायुधः। (घ) आखव इव—मूषका इव। 'उन्दुरुर्मूषकोऽप्याखुः। इत्यमरः। मूषक की तरह। इसमें आर्यावृत्त उपनिवद्ध किया गया है॥ ९०॥

'कारुण्यकुसुमाकाशः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
यशःसौरभ्यलशुनः खलः सज्जनदुःखदः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—सज्जनदुःखदः खलः कारुण्यकुसुमाकाशः, शान्तिशैत्यहुताशनः यशःसौरभ्यलशुनः (च भवति) ।

हिन्दीरूपान्तर—सज्जनों को पीड़ा पहुँचाने वाला दुष्ट दयारूपी पुष्प के लिये आकाश, शान्तिरूपी शीतलता के लिये आग और यशरूपी सुगन्ध के लिए लहसुन होता है ।

व्याख्या—अभी आये हुए ८९वें पद्य की तरह यहाँ भी कवि ने शुद्ध परम्परित मालारूपक को प्रस्तुत किया है । यहाँ खल के ऊपर आकाश, अग्नि और लहसुन का आरोप किया गया है । पहले आकाश के आरोप को सिद्ध करने के लिये करुणा पर कुसुम का आरोप किया गया है । दूसरे अग्नि के आरोप को सिद्ध करने के लिए शान्ति पर शैत्य का आरोप किया गया है तथा तीसरे लहसुन के आरोप को सिद्ध करने के लिए यश पर सुगन्धि का आरोप किया गया है । जिस प्रकार आकाश में कुसुम की सत्ता सर्वथा असम्भव है उसी प्रकार दुष्ट में करुणा का सर्वथा अभाव होता है यह पहले रूपक से द्योतित होता है । तथा जैसे आग शैत्य को नष्ट कर देता है उसी प्रकार दुष्ट हमेशा शान्ति भङ्ग कर अशान्ति ही स्थापित करता है यह दूसरे रूपक से द्योतित होता है । साथ ही जैसे लहसुनों में सुगन्ध का सर्वथा अभाव होता है वैसे ही दुष्ट के पास हमेशा यश का अभाव ही रहता है उसे अपने कुकृत्यों के कारण अपयश मिलने के सिवाय यश सर्वथा दुर्लभ होता है यह तीसरे रूपक से व्यञ्जित होता है । (क) कारुण्यकुसुमाकाशः—करुणस्य भावः कारुण्यम् । (करुण + ष्यञ्) कृपेत्यर्थः । कारुण्यमेव कुसुमं कारुण्यकुसुमम् । तस्य आकाशः कारुण्य कुसुमाकाशः अर्थात् जिस तरह आकाश में कुसुम की सत्ता की भाँति दुष्ट में करुणा का सर्वथा अभाव रहता है । (ख) शान्तिशैत्यहुताशनः—शान्तिरेव शैत्यं शान्तिशैत्यम् । शीतस्य भावः शैत्यम् (शीत + ष्यञ्) शीतलतेत्यर्थः । तस्य हुताशनः शान्तिशैत्यहुताशनः । हुतमाहुतिद्रव्यमशनमस्येतिहुताशनः । अग्निरित्यर्थः । अर्थात् जिस तरह आग शैत्य को नष्ट कर देती है उसी प्रकार दुष्ट शान्ति को नष्ट कर देता है । (ग) यशःसौरभ्यलशुनः—यशः एव सौरभ्यं यशःसौरभ्यं । तस्य लशुनः यशःसौरभ्यलशुनः । आमोदः स्यात्

१. "यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः ।
कारुण्यकुसुमाकाशः खलः सज्जनदुःखदः ॥"
इत्ययमपि क्रमः केषुचित्पुस्तकेषु दृश्यतेऽस्य श्लोकस्य ।

परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता इति हलायुधः। आशय यह कि जिस तरह लहसुन की दुर्गन्धि सुगन्ध को नष्ट कर देती है उसी तरह दुष्ट यश को नष्ट कर अपयश का विस्तार करता है। (घ) सज्जनदुःखदः—सतः जनाः सज्जनाः दुःखं ददातीति दुःखदः (दुःख + दा + क) सज्जनानां दुःखदः सज्जनदुःखदः। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त किया है ॥ ९१ ॥

धत्ते भरङ्कुसुमपत्रफलावलीनाम्
[1]मर्म्मव्यथां [2]स्पृशति सीतभवां रुजञ्च ।
यो देहमर्पयति चान्यसुखस्य हेतो-
स्तस्मै वदान्यगुरवे तरवे नमोऽस्तु ॥ ९७ ॥

अन्वयः—यः कुसुमपत्रफलावलीनाम् भरम् धत्ते, शीतभवाम् मर्म्मव्यथां रुजम् च स्पृशति, च अन्यसुखस्य हेतोः देहम् अर्पयति वदान्यगुरवे तस्मै तरवे नमः अस्तु।

हिन्दीरूपान्तर—जो फूलों, पत्तों और फलों के बोझ को धारण करता है, जाड़े से पैदा होने वाले मर्म्म को पीड़ा पहुँचाने वाली व्याधि का अनुभव करता है और दूसरों के सुख के निमित्त अपने शरीर को समर्पित कर देता है, दानियों में श्रेष्ठ उस वृक्ष को नमस्कार है।

व्याख्य—यहाँ अप्रस्तुत वृक्ष के वृत्तान्त से प्रस्तुत किसी परोपकारी सज्जन के वृत्तान्त की प्रतीति मानने पर साहश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा होगी। वैसे केवल वृक्ष के पक्ष में रखकर इसे हम स्वभावोक्ति भी कह सकते हैं। (क) भरम्—भारमित्यर्थः। 'भरोऽतिशयभारयोः' इति विश्वप्रकाशः (ख) कुसुमपत्रफलावलीनाम्—कुसुमानि च पत्राणि च फलानि च कुसुमपत्रफलानि। तेषामावल्यः कुसुमपत्रफलावल्यः। तासां कुसुमपत्रफलावलीनाम्। 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इत्यमरः। (ग) मर्म्मव्यथाम्—मर्म्मणि व्यथा यस्यां सा मर्म्मव्यथा। तां तथोक्ताम्। मर्म्मपीडादायिनीमित्यर्थः। (घ) रुजम्—व्याधिम्। 'स्त्री रुग्रुजा चोपतापव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। (ङ) अन्यसुखस्य-अन्येषां सुखमन्यसुखम्। तस्यान्यसुखस्य। (च) वदान्यगुरवे—वदान्यानां गुरुः वदान्यगुरुः। 'प्रियवाग्दानशीलश्च वदान्यः परिकीर्तितः' इति हलायुधः। तस्मै वदान्यगुरवे। अति श्रेष्ठायेत्यर्थः। यहाँ 'नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषड्योगाच्च (२।३।१६) सूत्र से 'नमः' के योग में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

---

१. "धर्म्मव्यथाम्" इति पाठान्तरम्।
२. "वहति" इति पाठान्तरम्।

(छ) तरवे—वृक्षाय । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः । इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—'सेयं वसन्त-तिलकम् तभजा जगौ गः (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९२ ॥

हालाहलङ्खलु पिपासति कौतुकेन
कालानलम्परिचुचुम्बिषति प्रकामम् ।
व्यालाधिपञ्च यतते परिरब्धुमद्धा
यो दुर्ज्जनं वशयितुङ्कुरुते[1] मनीषाम् ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यः दुर्ज्जनं वशयितुम् मनीषाम् कुरुते (सः) खलु कौतुकेन हालाहलम् पिपासति, प्रकामम् कालानलम् परिचुचुम्बिषति च अद्धा व्यालाधिपम् परिरब्धुं यतते ।

हिन्दीरूपान्तर—जो व्यक्ति दुष्ट मनुष्य को वश में करने का विचार करता है (वह) निश्चय ही कुतूहलवश विष पीने की इच्छा करता है, जी भर के कालाग्नि को चूमना चाहता है और स्पष्ट ही सर्पराज का आलिङ्गन करने के लिए प्रयास करता है ।

व्याख्या—यहाँ पर 'जो व्यक्ति दुर्जन को वश में करना चाहता है वह निश्चित ही जहर पीने की इच्छा करता है' आदि वाक्यों में जो अभेदान्वय स्थापित किया गया है वह उपपत्ति युक्त नहीं प्रतीत होता, कहाँ जहर पीना और कहाँ दुर्ज्जन को वश में करना' दोनों में पर्य्याप्त भेद है अतः भेद होने पर जो अभेद की कल्पना की गई है उसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है अर्थात् जिस प्रकार से जहर का पीना, कालाग्नि का चूमनानागराज का आलिङ्गन करना प्राण-घातक है वैसे ही दुर्जन को वश में करना अपने प्राणों की आहुति देना है । अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार है । जैसा कि लक्षण है—

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः । निदर्शना (काव्यप्रकाश) । (क) हालाहलम्—एक विष का भेद है । इसके विषय में भाव प्रकाश में कहा गया है—'गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा । तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः । असौ हालाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये । दक्षिणाब्धि-तटे देशे कोङ्कणेऽपि च जायते ॥' (ख) पिपासति—पातुमिच्छति पिपासति । पा + सन् + लट् (तिप्) । (ग) कौतुकेन—कुतूहलेन । 'स्यात्कौतुकञ्च कुतूहलम्' इति हलायुधः । (घ) कालानलम्—कालस्य (संहारकालस्येत्यर्थः) अनलः (अग्निः) कालानलः । तं कालानलम् । 'ज्वलनः कृशानुरनलः' । इति हलायुधः । (ङ) परिचुचुम्बिषति—परितः चुम्बितुमिच्छति परिचुचुम्बिषति ।

१. "तनुते" इति पाठान्तरम् ।

(परि + चुम्बि वक्त्र संयोगे (भ्वादि०) + सन् + लट् (तिप्) । (च) प्रकामम्——प्रकृष्टः कामः तस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा प्रकामम् (क्रिया विशेषणम्) भली भाँति, जी भरकर । (च) व्यालाधिपम्——व्यालानामधिपः व्यालाधिपः । भुजङ्गश्रेष्ठः । तं व्यालाधिपम् । 'आशीविषोविषधरश्चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरः । (ज) अद्धा——निश्चित रूप से, स्पष्ट ही । 'वत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः । (झ) मनीषाम्——बुद्धिम् । 'बुद्धिर्मनीषा' इत्यमरः । इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त उपनिबद्ध किया है——'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः । (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९३ ॥

[1]दीनानि प्रति परिहाय शुष्कशस्या-
न्यौदार्य्यम्प्रकटयतो महीधरेषु ।
औन्नत्यम्परममवाप्य[2] दुर्म्मदस्य
ज्ञातोऽयञ्जलधर ![3] ते यथा विवेकः ॥ ९४ ॥

अन्वयः——हे जलधर ! दीनानि शुष्कशस्यानि प्रति परिहाय, दुर्म्मदस्य परमम् औन्नत्यम् अवाप्य, महीधरेषु औदार्य्यम् प्रयटयतः ते यथा विवेकः, अयम् ज्ञातः ।

हिन्दीरूपान्तर——ऐ बादल ! दरिद्र सूखे धान्यों को छोड़ कर, दुष्ट मद की अत्यधिक उच्चता को प्राप्त कर, पर्वतों पर उदारता जाहिर करते हुए तेरा जैसा विवेक है, यह (मैंने) समझ लिया ।

व्याख्या——यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से मेघ का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिससे उसी के सदृश किसी दानी के प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति होती है जो कि दरिद्रों को तो दान नहीं देता जिन्हें आवश्यकता है बल्कि धनिकों को दान देता फिरता है जिन्हें उसकी उदारता की कोई आवश्यकता नहीं । अतः सादृश्य-मूला अप्रस्तुत प्रशंसा है । (क) दीनानि——दरिद्राणि, क्षीणानीत्यर्थः । 'दीनो-दरिद्रः' इत्यमरः । 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन द्वितीया । (ख) शुष्कशस्यानि——शुष्कानि शस्यानि शुष्कशस्यानि । शुष्क-धान्यानीत्यर्थः । (ग) औदार्य्यम्——उदारस्य भावः औदार्य्यम् । (उदार + ष्यञ्) उदारतामित्यर्थः । (घ) महीधरेषु——धरतीति धरः (धृ + अच्) । मह्याः धरः महीधरः तेषु महीधरेषु । पर्वतेष्वित्यर्थः । जो स्वयं महीधर है उन्हें

१. "दीनानामिह परिहाय" इति पाठान्तरम् ।
२. "औन्नत्यं विपुलमवाप्य" इति पाठान्तरम् ।
३. "तावकोऽविवेकः" इति "तावको विवेकः" इति च पाठान्तरे ।

किसी की उदारता की क्या जरूरत। (ङ) औन्नत्यम्—उन्नतस्य भावः औन्नत्यम्। ष्यञ्। (च) दुर्म्मदस्य—दुष्टः मदः यस्य यस्मिन् वा तस्य दुर्म्मदस्य ऐसा समासकर के दुर्म्मदस्य को 'ते' के विशेषण रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है अथवा 'दुष्टः मदः दुर्म्मदः तस्य दुर्म्मदस्य। समास विग्रह करके जैसा रूपान्तर हमने प्रस्तुत किया है वैसा अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। दर्पो मदोऽवलेपो पान गार्वो मवेदहङ्कारः' इति हलायुधः। (छ) जलधर—धरतीति धरः। (धृ + अच्) जलानां धरः जलधरः। मेघः। तत्सम्बुद्धौ हे जलधर ते। (ज) यथाविवेकः—तेरा जैसा ज्ञान है जान लिया। अर्थात् तू महा अज्ञानी एवं महामूर्ख है कहीं कहीं पर तावकोऽविवेकः पाठ मिलता है क्योंकि जो अर्थ व्यङ्ग्य होता है वह चमत्कारी होता है। यहाँ सीधे अभिधा द्वारा प्रतिपादित कर देने में कोई चारुता नहीं आती। जैसे किसी को मूर्ख कहने के लिये आप तो महान् पण्डित हैं, साक्षात् बृहस्पति हैं आदि के द्वारा जो चमत्कार आता है वह आप महामूर्ख हैं, कहने से नहीं। यह तो शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे की शब्दावली है न तु नीरस तरुरिह विलसति पुरतः की। अस्तु, इसमें कवि ने प्रहर्षिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' 'छन्दोमञ्जरी'॥ २४॥

गिरयो गुरवस्तेभ्योऽप्युर्वी गुर्वी ततोऽपि जगदण्डम्।
तस्मादप्यतिगुरवः प्रलयेऽप्यचला महात्मानः॥९५॥

अन्वयः—गिरयः गुरवः तेभ्यः अपि उर्वी गुर्वी ततः अपि जगदण्डम्, तस्माद् अपि अतिगुरवः प्रलये अपि अचलाः महात्मानः (सन्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—पर्वत महान् हैं, उनसे भी पृथ्वी महान् है, उससे भी ब्रह्माण्ड (महान् है) और उससे भी अत्यधिक प्रलय में भी स्थिर रहने वाले महापुरुष लोग महान् हैं!

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि ने उत्तोरत्तर गुरुता का उत्कर्ष प्रतिपादित किया है अतः यहाँ सार अलङ्कार है। सार का लक्षण है—

"उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारइत्यभिधीयते" (कुलयानन्द)। यह उत्कर्ष कुवलयानन्द के अनुसार कभी श्लाघ्य गुण का होता है कभी अश्लाघ्य गुण का होता है। कभी उभयरूप गुण का होता है। यहाँ पर उनके अनुसार श्लाघ्य गुण उत्कर्ष प्रस्तुत किया गया है क्योंकि गुरुता पर्वत, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड और महात्मा सभी के लिए श्लाघ्य गुण ही है। पण्डितराज के अनुसार 'यदि संसर्ग के उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट भाव के रूप में शृङ्खला विद्यमान होती है तो सार अलङ्कार होता है। उन्होंने उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर किए गए भेद के अतिरिक्त विषय के आधार पर भी इसके दो भेद किए हैं एक विषय रूप

दूसरा अनेक विषयरूप। जहाँ पर एक ही विषय होता है वह अवस्था भेद का होना आवश्यक होता है। प्रस्तुत पद्य में अनेक विषयों के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ गुरुता के चार विषय हैं पर्वत, पृथ्वी, ब्रह्माण्ड और महात्मा। उनमें गुरुता रूप संसर्ग का उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है। (क) गिरयः—पर्वताः। 'अचलशिलोच्चयशैलक्षितिधरगिरिगोत्रपर्वता—हार्य्याः' इतिहलायुधः। (ख) गुरवः—महान्तः। 'गुरुर्महति वाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। (ग) उर्व्वी—पृथ्वी। सर्वंसहोर्वी मही' इति हलायुधः। (घ) जगदण्डम्—जगत् अण्डमिव जगदण्डम्। ब्रह्माण्डमित्यर्थः। (ङ) अचलाः—न चलाः अचलाः स्थिरा इत्यर्थः (च) महात्मानः—महान् आत्मा येषां ते महात्मानः। महापुरुषा इत्यर्थः। इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है। "यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ९५ ॥

[1]व्योम्नि स वासङ्कुरुते चित्रन्निर्म्माति सुन्दरम्पवने।
रचयति रेखाः सलिले [2]चरति खले यस्तु सत्कारम् ॥९६॥

अन्वयः—यः तु खले सत्कारम् चरति सः व्योम्नि वासम् कुरुते पवने सुन्दरम् चित्रम् निर्म्माति, सलिले रेखाः रचयति।

हिन्दीरूपान्तर—जो व्यक्ति दुष्ट के प्रति उपकार करता है वह आकाश में घर बनाता है, हवा में सुन्दर चित्र बनाता है और पानी में रेखायें खींचता है।

व्याख्या—'जो व्यक्ति दुष्ट के प्रति उपकार करता है वह आकाश में घर बनाता है इत्यादि' में कवि ने जो 'जो' और 'वह' पदों के द्वारा भिन्न-भिन्न वाक्यों में जो अभेदान्वय की स्थापना की है वह परस्पर सङ्गत नहीं होती। अतः उसकी सङ्गति के लिए हमें उन वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव की कल्पना करनी पड़ती है। अर्थात् जिस प्रकार से आकाश में घर बनाना, हवा में सुन्दर चित्र बनाना, पानी में रेखा खींचना निष्फल होता है वैसे ही दुष्ट के प्रति किया गया सत्कार निष्फल होता है। अतः यहाँ पर निदर्शना अलङ्कार है—

"सम्भवन् वस्तु सम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥ (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ कहीं वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध सम्भव होते हुए अथवा असम्भव होते हुए उनके बिम्ब प्रतिबिम्बभाव को प्रस्तुत करे वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है। (क) व्योम्नि—आकाशे, अन्तरिक्षे। पुष्करमन्तरिक्ष

---

१. "व्योमनि बीजाकुरुते" इति पाठान्तरम्।
२. "यस्तु खले चरति सत्कारम्" इतिक्रमः क्वचित्।

व्योमाम्बरम्' इति हलायुधः । (ख) पवने—वायौ 'पवनः श्वसनो वायुः' इति हलायुधः । (ग) सलिले—जले । 'क पानीयं सलिलमुदकं वारि' इति हलायुधः इसमें भी कवि ने आर्यावृत्त उपनिवद्ध किया है । लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥ ९६ ॥

हारं वक्षसि केनापि दत्तमज्ञेन मर्कटः ।
लेढि जिघ्रति सङ्क्षिप्य करोत्युन्नतमाननम्[1] ॥ ९७ ॥

अन्वयः—मर्कटः केन अपि अज्ञेन वक्षसि दत्तं हारम् लेढि जिघ्रति सङ्क्षिप्य आननम् उन्नतम् करोति ।

हिन्दीरूपान्तर—बन्दर किसी भी मूर्ख के द्वारा वक्षःस्थल पर दिए (या पहनाये) गये हार को चाटता है, सूंघता है और सिकोड़ करके मुंह ऊंचा उठाता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने बन्दरों के स्वभाव को बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत किया है अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है–"स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।" (कुवलयानन्द) अर्थात् किसी पदार्थ के जाति (गुण, क्रिया, द्रव्य) आदि गत स्वभाव का वर्णन होने पर स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है । यहाँ बन्दरों के क्रियागत स्वभाव का वर्णन प्रस्तुत किया गया है क्योंकि किसी चीज को पाकर सूंघना, चाटना, मुंह ऊंचा करना आदि बानरों की स्वाभाविक क्रियायें हैं । साथ ही यहाँ वानर का वृत्तान्त अप्रस्तुत रूप से प्रस्तुत किया गया है जो कि एक वानर विशेष का वृत्तान्त है परन्तु उससे हमें इस प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होती है कि "किसी अनभिज्ञ को रमणीय वस्तु देना उस वस्तु का विनाश करवाना है ।" अतः यहाँ अप्रस्तुत विशेष के द्वारा प्रस्तुत सामान्य की प्रतीति होने से विशेष निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है । अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—

"क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः ।
कार्य्यान्निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात् समम् ॥
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतञ्चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात् ॥"

(क) 'मर्कटो वानरः कीशः' इत्यमरः । (ख) 'जड़ोऽज्ञः' इति चामरः इसमें अनुष्टुप् वृत्त है ।

---

१. "करोत्युन्नतमासनम्" इति पाठान्तरम् ।

मलिनेऽपि रागपूर्णां
विकसितवदनामनल्पजल्पेऽपि ।
त्वयि चपलेऽपि च सरसाम्भ्रमर !
कथं वा सरोजिनीन्त्यजसि ? ॥ ९८ ॥

अन्वयः—हे भ्रमर ! त्वयि मलिने अपि रागपूर्णाम्, अनल्पजल्पे अपि विकसितवदनाम् च चपले अपि सरसाम् सरोजिनीम् कथं वा त्यजसि !

हिन्दीरूपान्तर—'एँ भँवरे' तेरे मलिन होने पर भी अनुराग से परिपूर्ण, बहुभाषी होने पर भी प्रफुल्ल मुख वाली और तेरे चपल होने पर भी सरस कमलिनी को भला कैसे छोड़े दे रहा है ?

व्याख्या—यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से कमलिनी और भ्रमर का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है, परन्तु उससे एक पतिव्रता सती और दुराचारी पति की प्रतीति होती है जो कि प्रस्तुत है। इसलिये यहाँ साहृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जो मलिन और रागपूर्ण इत्यादि भ्रमर की निन्दा और कमलिनी की स्तुति के विशेषण प्रस्तुत किए हैं वे वस्तुतः वाच्य रूप से घटित नहीं होते क्योंकि भ्रमर का काला होना न तो निन्दा को प्रस्तुत करता है और न कमलिनी का रागपूर्ण अर्थात् लाल होना स्तुति का सूचक है। अतः हमें यहाँ पर प्रतीयमान दुराचारी व्यक्ति का भ्रमर में और सती पत्नी का कमलिनी में तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही 'विकसितवदनाम् सरसाम्' इत्यादि विशेषणों में भी प्रतीयमान तादात्म्य की अपेक्षा है। इस लिए 'रसगङ्गाधरकार' ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'अस्याश्च (अप्रस्तुतप्रशंसायाम्) वाच्यार्थः क्वचित् प्रतीयमानार्थताटस्थेनैवावतिष्ठते······ क्वचिच्च स्वगतविशेषणान्वययोग्यतामासादयितुं प्रतीयमानाभेदमपेक्षते।" जैसे इस विलास के प्रथम, द्वितीय इत्यादि श्लोकों में वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ से बिल्कुट तटस्थ रूप में विद्यमान है। किन्तु चतुर्थ श्लोक से जहाँ कमल, कुटज तथा कोकिल आदि को सम्बोधित किया गया है वहाँ वृक्ष और पक्षी आदि के लिये किए गये सम्बोधन के अनुपपन्न होने के कारण हमें प्रतीयमान व्यक्ति विशेष का तादात्म्य उसके साथ स्थापित करना पड़ता है। इसी प्रकार यह प्रतीयमान के साथ तादात्म्य केवल वाच्य को अपेक्षित नहीं होता बल्कि प्रतीयमान को भी कहीं कहीं वाच्य के तादात्म्य की अपेक्षा पड़ती है। जैसे आगे आने वाले १२०वें श्लोक 'सरजस्कापाण्डुवर्णाम्' आदि में। इसे वहीं स्पष्ट करेंगे। (क) मलिने—कृष्णे दूषिते च। 'मलिनं दूषिते कृष्णे। इति विश्वप्रकाश। भ्रमर काला होता है। इसी लिये मलिन कहा गया है। (ख)

रागपूर्णाम्—रागेण (अनुरागेण, लोहित्येन च) पूर्णा रागपूर्णा। तां रागपूर्णाम्। कमलिनी स्वभावतः लाल वर्ण की होती है। 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति विश्वप्रकाशः। (ग) विकसितवदनाम्—विकसितं वदनं यस्या, सा। ताम् विकसितवदनाम्। खिली हुई तथा हँसमुख। (घ) अनल्पजल्पे—न अल्पमनल्पम्। अत्यधिकमित्यर्थः। अनल्पं जल्पतीति अनल्पजल्पम्। तस्मिन् अनल्पजल्पे। बहुभाषिणि इत्यर्थः (ङ)। चपले, चञ्चले, धृष्टे च। भ्रमर चंचल होगा और दुराचारी पति धृष्ट होगा। चपल उसे कहते हैं जो विना दोष का निश्चय किए ही किसी को मारने अथवा बाँधने लगता है। इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिवद्ध किया है; लक्षण है—"आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह ताम् गीतिम्"। (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९८ ॥

स्वार्थन्धनानि धनिकात् प्रतिगृह्णतो यद्
आस्यम्भजेन्मलिनताङ्किमिदं विचित्रम्?
गृह्णन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्? ॥९९॥

अन्वयः—स्वार्थम् धनानि प्रतिगृह्णतः आस्यं यद् मलिनताम् भजेत् इदम् किं विचित्रम् अपि च अयं सकलः मेघः परार्थम् अपि वारिनिधेः पयः अपि गृह्णन् कालिमानम् एति?

हिन्दीरूपान्तर—स्वार्थ के लिए धनी लोगों से धन स्वीकार करने वाले व्यक्ति का मुँह अगर मलिन हो जाय तो यह कौन-सा आश्चर्य है? अन्यथा क्यों यह सम्पूर्ण मेघ दूसरों के लिए ही सागर के जल को भी ग्रहण करता हुआ कालिमा को प्राप्त करता है?

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि ने अर्थान्तरन्यास 'अलङ्कार' को प्रस्तुत किया है। काव्यप्रकाश में 'अर्थान्तरन्यास' का लक्षण दिया गया है—"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः। अर्थात् जहाँ पर सामान्यकार के द्वारा विशेष अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है। (क) स्वार्थम्—स्वस्यार्थं स्वार्थम्। अपने लिए (ख)। आस्यम्—मुखम्। 'मुखमास्यमाननञ्च समम्' इति हलायुधः। (ग) मलिनताम्—मलिनस्य भावः मलिनता। (मलिन + तल् + टाप्) तां मलिनताम्। कृष्णत्वमित्यर्थः। 'मलिनं दूषिते कृष्णे' इति विश्वप्रकाशः। (घ) परार्थम्—परेषामर्थं परार्थम्। दूसरों के लिए। अपि—का आशय है कि अपने लिये नहीं। (ङ) वारिनिधेः—वारिणां निधिः वारिनिधिः। तस्य वारिनिधेः। समुद्रस्येत्यर्थः।

(च) पयः—जलम् । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । अपि—से आशय है कि जल भी ग्रहण करने पर न कि समुद्र के रत्नादिक को ग्रहण करने पर कालिमा आती है। (छ) सकलः—समस्तः । अपि का आशय है कि मनुष्यों का तो धन चुराने पर अगर मुँह ही काला हुआ तो कौन बड़ी बात हो गई, यहाँ बादल बेचारा तो पूरा का पूरा काला हो गया, वह भी जल के ग्रहण करने से, रत्नादिक के नहीं; साथ ही वह जल भी अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिये ग्रहण करने पर। अतः यदि अपने लिये धन मांगने पर किसी का मुँह काला होता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। (ज) कालिमानम्—कालस्य (कृष्णवर्णस्य) भावः कालिमा। (काल + इमनिच्) 'वर्णदृढमदंभ्यः ष्यञ् च' (५।१।११३) इति सूत्रेण । तं कालिमानम् । कृष्णवर्णत्वमित्यर्थः । इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। 'सेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९९ ॥

जनकः सानुविशेषो जातिः काष्ठम्भुजङ्गमैः सङ्गः ।
स्वगुणैरेव पटीरज! यातोऽसि तथापि महिमानम् ॥१००॥

अन्वयः—हे पटीरज ! (यद्यपि) सानुविशेषः (ते) जनकः, काष्ठम् जातिः, भुजङ्गमैः सङ्गः तथाऽपि स्वगुणैः एव महिमानं यातः असि ।

हिन्दीरूपान्तर—हे चन्दन (यद्यपि) सानुविशेष तुम्हारा पिता है, लकड़ी जाति है तथा सर्पों के साथ सङ्गति है फिर भी अपने गुणों से ही बड़प्पन पा लिए हो।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत चन्दन के वृत्तान्त से उस गुणवान् एवं कीर्तिमान व्यक्ति के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है जिसका जन्म नीच कुल में हुआ है, जिसकी जाति भी नीच है और हमेशा नीचों का ही जिसका सहवास रहा है। परन्तु उसे उसके गुणों ने सभ्य समाज में, कुलीनों के बीच श्रेष्ठ स्थान पर पहुँचा दिया है। अतः यहाँ पर सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा है। इससे इस मत की भी पुष्टि होती है कि "गुणा एव पूजास्थानम्"। गुणी व्यक्ति नीच कुल का भी होने पर श्लाघ्य एवं पूज्य ही होता है। (क) जनकः—जनयतीति जनकः । (जन् + णिच् + ण्वुल) जन्मदातेत्यर्थः । (ख) सानुविशेषः— शृङ्गविशेष इत्यर्थः । 'सानुश्शृङ्गे बुधे मार्गे' इति विश्वप्रकाशः । (ग) भुजङ्गमैः— सर्पैः 'भुजगभुजङ्गकुम्भीनसपन्नगनागभोगिनः' इति हलायुधः । (ग) पटीरज— पटीरे मलयपर्वते जातः पटीरजः । तत्सम्बुद्धौ हे पटीरज । हे पटीरज । हे चन्दने-त्यर्थः । (घ) स्वगुणैः स्वस्य गुणाः स्वगुणाः । तैः स्वगुणैः । (ङ) महिमानम्— महतो भावः महिमा । (महत् + इमनिच्) तं महिमानम् । महत्त्वमित्यर्थः ।

इसमें आर्यावृत्त उपनिबद्ध है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" ॥ १०० ॥

कस्मै हन्त ! फलाय सज्जन ! गुणग्रामार्जने सज्जसि ?
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय ।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः सम्भृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्तनम्[1] ॥१०१॥

अन्वयः—हे सज्जन ! हन्त ! कस्मै फलाय गुणग्रामार्ज्जने सज्जसि ? चेत् स्वात्मोपस्करणाय, मम, पथ्यं वचः समाकर्णय, शोभाभरैः सम्भृताः ये भावाः नितरां हृदयं हरन्ति तैः एव कलेवरपुषः अस्य कलेः दैनन्दिनं वर्त्तनम् (भवति) ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सज्जन ! हाय ! किस फल के लिए (तू) गुणों को इकट्ठा करने में लगा हुआ है ? अगर अपने स्वरूप के उपकार के लिए (ऐसा करता है तो) मेरे हितकर वचनों को अच्छी तरह सुन—"सौन्दर्यातिशय से परिपूर्ण जो पदार्थ अत्यधिक मनोहारी लगते हैं उन्हीं के द्वारा शरीर के पोषक इस कलियुग का नित्य प्रति आहार होता है ।

व्याख्या—यह सज्जन पुरुषों को गुणोपार्जन करते देख उनसे कवि का कथन है कि आप लोगों का यह गुणोंपार्जन इस कलियुग में बेकार है क्योंकि यहाँ तो दुर्गुण की इज्जत है, गुणों का अनादर है। इसलिए तू गुणों का उपार्जन न कर। कवि कहना यही चाहता है कि 'ऐ सज्जन तू गुणों का उपार्जन न कर'। पर उसे उस ढङ्ग से न कह कर श्लोक में किए गये वर्णन के अनुसार दूसरे ढङ्ग से कहा है अतः यहाँ पर्य्यायोक्त अलङ्कार है; लक्षण है—'विवक्षितस्यार्थस्य-भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनम् पर्य्यायोक्तम्। येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भङ्ग्यन्तरम्।' (रसगङ्गाधर)। यद्यपि यहाँ पर "सौन्दर्यातिशय से परिपूर्ण मनोहारी पदार्थ ऐसे कलियुग के प्रतिदिन का भोजन है" इस प्रकार की कवि प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु से क्योंकि कलियुग के द्वारा सुन्दर पदार्थों का आहार करना लोक सिद्ध नहीं है अतः इसे केवल कवि कल्पित होने के कारण कवि प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु माना जायगा। उससे 'यदि मरना चाहते हो तो गुणोपार्जन करो' यह वस्तु व्यङ्ग्य है फिर भी उससे अधिक चमत्कारकारी वाच्य पर्यायोक्तअलङ्कार ही है अतः वह व्यङ्ग्य यहाँ गुणीभूत हो गया है। इस प्रकार पर्यायोक्तअलङ्कार के साथ-साथ हम गुणीभूत व्यंग भी स्वीकार कर सकते हैं। (क) फलाय—लाभाय। 'फलं हेतुसमुत्थे स्यात् फलके व्युष्टि लाभयोः' इति विश्वप्रकाशः।

१. "वर्द्धनम्" इति पाठान्तरम् ।

(क) गुणग्रामार्जने—गुणानां ग्रामः गुणग्रामः। तस्यार्जनं गुणग्रामार्जनम्। तस्मिन् गुणग्रामार्जने। ग्राम का यहाँ पर समूह अर्थ है, कोश है—'ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः' (विश्वप्रकाशः) (ख) स्वात्मोपस्करणाय—स्वस्य आत्मा स्वरूपं स्वात्मा। तस्य उपस्कारणम् उपकारः स्वात्मोपस्करणम्। तस्मै स्वात्मोपस्करणाय। (ग) पथ्यम्—हितमित्यर्थः। 'पथ्यं हिते हरीतक्याम्' इति विश्वप्रकाशः। (घ) भावाः पदार्थाः। 'भावः स्वभावेऽभिप्राये चेष्टासत्तात्मजन्मसु। क्रियालीलापदार्थेषु' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) शोभा भरैः-शोभाया रमणीयतायाः भरः अतिशय शोभा भरः। तैः शोभा भरैः। 'अथातिशयो भरः' इत्यमरः। (च) सम्भृताः—(सम्+भृ+क्त+जस्) सम्यक् पूर्णाः इत्यर्थः। (छ) कलेः—कलियुगस्येत्यर्थः। कलिः स्यात्कलटे शूरे कलिरन्त्ययुगे युधि। (ज) दैनन्दिनम्—दिने दिने भवं दैनन्दिनम्। (झ) वर्त्तनम्—आहारः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदिमिः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ १०१॥

धूमायिता दश दिशो दलितारविन्दा
देहन्दहन्ति दहना इव गन्धवाहाः।
त्वामन्तरेण मृदुताम्रदलाम्रमञ्जु—
गुञ्जन् मधुव्रत! मधो! किल कोकिलस्य॥१०२॥

अन्वयः—मृदुताम्रदलाम्रमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत! मधो!! त्वाम् अन्तरेण किल कोकिलस्य दलितारविन्दाः दश दिशः धूमायिताः, गन्धवाहाः दहना इव देहम् दहन्ति।

हिन्दी रूपान्तर—सुकोमल एवम् अरुण पत्तों वाले आम्र वृक्षों पर मधुर गुञ्जार करते हुए भँवरों वाले! ऐ वसन्त! तुम्हारे बिना निश्चय ही कोयल की विकसित कमलों वाली दशों दिशायें धूमिल हो गयी हैं और आग की तरह शरीर को जला रही हैं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुतरूप से कोकिल के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है। वसन्त कोकिल को अत्यन्त प्रिय है। उसी में कोकिल प्रफुल्लिचित्त हो मधुर कूजन करता है। उस समय उसे संसार की सभी वस्तुयें सुहावनी लगती है। परन्तु जब उसका आश्रयभूत वसन्त ही न रहा तो उसके लिए बहारें कैसी? इस तरह इस कोकिल के अप्रस्तुत वृत्तान्त से अनीष्ट वस्तु अथवा आश्रय के नाश से व्यथित प्रस्तुत व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीत होने से सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा है। साथ ही गन्धवाहों की दहनों के साथ उपमा भी प्रस्तुत की गई है। (क) धूमायिताः—'अन्धकारिताः इत्यर्थः' इति जीवानन्द।

(ख) दलितारविन्दाः—दलितानि अरविन्दानि यासु ताः दलितारविन्दाः। दिशः। विकसित कमलों वाली दिशायें। अथवा दलितानि अरविन्दानि यैस्तै दलितारविन्दाः। गन्धवाहाः। कमलों को विकसित करने वाले पवन। जैसा कि जीवानन्द ने अर्थ किया है। (ग) देहम्--शरीरम्। (घ) दहना इव—अग्नय इव। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च इति वार्तिकेन समासः विभक्तेरलुक् च। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः। (ङ) गन्धवाहाः--गन्धान् वहन्तीति गन्धवाहाः। गन्ध + वाह् + अण्। पवना इत्यर्थः। 'श्वसनः स्पर्शनो वायुर्मातरिश्वा सदागतिः। पृषदश्वो गन्धवाहो गन्धवाहानिलाशुगाः।' (च) त्वाम् अन्तरेण--त्वां विनेत्यर्थः। तुम्हारे विना। त्वामित्यत्र 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' (२।३।४) इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः। अन्तरेण—'पदं विद्याद् विनामध्यार्थयोरपि' इति विश्वप्रकाशः। (छ) मृदुताम्रदलाम्रमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रत—मृदूनि चेमानि तम्राणि च मृदुताम्राणि। तथाभूतानि दलानि मृदुताम्रदलानि। तानि येषान्ते मृदुताम्रदलाः। तथाभूताः आम्राः मृदुताम्रदलाम्राः। मञ्जु यथा स्यात्तथा। गुञ्जन्तः मधुव्रताः मञ्जुगुञ्जन्मधुव्रताः। मृदुताम्रदलाम्रेषु मञ्जुगुञ्जन्मधुव्रताः यस्मिन् सः मृदुताम्रदलाम्रमञ्जुगुञ्जन्मधुव्रतः। तत्सम्बुद्धौ कोमल एवं लाल पत्तों वाले आमों पर मधुर गुञ्जार करते हुए भँवरों वाले। 'वर्णं दलं पत्रं पलाशम्' इति हलायुधः। 'मधुरं मञ्जु प्रियं मञ्जुलम्' इति च हलायुधः। मधुव्रतो मधुकरो मधुलिड्मधुपालिनः द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः (ज) मधो— हे वसन्त। 'मेघे पुष्परसे मधुः दैत्ये चैत्रे वसन्ते च' इति विश्वप्रकाशः। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०२ ॥

भिन्ना महागिरिशिलाः करजाग्रजाग्र-
दुद्दामशौर्यनिकरैः करटिभ्रमेण ।
दैवे पराचि करिणामरिणा तथाऽपि
कुत्रापि नापि खलु हा ! पिशितस्य लेशः ॥ १०३ ॥

अन्वयः--दैवे पराचि करिणाम् अरिणा करटिभ्रमेण करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्यनिकरैः महागिरिशिलाः भिन्नाः तथाऽपि हा ! कुत्र अपि पिशितस्य लेशः खलु न अपि।

हिन्दीरूपान्तर—भाग्य के पीछा खींच लेने पर हाथियों के शत्रु सिंह ने हाथियों के भ्रम से अपने नखाग्रों के प्रकाशित होते हुए अदम्य शौर्यसमुदाय

से बड़े-बड़े पहाड़ों की चट्टानों को विदीर्ण कर डाला फिर भी हाय ! कहीं भी मांस का टुकड़ा तक न पा सका।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से सिंह के वृत्तान्त का वर्णन किया है दुर्भाग्य वस जिसने हाथियों के भ्रम से पर्वतों की बड़ी-बड़ी चट्टानों को विदीर्ण कर डाला पर मांस का एक छोटा-सा टुकड़ा भी हाथ न लगा। परन्तु इससे किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति होती है जो पहले अत्यधिक धनवान् किंवा समर्थवान् था; लेकिन दुर्भाग्य से उसका धन जाता रहा। उसने बड़े-बड़े धनिकों का इस आशा से आश्रय ग्रहण किया कि उनसे कुछ सहायता मिलेगी पर सब निष्फल रहा। कोई भी सहाय्य न हुआ। यह है दुर्दैव की प्रबलता। अतः यहाँ पर सादृश्यमूला अप्रस्तुतप्रशंसा तो है ही; साथ ही काली-काली एवं विशाल होने के कारण सादृश्यवश जो पर्वत की विशाल शिलाओं में सिंह के हाथियों की भ्रान्ति का वर्णन किया गया है उसके कारण भ्रान्तिमान् अलंकार भी है। भ्रान्तिमान् का लक्षण है—'साम्यादतस्मिंतद्वुद्धि-र्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः'। (साहित्यदर्पण) अर्थात् सादृश्य के कारण उससे भिन्न वस्तु में उस वस्तु का कवि प्रतिभा से उत्थापित निश्चयात्मक ज्ञान का वर्णन होने पर भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है। (क) भिन्नाः—विदारिताः। (ख) महागिरिशिलाः—महान्तः गिरयः महागिराः। तेषां शिलाः महागिरि-शिलाः। विशाल पर्वतों की चट्टानें। अथवा महत्य गिरिशिलाः महागिरिशिलाः। पर्वतों की विशाल चट्टानें। (ग) करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्य्यनिकरैः—करे जाताः करजाः। नखा इत्यर्थः। 'करजस्तु करञ्चे स्यान्नखे व्याघ्रनखेऽपि' इति विश्वप्रकाशः तेषां अग्राणि करजाग्राणि। शूरस्य भावः कर्म वा शौर्य्यम् जाग्रत् च उद्दामञ्च शौर्य्यम् जाग्रदुद्दामशौर्य्यम्। तेषां निकराः जाग्रदुद्दामशौर्य्यनिकराः करजा-ग्रेषु जाग्रदुद्दामशौर्य्यनिकराः करजाग्रजाग्रदुद्दामशौर्य्यनिकराः। तैः तथोक्तैः। नाखूनों के अग्रभागों में प्रकाशित होते हुए उद्दाम पराक्रमसमूहों से। (घ) करटिभ्रमेण—करटाः सन्त्येषामिति करटिनः गजाः। 'करटः स्यात्जठो गण्डो' इति हलायुधः। हाथी के गण्ड को करट कहते हैं। तेषां भ्रमः करटिभ्रमः। तेन करटिभ्रमेण। गजानां भ्रान्त्येत्यर्थः। (ङ) दैवे—भाग्ये। भावे सप्तमी। (च) पराचि—परा अञ्चतीति पराक्। तस्मिन् पराचि। करिणाम् अरिणा-गजानां शत्रुणा। सिंहेनेत्यर्थः। (ज) हा— विषादे। (झ) पिशितस्य—मांसस्य। 'मांसं पलं पिशितमामिषम्' इति हलायुध;। (ञ) लेशः -कणाः इत्यर्थः। 'पुंसि लवलेशकणाणवः' इत्यमरः। इस पद्य में भी वसन्ततिलक वृत ही प्रयुक्त है। लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें ॥ १०३ ॥

गर्ज्जितमाकर्ण्यमनागङ्के मातुर्निशार्द्धजातोऽपि ।
हरिशिशुरुत्पतितुन्द्रागङ्गान्याकुञ्च्य लीयते निभृतम् ।।१०४।।

अन्वयः— निशार्द्धजातः अपि हरिशिशुः मनाक् गर्ज्जितम् आकर्ण्य द्राक् उत्पतितुम् अङ्गानि आकुञ्च्य मातुः अङ्के निभृतम् लीयते ।

हिन्दीरूपान्तर—आधीरात में पैदा हुआ भी सिंह शावक जरा-सी गर्ज्जना को सुनकर तुरन्त उछलने के लिये अङ्गों को समेट कर माता की गोद में चुपचाप छिपा जा रहा है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने स्वभावोक्ति अलङ्कार प्रस्तुत किया है। आधी रात में पैदा हुए बच्चे का गर्ज्जन को सुनकर चौंक पड़ना और थोड़ा-सा उछल जाना फिर अङ्गों को सिकोड़ कर माता की गोद में चुपचाप छिप जाना स्वाभाविक ही है। अतः स्वभावोक्ति है। वह भी क्रिया के स्वभाव की उक्ति है। यहाँ यह भी आशय लिया जा सकता है कि हाथी के गरजने को सुनकर अपने वैरी को परास्त करने के लिए वह उछला पर असमर्थ होने के कारण पुनः चुपचाप माँ की गोद में सिमट गया। आशय यह कि पराक्रमी व्यक्ति की तुरन्त उत्पन्न सन्तान भी शत्रु के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सकती। (क) गर्ज्जितम्—गर्ज्जनम्। (ख) मनाक्—जरा-सा। 'किञ्जिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। (ग) अङ्के—उत्सङ्गे। गोद में। 'अङ्कः स्थानेऽन्तिके मन्तौ रूपकोत्सङ्गलक्ष्मसु' इति विश्वप्रकाशः। (ख) निशार्द्धजातः—निशायाः अर्द्धं निशार्द्धम्। तस्मिन् जातः निशार्द्धजातः। 'अपि का आशय है कि तुरन्त पैदा होने पर भी तो उछल पड़ा अगर कुछ बड़ा होता तो तब विना हमला किए छोड़ता ही नहीं। (ग) हरिशिशुः—हरेः सिंहस्य शिशुः शावकः हरिशिशुः। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्य्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। (घ) द्राक्-झटिति। तुरन्त। इसमें गीतिवृत्त है; लक्षण है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)।। १०४ ।।

किमहं वदामि खल ! दिव्यतमम्[१]
गुणपक्षपातमभितो भवतः ।
गुणशालिनो निखिलसाधुजनान्
यदहर्निशन्न खलु विस्मरसि ।। १०५ ।।

अन्वयः—हे खल ! अहम् भवतः दिव्यतमम् गुणपक्षपातम् अभितः किं वदामि ? यत् अहर्निशम् गुणशालिनः निखिलसाधुजनान् न विस्मरसि खलु ।

१. "दिव्यमते" इति पाठान्तरम् ।

हिन्दीरूपान्तर—अरे दुर्ज्जन ! मैं आप के गुणों के प्रति अत्यन्त अलौकिक पक्षपात के विषय में क्या कहूँ ? जो दिन-रात गुणों से सुशोभिति होने वाले सज्जनों को नहीं ही भूल पाते।

व्याख्या—यहाँ कवि को अभीष्ट है दुर्ज्जनों की निन्दा परन्तु उसे वह निन्दा के शब्दों में न कह कर प्रशंसा रूप में प्रस्तुत करता है। कहना तो उसे है कि तुम इतने नीच हो, दुराचारी हो कि हमेशा गुणी व्यक्तियों को परेशान किया करते हो। पर कहता है कि भाई तुम्हारे गुणों के विषय में 'दिव्यतम्' पक्षपात की तारीफ मै कहाँ तक करूँ, कैसे करूँ क्योंकि तुम दिन रात गुणी लोगों को भूल ही नहीं पाते। इस प्रकार यहाँ स्तुति रूप में निन्दा प्रस्तुत की गई है। अतः व्याजस्तुति अलङ्कार है—'उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुति-निन्दयोः" (कुवलयानन्द) अर्थात् 'निन्दा के द्वारा स्तुति का कथन और स्तुति के द्वारा निन्दा का कथन व्याजस्तुति' अलङ्कार होता है। (क) दिव्यतमम्—दिवि भवो दिव्यः (यत्प्रत्ययः)। लोकोत्तरमित्यर्थः। दिव्य + तमप् दिव्यतमः अतिशयेन दिव्य इत्यर्थः। 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।२।५५) इति सूत्रेण तमप् प्रत्ययः। तम् दिव्यतमम्। (ख) गुणपक्षपातम्—गुणेषु पक्षपातः अनुरागः गुणपक्षपातः। तं गुणपक्षपातम्। यहाँ उभयत्र 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' वार्त्तिक के अनुसार द्वितीया विभक्ति हुई है। (ग) गुणशालिनः—गुणैः शालन्त इति गुणशालिनः। तान् यथोक्तान्। (घ) निखिलसाधुजनान्—साधवः जनाः साधुजनाः। निखिलाः साधुजनाः निखिलसाधुजनाः। तान् निखिलसाधुजनान्। 'कृत्स्नं समग्रं सकलं समस्तं सर्वञ्च विश्वं निखिलाखिले च' इति हलायुधः। (ङ) अहर्निशम्—अहश्च निशा चेत्यनयोः समाहारः अहर्निशम् दिवानिशमित्यर्थः। दिन रात हमेशा। इसमें कवि ने प्रमिताक्षरा वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'प्रमिताक्षरा सजससैः कथिता।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०५ ॥

रे खल ! तव खलु चरितं विदुषाम्मध्ये विविच्य वक्ष्यामि।
अथवाऽलम्पापात्मन् ! कृतया कथयाऽपि ते हतया ॥१०६॥

अन्वयः—रे खल ! विदुषाम् मध्ये तव चरितम् खलु विविच्य वक्ष्यामि। अथवा हे पापात्मन् ते कृतया हतया कथया अपि अलम्।

हिन्दीरूपान्तर—अरे दुष्ट ! विद्वानों के बीच तुम्हारे चरित्र को निश्चित रूप से व्याख्या सहित कहूँगा। अथवा ऐ पापात्मा ! तेरे विषय में कही गई दुष्ट कथा भी व्यर्थ है (इसलिये नहीं कहूँगा)।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने आक्षेपालङ्कार प्रस्तुत किया है। आक्षेप का लक्षण है—"वस्तुनो वक्तुमिष्ठस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपी वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् विवक्षित वस्तु की किसी विशेषता की प्रतीति कराने के लिए जहाँ निषेध-सा किया जाता है वहाँ आक्षेपालङ्कार होता है। इसमें कहीं तो वक्ष्यमाण वस्तु का निषेध सा किया जाता है कहीं उक्त वस्तु का निषेध सा किया जाता है। इस प्रकार इसके दो भेद होते हैं। उनमें भी पहले भेद वक्ष्यमाण के विषय में (१) कहीं तो सामान्य रूप से सूचित की हुई सम्पूर्ण वस्तु का निषेध होता है (२) कहीं एक अंश कहकर दूसरे अंश का निषेध होता है। तथा दूसरे भेद उक्त के विषय में (३) कहीं वस्तु के कथन का निषेध होता है। इस प्रकार आक्षेप चार प्रकार का होता है—"तत्र वक्ष्माणविषये क्वचित् सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः, क्वचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च क्वचिद् वस्तु स्वरूपस्य निषेधः, क्वचिद् वस्तुकथनस्येति द्वौ। इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः।" (साहित्यदर्पण) प्रस्तुत पद्य में प्रथम प्रकार का आक्षेप है। यहाँ वक्ष्यमाण है दुष्ट का चरित्र जिसे कि पूर्वार्द्ध में सामान्य रूप से सूचित कर दिया गया है कि ऐ दुष्ट! विद्वानों के समक्ष मैं तेरे चरित्र को निश्चित् ही व्याख्या सहित कहूँगा' परन्तु जो कहा जाने वाला विशेष रूप है उसे उत्तरार्द्ध द्वारा निसिद्ध-सा कर दिया है अथवा ऐ पापी तेरे विषय में कही गई कथा भी व्यर्थ है। इससे उस विशेष बात की प्रतीति होती है कि तू अत्यन्त नीच और गिरा हुआ व्यक्ति है। इसलिए तेरी चर्चा भी करना महापाप है। वक्ता को यहाँ दुष्ट की दुष्टता या नीचता का अतिशय प्रतिपादित करना अभीष्ट था।

(क) चरित्र—चरितंशीलं चारित्रञ्च समं स्मृतम् इति हलायुधः।

(ख) पापात्मन्—पापः आत्मनि यस्य स पापात्मा। तत्सम्बुद्धौ हे पापात्मन्। पापशील इत्यर्थः।

(ग) अलम्—यहाँ पर निषेधवाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कथया आदि में तृतीया 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' नियम से हुई है। इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेपि। अष्टादश द्वितीये-चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥१६०॥

आनन्दमृगदावाग्निः शीलशाखिमदद्विपः।
ज्ञानदीपमहावायुरयङ्खलसमागमः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अयम् खलसमागमः आनन्दमृगदावाग्निः, शीलशाखिमदद्विपः, ज्ञानदीपमहावायुः (चास्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—यह दुष्टों का समागम आनन्दरूप मृग के लिए दावानल है, शीलरूप वृक्ष के लिए मतवाला हाथी है और ज्ञानरूप दीपक के लिए आँधी है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने दुष्टों के समागम के साथ दावानल, मतवाले हाथी और आंधी का तादात्म्य स्थापित करके तीन रूपक प्रस्तुत किये हैं। इन तीनों को हम समर्थ्य रूपक कहेंगे। क्योंकि अभी बताये जाने वाले अन्य तीन रूपकों के समर्थन के अभाव में समीचीन ढंग से ये सिद्ध नहीं हो सकते। आनन्द के साथ मृग का तादात्म्य स्थापित किया गया है वह समर्थक रूपक है क्योंकि बिना उसके खलसमागम का दावाग्नि का रूपक सिद्ध नहीं हो सकता इसी प्रकार शील के साथ वृक्ष का तादात्म्य स्थापित कर खल समागम के साथ मतवाले हाथी के रूपक को सिद्ध किया गया है। तथा ज्ञान के साथ दीप का तादात्म्य स्थापित कर खल समागम के साथ आन्धी के तादात्म्य को सिद्ध किया गया है। अतः इन तीनों ही स्थलों पर परम्परित रूपक है और वह भी माला रूप में उपनिबद्ध होने के कारण और श्लिष्ट न होने के कारण माला रूपक कहा जायगा। क्योंकि परम्परित रूपक का लक्षण है—'यत्र चारोपान्तरस्य निमित्तन्तत् परम्परितम्' (रसगङ्गाधर) अर्थात् जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का निमित्त होते हैं वहाँ परम्परित रूपक होता है। उनमें जो समर्थक आरोप होता है यदि वह श्लेषमूलक हुआ तो श्लिष्ट परम्परित नहीं तो शुद्धपरम्परित रूपक होता है—"तत्रापि समर्थकत्वेन विपक्षि तस्यारोपस्य श्लेषमूलकत्वे श्लिष्ट परम्परितम्।" (रसगंगाधर)। (क) आनन्दमृगदावाग्निः—आनन्द एव मृगः आनन्दमृगः। दावस्य अरण्यस्य अग्निः दावाग्निः। दवदावौ वनारण्यवह्नी इत्यमरः। आनन्दमृगस्य दावाग्निः आन्दमृगदावाग्निः। आनन्दध्वंसनः इत्यर्थः।

(ख)शीलशाखिमदद्विपः—शाखा सन्त्यस्येति शाखी (शाखा + इनि) वृक्षः। शीलमेव शाखी शीलशाखी। मदः (मत्तः) द्विपः (हस्ती) मदद्विपः शीलशाखिमदद्विपः। शुचौ तु चरिते शीलम् इत्यमरः (शुद्ध आचरण को शील कहते हैं) शीलभञ्जन इत्यर्थः।

(ग)ज्ञानदीपमहावायुः—महान् वायुः महावायुः ज्ञानमेव दीपः ज्ञानदीपः तस्य महावायुः ज्ञानदीपमहावायुः। ज्ञानलोपक इत्यर्थः।

(घ) खलसमागमः—खलानां (दुर्ज्जनानाम्) समागमः (सहवासः) खलसमागमः। इसमें अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त है ॥ १० ॥

खलास्तु कुशलाः साधुहितप्रत्यूहकर्मणि ।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्त्तुन्निरागसाम् ।। १०८।।

अन्वयः—खलाः तु साधुहितप्रत्यूहकर्म्मणि कुशलाः (भवन्ति यथा) फणिनः निरागसाम् प्राणान् अपहर्त्तुम् निपुणाः (भवन्ति) ।

हिन्दीरूपान्तर––दुष्ट लोग तो सज्जनों के हित की विघ्नक्रिया में निपुण होते हैं (जैसे कि) सर्प निरपराधों के प्राणों का अपहरण करने में बहुत कुशल होते हैं ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने प्रतिवस्तूपमा अलंकार प्रस्तुत किया है। क्योंकि प्रतिवस्तूपमा अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमान और उपमेय के प्रतिपादक भिन्न वाक्यों में एक समान धर्म अलग-अलग निर्दिष्ट होता है––"यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथङ्निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा" (कुवलयानन्द) । यहाँ निपुण और कुशल एक ही धर्म के प्रतिपादक हैं परन्तु उन्हें भिन्न पदों के द्वारा अलग कहा गया है दो भिन्न-भिन्न वाक्यों में अतः प्रतिवस्तूपमा अलंकार है; उपमेय वाक्य है पूर्वार्द्ध और उपमान वाक्य है उत्तरार्द्ध क्योंकि उपमेय है 'खलाः' और उपमान है 'फणिनः'। यहाँ पर प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य के द्वारा प्रस्तुत की गई है (क) कुशलाः—दक्षाः प्रवीणाः । 'दक्षः कुशलोऽभिज्ञो निष्णातः शिक्षितः प्रवीणश्च' इति हलायुधः । (ख) साधुहितप्रत्यूहकर्म्मणि––साधूनां सज्जनानां हितं मङ्गलं साधुहितम् । प्रत्यूहस्य विघ्नस्य कर्म्म प्रत्यूहकर्म्म । साधुहितस्य प्रत्यूहकर्म्म साधुहितप्रत्यूहकर्म्म, तस्मिन् साधुहितप्रत्यूहकर्म्मणि । 'विघ्नोऽन्तरणः प्रत्यूहः' इति हलायुधः । (ग) फणिनः––फणाः सन्त्येषामिति फणिनः । (फण + इनि) सर्पाः इत्यर्थः । (घ) निरागसाम्––निर्गतः आगः अपराधः येभ्यस्ते निरागसः । निरपराधाः । तेषां निरागसाम् । 'आगोऽपराधो मन्युश्च' इत्यमरः । इसमें भी अनुष्टुप् वृत्त है ।। १०८ ।।

वदने विनिवेशिता भुजङ्गी
पिशुनानां रसनामिषेण धात्रा ।
अनया कथमन्यथाऽवलीढा
नहि जीवन्ति जना मनागमन्त्राः ? ।। १०९ ।।

अन्वयः—धात्रा पिशुनानां वदने रसनामिषेण भुजङ्गी विनिवेशिता; अन्यथा हि अनया अवलीढाः जनाः अमन्त्राः (सन्तः) मनाक् कथम् न जीवन्ति ?

हिन्दीरूपान्तर—विधाता ने दुष्टों के मुँह में जीभ के बहाने नागिन बैठा दिया है नहीं तो भला इसके द्वारा चाट लिए गए लोग मन्त्र से हीन होकर थोड़ा भी क्यों नहीं जीते हैं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अपह्नुति अलंकार प्रस्तुत किया है। अपह्नुति अलंकार वहाँ होता है जहाँ एक वस्तु को छिपा कर वस्त्वन्तर के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—"विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः" (अलंकारसर्वस्व)। यहाँ कवि ने दुष्टों की जीभ का निषेध किया है कि यह जीभ नहीं है बल्कि विधाता ने जीभ के बहाने नागिन बैठा दिया है। यहाँ 'कुवलयानन्द' के अनुसार 'कैतवापह्नुति' है। कैतवापह्नुति का लक्षण है—"कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः" (कुवलयानन्द) अर्थात् "जहाँ पर व्याज (कैतव, मिष) इत्यादि पदों के द्वारा अपह्नव की प्रतीति हो वहाँ कैतवापह्नुति होती है। यहाँ पर 'मिष' शब्द के द्वारा 'यह जीभ नहीं, नागिन है" इस प्रकार का अपह्नव प्रतीत होता है। रसगंगाधरकार ने ऐसे कोई भेद नहीं किए। उनके अनुसार यहाँ 'निरवयव अपह्नुति' होगी। साथ ही पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित किए गये भुजङ्गीत्व का उत्तरार्द्ध में समर्थक हेतु दिया गया है, अतः 'हेत्वपह्नुति' भी है। (क) वदने—मुखे। 'वदनं वक्त्र लपनम्मुखम्' इति हलायुधः। (ख) पिशुनानाम्—खलानां सूचकानां वा। 'पिशुनौ खलसूचकौ' इत्यमरः। (ग) रसनामिषेण—रसनायाः जिह्वायाः मिषम् छलम् रसनामिषम्। तेन रसनामिषेण। 'रसज्ञा रसना जिह्वा' इत्यमरः। 'व्याजछद्मोपधिच्छलं मिषम्,। इति हलायुधः। (घ) धात्रा विधिना। (ङ) मनाक् अल्पमपि। 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। (च) अमन्त्राः—अविद्यमानः मन्त्रः येषु ते अमन्त्राः। मन्त्ररहिता इत्यर्थः। इसमें कवि ने कालमारिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरु चेत् समरा येन तु कालमारिणीयम्'। (छन्दोमञ्जरी)॥ १०९॥

[1]कृतम्महोन्नतङ्कृत्यमर्ज्जितञ्चामलं यशः।
यावज्जीवं सखे! तुभ्यन्दास्यामो विपुलाशिषः॥११०॥

अन्वयः—हे सखे! (त्वया) महोन्नतम् कृत्यम् कृतम् च अमलं यशः अर्ज्जितम्। यावज्जीवम् तुभ्यं विपुलाशिषः दास्यामः।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मित्र! तुमने बड़ा ऊँचा काम कर डाला है और निर्म्मल कीर्त्ति कमा ली है, हम जीवन पर्य्यन्त तुम्हें बहुत-बहुत आशीर्वाद देते रहेंगे।

व्याख्या—यदि इस उक्ति को हम सचमुच किसी मित्र के साथ परम

---

१. "कृतन्त्वयोन्नतङ्कृत्यम्" इति पाठान्तरम्।

उपकार करने वाले व्यक्ति के विषय में उस मित्र की उक्ति माने तो ठीक ही। सीधा सादा आशीर्वाद एवं आभार प्रदर्शन है। परन्तु यदि किसी अपकारी के प्रति किसी व्यक्ति का कथन इसे माने तो वोद्धव्य के वैशिष्ट्य से यहाँ मुख्यार्थबाध होगा क्योंकि अपकार करने वाले के लिए बड़ा ऊँचा काम किया आदि बातें उपपत्ति युक्त नहीं प्रतीत होतीं। अतः यहाँ विपरीत लक्षणा से 'तूने बड़ी नीचता का काम किया है, बड़ा अपयश कमाया है, जीवन भर मैं तुझे गालियाँ देता रहूँगा' इत्यादि अर्थ निकलेगा, जिससे अपकारी व्यक्ति की नीचता का अतिशय प्रतिपादित होता है कि उससे बढ़कर नोच और कृतघ्न कोई नहीं। अतः यहाँ लक्षणामूला ध्वनि का 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि' प्रभेद है। (क) महोन्नतम्--महच्चेदमुन्नतञ्च महोन्नतम्। कृत्यम्—कार्य्यम्। (ख) अमलम्—न मलं विद्यते यस्मिंस्तदमलम्। निर्म्मलमित्यर्थः। (ग) यशः-- 'कीर्त्तिः श्लोको यशोऽभिख्यासमाख्यास्तुल्यलक्षणाः' इति हलायुधः। (घ) यावज्जीवम्--'यावन्तं कालं जीवामीत्यर्थः' इति जीवानन्दः। (ङ) विपुलाशिषः—विपुलाः (महत्यः) आशिषः (आशीर्वादाः) विपुलाशिषः। द्वितीया-बहुवचनम्। 'महद् विशालञ्च व्यूढं विपुलम्' इति हलायुधः। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ ११०॥

अविरतम्परकार्य्यकृतां सताम्
मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो
[1]विमलशारदपार्वणचन्द्रिका॥ १११॥

अन्वयः—अविरतम् परकार्य्यकृतां सतां वचः मधुरिमातिशयेन अमृतम्, अपि च मानसम् अम्बुनिधिः, यशः विमलशारदपार्व्वणचन्द्रिका (भवति)।

हिन्दीरूपान्तर—निरन्तर दूसरों का कार्य सिद्ध करने वाले सज्जनों की वाणी माधुर्य्य की अधिकता के कारण अमृत, साथ ही हृदय-सागर और कीर्ति स्वच्छ शरत्कालीन पूर्णिमा की चाँदनी हुआ करती है।

व्याख्या--यहाँ पर कवि ने सज्जनों की वाणी के साथ अमृत का तादात्म्य, हृदय के साथ समुद्र का तादात्म्य, यश के साथ विमल शरत्पूर्णिमा की चन्द्रिका का तादात्म्य स्थापित कर तीन रूपक प्रस्तुत किए हैं। ये तीनों परस्पर सापेक्ष न होने के कारण निरवय रूपक हैं। साथ ही मालारूप न होने के कारण केवल निरवयव रूपक हैं। इन तीनों रूपकों में अन्तर केवल इतना है कि पहले

---

१. "विमलशारदचन्दिरचन्द्रिका" इति पाठान्तरम्।

रूपक में उपचरित समान धर्म 'माधुर्यातिशय' शब्दतः उपात्त है, जब कि शेष दो रूपकों के उपचरित समानधर्म क्रमशः 'गाम्भीर्य' और 'नैर्मल्य' शब्दतः उपात्त नहीं है। इनसे परोपकारी सज्जनों की वाणी का माधुर्यातिशय, हृदय की विशालता, गम्भीरता तथा निर्मल कीर्ति का अतिशय व्यञ्जित होता है।

(क) अविरतम्—विरतमविरतम्। सततमित्यर्थः। 'सततं सन्ततमनिशं नित्यम् अविरतमनवरतम्' इति हलायुधः। (ख) परकार्य्यकृतां—परेषां कार्य्याणि परकार्य्याणि। तानि कुर्व्वन्तीति परकार्य्यकृतः। तेषां तथोक्तानाम्। (ख) मधुरिमातिशयेन—मधुरस्य भावः मधुरिमा। (मधुर+इमनिच्) तस्य अतिशयः मधुरिमातिशयः। तेन मधुरिमातिशयेन। माधुर्य्याधिक्येनेत्यर्थ (ग) मानसं हृदयम्। (घ) अम्बुनिधिः—अम्बुनां निधिः अम्बुनिधिः। समुद्रः। (ङ) विमलशारदपार्व्वणचन्द्रिका—विगतं मलं यस्याः सा विमला। शरदि भवा शारदी। पार्व्वणस्य पौर्णमास्याः चन्द्रिका पार्व्वणचन्द्रिका। विमला चेयं शारदी च पार्व्वणचन्द्रिका विमलशारदपार्व्वणचन्द्रिका। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इत्यमरः। इसमें कवि ने द्रुतविलम्बित वृत्त का प्रयोग किया है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' (छन्दोमञ्जरी)॥ १११॥

निर्गुणः शोभते नैव विपुलाडम्बरोऽपि ना।
आपातरम्यपुष्पश्रीशोभिता शाल्मलिर्यथा॥ ११२॥

अन्वयः—विपुलाडम्बरः अपि निर्गुणः ना न एव शोभते यथा आपातरम्यपुष्पश्रीशोभिता शाल्मलिः (नैव शोभते)।

हिन्दीरूपान्तर—बड़े भारी आडम्बर वाला होने पर भी गुणहीन मनुष्य नहीं ही सुशोभित होता जैसे आपाततः सुन्दर लगनेवाली फूलों की शोभा से रमणीय सेमल वृक्ष (नहीं ही सुशोभित होता)।

व्याख्या—'निर्गुण मनुष्य विशाल आडम्बरों से युक्त होने पर भी शोभित नहीं होता' अर्थात् मनुष्य की शोभा बिना गुणों के नहीं होती, इस प्रकार यहाँ गुणों के बिना मनुष्य को हीन बताया गया है इसलिए विनोक्ति अलङ्कार है—"विनोक्तिश्चेद् विना किञ्चित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते" (कुवलयानन्द) अर्थात् यदि किसी के विना वर्ण्यमान को हीन बताया जाय तो विनोक्ति अलंकार होता है। यह विनोक्ति अलङ्कार यहाँ वाच्य ही माना जायगा यद्यपि इसमें विना शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। क्योंकि विनोक्ति विना शब्द के अर्थ के वाचक किसी भी शब्द के उपात्त किये जाने पर भी वाच्य ही होती है। इसलिए नञ्, निर्, वि, अन्तरेण, ऋते-रहित, विकल इत्यादि शब्दों के प्रयुक्त होने पर जो कि बिना शब्द के अर्थ को देने में समर्थ है विनोक्ति वाच्य ही मानी जायगी।

'इयश्च न केवलं विनाशब्दस्य सत्त्व एव भवत्यपि तु विना शब्दार्थवाचकमात्रस्य। तेन नञ्–निर्–वि-अन्तरेण–ऋते–रहित–विकलेत्यादि प्रयोगे इवमेव।'' (रसगंगाधर)। यहाँ स्पष्टीकरण के लिये मैंने (वि–अन्तरेण–ऋते) आदि में सन्धि नहीं किया वैसे समस्त होने के कारण यह 'नञ्चिव्यंन्तरेणर्तेरहित०' आदि होगी। इसके अतिरिक्त यहाँ निर्गुण मनुष्य के साथ शाल्मलि की उपमा प्रस्तुत की गई है। सुशोभित न होना साधारण धर्म है, यथा उपमावाचक शब्द। इसलिये पूर्णोपमा भी है। (क) निर्गुण:—निर्गताः गुणाः यस्मात् स गुणहीन इत्यर्थः। (ख) विपुलाडम्बरः—विपुलः विशालः आडम्बरः समारम्भः यस्य स विपुलाडम्बरः। 'महद् विशालञ्च व्यूढं विपुलम्' इति हलायुधः। 'आडम्बरः समारम्भे गजगर्ज्जिततूर्ययो.' इति विश्वप्रकाशः। (ग) ना—'पुमान्' पञ्चजनो ना च पुरुषः' इति हलायुधः। (घ) आपातरम्यपुष्पश्री-शोभिता—पुष्पाणां श्रीः पुष्पश्रीः। आपाततः रम्या मनोहारिणी आपातरम्या। आपातरम्या पुष्पश्रीः आपातरम्यपुष्पश्रीः। तया शोभिता आपातरम्यपुष्पश्री-शोभिता। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ ११२॥

पङ्कैर्विना सरो भाति सदः खलजनैर्विना।
कटुवर्णैर्विना काव्यं मानसं विषयैर्विना॥ ११३॥

अन्वयः—सरः पंकैः विना, सदः खलजनैः विना, काव्यम् कटुवर्णैः विना, मानसं विषयैः विना भाति।

हिन्दीरूपान्तर—तालाब कीचड़ के अभाव में, सभा दुष्ट लोगों के अभाव में, काव्य कठोर वर्णों के अभाव में और हृदय भोगविलासादि के अभाव में (ही) सुशोभित होता है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने बताया कि बिना कीचड़ के तालाब सुशोभित होता है, बिना दुष्टों के सभा सुशोभित होती है, बिना श्रुति-कटुवर्णों के काव्य सुशोभित होता है और बिना भोगविलास के हृदय सुशोभित होता है। इस प्रकार क्रमशः कीचड़ तथा दुष्ट आदि के बिना सरोवर तथा सभा आदि का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है इसलिए यहाँ 'विनोक्ति' अलंकार है। लक्षण है—''तच्चेत् किञ्चिद् विना रम्यं विनोक्तिः साऽपि कथ्यते।'' (कुवलयानन्द)। अर्थात् यदि वर्ण्यमान को किसी के बिना रमणीय बताया जाय तो भी विनोक्ति नामक अलंकार होता है। यहाँ विनोक्ति के साथ ही यह इस उक्ति को किसी उपदेष्टा की उक्ति मान लेने पर 'मानस' के प्रस्तुत होने पर तथा सरोवर सभा और काव्य के अप्रस्तुत होने पर प्रस्तुत और अप्रस्तुतों का 'सुशोभित

होना' (भाति) रूप एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध होने से दीपकालंकार भी होगा—"वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्म्यैक्यं दीपकं बुधाः।" (कुवलयानन्द)। (क) पंङ्कैः—'पङ्कोऽस्त्रीशादकर्द्दमौ' इत्यमरः। तैः तथोक्तैः। पङ्क कीचड़ को कहते हैं। (ख) सदः—'समाजः संसदास्थानीं सभा स्यात् परिषत् सदः' इति हलायुधः। (ग) कटुवर्णैः—कटवः (कर्कशाः) वर्णाः कटुवर्णाः। तैः कटुवर्णैः। श्रुतिकटु एक काव्यगत दोष है। मानसं हृदयम्। पङ्कैः स्वजनैः, कटुवर्णैः तथा विषयैः' में सर्वत्र 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२।३।३२) से पाक्षिक तृतीया हुई है। इसमें भी अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त हुआ है ॥ ११३ ॥

तत्त्वङ्किमपि काव्यानाञ्जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ? ॥११४॥

अन्वयः—भुवि विरलः काव्यानाम् किमपि तत्त्वम् जानाति। मधुव्रतम् अन्तरेण मरन्दानाम् मार्म्मिकः कः ?

हिन्दीरूपान्तर—धरती पर कोई विरला ही काव्यों के किसी (अनिर्वचनीय) परम रहस्य को समझता है, (भला) भौरें के अलावा मकरन्द के मर्म्म को समझने वाला और कौन है ?

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। यहाँ दो भिन्न-भिन्न वाक्य है जिसका सादृश्य वाच्य न होकर प्रतीयमान है। एक ही धर्म 'तत्त्व का जानना' दोनों वाक्यों में 'तत्त्वं जानाति' और 'मार्म्मिकः' के द्वारा भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा गया है। इसीलिये प्रतिवस्तूपमा है—'प्रतिवस्तूपमा तु सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः। एकोऽपि धर्मसामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्।" (साहित्यदर्पण)। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'काव्य का तत्त्व कोई विरला ही जानता है सभी नहीं जानते' तथा उत्तरार्द्ध में 'मकरन्द का मर्म समझने वाला भँवरे के सिवा और कौन है अर्थात् मकरन्द का मर्म भँवरा ही जानता है सभी नहीं जानते' इस प्रकार के सादृश्य की प्रतीति होती है। (क) तत्त्वम्—तस्य भावस्तत्त्वम्। स्वरूपम्। रहस्यमित्याशयः। 'तत्त्वं वाद्यप्रभेदे स्यात् स्वरूपे परमात्मनि' इति विश्वप्रकाशः (ख) किमपि—अनिर्वचनीयम्। अनुभवैकगम्यमित्यर्थः। यहाँ संवृति वक्रता है। (ग) मार्म्मिकः—मर्म्म जानातीति मार्म्मिकः। तत्त्वज्ञः इत्यर्थः। (घ) मरन्दानाम्—पुष्पमधूनामित्यर्थः। (ङ) अन्तरेण—विनेत्यर्थः। 'पृथग्विनान्तरेणर्ते हिरुङ्नाना च वर्जने' इत्यमरः। (च) मधुव्रतम्—मधुव्रतः भ्रमरः। तं तथोक्तम्। 'मधुकरमधुपमधुव्रतशिलीमुखभ्रमरभृङ्गपुष्पलिहः' इति हलायुधः। 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' (२।३।४) इति सूत्रेण द्वितीया विभक्तिः। इस पद्य में भी अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त हुआ है ॥ ११४ ॥

सरजस्काम्पाण्डुवर्णाङ्कण्टकप्रकरान्विताम् ।
केतकीं सेवसे हन्त ! कथं रोलम्ब ! निस्त्रप ! ? ॥११५॥

अन्वयः——हे निस्त्रप ! रोलम्ब ! हन्त !! सरजस्काम् पाण्डुवर्णाम् कण्टक-प्रकरान्विताम् केतकीम् कथं सेवसे ?

हिन्दीरूपान्तर——ऐ निर्लज्ज ! भँवरे ! अफसोस !! रजस्वला, शुभ्रवर्णा एवं कण्टकों से व्याप्त केतकी का कैसे उपभोग कर रहा है ।

व्याख्या——यहाँ कवि ने अप्रस्तुत रूप से भ्रमर और केतकी के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है परन्तु उससे किसी रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले दुराचारी व्यक्ति की प्रस्तुत रूप में प्रतीति होती है । अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है । यहाँ पर कवि ने जो 'सरजस्काम्' विशेषण प्रस्तुत किये हैं वे कहीं-कहीं अनुपपन्न होते हुए कहीं प्रतीयमान के तादात्म्य की अपेक्षा रखते हैं, कहीं वाच्य के तादात्म्य की । जिस प्रकार से 'सरजस्का' होना दोनों की (भ्रमर और नायक की) उपभोगायोग्यता को व्यक्त करता है वैसे ही 'पाण्डु-वर्णत्व' और 'कण्टकप्रकरान्वितत्व' नहीं । क्योंकि पाण्डुवर्ण होना केतकी का गुण है अतः वह उसकी उपभोगायोग्यता को नहीं प्रतिपादित कर पाता अतः हमें प्रतीयमान नायिका के तादात्म्य की अपेक्षा होती है । इसी तरह 'कण्टकितत्व' केतकी की अनुपभोगयोग्यता को तो प्रतिपादित करता है परन्तु नायिका की उपभोगयोग्यता को प्रतिपादित करता है क्योंकि कामिनी का रोमाञ्चित होना उसके सेवन के अनुकूल है । अतः इस अंश में हमें कामिनी के साथ वाच्य केतकी के तादात्म्य की अपेक्षा होती है । यही है इस अप्रस्तुत प्रशंसा का वैशिष्टय (क)सरजस्काम्—'सपरागाम्, ऋतुमतीञ्च' इति जीवानन्दः । (ख) पाण्डुवर्णम्——पाण्डुः शुभ्रः वर्णः यस्याः सा पाण्डुवर्णा । तां पाण्डु-वर्णाम् । (ग) कण्टकप्रकरान्विताम्—कण्टकानां (सूचीनां, रोमाञ्चानाञ्च) प्रकराः समूहः । कण्टकप्रकरः । तेन अन्विता कण्टकप्रकरान्विता । ताम् तथोक्ताम् । (घ) हन्त— खेद के वाचक रूप में प्रयुक्त हुआ है । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भेविषादयोः' इत्यमरः । रोलम्ब——भ्रमर । निस्त्रप— निर्गता त्रपा लज्जा यस्मात् स निस्त्रपः । तत्सम्बुद्धौ हे निस्त्रप । निर्लज्जेत्यर्थः । इसमें भी अनुष्टुप् वृत्त है ॥ १५५ ॥

यथा तानं विना रागो यथा मानं विना नृपः ।
यथा दानं विना हस्ती तथा ज्ञानं विना यतिः ॥११६॥

अन्वयः——रागः यथा तानं विना, नृपः यथा मानं विना, हस्ती यथा दानं विना, यतिः तथा ज्ञानं विना (न शोभते) ।

हिन्दीरूपान्तर—राग जैसे तान के अभाव में, राजा जैसे मान के अभाव में, हाथी जैसे मजदल के अभाव में, योगी वैसे ही ज्ञान के अभाव में सुशोभित नहीं होता।

व्याख्या--यहाँ पर कवि ने मालोपमा और विनोक्ति अलङ्कार का शङ्कर प्रस्तुत किया है। 'ज्ञान के बिना योगी' रूप उपमेय के 'तान के विना राग' ,मान के विना राजा' 'दान के विना हाथी' आदि को उपमान प्रस्तुत किये गये हैं अतः मालोपमा है। मालोपमा का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार है— 'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' अर्थात् जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान होते हैं वहाँ मालोपमा होती है। कुवलयानन्द के अनुसार 'विनोक्ति का लक्षण है--'विनोक्तिश्चेद् विना किंचित् प्रस्तुतं हीनमुच्यते' अर्थात् यदि किसी के विना वर्ण्यमान को हीन बताया जाय तो विनोक्ति अलङ्कार होता है। यहाँ पर विना तान के राग को, मान के विना राजा को, दान के विना हाथी और ज्ञान के विना योगी को हीन बताया गया है अतः विनोक्ति अलंकार भी है। इस प्रकार यहाँ समप्राधान्य सङ्कर है। (क) यह तानं, मानं, दानं, ज्ञानं में सर्वत्र 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२।३।३२) से पाक्षिक द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। 'तानोनाम इतरस्य स्वरधारणार्थं वीणादिभिः साध्यः स्वरविशेषः। तं विना रागः माधवादिव्यञ्जकस्वरभेदः' इति जीवानन्दः। 'मानं प्रमाणे प्रस्थादौ मानश्चित्तोन्नतौ ग्रहे' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ मान का अर्थ चित्तोन्नति है। 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ दान का अर्थ गजमद है। कवि ने यहाँ अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ ११६ ॥

सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते गुणा न परतो नृणाम्।
आमोदो न हि कस्तूर्य्याः शपथेन विभाव्यते ॥ ११७ ॥

अन्वयः—नृणां सन्तः गुणाः स्वतः प्रकाशन्ते, परतः न, हि कस्तूर्य्याः आमोदः शपथेन न विभाव्यते।

हिन्दीरूपान्तर—मनुष्यों में विद्यमान गुण अपने आप जाहिर हो जाते हैं, दूसरे को नहीं, जैसे कस्तूरी की सुगन्ध कसम द्वारा नहीं अनुभव कराई जाती (स्वयं अनुभव की जाती है।)

व्याख्या--इस पद्य के पूर्वार्द्धगत उपमेय वाक्य में तथा उत्तरार्द्धगत उपमान वाक्य में कवि ने प्रतीयमान ढङ्ग से सादृश्य प्रस्तुत किया है। उत्तरार्द्ध के वाक्य का पर्यवसान 'स्वतः अनुभव की जाती है' इस रूप में होता है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध का 'स्वतः प्रकाशित' होना तथा उत्तरार्द्ध का 'स्वतः अनुभूत होना' एक ही धर्म है जिसे भिन्न-भिन्न शब्दों 'स्वतः प्रकाशन्ते' तथा 'शपथेन न

विभाव्यते' के द्वारा अलग-अलग प्रतिपादित किया गया है। अतः प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है—

'प्रतिवस्तूपमा तु सा स्याद् वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥" (साहित्यदर्पण)

यहाँ प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य के कारण ही है। (क) सन्तः—विद्यमानाः। सन्तीति सन्तः (अस् + शतृ + जस्)। (ख) स्वतः—'स्व' शब्दात् तृतीयार्थे तसिल। आत्मनेत्यर्थः। (ग) परतः—इत्यत्रापि 'पर' शब्दात् तृतीयार्थे तसिल्। परमुखेनेत्यर्थः। (घ) आमोदः—सौरभ्यम्। 'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता' इति हलायुधः। (ङ) शपथेन—शपनेनेत्यर्थः। 'शपनं शपथः पुमान्' इत्यमरः। शपथ का अर्थ सौगन्ध या कसम होता है। कोई व्यक्ति किसी से कसम खाकर यह नहीं बताता कि कस्तूरी में सुगन्ध होती है। बल्कि सभी अपने आप उसकी सुगन्ध का अनुभव कर उसमें सुगन्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥ ११७ ॥

अपि बत गुरुगर्व्वम्मा स्म कस्तूरि ! यासी-
रखिलपरिमलानाम्मौलिना सौरभेण।
गिरिगहनगुहायाँल्लीनमत्यन्तदीनं
स्वजनकममुनैव प्राणहीनङ्करोषि ॥ ११८ ॥

अन्वयः—हे कस्तूरि ? अखिलपरिमलानाम् मौलिना सौरभेण अपि गुरु गर्व्वम् मा स्म यासीः, बत अमुना एव गिरिगहनगुहायाम् लीनम् अत्यन्तदीनं स्वजनकम् प्राणहीनम् करोषि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कस्तूरी! समस्त सुगन्धों की सिरमौर सुगन्ध से भी तू बहुत ज्यादा घमण्ड न किया कर, खेद है कि इसी (सुगन्ध) के द्वारा ही पहाड़ों की अत्यन्त दुर्लभ गुफाओं में छिपे हुए अत्यन्त दीन अपने जन्मदाता (मृग) को तू प्राणहीन बना देता है।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने मृग में विद्यमान कस्तूरी के सुगन्ध को जो कि एक गुण है, दोष के रूप में प्रस्तुत किया है। क्योंकि उसी के कारण उसके जनक की प्राणहत्या प्रतिपादित की गई है। अतः यहाँ पर गुण का दोष रूप से प्रतिपादित किए जाने के कारण 'लेश' अलङ्कार है—लेश का लक्षण है—"लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्" (कुवलयानन्द) अर्थात् दोष की गुणरूप में कल्पना और गुण की दोष रूप में कल्पना 'लेश' अलङ्कार होता है। (क) गुरुगर्व्वम्—गुरुः महान् गर्व्वः गुरुगर्व्वः। 'गुरुर्महति वाच्यवत्'

इति विश्वप्रकाशः। 'गर्व्वो भवेदहङ्कारा' इति हलायुधः। तं गुरुगर्व्वम्। (ख) अखिलपरिमलानाम्—अखिलाः (समस्ताः) परिमलाः (सौरभ्याणि) अखिलपरिमलाः। तेषामखिलपरिमलानाम्। आमोदः स्यात्परिमलः सौरभ्यश्च सुगन्धिता।' इति हलायुधः। (ग) मौलिना—किरीटेन। श्रेष्ठेनेत्यर्थः। 'मौलिः किरीटे धम्मिले' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ मौलि का प्रयोग औपचारिक ढङ्ग से हुआ है। (घ) गिरिगहनगुहायाम्—गाह्यते दुःखेन गम्यते इति गहना। गाह+युच्+टाप् 'कृच्छ्रगहनयोरिति निदेशाद् वा ह्रस्वः। दुर्गमा दुष्प्रवेशेत्यर्थः। गहनाः गुहा गहनगुहाः। गिरेः गहनगुहा गिरिगहनगुहा। तस्यां गिरिगहनगुहायाम्। (ङ) अत्यन्तदीनम्—अत्यन्तं दीनः अत्यन्तदीनः तम् अत्यन्तदीनम्। दीनो दरिद्रः दुर्गतोऽपि स' इत्यमरः। (च) स्वजनकम्—जनयतीति जनकः (जन्+णिच्+ण्वुल्) स्वस्य जनकः स्वजनकः। तं स्वजनकम्। (छ) प्राणहीनम्—प्राणेभ्यो हीनः प्राणहीनः। तं प्राणहीनम्। इसमें कवि ने मालिनीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'ननमयययुतेयम्मालिनी भोगिलोकैः' (छन्दोमञ्जरी)॥ ११८॥

दूरीकरोति कुमतिं विमलीकरोति
चेतश्चिरन्तनमघञ्चुलुकीकरोति।
भूतेषु किञ्च करुणाम्बहुलीकरोति
सङ्गः सताङ्किमु न मङ्गलमातनोति ?॥११९॥

अन्वयः – सतां सङ्गः किमु मङ्गलम् न आतनोति ? (तथा हि) कुमतिम् दूरीकरोति, चेतः विमलीकरोति, चिरन्तनम् अघम् चुलुकीकरोति, किञ्च भूतेषु करुणाम् बहुलीकरोति।

हिन्दीरूपान्तर—सज्जनों का सहवास कौन सा कल्याण नहीं करता ? (जैसे कि) दुर्बुद्धि को दूर भगाता है, हृदय को स्वच्छ बनाता है, चिरकाल के पाप को चुल्लू बना के पी जाता है, साथ ही प्राणियों के प्रति कृपा का विस्तार करता है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने सत्सङ्गति की प्रशंसा प्रस्तुत किया है। सत्सङ्ग रूप कर्ता कारक, 'दूर करता है' 'स्वच्छ करता है' 'चुल्लू बना के पी जाता है' 'विस्तार करता है' इत्यादि अनेक क्रियाओं में अकेले ही विद्यमान है। अतः यहाँ 'कारकदीपक' अलङ्कार होगा। लक्षण है—

''क्रमिकैकगतानान्तु गुम्फः कारकदीपकम्''—(कुवलयानन्द) अर्थात् एक कारकगत अनेक क्रमिक क्रियाओं का उपनिवन्धन कारक दीपक अलङ्कार होता है। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने यहाँ पर कारक तुल्ययोगित अलङ्कार माना

है। उनका लक्षण है—"यत्र प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा क्रियाणामेककारकान्वयः सा कारकतुल्ययोगिता" (रसगङ्गाधर) अर्थात् जहाँ पर केवल प्रस्तुत क्रियाओं का या कि केवल अप्रस्तुत क्रियाओं का एक ही कारक के साथ सम्बन्ध होता है वहाँ 'कारक तुल्ययोगिता' अलङ्कार होता है। यहाँ 'दूरी करोति' इत्यादि अनेक प्रस्तुत क्रियाओं का 'सङ्गः' रूप एक ही कर्तृकारक के साथ अन्वय होने से कारक तुल्ययोगिता है। जो भी स्वीकार करे चाहे दीपक या तुल्ययोगिता, अपने अपने लक्षणानुसार दोनों ही सङ्गत हैं। यद्यपि आदि एवं प्राचीन आचार्यों जैसे रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुसार दीपक अलङ्कार ही है। रुद्रट का लक्षण है—

"यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदम्भवति। तद्वत्कारपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा॥" काव्यालङ्कारः।

मम्मट का लक्षण है—

सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥" काव्यप्रकाशः

और विश्वनाथ का लक्षण है—

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्॥" साहित्यदर्पण।

कुछ भी मानें दीपक अथवा तुल्ययोगिता वह यहाँ पर अर्थान्तरन्यास से संकीर्ण है क्योंकि श्लोक के तीन चरणों में प्रतिपादित की गई 'कुमति को दूर करना' 'चित्त को स्वच्छ बनाना' आदि विशेष बातों का 'सज्जनों की सङ्गति कौन-सा मङ्गल नहीं करती' इस चतुर्थ चरण में प्रतिपादित सामान्य बात के द्वारा समर्थन किया गया है। अतः सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है—"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः"—(काव्यप्रकाश) अर्थात् जहाँ पर सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। (क) दूरीकरोति—अदूरां दूरां करोतीति दूरीकरोति। अभूततद्भावेच्चिः। (ख) कुमतिम्—कुत्सिता मतिः बुद्धिः कुमतिः तां कुमतिम्। (ग) विमलीकरोति—विगतं मलं यस्मात् तद् विमलम्। अविमलं विमलं करोतीति विमली करोति। अत्रापि च्विः। (घ) चिरन्तनम्—चिरम्भवे चिरन्तनम्। 'चिरम्' इत्यव्ययात् भवार्थे' सायञ्चिरम्प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (४।३।२३) इत्यनेन ट्युप्रत्यये ट्युलुप्रत्यये वाऽनुबन्धलोपे तुडागमे च 'यु' इत्यस्य 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इत्यनेनादेशेमस्यानुस्वारे पर सवर्णे सौ विभक्ति कार्ये तत्सिद्धिः। द्वितीयैकवचनम्। (ङ) अघम्—'दुष्कृत-

मघमंहः × × पापम् इति हलायुधः। (च) चुलुकीकरोति—अचुलुकं चुलुकं करोतीति चुलुकी करोति। पिबतीत्यर्थः। (छ) भूतेषु—प्राणिषु। 'चतुर्विधेषु जीवेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु। अतीते देवयोनौ च भूतशब्दं प्रचक्षते।'' इति हलायुधः। (ज) बहुली-करोति—अबहुलं बहुलं करोतीति बहुली-करोति। अभूततद्भावे च्विः। विस्तारयतीत्यर्थः। सतां—सज्जनानाम्। मङ्गलं—कल्याणम्। (झ) आतनोति—(आङ+तनु विस्तारे) तनादि० +लट् (तिप्) समन्ताद् विस्तारयतीत्यर्थः। इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजाजगौ गः' (छन्दो-मञ्जरी)॥ ११९॥

अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदमलचेतसाम्महताम्।
आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव॥१२०॥

अन्वयः—अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदमलचेतसाम् महताम् आपातकाटवानि वचनानि भेषजानीव स्फुरन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—हमेशा दूसरों की भलाई करने में व्यस्त रहने वाले शुद्ध हृदय महापुरुषों के ऊपर से कड़वे लगने वाले वचन औषधियों की तरह प्रकाशित होते रहते हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार से कि कड़वी दवायें ऊपर से पानी में तो बहुत ही अरुचिकर होती हैं परन्तु रोग को तुरन्त समूल नष्ट कर देती हैं उसी प्रकार परोपकार परायण लोगों के वचन ऊपर से तो बड़े कठोर प्रतीत होते हैं पर परिणाम में लाभदायक होते हैं। इस प्रकार यहाँ पर परोपकारी महापुरुषों के वचनों का औषधि के साथ सुन्दर सादृश्य प्रस्तुत किया गया है। साथ ही 'ऊपर से कड़वा लगना' साधारण धर्म भी कहा गया है तथा उपमावाचक इव शब्द भी उपात्त है अतः यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार हुआ। यह पूर्णोपमा अलङ्कार इस व्यङ्ग्य वस्तु को अलंकृत करता है 'कि—उस प्रकार के महापुरुषों के वचनों का जो व्यक्ति अर्थतः सेवन करता है, जरा भी विचलित नहीं होता उसे परिणाम में सुख प्राप्त होता है।' इसलिये उपमा यहाँ व्यङ्ग्यवस्तु की उपस्कारक है। (क) अनवरतपरोंकारव्यग्रीभवदमलचेतसाम्—परेषामुपकारः परोपकारः। तस्मिन् व्यग्रीभवत् परोपकारव्यग्रीभवत्। अनवरतं निरन्तरं परोपकारव्यग्री भवत अनवरत परोपकारव्यग्रीभवत्। न मलं यस्मिन् तदमलम्। अनवरत परोपकार-व्यग्रीभवच्चेदममलञ्च चेतः येषान्ते अनवरतपरोपकारव्यग्रीभवदमलचेतसः। तेषां तथोक्तनाम्। (ख) आपातकाटवानि—कटोः भावः काटवम्। आपातत। काटवं तेषु तानि आपातकाटवानि। ऊपर से कड़वे प्रतीत होने वाले। (ग) भेषजानीव—(भेषजं जायुरगदस्तन्त्रमौषधम्) इति हलायुधः। औषधानी-

त्यर्थः । (इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च) इति वार्तिकेन समासः विभक्ते-रलुक्च । इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है ।

लक्षण है—

'आर्या प्रथमार्द्धं समं यस्या अपरार्द्धमाह ताम् गीतिम् (छन्दो-मञ्जरी) ॥ १२० ॥

व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीता-
[1]न्याकर्ण्य श्रुतिमदजाल्लयातिरेकात् ।
आभूमीतलनतकन्धराणि मन्ये-
ऽरण्येऽस्मिन्नवनिरुहाङ्कुटुम्बकानि ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अस्मिन् अरण्ये अवनिरुहाम् कुटुम्बकानि व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्ज-मञ्जुगीतानि आकर्ण्य श्रुतिमदजात् लयातिरेकात् आभूमीतलनतकन्धराणि (इति) मन्ये ।

हिन्दीरूपान्तर—इस जंगल में वृक्षों के समुदाय विशेष रूप से गुञ्जार करते हुए भौंरों के मनोहर गानों को सुनकर श्रवणमद से उत्पन्न लयातिरेक के कारण पृथ्वीतल तक झुकी हुई गर्दनों वाले हो गये हैं ऐसा मैं अनुमान कर रहा हूँ ।

व्याख्या—कवि किसी जंगल का वर्णन कर रहा है जहाँ पेड़ों की बड़ी-बड़ी डालें धरती को चूम रही हैं । कवि यह कल्पना करता है कि मानों पेड़ों ने अपनी गर्दन झुकाये खड़े हैं । किस कारण से ? इसी कारण की कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों भँवरों के मधुर गुञ्जार को सुन कर श्रवणमद से उत्पन्न 'लयातिरेक' के कारण गर्दन झुकाये हुए हैं । जैसे कोई चेतन मनुष्य संगीत को सुनकर मस्त हो जाता है तो उसकी गर्दन हिलने लगती है और झुक जाती है उसी तरह यहाँ वृक्ष के विषय में उत्प्रेक्षा की गई है । यहाँ जिस 'लयातिरेक' को हेतु रूप में कवि ने उत्प्रेक्षित किया है वह एक प्रकार का गुण है अतः यहाँ 'गुणहेतूत्प्रेक्षा' अलंकार है । (क) व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीतानि—मधुकराणां भ्रमराणां पुञ्जाः समूहाः मधुकरपुञ्जः । व्यागुञ्जन्तः (वि+आङ+गुज् + शतृ + जस् विशेषेण समन्तात् शब्दं कुर्व्वन्तः इत्यर्थः) मधुकर-पुञ्जाः व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जाः । मञ्जूनि मनोहराणि गीतानि मञ्जुगीतानि । व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जानां मञ्जुगीतानि व्यागुञ्जन्मधुकरपुञ्जमञ्जुगीतानि । 'मधुरं मञ्जु प्रियं मञ्जुलं हृद्यं हारि मनोहरम्' इति हलायुधः । 'मधुव्रतो मधुकरः मधुलिड्मधुपालिनः' इत्यमरः । (ख) श्रुतिमदजात्—श्रुतौ श्रवणे

१. "माकर्ण्य स्तुतिधुदयन्नयातिरेकात्" इवि पाठान्तरम् ।

मदः श्रुतिमदः। 'मदोरेतशि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेमदानयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ मद का अर्थ हर्ष है। श्रुतिमदाज्जातः श्रुतिमदजः। तस्मात् श्रुतिमदजात्। (ग) लयातिरेकात्—लयस्य अतिरेकः लयातिरेकः। तस्मात् लयातिरेकात्। अत्यधिक लीन हो जाने के कारण। (घ) आभूमीतलं नतकन्धराणि—भूम्या तलं भूमितलम्। आभूमीतलं भूमितलपर्य्यन्तमित्यर्थः। 'आङ्मर्य्यादाभिविध्योः (२।१।१३) इति अव्ययीभावसमासः। नताः कन्धराः येषां तानि नतकन्धराणि। आभूमीतलं नतकन्धराणि आभूमीतलनतकन्धराणि। पृथ्वीतल तक गर्दनों को झुकाये हुये। (ङ) अवनिरुहाम्—अवनौ पृथिव्यां रोहन्तीति अवनिरुहाः वृक्षाः। तेषामवनिरुहाम्। (अवनि + रुह + क्विप् + आम्) 'भूर्भुमिर्वसुधावनिर्वसुमती' इति हलायुधः। इसमें कवि ने प्रहर्षिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'म्नाशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ १२१॥

मृतस्य लिप्सा कृपणस्य दित्सा
विमार्गगायाश्च रुचिः स्वकान्ते।
सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री
विधातृसृष्टौ न हि दृष्टपूर्वा॥ १२२॥

अन्वयः—विधातृसृष्टौ हि मृतस्य लिप्सा, कृपणस्य दित्सा, विमार्गगायाश्च स्वकान्ते रुचिः, सर्पस्य शान्तिः कुटिलस्य मैत्री (च) न दृष्टपूर्वा।

हिन्दीरूपान्तर—विधाता की सृष्टि में तो मरे हुए की लाभेच्छा, कञ्जूस की दानेच्छा, कुमार्गगामिनी स्त्री का अपने पति में अनुराग, साँप का शान्तस्वरूप और दुर्ज्जन की मित्रता पहले कभी नहीं देखी गई।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने मृत की लिप्सा, कृपण में दित्सा, कुलटा में पति के प्रति अनुराग, सर्प में शान्ति और कुटिल में मैत्री इत्यादि के 'प्रति अभाव रूप' साधारण धर्म को प्रस्तुत किया है। अब प्रश्न यह उठा है कि यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार माना जाय या दीपक। तुल्ययोगिता का लक्षण है—"वर्ण्यानामितरेषां वा धर्म्मैक्यं तुल्ययोगिता" (कुवलयानन्द) अर्थात् केवल प्रस्तुत पदार्थों का या कि केवल अप्रस्तुत पदार्थों का गुण या क्रिया रूप एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। और दीपक का लक्षण है—"वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्म्मैक्यं दीपकं बुधाः" (कुवलयानन्द) अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों का गुण या क्रिया रूप एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर दीपक अलंकार होता है। अतः यदि उक्त पदार्थों में से हम मृत की लिप्सा' या 'कृपण की दित्सा' आदि किसी को भी प्रस्तुत मान लें और शेष का

अप्रस्तुत तब तो दीपकालंकार होगा और यदि सभीको अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत स्वीकार करे तो तुल्ययोगितालंकार होगा। (क) लिप्सा—प्राप्तीच्छा। लब्धुमिच्छा लिप्सा। लभ्+सन्+अ+टाप्। (ख) कृपणस्य—क्षुद्रस्य कदर्यस्येत्यर्थः। कंजूस को कृपण कहते हैं। 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः' इत्यमरः। (ग) दित्सा—दातुमिच्छा दित्सा। दानेच्छेत्यर्थः। (दा+सन्+अ+टाप्)। (घ) विमार्गगायाः—विरुद्धः मार्गः विमार्गः। विमार्गं गच्छतीति विमार्गगा। तस्या विमार्गगायाः। कुमार्गगामिन्याः चरित्रभ्रष्टाया इत्यर्थः। (ङ) रुचिः—अभिलाषः। रुचिर्मयूखे शोभायामभिष्वङ्गाभिलाषयोः इति विश्वप्रकाशः। (च) स्वकान्ते—स्वस्याः कान्तः स्वकान्तः। तस्मिन् स्वकान्ते स्वपतावित्यर्थः। (छ) मैत्री—मित्रता। मित्रस्य भावः मैत्र्यम्। भावे ष्यञ्। ततः स्त्रीत्वविवक्षायां 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीप् प्रत्ययः 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) इति यलोपश्च। (ज) विधातृसृष्टौ—विधातुः सृष्टिः विधातृसृष्टिः। तस्यां विधातृसृष्टौ। (झ) दृष्टपूर्वा—पूर्वं दृष्टा पूर्वदृष्टा। 'मयूरव्यंसकादि समासः'। इस पद के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण उपजाति वृत्त है॥ १२२॥

उत्तमानामपि स्त्रीणां विश्वासो नैव विद्यते।
राजप्रियाः कैरविण्यो रमन्ते मधुपैः सह॥ १२३॥

अन्वयः—उत्तमानाम् अपि स्त्रीणां विश्वासः न एव विद्यते, (तथा हि) राजप्रियाः कैरविण्यः मधुपैः सह रमन्ते।

हिन्दीरूपान्तर—उत्तम (लोगों) की भी स्त्रियों का विश्वास नहीं ही रहता (क्यों कि) चन्द्रमा की प्रियतमायें कुमुदिनियाँ भँवरों के साथ रमण किया करती हैं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अर्थान्तरन्यास अलङ्कार प्रस्तुत किया है। अर्थान्तरन्यास का लक्षण है—'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यञ्च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते। साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः' (साहित्यदर्पण)। यहाँ पर पूर्वार्द्ध में कही गयी सामान्य बात का परार्द्ध में कही गई विशेष बात के द्वारा समर्थन किया गया है। अतः विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है। (क) उत्तमानाम्—उत्तम को हम यहाँ स्त्रियों का विशेषण भी स्वीकार कर सकते हैं और उस दशा अथवा उत्तम को हम 'जन' का विशेषण मानकर 'उत्तमजनानामपि स्त्रीणाम्' अर्थ ग्रहण कर सकते हैं जैसा कि रूपान्तर में हमें किया है। (ख) राजप्रियाः—

राज्ञः (चन्द्रस्य) प्रियाः राजप्रियाः । कैरविण्यः कुमुदिन्यः । (ग) मधुपैः— मधु पिबन्तीति मधुपाः । भ्रमराः । तैः । यहाँ कविने 'राजप्रियाः' और 'मधुपैः' पदों का प्रयोग स्त्रियों के प्रति विश्वास के अत्यन्त अनौचित्य को प्रतिपादित करने के लिए किया है । क्योंकि 'राजा' शब्द चन्द्रमा के साथ-साथ नृप का भी वाचक है 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वप्रकाशः । साथ ही 'मधु' का अर्थ मधु शराब आदि तथा पुष्प दोनों होता है—'मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधु (विश्वप्रकाश) इस तरसे भ्रमर के अतिरिक्त मधुप से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है शराबी, मद्यप का और इस तरह से जब राजा की प्रियतमा शराबी के साथ रमण करती है तो भला उत्तम लोगों की स्त्रियों पर विश्वास कैसे हो, इस प्रकार यहाँ शाब्दी व्यञ्जना भी है । इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥ १२३ ॥

अयाचितः सुखन्दत्ते याचितश्च न यच्छति ।
सर्वस्वञ्चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥ १२४ ॥

अन्वयः—उच्छृङ्खलः विधिः अयाचितः सुखम् दत्ते, च याचितः न यच्छति अपि च नृणां सर्वस्वं हरते ।

हिन्दीरूपान्तर—यह ऊच्छृङ्खल भाग्य न माँगने पर तो सुख देता है, और माँगने पर नहीं देता बल्कि मनुष्यों का सब कुछ छीन लेता है ।

व्याख्या—भाग्य की अन्धेर को देखकर किसी कवि की उक्ति है । कवि यहाँ इस बात को प्रतिपादित करता है 'प्राणियों का सभी कुछ भाग्य के वश में हैं' । केवल इसी एक वाक्यार्थ को प्रस्तुत करने के लिये कवि ने अनेक वाक्य उपनिबद्ध किए है । अतः प्राचीन वामन आदि आचार्यों के अनुसार यहाँ 'ओजस्' अर्थ गुण है जो कि 'व्यास' रूप है । क्योंकि अर्थ की प्रौढि को 'ओजस्' कहते हैं—'अर्थस्य प्रौढिरोजः' (वामन) । यह प्रौढि पाँच प्रकार की होती है—

(१) पदार्थे वाक्यवचनं (२) वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढि (३) र्व्यास (४) समासौ च (५) साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इसमें से व्यास का लक्षण है—एक वाक्यार्थ के लिए अनेक वाक्यों की रचना । (क) अयाचितः—न याचितः अयाचितः । अप्रार्थितः सन्नित्यर्थः । (ख) विधिः—'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । (ग) उच्छृङ्खलः—उद्गतं शृङ्खलं निगडं यस्य सः उच्छृङ्खलः । सर्वथा स्वतन्त्रः इत्यर्थः । इसमें भी कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥ १२४ ॥

दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुग-
ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलमथ त्वां वीक्ष्य मध्येरणम् ।
वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव-
भ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवमहो को न क्षितीशः स्मरेत् ॥१२५॥

अन्वयः—अथ मध्येरणम् दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डांशुग-ध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलम् त्वां वीक्ष्य अहो ! कः क्षितशः वल्गद्गाण्डिवमुक्त-काण्डवलयज्वालावलीताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवम् न स्मरेत् ।

हिन्दीरूपान्तर—इस समय संग्राम में दोनों भुजदण्डों से मण्डलाकार बना दिए गए एवं शोभायमान धनुष पर स्थित प्रचण्ड बाणों से उद्दण्ड शत्रु समूह को ध्वस्त कर देने वाले तुम्हें देखकर, अहा ! कौन सा राजा चञ्चल गाण्डीव से छोड़े गये बाणों की किरणोंके ताण्डव से नष्ट होते हुए खाण्डव वन पर क्रुद्ध पाण्डव (अर्जुन) को नहीं याद करता ।

व्याख्या—किसी राजा की प्रशंसा करते हुए कवि कह रहा है कि आप को देखकर भला कौन ऐसा राजा है जो कि अर्जुन की याद न करे ऐसा क्यों ? क्यों कि जिस प्रकार से अर्जुन ने क्रुद्ध होकर अपने प्रचण्ड बाणों से खाण्डववन को छिन्न,भिन्न कर दिया था उसी तरह तुम अपने प्रचण्ड बाणों की वर्षा से समरभूमि में अपने शत्रुओं को छिन्न-भिन्न किए दे रहे हो । इस प्रकार यहाँ पर सदृश वस्तु के दर्शन के कारण राजा को देखकर अर्जुन को स्मरण किया गया है, अतः स्मरणालङ्कार है । स्मरण का लक्षण है—"सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्" (अलङ्कारसर्वस्व) अर्थात् 'सदृश अनुभव को कर दूसरी सदृश वस्तु की याद स्मरणालङ्कार होती है ।' यह पद्य "प्राणभरण" तथा "जगदाभरण" में भी मिलता है । वहाँ इस पद्य पर सङ्क्षिप्त टिप्पणी में पण्डितराज ने लिखा है—"अत्र स्मरणालङ्कारः । भाव इति तु न भ्रमितव्यम् । सादृश्यमूलकत्वतदमूलकत्वाभ्यां भावत्वालङ्कारत्वयोरिह व्यवस्थितेः । शब्द वेद्यत्वाच्च' । अर्थात् यहाँ भाव है राजविषयकरति होने के कारण ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये, क्योंकि भाव सादृश्य मूलक नहीं होता जबकि स्मरणाङ्कार सादृश्य मूलक होता है । साथ ही स्मरण यहाँ शब्द के द्वारा कहा गया है । (कि) दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुगध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलम् 'दोः प्रवेष्टो भुजो बाहुर्भुजा' इति हलायुधः । अकुण्डलं कुण्डलं कृतमिति कुण्डलीकृतम् । अभूततद्भावे च्विः । दोर्दण्डद्वयेन कुण्डलीकृतं दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतम् । तथा भूतञ्च लसच्च कोदण्डं दोर्द्दण्डद्वयकुण्लीकृतलसत्कोदण्डम् । 'जनुरिष्वासंकोदण्डम्' इति हलायुधः । आशु गच्छन्तीप्याशुगाः । शराः । 'आशुगाः कलम्बमार्गण-

शराः' इत्यमरः। चण्डाः दारुणाः आशुगाः चण्डाशुगाः। दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डे चण्डाशुगाः दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुगाः। विरुद्धः पक्षः येषान्ते विपक्षाः शत्रव इत्यर्थः। तेषां मण्डलानि उद्दण्डानि (प्रचण्डानि) विपक्षमण्डलानि उद्दण्डविपक्षमण्डलानि। दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुगैः ध्वस्तानि उदण्ड-विपक्षमण्डलानि येन सः दोर्दण्डद्वयकुण्डलीकृतलसत्कोदण्डचण्डाशुगध्वस्तोद्दण्डविपक्षमण्डलः। तम् तथोक्तम्। (ख) मध्येरणम्—रणस्य मध्ये मध्येरणम्। 'पारे मध्ये षष्ठया वा' (२।१।१८।) इति पाक्षिकः अव्ययीभावसमासः। (ग) वलगद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवम्—गाण्डिवेन मुक्ताः गाण्डिवमुक्ताः। तथाभूताः काण्डाः गाण्डिवमुक्तकाण्डाः। यहाँ काण्ड का अर्थ बाण है 'काण्डं नाले तरुस्कन्धे बाणेऽवसरनीरयोः' इति विश्वप्रकाशः। वल्गन्तः (गच्छन्तः निःसरन्तः इत्यर्थः) गाण्डिवमुक्ताण्डाः वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डाः तेषां वलयं (मण्डलम्) वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयम्। तस्य ज्वालाः वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालाः। तासामावल्यः वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावल्यः। तासां ताण्डवेन भ्रश्यत् खाण्डव (वन) वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवम्। तस्मिन् रुष्टः (क्रुद्धः) पाण्डवः वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डवभ्रश्यत्खाण्डवरुष्टपाण्डवः। अर्जुन के धनुष का नाम गाण्डिव था। जैसा अमरकोश में कहा गया है—'कपिध्वजस्य गाण्डीव गाण्डिवौ पुंनपुंसकौ। और जैसा गीता में स्वयं अर्जुन भी कहते हैं—गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः। (१।३०) 'नृत्यन्तु ताण्डवं लास्यम्' इति हलायुधः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदिमः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" (छन्दोमञ्जरी)॥ १२५॥

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोः पान्तु भानवः॥ १२६॥

अन्वयः—खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः च मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताः चण्डांशोः भानवः पान्तु।

हिन्दीरूपान्तर—खण्डिता नायिका के नयनकमलों के मधुर ढंग से रंगने में निपुण और समस्त दिगन्तों को सुशोभित करनेवाली; सूर्य की किरणें आपकी रक्षा करें।

व्याख्या—यह किसी भूपाल को निद्रा परित्याग करने के लिए स्तुतिपाठकों द्वारा की हुई मङ्गल कामना है। यहाँ कवि ने वामन आदि द्वारा

प्रतिपादित 'ओजस्' अर्थगुण को प्रस्तुत किया है। अर्थ की प्रौढि को 'ओजस्' कहते हैं। इस अर्थ की प्रौढि का एक प्रकार वह भी होता है जहाँ 'एक वाक्यार्थ को प्रस्तुत करने के लिए केवल एक पद का कथन किया जाता है। यहाँ कवि ने 'खण्डिता' पद का प्रयोग किया है जो कि इस वाक्यार्थ का बोधक है कि 'वह नायिका' ईर्ष्या से कलुषित है जिसका पति दूसरी नायिका के सम्भोग से चिह्नित होकर उसके पास आता है। क्योंकि खण्डिता का लक्षण है—

"पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ (साहित्यदर्पण)

'नेत्रकञ्जालि' में रूपक है (क) खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः—खण्डितानाम् नेत्राणि खण्डितानेत्राणि। कञ्जानामालयः कञ्जालयः। खण्डितानेत्राण्येव कञ्जालयः खण्डितानेत्रकञ्जालयः। मंजु (मनोहरं) रञ्जनं मंजुरञ्जनम्। खण्डितानेत्रकञ्जालिनां मञ्जुरञ्जनं खण्डितानेत्रकञ्जालिमंजुरञ्जनम्। तस्मिन् पण्डिताः निपुणाः खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः। खण्डिताः नायिका के नेत्रों के मधुर ढङ्ग से रंगने का आशय यह है कि उसका पति रात भर किसी अन्य नायिका के साथ रहा। सबेरा होते ही उसके पास पहुँचा उसे देखकर नायिका की आँखे क्रोध से ईर्ष्यावश लाल हो उठी। यदि सूर्योदय न होता तो नायिका का पति दूसरी नायिका के सम्भोग चिह्नों से युक्त होकर क्यों आता। फिर खण्डिता की आँखें लाल कैसे होती। इसीलिए सूर्य की किरणों को नायिका के नेत्रों के मञ्जुरञ्जन में पण्डित कहा गया है। (ख) मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताः—दिशां प्रान्ताः दिक्प्रान्ताः। अखिलाः सर्वे दिक्प्रान्ताः अखिलदिक्प्रान्ताः। मण्डिताः अखिलदिक्प्रान्ताः यैस्ते मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताः। समस्त दिगन्तों को सुशोभित करनेवाली।

(ग) चण्डांशोः—चण्डाः (भीषणाः) अंशवः किरणाः यस्य सः चण्डांशुः। सूर्य इत्यर्थः। तस्य चण्डांशोः। (घ) भानवः—किरण और सूर्य दोनों होता है—'भानुः किरणसूर्ययोः' इति विश्वप्रकाशः। इसमें कवि ने अनुष्टुप्वृत्त उपनिबद्ध किया हैं ॥ १२६ ॥

माधुर्य्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता।
पिबतामनल्पसुखदा वसुधायान्नतु[1] सुधा कविता ॥१२७॥

अन्वयः—माधुर्य्यपरमसीमा सारस्वतजलधिमथनसम्भूता पिबताम् अनल्पसुखदा कविता ननु वसुधायां सुधा (अस्ति)।

---

१. "मम" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—माधुर्य की पराकाष्ठा, सरस्वती से सम्बन्धित सागर के मन्थन से उत्पन्न, तथा पान करने वालों को अत्यधिक आनन्द प्रदान करने वाली कविता मानो पृथ्वी पर अमृत है।

व्याख्या—यहाँ कवि ने कविता को अमृत के रूप में उत्प्रेक्षित किया है। कवि ने उत्प्रेक्षा के निमित्तभूत तीन साधारण धर्म प्रस्तुत किए हैं। पहला अमृत सागर मन्थन से उत्पन्न हुआ, जैसा कि प्रसिद्ध है—

"श्री मणि रम्भा वारुणी सुधा शङ्ख गजराज।
कल्पद्रुम शशि धेनु धनु धन्वन्तरि विष बाज॥"

ये चौदह रत्न मन्दराचल द्वारा मंथन किए गये सागर से प्राप्त हुए हैं, वैसे ही यह कविता सरस्वती सम्बन्धी सागर के मन्थन से उत्पन्न हुई है। दूसरे अमृत मीठा होता है, इसमें भी सर्वाधिक माधुर्य है। तीसरे अमृत पीने वालों को आनन्ददायी होता है यह भी पान करने वालों को आनन्द प्रदान करती है। परन्तु इन साधारण धर्मों में से दूसरे और तीसरे 'माधुर्य' और 'पान' रूप धर्म कविता में मुख्यतः असम्भव है। ततः हमें उपचार द्वारा (लक्षणया) उनका 'आस्वादन' और 'श्रवण' अर्थ ग्रहण करना पड़ता है। चूँकि लक्षण द्वारा आया हुआ लाक्षणिक अर्थ मुख्यार्थ से अभिन्न हुआ करती है अतः इन दोनों के ये साधारण धर्म भी परस्पर अभिन्न ही माने जायेंगे। (क) माधुर्यपरमसीमा—परमा सीमा परमसीमा। मधुरस्य भावः माधुर्य्यम्। माधुर्य्यस्य परमसीमा माधुर्यपरमसीमा। मधुरता की पराकाष्ठा। अर्थात् इससे अधिक मधुर और कुछ हो हो नहीं सकता। (ख) सारस्वतजलधिमथन-सम्भूता—सरस्वत्याः अयं सारस्वतः। 'तस्येदम्' (४।३।१५०) इत्यण्। सारस्वतजलधिः जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति जलधिः, समुद्रः। तस्य मथनं सारस्वतजलधिमथनम्। तेन सम्भूता (उत्पन्ना) सारस्वतजलविमथन-सम्भूता। (ग) अनल्पसुखदा—न अल्पमनल्पम् पर्य्याप्तं प्रचुरमित्यर्थः। अनल्पं सुखं अनल्पसुखम्। अनल्पसुखं ददातीति अनल्पसुखदा। अनल्प-(सुख + दा + क + टाप्) (घ) वसुधायाम्—वसूनि रत्नानि दधाति धारय-तीति वसुधा। (वसु + धा + क + टाप्) तस्यां वसुधायाम्। 'भूर्भूमिर्वसुधांव-निर्वसुमती' इति हलायुधः। (ङ) ननु—निश्चयेन। प्रश्नावधारणानुज्ञानुनया-मन्त्रणे ननु' इत्यमरः। कहीं-कहीं ननु के स्थान पर 'मम' पाठ मिलता है। वहाँ आशय सामान्य कवित से न होकर पण्डितराज विशेष की कविता से होगा। (च) सुधा—'पियूषममृतं सुधा' इत्यमरः। जब हम 'मम' पाठ स्वीकार करेंगे, तो यहाँ पण्डित राजगत गर्व की अभिव्यक्ति मानने में संशय नहीं

होगा। इसमें कवि ने आर्या वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण हैं—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।'' (श्रुतबोध)॥ १२७॥

खलः कापट्यदोषेण दूरेणैव विसृज्यते।
अपायशङ्किभिर्लोकैर्विषेणाशीविषो यथा॥ १२८॥

अन्वयः—अपायशङ्किभिः लोके विषेण आशीविषः यथा कापट्यदोषेण खलः दूरेण एव विसृज्यते।

हिन्दीरूपान्तर—विघ्न की आशङ्का करने वाले लोग जहर के कारण सांप की तरह कपटरूप दोष के कारण दुष्ट व्यक्ति को दूर से ही त्याग देते हैं।

व्याख्या—कवि यहाँ दुष्टों के विषय में लोगों की धारणा को प्रतिपादित कर रहा है। दुष्ट की उसने साँप से उपमा दी है। यहाँ दुष्ट उपमान और साँप उपमेय है। 'यथा' शब्द उपमा का वचक हैं। कवि ने यहाँ दुष्ट और साँप के दो साधारण धर्म प्रस्तुत किए हैं। पहला है 'दूर से ही परित्याग'। यह दोनों का अनुगामी धर्म है जैसे मनुष्य साँप से डरकर दूर भागता है वैसे ही दुष्ट से भी। दूसरा साधारण धर्म है 'कपट' और 'विष'। ये दोनों विल्कुल भिन्न वस्तुयें हैं पर इनमें यहाँ अभेद स्थापित किया गया है अतः इनमें बिम्बभाव है। आशय यह है कि जैसे साँप विष के कारण भयङ्कर एवं त्याज्य होता है वैसे ही दुष्ट कपट के कारण त्याज्य होता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के धर्मों में परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध हैं। 'त्यागना' कार्य है, 'कपट और विष का होना कारण है। इस लिए ये दोनों साधारण धर्म कार्यकारण रूप से मिश्रित हैं। अतः यहाँ उपमा के समस्त तत्त्वों की उपस्थिति होने के कारण पूर्णोपमा अलङ्कार है। (क) खलः—दुष्टः। 'दुर्जनः पिशुनः क्षुद्रो नीचः कर्णेजपः खलः' इति हलायुधः। (ख) कापट्यदोषेण। कपटः एव कापट्यम्। कापट्यमेव दोषः कापट्यदोषः। तेन कापट्यदोषेण.। (ग) अपायशङ्किभिः—अपायस्य विघ्नस्य शङ्का अपायशङ्का। सा अस्त्येषामिति अपायशङ्किनः। (अपायशङ्का + इनि) तैः अपायशङ्किभिः (घ) लोकैः—जनैः। लोकस्तु भुवने जने इति विश्वप्रकाशः। (ङ) आशीविषः—आशीषि दंष्ट्रायां विषमस्येति आशीविषः। पृषोदरादित्वात् साधुः सर्प इत्यर्थः। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः। आशीविषः' इत्यमरः। (च) यथा—शब्द सादृश्यसूचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है आचार्यदण्डी का कथन है—'इव वत् वा यथा शब्दाः समाननिभसन्निभाः। शब्दाः सादृश्यसूचकाः। (काव्यादर्श २।२७-६५)॥ इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ १२८॥

एत्य कुसुमाकरो मे सञ्जीवयिता गिरश्चिरम्मग्नाम् ।
इति चिन्तयतो हृदये पिकस्य समधायि शौभिकेन शरः ॥ १२९ ॥

इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथकविविरचिते भामिनीविलासे
प्रास्ताविको नाम प्रथमो विलासः ॥

अन्वयः—'कुसुमाकरः एत्य मे चिरम् मग्नाम् गिरं सञ्जीवयिता' इति चिन्तयतः पिकस्य हृदये शौभिकेन शरः समधायि ।

हिन्दीरूपान्तर—'वसन्त आकर मेरी चिरकाल से तिरोहित वाणी को सम्यक् जीवन प्रदान करेगा ।' ऐसा सोचते हुए कोकिल के हृदय में बहेलिये ने वाण खींचकर मारा ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने अप्रस्तुत रूप से कोकिल वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है परन्तु उससे किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति के वृत्तान्त की प्रतीति होती है जो मन ही मन आकाश में किला बनाने की सोच रहा था कि उसके पूर्व ही उसका विनाश कर दिया गया । कोई राजा किसी राजा के ऊपर आक्रमण करने की तैयारी में था ही कि उसे अन्य नरेश ने ही समाप्त कर दिया । अतः सादृश्यमूला अप्रस्तुत प्रशंसा तो है ही, साथ ही विषादन अलङ्कार भी है । विषादन का लक्षण है "इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्" (कुवलयानन्द) यहाँ कोकिल सोच तो रहा था कि वसन्त आयेगा और वह मधुर कलरव करेगा । पर ऐसा होने के पहले ही व्याघ ने उसके प्राण छीन लिए । मन के लड्डू मन ही में रह गए । अतः इष्यमाण के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति होने से विषादन अलङ्कार है ! इसी भाव का एक श्लोक इसी विलास में (संख्या ५७ स्वस्वव्यापृति इत्यादि) पहले भी आ चुका है । (क) एत्य—आ + इण् गतौ + ल्यप् आगत्येत्यर्थः (ख) कुसुमाकरः—कुसुमानां पुष्पाणामाकरः कुसुमाकरः । वसन्त इत्यर्थः । (ग) सञ्जीवयिता—सञ्जीवयिष्यतीत्यर्थः । (घ) गिरं—वाणीम् । (ङ) चिन्तयतः—'चितिस्मृत्याम् (चुरादि०) + शतृ + ङस्' सोचते हुए । (च) पिकस्य—कोकिलस्य 'कोकिलः पिकः' इत्यमरः । (छ) शौभिकेन—व्याधेन । बहेलिये के द्वारा । इसमें गीतिवृत्त प्रयुक्त है । 'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १२९ ॥

श्रीपण्डितराज जगन्नाथ-विरचित भामिनी-विलास के
प्रथम विलास का हिन्दी रूपान्तर तथा व्याख्या
इस प्रकार सम्पूर्ण हुई ।

अथ द्वितीयः शृङ्गार-विलासः

न मनागपि राहुरोधशङ्का[1]
न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः ।
उपचीयत एव काऽपि शोभा
परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम् ॥ १ ॥

अन्वयः—हे भामिनि ! ते मुखस्य परितः नित्यम् काऽपि शोभा उपचीयते एव, (यतः) मनाक् अपि राहुरोधशङ्का न, (यतः) न कलङ्कानुगमः, न पाण्डुभावः (वा अस्ति) ।

हिन्दी रूपान्तर—ऐ प्रियतमे ! तुम्हारे मुख के चारों ओर हमेशा कोई लोकोत्तर सुन्दरता बढ़ती ही जाती है (क्यों कि) जरा सी भी राहु के द्वारा आवरण की शङ्का नहीं है, (क्यों कि) न तो कलङ्क का संयोग है और न पाण्डुता ही है ।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा से कह रहा है । यहाँ पर कवि ने जो 'जरा भी राहु के आक्रमण की शङ्का नहीं है, कलंक का सम्पर्क नहीं है, सफेदी नहीं है' इत्यादि बातें कहीं हैं उससे यह बात ध्वनित होती है कि नायिका का मुख चन्द्रमा से बढ़ कर है क्योंकि चन्द्रमा तो राहु द्वारा निगल लिया जाता है, कलंकी है तथा पाण्डु वर्ण है । इस प्रकार उपमान से उपमेय की अधिकता रूप व्यतिरेकालंकार यहाँ व्यंग्य है, क्यों कि वाच्य रूप में उसका प्रतिपादन नहीं किया गया है । साथ ही ये सभी वस्तुयें लोकसिद्ध हैं कवि कल्पित नहीं । अतः यहाँ पर स्वतः-सम्भावि वस्तु मूलक व्यतिरेकालंकार ध्वनि है । व्यतिरेक का लक्षण है—'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश) । (क) मनाक्—मनाक् का प्रयोग यहाँ अल्प के वाचक के रूप में हुआ है—"किञ्चिदीषन्मनागल्पे" इत्यमरः । (ख) राहुरोधशङ्का—राहुणा रोधः (राहुरोधः) राहुरोधस्य शङ्का राहुरोधशङ्का । रुणद्धि इति रोधः आवरणम् इत्यर्थः रुधिर्‌आवरणे + घञ् अथवा अच् । 'शङ्का वितर्कः सन्देहः ।' इति हलायुधः । कलङ्कानुगमः—कलंकस्यानुगमः कलंकानुगमः । 'कलंकोऽलंकेऽपवादे च कालाये समलेऽपि च' (विश्व प्रकाशः) (अनु + गम् + अच् = अनु-

---

१. "राहुरोषशंका" इति पाठान्तरम् ।

गमः)। (घ) नित्यम्—नित्यम् से यह व्यञ्जित होता है कि चन्द्रमा की शोभा तो केवल शुक्ल पक्ष में ही बढ़ती है जब कि तुम्हारे मुख की शोभा हमेशा बढ़ती रहती है; कभी घटती नहीं जब कि चन्द्रमा की शोभा कृष्ण पक्ष में घटते ही जाती है। इस श्लोक में कवि ने 'कालभारिणी वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'विषमे स सजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) इसी का नाम अन्यत्र 'कालभारिणी भी मिलता है। वा घल्लभ में इसका नाम 'वसन्तमालिका है। विषमे ससजा गुरू समे चेत् सभरा यश्च वसन्तमालिका स्यात् ॥ १ ॥

नितराम्परुषा सरोजमाला
न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकाना-
मथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम् ॥ २ ॥

अन्वयः—यदि तव अङ्गकानाम् कोमलता (अस्ति) अथ सरोजमाला नितराम् परुषा, मृणालानि विचारपेशलानि न, पल्लवानाम् कथा अपि का नाम ?

हिन्दी रूपान्तर—अगर तुम्हारे अङ्गों की कोमलता (विद्यमान है) तब तो (उसकी तुलना में) कमलों की माला अत्यन्त कठोर है, मृणाल सोचने में भी कोमल नहीं हैं, और किसलयों की तो चर्चा भी भला कैसी ?

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा से कह रहा है कि अगर तुम्हारे अङ्गों को कोमल माना जाय तब तो लोगों के कोमलता के सारे मानदण्ड ही बेकार हो जायेंगे। क्यों कि तुम्हारा अंग अगर कोमल है तब तो कमलों की माला अत्यन्त कठोर होगी, मृणालों की कोमलता सोची ही नहीं जा सकती कि वे भी कोमल है और रह गये किसलय उनकी तो चर्चा ही बेकार है। यहाँ कवि ने कमल आदि के तिरस्कार की बात कही है जो कार्य रूप में है, अप्रस्तुत हैं। इस अप्रस्तुत कार्य का प्रस्तुत कारण है नायिका अङ्गों का अत्यधिक कोमल होना इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत कार्य के द्वारा प्रस्तुत कारण की प्रतीति कराई गई है। अतः कार्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है। (क) परुषा—परुषं कर्बुरे रूक्षे स्यान्निष्ठुरवचस्यपि' इति विश्वप्रकाशः यहाँ परुष का अर्थ रूक्ष है। (ख) सरोजमाला—सरसि जातं सरोजम् (सरस् + जनि प्रादुर्भावे + ड)। सरोजानां माला सरोजमाला 'माल्यं माला स्रजौ मूर्ध्नि' इत्यमरः। (४) मृणालानि—'मृणालं स्याद् बिसं कन्दः' इति हलायुधः। (घ) विचार-पेशलानि—विचारे पेशलानि विचारपेशलानि। 'पेशलो रुचिरे दक्षे' इति

विश्व प्रकाशः । (ङ) अङ्ककानाम्—अङ्कान्येवाङ्ककानि (अङ्क + स्वार्थे कन्) तेषामङ्ककानाम् । इसमें भी कवि ने 'कालभारिणी' या 'मालभारिणी' वृत्त का ही प्रयोग किया है ॥ २ ॥

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपाली—
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया[1] ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥ ३ ॥

अन्वयः—मदिरेक्षणायाः स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालीदोलायितश्रवण-कुण्डलवन्दनीया काऽपि रम्या दशा स्मरणेन मे मनसि आनन्दम् अङ्कुरयति ।

हिन्दीरूपान्तर—शराबी निगाहों वाली (प्रियतमा) की, पसीने के जल की सघन बूंदों से सुशोभित होने वाले गण्डस्थल पर हिलते हुए कर्णकुण्डलों के कारण स्तुत्य, कोई अनिर्वचनीय मनोहारिणी अवस्था याद आने पर मेरे मन में आनन्द पैदा कर देती है ।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है कि जब उसे श्लोक में वर्णित स्वरूप वाली प्रियतमा की याद आती है तो वह आनन्द-विभोर हो उठता है । इस प्रकार यहाँ नायिका आलम्बन है उसका स्मरण उद्दीपन है आनन्दित हो उठना अनुभाव है और हर्ष आदिक व्यभिचारी भाव है जिनके संयोग से नायक गत रतिस्थायिभाव व्यञ्जित होता है । इस प्रकार यहां शृङ्गार रस प्रस्तुत किया गया है । पद्य की रचना माधुर्य की व्यञ्जक होने के कारण उस शृङ्गार को अत्य-धिक परिपुष्ट करती है । यहां नायक द्वारा पूर्वार्द्ध में प्रियतमा के जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उससे नायिका की सुरतावस्था का ज्ञान होता है क्यों कि उसी अवस्था में सुरतश्रम से उत्पन्न स्वेदजल की बूँदों का चेहरे पर होना एव श्रव-णकुण्डलों का हिलना समीचीन प्रतीत होता है । (क) स्वेदाम्बुसान्द्र-कणशालिकपोलपालीदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया—स्वेदाम्बूनि 'स्वेदस्तु स्वेदने धर्मे' इति विश्वप्रकाशः । सान्द्राः कणाः सान्द्रकणाः । 'निरन्तरं घनं सान्द्रं बहुलं विरलेतरम्' इति हलायुधः । स्वेदाम्बूनां सान्द्रकणाः स्वेदाम्बुसान्द्र-कणाः । तैः शालेते इति स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिन्यौ । कपोलयोः पाल्यौ कपोल-पाल्यौ । स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिन्यौ कपोलपाल्यौ । तत्र दोलायिते श्रवण-कुण्डले स्वेदाम्बुसान्दुकर्णशालिकपोलपालीदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया । कुण्डल कर्णवेष्ठन या कान में पहने जाने वाले आभूषण को ही कहते हैं । अतः

---

१ "श्रवकुण्डलमण्डनीया" इति पाठान्तरम् ।

श्रवण कुण्डल कहना पुनरुक्त दोष को प्रस्तुत करता है। परन्तु वामनाचार्य ने 'काव्याललंकारसूत्रवृत्ति' में इस प्रकार के प्रसिद्ध प्रयोगों का समाधान प्रस्तुत किया है उनका कहना है श्रवण आदि का निर्देश सन्निधि की प्रतिपत्ति कराने के लिए किया जाता है। केवल कुण्डल से कर्ण सन्निहित कुण्डल की प्रतीति नहीं होती है वह तो देवियों की सन्दूकों एवं सर्राफ की दूकानों पर भी रखे हुये कर्णपूरों का बोध करा सकता है। परन्तु जब श्रवण कुण्डल कहा गया तो इससे निश्चित ही कानों में धारण किए गये कुण्डल की प्रतीति होती है। वामन का सूत्र है 'कर्णवतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु कर्णादिनिर्देशः सन्निधौ (२।२।१४) और वृत्ति में कहते हैं 'कर्णावतंसादिशब्देषु कर्णादीनामवतंसादिपदैरुक्तर्थानामपि निर्देशः सन्निधेः प्रतिपत्यर्थमिति सम्बन्धः। न हि कर्णादिशब्दनिर्देशमन्तरेण कर्णादिसन्निहितानामवतंसादीनां शक्या प्रतिपत्तिः कर्तुमिति (ख) मदिरेक्षणायाः—माद्यति आभ्यामिति मदिरे मदकारके हर्षकारके वेत्यर्थः।· 'मदो हर्षे 'इषि मादि मुदिखिदीछिदिदि मिदिमन्दिचन्दिनिनिमिहि मुहि मुचि-रुचि सधिबन्धि शुषिम्यः किरच (उणादि ५१) इति सूत्रेण किरच प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे विभक्तिकार्ये तत्सद्धिः। मदिरे ईक्षणे यस्याः सा मदिरक्षेणा। 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षण चक्षुरक्षिणी' इत्यमरः तस्या मदिरेक्षणाः। अथवा मदिर शब्द का अर्थ मत्तखञ्जन पक्षी मानकर मदिरस्येक्षणे इवेक्षणे यस्याः सा मदिरेक्षणा ऐसे विग्रह से सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इस भाष्यवार्तिक के आधार पर समास तथा उपमानभूत उत्तर पद का लोप स्वीकार किया जा सकता है। इस दशा में यहां 'धर्मवाचकोपमान लुप्ता उपमा अलंकार होगा (ग) अङ्कुरयति—अङ्कुरं करोतीति (अङ्कुर + णिच्) अङ्कुरयति का लक्षणिक प्रयोग है आनन्द को अङ्कुर बनाता है अर्थात् आनन्द को जन्म देता है इस श्लोक में कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३ ॥

कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिम्भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे आलि ! कस्तूरिकातिलकं विधाय सायं स्मेरानना सपदि सौधमौलिम् शीलय (यतः) कुमुदानि मुदानि मुदाम् उदाराम् प्रौढिम् भजन्तु (तथा) परितः हरितः मुखानि उल्लासयन्तु।

हिन्दीरूपान्तर—ऐरी सखी ! कस्तूरी का तिलक लगा करके सायंकाल मुस्कुराती हुई झट से राजभवन की चोटी पर चढ़ जाना (जिससे कि) कुमुद-

गण आनन्द की पराकाष्ठा को पहुँच जाँय और चारों ओर से दिशायें (अपने) मुखों को प्रकाशित करलें।

व्याख्या—यह किसी नायिका की सहेली उससे कहती हैं। यहाँ पर नायिका के मुख को देखकर कुमुदों का खिलना और दिशाओं का प्रकाशित हो उठना कहा गया है। जिससे यह बात ध्वनित होती है कि नायिका का मुख चन्द्रमा है। चन्द्रमा में कलङ्क होता है तो नायिका के माथे पर कलङ्क रूप में कस्तूरी तिलक विद्यमान है। चन्द्रमा में चांदनी होती है तो नायिका के मुख में मुस्कान है। इस प्रकार नायिका के मुख पर चन्द्रमा के आरोप रूप रूपकालंकार की ध्वनि यहाँ मानी जायगी जो कि कुमुदों के विकास आदि अर्थों की शक्ति से ध्वनित होती है। इस प्रकार यहाँ अर्थशक्तिमूलक रूपक ध्वनि है। यहाँ कुमुद एवं दिशाओं के अचेतन होने के कारण भ्रान्तिमान अलंकार नहीं माना जायगा। क्योंकि भ्रान्ति चेतन का धर्म है अचेतन का नहीं। यदि यह सन्देह उठाया जाय कि मुदित होना भी चूँकि चेतन का धर्म है अतः कुमुदादि पर चेतन का आरोप करके भ्रान्ति मानी जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि मुद् का यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है। उसमें उपचार वक्रता है। उपचार से वह विकसित होने का अर्थ प्रदान करता है। (क) कस्तूरीकातिलकम्—कस्तूरी एव कस्तूरिका (कस्तूरी + स्वार्थे कन् + टाप्) 'मृगनाभिर्मृगमदाप्रोक्ता कस्तूरिका बुधैः' (हलायुधकोश)। इसका स्वरूप 'भावप्रकाश' में इस प्रकार बताया गया है 'कस्तूरिका कटुतिक्ता क्षारोष्णा शुक्रला गुरुः। कफवातविषच्छर्दिशीत दौर्गन्ध्यशोषहृत।' (ख) आलि—'आलिः सखी वयस्या' इत्यमरः (ग) स्मेरानना—स्मेरमाननं यस्याः सा स्मेरानना, सस्मितवदना इत्यर्थः (घ) सपदि—सपदि का प्रयोग यहां शीघ्रता के वाचक रूप में हुआ है—स्राग् झटित्य-ञ्जसाऽह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमर (ङ) सौधमौलिम्—सौधस्य (राजसदनस्य) मौलिः (शिखरमित्यर्थः) सौधमौलिः। तम् सौधमौलिम्। 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्। इत्यमरः। (च) कुमुदानि—'कैरवम् कुमुदम्' इति हलायुधः। इस श्लोक में भी 'वसन्त तिलक' वृत्त ही है। लक्षण इसके पहले के श्लोक की व्याख्या में देखें॥ ४॥

तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा[1] मधुराननश्रीः!
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त!
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥ ५ ॥

---

१ "कलंकरहिता" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः तत् मञ्जु मन्दहसितम्, तानि श्वसितानि, कलङ्कविधुरा वै सा मधुराननश्रीः हन्त! अद्य अपि मे हृदयम् उन्मदयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—सायंकालीन कमल के समान नयनों वाली प्रियतमा की वह मधुर मुसकान, वे निःश्वास, और कलंक से हीन वह रमणीय मुखशोभा, हाय! आज भी मेरे हृदय को मतवाला बना देती हैं।

व्याख्या—विरही नायक अपने मित्र से कह रहा है कि वह प्रियतमा से दूर हो जाने पर भी आज भी उसकी मन्द हँसी को, साँसों को, मुख के सौन्दर्य को भूल नहीं पाता। आज भी वे उसके हृदय को मतवाला बना देती है। यहां पर 'तत्' आदि पदों के द्वारा उन मन्द मधुर हास आदि की केवल स्वानुभवगोचरता को प्रदिपादित किया गया है। अतः संवृतिवक्रता है। साथ ही इन पदों के द्वारा प्रकट की गई चिन्ता विभाव है, भौहों का ऊँचा करना शरीर का निश्चल होना आदि जिनका अनुमान लगाया जा सकता है अनुभाव होंगे जिनसे यह स्मृति भाव व्यङ्ग हो रहा है। इस प्रकार यहां प्रधान है यह स्मृति भाव की ध्वनि ही यद्यपि विप्रलम्भ शृङ्गार की भी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है उसका विभाव नायिका, अनुभाव 'हन्त' पद के द्वारा गम्य हृदय की विकलता और संचारीभाव स्मृति होगी जिनके संयोग से उस रस की निष्पत्ति होती है। परन्तु चूँकि सबसे पहले 'स्मृति' ही स्फुरित होती है और चमत्कारिणी भी है अतः उसी की ध्वनि मानना उचित होगा। (क) मधुराननश्रीः—मधुरं (मनोहरम्) आननमिति मधुराननम् मधुराननस्य श्रीः मधुराननश्रीः। अथवा 'आननस्य श्रीः आननश्रीः मधुरा (मनोहरा) आननश्रीः मधुराननश्रीः। मधुर को श्री अथवा आनन दोनों का विशेषण माना जा सकता है। मधुर का शब्दकोश है—श्रेष्ठं प्रेष्ठमनुत्तमञ्च मधुरम् मञ्जु प्रियं मञ्जुलम्। हृद्यं हारि मनोहरञ्च रुचिरं कान्तं परं सुन्दरम्' इति हलायुधः। (ख) सायन्तनाब्जसहोदरलोचनायाः—सायम्भवं सायन्तनम्। 'सायम्' इत्यव्ययात् भवार्थे 'सायंचिरंप्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' (४।३।२३) इत्यनेन ट्यु प्रत्यये ट्युल प्रत्यये वाऽनुबन्धलोपे, तुडागमे च 'यु' इत्यस्य 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इत्यनेन अनादेशे मस्यानुस्वारे पर सुवर्णं सौ विभक्ति कार्यं तत्सिद्धिः। सायन्तनमम्बुजं सायन्तनाम्बुजम्। तस्य सहोदरे सायन्तनाम्बुजसहोदरे। सायन्तनाम्बुजसहोदरे लोचने यस्याः सा सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचना। तस्याः सायन्तनाम्बुजसहोदर लोचनायाः। 'सहोदरा' का यहां पर लाक्षणिक प्रयोग है। उसका अर्थ सदृश है। अत्यन्त सादृश्य द्योतित करना उसका प्रयोजन है। कवि ने जो रमणी के नयनों का सादृश्य सायंकालिक कमल के साथ प्रस्तुत किया है उससे ध्वनित होता है

कि उस नायिका के नेत्र अधखुले हैं। वह उसकी जिस मुद्रा का स्मरण कर रहा उस समय वह आनन्दविभोर थी इसी से उसकी आंखे कुछ कुछ बन्द कुछ-कुछ खुली थी। इस पद्य में भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त ही उपनिबद्ध किया है ॥ ५ ॥

प्रातस्तराम्प्रणमने विहिते गुरूणा-
माकर्ण्य वाचममलाम्भव पुत्रिणीति।
नेदीयसि प्रियतमे परमप्रमोद-
पूर्णादरन्दयितया दधिरे दृगन्ताः ॥ ६ ॥

अन्वयः—प्रस्तराम् गुरूणाम् प्रणमने विहिते 'पुत्रिणी भव' इति अमलां वाचम् आकर्ण्य दयितया नेदीयसि प्रियतमे परमप्रमोदपूर्णादरम् दृगन्ताः दधिरे।

हिन्दीरूपान्तर—बड़े सवेरे गुरुजनों के प्रति प्रणाम करने पर "पुत्रवती होओ" इस निर्म्मल वाणी को सुनकर प्रियतमा ने निकटवर्ती प्राणनाथ पर परमानन्द से परिपूर्ण आदर के साथ कटाक्ष फेंके।

व्याख्या—किसी कुलवधू ने प्रातःकाल कुलवधूचित आचार का पालन करते हुए अपने सास, ननद आदि गुरुजनों को प्रणाम किया। बगल में उनके पति देव भी खड़े थे। गुरुजनों ने जब आशीर्वाद दिया कि 'पुत्रवती हो ओ' तो हर्ष और लज्जा वश उसने प्रियतम पर कटाक्षपात किया। यहाँ कवि ने नायिकागत हर्ष' व्यभिचारी भाव को व्यञ्जित कराया है। लक्षण है—

"देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः• प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरघनागमः ॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः ॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षन्तमादिशेत् ॥"

अर्थात् देवता, पति, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, प्रियसमागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और मनोहर धन का लाभ तथा पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं, आँखों तथा मुख की प्रसन्नता प्रिय वचन, रोमाञ्च आँसू और प्रस्वेद आदि जिसके अनुभाव होते हैं उसे हर्ष कहते हैं। यहाँ पर गुरुजनों का पुत्रववी होने का आशीर्वाद विभाव तथा प्रियतम पर प्रमोदपूर्ण कटाक्ष पात अनुभाव है जिन से हर्ष व्यभिचारीभाव ध्वनित होता है। अतः यहां हर्षभाव ध्वनि है (क) प्रातस्तराम्—अतिशयेन प्रातः प्रातस्तराम्। 'प्रातर 'अययात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५।३।५७) इत्यनेन तरप् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'तरप्तमपौघः' (१।१।२२) इत्यनेन 'तरप्' इत्यस्य घसञ्ज्ञायाम्

तदन्तात् 'प्रातस्तर' 'शब्दात् 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (१।४।१८४) इत्यकार लोपे अव्ययत्वेन विभक्तेर्लुकि तत् सिद्धिः । (ख) नेदीयसि—अतिसमीपवर्तिनि इत्यर्थः । 'अन्तिक' शब्दात् ईयसुन प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (५।३।६३) इत्यनेन 'अन्तिक' इत्यस्य 'नेद' इत्यादेशे नत्सिद्धिः । (ग) परमः प्रमोदः (प्र + मुदोहर्षे + भावे घञ् परमप्रमोदः 'प्रमोद प्रमदौ हर्षःप्रीतिरुत्कर्ष उद्धवः' इति हलायुधः । परप्रमोदेन पूर्णः परमप्रमोदपूर्णः । परमप्रमोदपूर्णः आदरः यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा परमप्रमोदपूर्णादरम् (इदं क्रिया विशेषणम्) (घ) दयितया—वल्लभया प्रियया इत्यर्थः । 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः ! इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त को ही उपनिबद्ध किया है ॥ ६ ॥

गुरुजनभयमद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावमुद्वहन्त्याः[1] ।
दरदलदरविन्दसुन्दरे[2] हा ! हरिणदृशो नयने[3] न विस्मरामि ॥७॥

अन्वयः—गुरुजनभयमद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावम् उद्वहन्त्याः हरिणदृशः दरदलदरविन्दसुन्दरे नयने हा ! न विस्मरामि ।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुजनों के डर के मारे मेरे देखने के लिए भीतर से उठती हुई व्याकुलता को धारण करती हुई मृगनैनी की कुछ कुछ विकसित होते हुई कमल के समान सुन्दर आँखों कों, हाय ! नहीं भूल पा रहा हूँ ।

व्याख्या—कोई विरही नायक अपने मित्र से कह रहा है कि मैं अपनी प्रियतया की आंखों को नहीं भूल पा रहा हूँ । यहाँ पर कवि ने विप्रलम्भ श्रृङ्गारको प्रस्तुत किया है । पूर्वार्द्ध में गुरुजनों के भय से उत्पन्न 'त्रास' और नायक का अवलोकन करने के लिए उत्पन्न 'औत्सुक्य' भावों की सन्धि है । साथ ही 'दरदलदरविन्द सुन्दरे' पद में साधारण धर्म के प्रतिपादक सुन्दर शब्द के साथ समास होने से नेत्र और किञ्चित् खिले हुए कमल में 'उपमा' की प्रतीति होती है । यह उपमालंकार और भाव सन्धि दोनों ही उत्तरार्द्ध में आई हुई स्मृति को सुशोभित करते हैं । इस प्रकार वह स्मृति और हा ! पद से अभिव्यक्त होने वाला संलाप रूप अनुभाव दोनों विप्रलम्भ श्रृङ्गार को परिपुष्ट करते हैं । वैसे हरिणदृशः पद में भी धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है । (वा) गुरुजनभयमद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावम्—आकुलस्य भावः आकुलभावः । 'व्यस्ते त्वप्रगुणाकुलौ' इत्यमरः । समुदयन्नाकुलभावः समुदयदाकुलभावः ।

---

१. "भावमावहन्त्याः" इति पाठन्तरम् ।
२. "दलदरविन्दसुन्दरम्" इति पाठान्तरम् ।
३. "नयनम्" इति पाठान्तरम् ।

अन्तः (अभ्यन्तरे) समुदयदाकुलभावः अन्तःसमुदयदाकुलभावः। मत्सम्बन्धि विलोकनं मद्विलोकनम्। मद्विलोकनाय अन्तःसमुदयदाकुलभावः मद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावः। गुरवः जनाः गुरुजनाः। गुरुजनेभ्य भयं गुरुजनभयम्। गुरुजनभयेन (हेतुना) मद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावः गुरुजनभयमद्विलोकनान्तः समुदयदाकुलभावः। तम् तथोक्तम्। (ख) दलदरविन्दसुन्दरे—दलद् अरविन्दं दलदरविन्दम्। तस्य द्वि वचने दलदरविन्दसुन्दरे (ग) हरिणदृशः—पश्यत्यनेनेति दृक् (दृश् + करणे क्विप्) नेत्रमित्यर्थः। लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी। दृष्टी च' इत्यमरः। द्विवचने दृशौ। हरिणस्य (मृगस्य) दृशाविव दृशौ यस्याः सा हरिणदृक्। 'सतम्युपमान पूर्वस्य' इति भाष्यवार्तिकेन समासः उपमानपदलोपश्च। तस्याः हरिणदृशः। यहां धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है' इसमें कवि ने 'पुष्पिताग्रा 'वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है 'अयुजि न युगरेफतो यकारो, युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७ ॥

बदरामलकाम्रदाडिमानामपहृत्य श्रियमुन्नतौ क्रमेण।
अधुना हरणे कुचौ यतेते दयिते! ते करिशावकुम्भलक्ष्म्याः ॥८॥

अन्वयः—हे दयिते! ते उन्नतौ कुचौ क्रमेण बदरामलकाम्रदाडिमानाम् श्रियम् अपहृत्य अधुना करिशावकुम्भलक्ष्म्याः हरणे यतेते।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ प्रियतमे! तुम्हारे उन्नत स्तन क्रमशः बेर, आँवले, आम और अनार की शोभा छीन कर अब हाथी के बच्चे के गण्डस्थल की शोभा छींनने की कोशिश कर रहे हैं।

व्याख्या—किसी नायिका के बराबर बढ़ते हुए स्तनों को देखने वाले नायक की यह उक्ति है। यहां कवि ने सार अलङ्कार प्रस्तुत किया है। सार का लक्षण है—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते' (कुवलयानन्द) अर्थात् किसी वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष को सार कहते है। यहां कुचों का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित है पहले उन्होंने बेर की शोभा का अपहरण किया फिर आंवले की फिर आम की तदनन्तर अनादर की और उसके बाद अब करिशावक के गण्डस्थल की शोभा छीनने में लगे हुए है। इससे नायिका के कुचों का बेर आदि के साथ सादृश्य ध्वनित होता है। बदरामलकाम्रदाडिमानाम्—बादरञ्च आमलकञ्च आम्रश्च दाडिमश्चैतेषामितरेतरयोगः बदरामलकाम्रदाडिमाः। तेषां बदरामलकाम्रदाडिमानाम्। बदर कहते है बेर को 'कोलं कुवलफेनिले सौवीरं बदरं घोण्टा' इत्यमरः। आमलक कहते है आँवला को 'तिष्पफलात्वामलकी त्रिषु अमृता च वयःस्था च' इत्यमरः। आम्र आम को कहते ही हैं 'आम्रश्चूतो रसालः

इत्यमरः। दामिम कहते हैं, अनार को 'समौ करकदाडिमौ' इत्यमरः। (ख) करिशावकुम्भलक्ष्म्याः—करिणः शावः करिशावः। 'बालः पाकोऽर्भको गर्भः पोतश्च पृथुकः शिशुः। शावो डिम्भश्च' इति हलायुधः। करिशावस्य कुम्भौ करिशावकुम्भौ। मूर्धपिण्डौ स्मृतौ कुम्भौ' इति हलायुधः। करिशावकुम्भयोः लक्ष्मीः करिशावकुम्भलक्ष्मी। तस्याः करिशावकुम्भलक्ष्म्याः। इसमें कवि ने कालभारिणी अथवा मालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८ ॥

[1]कपोलपालिन्तव तन्वि ! मन्ये
लावण्यधन्ये ! दिशमुत्तराख्याम्।
[2]आभाति यस्यां ललितालकायाम्
मनोहरा वैश्रवणस्य लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे लावण्यधन्ये ! तन्वि !! तव कपोल पालिम् उत्तराख्याम् दिशम् मन्ये, ललितालकायां यस्यां वैश्रवणस्य मनोहरा लक्ष्मीः आभाति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ प्रशस्त सौन्दर्य वाली कृशाङ्गी ! तुम्हारी कपोलपङ्क्ति को मैं उत्तर नाम की दिशा समझता हूँ, सुन्दर अलकों वाली (तथा सुन्दर अलका नगरी वाली) जिसमें कानों की (तथा कुबेर की) रमणीय शोभा (सम्पत्ति) सुशोभित हो रही है।

व्याख्या—कोई नायक नायिका से कह रहा है। यहाँ नायिका की कपोलभित्ति की उत्तर दिशा के रूप में कल्पना की गई है। कपोलभित्ति उपमेय है और उत्तरदिशा उपमान है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है—"भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।" अर्थात् किसी प्रस्तुत (उपमेय) वस्तु की अप्रस्तुत (उपमान) रूप में सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है। यहाँ 'मन्ये' शब्द का ग्रहण होने के कारण वाच्या है। यहाँ दोनों की उत्प्रेक्षा का निमित्त धर्म श्लेष द्वारा साधारण किया गया है। यहाँ पर विषय (उपमेय) 'कपोलभित्ति' का धर्म है 'सुन्दर अलकों वाली होना' तथा विषयी (उपमान) 'उत्तर दिशा' का धर्म है 'सुन्दर अलका नगरी वाली होना'। तथा विषय में कानों की शोभा है तथा विषयी में कुबेर की सम्पत्ति है। परन्तु इन दोनों के धर्मों को श्लेष द्वारा साधारण कर दिया गया है और इसी साधारण धर्म के आधार पर उत्प्रेक्षा की गई है। (क) लावण्यधन्ये—लवणस्य भावः लावण्यम्। सौन्दर्य-

---

१. "कपोलपालीन्तव" इति पाठान्तरम्।
२. "विभाति यस्याम्" इति पाठान्तरम्।

मित्यर्थः। सौन्दर्य अर्थ में लावण्य का लाक्षणिक प्रयोग है 'सलोनापन' को लावण्य कहते है। लावण्य का लक्षण जीवानन्द ने अपनी टीका में इस प्रकार दिया है—'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य-मिहोच्यते' ॥ इति। राजानक रुय्यक ने सहृदय लीला में लावण्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—'तरङ्गिद्रवस्वभावाप्यायिनेत्रपेयव्यापिस्निग्धमधुर इव प्रीतिमोत्क-र्षैकसार इव पूर्णेन्दुवदाह्लादको धर्मः संस्थानमुग्धिमव्यञ्जयो लावण्यम्। "लाव-ण्येन हेतुना धन्या लावण्यधन्या तत्सम्बुद्धौ लावण्यधन्ये। 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः" इत्यमरः। (ख) ललिताल्कायाम्—कपोलपाली के पक्ष में समास होगा–ललिताः अलकाः यस्याः सा ललितालका, तस्यां ललितालकायाम्। अलक का अर्थ घुघराले बाल होता है। 'अलकं कुटिलाः केशाः' इति हलायुधः। तथा उत्तर दिया के पक्ष में समास होगा ललिता अलका (कुवेरनगरी) यस्यां सा ललितालका। तस्यां ललितालकायाम्। 'अलका नगरी ज्ञेया (कुवेरस्य) इति हलायुधः। (ग) वैश्रवणस्य—कपोलपाली के पक्ष में वैश्रवणस्य अलग अलग पद लेंगे। वै यहां निश्चयवाचक होगा, अमरकोश का कथन है स्युरेवन्तु पुन-र्वै-वेत्यवधारणवाचकाः।' और श्रवण का अर्थ कान होगा 'कर्णः श्रोत्रं श्रुतिः श्रवःश्रवणम् इति हलायुधः तथा उत्तर दिशा के पक्ष में वैश्रवण' यह एक पद होगा जिसका अर्थ कुवेर होता है 'कुवेरस्त्र्यम्बकसखो यक्षराड् गुह्य-केश्वरः। किन्नरेशो वैश्रवणः पौलस्त्यो नरवाहनः' इत्यमरः। (घ) लक्ष्मीः—कपोलपाली के पक्ष में लक्ष्मी का अर्थ शोभा और उत्तर दिशा के पक्ष में सम्पत्ति है—'लक्ष्मीः श्री शिवसम्पत्तिपद्माशोभाप्रियङ्गुषु' इति विश्वप्रकाशः। इसमें 'इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के लक्षण से युक्त चरणों के मिले होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है। प्रथम और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय और तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण विद्यमान है। 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। तथा 'उपेन्द्रवजा प्रथमे लघौ सा' और 'उपजाति' का लक्षण है—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीवावुपजातयस्ताः। इत्थं किलान्यास्वविमिश्रि-तासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९ ॥

नीवीन्नियम्य शिथिलामुषसि प्रकाश—
मालोक्य वारिजदृशः शयनञ्जिहासोः।
नैवावरोहति कदाऽपि च मानसान्मे
नाभेः प्रभा सरसिजोदरसोदरायाः ॥ १० ॥

अन्वयः—उषसि प्रकाशम् आलोक्य शिथिलाम् नीवीम् नियम्य शयनम्

जिहासोः वारिजदृशः सरसिजोदरसोदरायाः नाभेः प्रभा कदाऽपि च मे मानसात् न एव अवरोहति।

हिन्दीरूपान्तर—प्रातः काल उजाला देखकर ढीली नीवी को बाँधकर बिस्तर छोड़ने की इच्छा वाली कमलनैनी प्रियतमा की कमल के मध्य भाग की सहोदरा (गम्भीर) नाभि की सुन्दरता कभी भी मेरे हृदय से नहीं ही उतरती।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा की याद करते हुए अपने मित्र से कहता है मित्र ! उसकी नाभि की सुन्दरता कभी भी मेरे चित्त से उतरती ही नहीं। सुन्दरता का 'चित्त से उतरना' असम्भव है क्यों कि सुन्दरता अचेतन है जब कि चढ़ना उतरना चेतन का धर्म है। अतः लक्षण से 'उतरने' का अर्थ 'भूलना' प्राप्त होता है और भूलने का अभाव होने से स्मृति प्रतिपादित होती है। साथ ही कवि ने यहाँ नाभि को कमलगर्भ की सहोदरा कहा है जिसका मुख्य अर्थ 'एक ही पेट से जन्म लेना' जो यहाँ अनुपपन्न हो जाता है अतः लक्षणा से 'सहोदर' का अर्थ 'समान' हो जायगा, जिसका प्रयोजन कमलिनी की शोभा में समान हिस्सा ग्रहण करना होगा। इस प्रकार यहाँ उपमा लक्ष्य है। साथ ही आर्थी है क्योंकि सादृश्य प्रतीति तुरन्त न होकर लक्षणा के बाद होती है। यह लक्ष्य उपमा स्मृति को सुशोभित करती है। इसके अतिरिक्त 'वारिजदृशः' पद में वाचकधर्म लुप्ता समासगता उपमा भी है। (क) नीवीम्—पहनने के कपड़े की गांठ को नीवी कहते हैं—'परिधानांशुकग्रन्थिः प्रोक्ता नीवी तथोच्चयः।" इति हलायुधः। (ख) वारिजदृशः—वारिणि जातं वारिजं कमलमित्यर्थः। वारिजमिव दृक् यस्याः सा वारिजदृक्। तस्याः वारिजदृशः। अथवा वारिजे इव दृशौ यस्याः सा तस्याः। (ग) जिहासोः—हातुमिच्छुः जिहासुः (ओहाक् त्यागे + सन् + 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२।१६८) इति उः। त्युक्तमिच्छुः इत्यर्थः। तस्याः जिहासोः। (घ) मानसात्—हृदयादित्यर्थः। 'चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। (ङ) सरसिजोदरसोदरायाः—सह समानमुदरं यस्याः सा सोदरा (सह + उदरम्, 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम् (६।३।७८) इति सहस्य सः। सरसि जातं सरसिजम् (सरस् + जनि प्रादुर्भावे + ड 'सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७)। ततः तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इत्यनेन पाक्षिके ङेरलोपे तत्सिद्धिः। कमलमित्यर्थः सरसिजस्योदरं सरसिजोदरम्। सरजिदोरस्य सोदरा सरसिजोदरसोदरा। तस्याः सरसिजोदरसोदरायाः। कमल के भीतरी भाग के आकार की तरह जिसकी नाभि का आकार था। इससे नायिका की नाभि का सौन्दर्यातिशय व्यञ्जित होता है। सोदर का यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग है। सादृश्यातिशय द्योतित कराना प्रयोजन

है। यहाँ कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)।

मुधैव नक्तम्परिकल्प्य 'गन्तुम्मृषैव रोषादुपजल्पतो मे।
उदश्रुचञ्चन्नयना नताङ्गी गिरन्न काङ्कामुररीचकार ॥११॥

अन्वयः—नक्तम् मुधा एव गन्तुम् परिकल्प्य मृषा एव रोषाद् मे उपजल्पतः उदश्रुचञ्चन्नयना नताङ्गी काम् काम् गिरम् न उररीचकार।

हिन्दीरूपान्तर—रात में व्यर्थ ही जाने की तैयारी कर झूठे ही क्रोध से मेरे बड़बड़ाते समय बहते हुए आंसुओं से युक्त चंचल आँखों वाली झुके हुए शरीरवाली (प्रियतमा) ने कौन कौन सी बात नहीं मानलीं।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से बता रहा है कि एक समय मैं किसी बात पर अपनी प्रियतमा से नाराज हो गया। बस क्या था, झट से बोरिया विस्तर बांधने लगा हलाँ कि हमारी परदेश जाने की रुपये में एक पैसे भर भी इच्छा नहीं थी। मेरे जाने की तैयारी देख वह रोने लगी और मुझे मनाने लगी। मनाते समय उसने क्या क्या नहीं कहा अर्थात् बहुत कुछ कहा अपना बारम्बार अपराध स्वीकार किया कि आप जो कुछ कहेगें उसी के अनुसार मैं कार्य करूँगी, आप जाइए नहीं इत्यादि-इत्यादि। अथवा 'गिरन्न काङ्कामुररी-चकार' का यह आशय भी लिया जा सकता है कि उस समय मैंने जो जो ऊट पटांग बाते उसके लिए कहा चुपचाप रोते हुए उसने सुन लिया महज़ इस लिये कि मैं परदेश न जाऊँ। यहाँ कवि ने नायिका गत 'दैन्य' भाव को प्रस्तुत कराया है। नायिका द्वारा किए गए अपराध के कारण प्रियतम का परदेश की तैयारी करना उसका विभाव है तथा 'किस किस बात को स्वीकार न कर लेना' अनुभाव है इन दोनों से दैन्य भाव व्यञ्जित होता है। दैन्य का लक्षण है—"दुःखदारिद्र्यापराधादिजनितस्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यम्।" (रसगङ्गाधर) अर्थात् दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि से उत्पन्न हुई एवं अपने विषय में हीन शब्द बोलने आदि की कारणभूत एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम दैन्य है।" (क) मुधैव—व्यर्थमेव। 'व्यर्थके तु वृथा मुधा' इत्यमरः। (ख) नक्तम्—रात्रौ। 'अथ दोषा च नक्तञ्चरजनाविति' इत्यमरः। (ग) मृषैव—मिथ्यैव। झूठे ही। 'मृषा मिथ्या च वितथे' इत्यमरः। (घ) उदश्रुचञ्चन्नयना—उद् उद्गता अश्रूणि ययोस्ते उदश्रुणी च चञ्चती च नयनं यस्याः सा उदश्रु चंचन्नयना। बहते हुये आंसुओं से युक्त चञ्चलनेत्रों वाली। (ङ) नताङ्गी—नतमङ्गं गात्रं यस्याः सा नताङ्गी। (च) उररी-

१. मन्तुम्।

चकार—स्वीचकारेत्यर्थः । इसमें कवि ने उपेन्द्रवज्रा वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' (वृत्तरत्नाकर) ॥ ११ ॥

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः ।
यदवधि न पदन्दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः ॥

अन्वयः—यदवधि हरिणकिशोरदृशः दृशोः विलासः चित्ते पदम् न दधाति तदवधि पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः कुशली ।

हिन्दीरूपान्तर—जब तक कि मृगशावक नैनी प्रियतमा की आँखों का विलास मेरे हृदय में पैर नहीं रखता तभी तक सैकड़ों पुराणों, शास्त्रों एवं स्मृतियों के सुन्दर विचारों से उत्पन्न होने वाले विवेक की खैरियत है ।

व्याख्या—पुराणों, शास्त्रों एवं स्मृतियों के उपदेश देने वाले व्यक्ति से किसी नायक की यह उक्ति है । यहाँ कवि ने यह प्रतिपादित किया है कि 'प्रियतमा के नेत्र विलास के हृदय में पैर रखने पर पुराणादि जन्य विवेक की कुशल नहीं' । यह बात केवल कविकल्पनामात्र प्रसूत है, वास्तविक नहीं क्योंकि नेत्र विलास अचेतन है, उसका हृदय में पैर रखना लोकसिद्ध नहीं । अतः यह कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु है और इस वस्तु से यह वस्तु व्यक्त होती है कि—"जब कामिनी के नेत्र विलास के हृदय में पैर रखने मात्र से विवेक की खैरियत नहीं, तो उसके हृदय में अच्छी तरह जम जाने पर तो उसकी खैरियत की बात भी नहीं उठती ।" इस प्रकार यहाँ पर कवि ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के 'कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि रूप प्रकार को प्रस्तुत किया है । (क) पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजः—पुराणानि च शास्त्राणि च समृतयश्च पुराणशास्त्रस्मृतयः । पुराणशास्त्रस्मृततीनां शतानि पुराणशास्त्रस्मृतिशतानि । चारवः विचाराः चारुविचाराः । पुराणशास्त्रस्मृतिशतानां चारुविचाराः पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचाराः । तेभ्यः जातः पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजः । यहाँ पुराण और शास्त्र को यदि अलग-अलग स्वीकार किया जाय तो शास्त्र के द्वारा पुराण से भिन्न शास्त्रों का का संग्रह किया जा सकता है क्योंकि पुराण स्वयं भी प्रथमतः एक शास्त्र ही है जैसा मत्स्यपुराण में कहा गया है—'पुराण सर्वशास्त्राणां प्रथमंब्रह्मणा स्मृतम्" राजशेखर शास्त्र को पौरुषेय और अपौरुषेय दो प्रकार के बताये हैं । उन्होंने अपौरुषेय शास्त्र के रूप में वेदों को तथा पौरुषेय शास्त्र के रूप में पुराण, आन्वीक्षकी, मीमांसा तथा स्मृतियों को प्रतिपादित किया है । पुराण के लिए अमरकोश का कहना है—'पुराणं पञ्चलक्षणम्' । पुराण के ये पांचों लक्षण राजशेखर के शब्दों में इस प्रकार है—सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः । जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं

पुराणमिति।" अठारह पुराण और अठारह स्मृतियाँ है। (ख) हरिणकिशोर-दृशः—हरिणस्य किशोरः हरिणकिशोरः। हरिणकिशोरस्य दृशाविव दृशौर्यस्याः सा हरिणकिशोरदृक्। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' भाष्यवार्तिक से समास और उपमान पद का लोप। तस्याः हरिणकिशोरदृशः। यहाँ धर्मवाचकोपमान लुप्ता उपमा है इस श्लोक में कवि ने 'पुष्पिताग्रा' वृत्त उपनिबद्ध किया है लक्षण है—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' (छन्दो-मञ्जरी)॥ १२॥

आगतः पतिरितीरितञ्जनैः शृण्वती चकितमेत्य देहलीम्।
कौमुदीव शिशिरीकरिष्यते लोचने मम कदा मृगेक्षणा?॥१३॥

अन्वयः—मृगेक्षणा कदा जनैः '(ते) पतिः आगतः' इति ईरितं शृण्वती चकितम् देहलीम् एत्य कौमुदीव मम लोचने शिशिरीकरिष्यते?

हिन्दीरूपान्तर—मृगनैनी (न जाने) कब, लोगों से "तुम्हारा पति आ गया है" ऐसी बात सुनती हुई आश्चर्य से देहली तक आकर चाँदनी की तरह मेरी आँखों को ठण्ढक पहुँचायेगी।

व्याख्या—अपनी प्रियतमा से मिलने के इच्छुक किसी प्रवासी नायक की यह उक्ति है। वह सोच रहा है कि उसकी प्रियतमा से मुलाकात कब होगी। यहाँ कवि ने उपमा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। कौमुदी उपमान है, मृगनैनी उपमेय है, ठण्डक पहुँचाना साधारण धर्म है और इव उपमा वाचक शब्द है। अतः पूर्णोपमा है। यहाँ 'शृण्वती' पद में प्रयुक्त शतृ प्रत्यय द्वारा सुनने के साथ साथ ही देहली पर आ जाना इस अतिशयोक्ति रूप से व्यञ्जित त्वरा का अतिशय प्रियतमागत औत्सुक्यातिशय को परिपुष्ट करता है, और 'चन्द्रिका' से दी गई उपमा प्रियतमा के औत्सुक्य को पुष्ट करती है, साथ ही 'आश्चर्य से' यह आने की क्रिया का विशेषण भी औत्सुक्य को ही परिपुष्ट करता है। इस प्रकार यह पद रमणीय है, लेकिन इतना सब होते हुए भी यहाँ कवि ने जो 'शिशिरीकरिष्यते' में भविष्यत् काल वाले साधारण धर्म को प्रस्तुत किया है वह जिस तरह उपमेय मृगनैनी के साथ अन्वित हो जाता है वैसे उपमान 'कौमुदी' के साथ नहीं अन्वित होता है, क्योंकि चादनी का शीतल करना भविष्यत्कालिक नहीं है। अतः इस 'उपमा' में उपमान और उपमेय के अनुगामी धर्म में काल की अनुपपत्ति रूप दोष विद्यमान है। (क) शिशिरीकरिष्यते—अशिशिरे शिशिरे करिष्यते इति शिशिरीकरिष्यते (अभूतदभावे च्विः)। (ख) मृगेक्षणा—मृगस्येक्षणे इवेक्षणे यस्याः सा मृगेक्षणा। 'सप्तम्युपमान पूर्वस्येति' समासः। धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा। (ख) कौमुदीव—इवेन समासो विभक्त्य-

लोपश्च । इति वार्तिकेन समासः । कुमुदस्येयं कौमुदी, (कुमुद + अण् + ङीप्) अर्थात् चाँदनी । 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना । इत्यमरः (ग) देहलीम्— अर्थात् डेहरी । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । इसमें कवि ने 'रथोद्धता वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—'रात्परैर्नरलगैः रथोद्धता, (छन्दोमञ्जरी) । पता नहीं पण्डित जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने यहां इन्द्रवज्रा का लक्षण कैसे घटित किया । उन्होंने इसमें इन्द्रवज्रा वृत्त बनाया है ॥ १३ ॥

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना ।
अवलोक्य समागतन्तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥१४॥

अन्वयः—दिवसावसानकाले अवधौ भवनद्वारि विलोचने दधाना रामा तदा समागतम् माम् अवलोक्य अथ विकसन्मुखी बभूव ।

हिन्दीरूपान्तर—दिन बीतते समय की अवधि पर घर के दरवाजे पर आँखे लगाये हुए प्रियतमा उस समय पहुँचे हुए मुझे देखने के बाद प्रसन्नमुख हो गई ।

व्याख्या—यहाँ कोई नायक अपने मित्र से यह बताता है कि उसने घर पहुँचने के लिए प्रियतमा से बता आया था कि फलां दिन मैं सायंकाल तुम्हारे पास आऊँगा । उस दिन उसकी प्रियतमा दरवाजे पर आँखे लगाये सायंकाल निर्धारित समय पर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी कि यह पहुँच गया है और वह इसे देख कर अत्यधिक हर्षित हुई । इस प्रकार यहाँ पर हर्ष व्यभिचारी भाव व्यञ्जित हुआ है । हर्ष का लक्षण है—

"इष्ट प्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः" (रसगंगाधर) तथा "हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनः प्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः" (सा० द०) अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि से उत्पन्न सुख को हर्ष कहते हैं । यहाँ नायिका की अभीष्टवस्तु है प्रियतम का दर्शन उसकी प्राप्ति से उसे सुख मिला इसी लिये वह प्रसन्न मुख हो गई । यहाँ हर्ष को व्यञ्जित करने वाला विभाव है प्रियतम का आगमन और अनुभाव है मुख का प्रसन्न हो उठना । इस तरह कवि ने हर्ष व्यभिचारिभाव को व्यञ्जित करके भाव ध्वनि का प्रस्तुत किया है । भावध्वनि का लक्षण है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ।

भावः प्रोक्तः"—(काव्यप्रकाश) अर्थात् देवादि विषयक रति तथा व्यभिचारिभाव व्यञ्जित होने पर भाव कहे जाते हैं । (क) दिवसावसानकाले—दिवसस्यावसानं दिवसावसानम् दिवसावसानस्य कालं दिवसावसानकालम् । तस्मिन् दिवसावसानकाले । सन्ध्या काले इत्यर्थः 'दिनान्ते तु सायं सन्ध्या पितृप्रसूः' इत्यमरः । अवधि का अर्थ यहाँ सीमा से । अर्थात् सन्ध्या-

काल प्रियतम के आने की सीमा के रूप में निर्धारित था। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात् सीम्निकाले विलेऽपि च। इति विश्वप्रकाशः। इसमें कवि ने 'माल भारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है—'विषमे ससजा यदा गुरू सभरा येन तु मालभारिणीयम्।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १४ ॥

वक्षोजाग्रम्पाणिनाऽऽमृष्य दूरं
यातस्य द्रागाननाब्जम् प्रियस्य।
शोणाग्राभ्याम्भामिनीलोचनाभ्या-
ञ्जोषञ्जोषञ्जोषमेवावतस्थे ॥ १५ ॥

अन्वय—भामिनी पाणिना वक्षोजाग्रम् आमृष्य द्राक् दूरं यातस्य प्रियस्य आननाब्जं शोणाग्राभ्याम् लोचनाभ्याम् जोषम् जोषम् जोषम् एव अवतस्थे।

हिन्दीरूपान्तर—प्रियतमा एक हाथ से स्तनों के अग्रभाग को मसल कर तुरन्त दूर भाग गए प्रियतम के मुखकमल को लाल अग्रभागवाली आँखों से से देख-देख चुप ही खड़ी रह गईं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने नायिका के अमर्ष भाव को व्यक्त किया है नायक नायिका के पास आया और उसके स्तनों के अग्रभाग को मसला और उसे उत्तेजित किया परन्तु विना सम्भोग किए ही दूर भाग गया जिससे कि सन्तुष्ट न होने के कारण साथ ही अपमानित होने से उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं पर कर ही क्या सकती थी। एक टक देखते हुए चुप खड़ी रह गई। इस प्रकार यहाँ अमर्ष व्यभिचारी व्यञ्जित हुआ है। अमर्ष का लक्षण है—

"निन्दाऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्ज्जनादिकृत् ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् निन्दा, आक्षेप और अपमान आदि के कारण, आँखों में लालिमा, सिर में कम्प, भ्रूभङ्ग और तर्जन आदि को उत्पन्न करने वाला चित्त का अभिनिवेश अमर्ष होता है। यहाँ पर अमर्ष का व्यञ्जक विभाव है अकस्मात् स्तनों के अग्रभाग का मसल देना और अनुभाव हैं आँखों की लालिमा और निर्निमेष दृष्टि से देखते रह जाना। अतः पहले के श्लोक की भाँति यहाँ पर भी अमर्ष रूप भावध्वनि है। (क) वक्षोजाग्रम्—वक्षसि जातः वक्षोजः (वक्षस् + जनीप्रादुर्भावे + ड) स्तन इत्यर्थः। वक्षोजयोः अग्रम् वक्षोजाग्रम्। तद्। (ख) द्राक्—अर्थात् शीघ्र ही 'स्राग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षुसपदिद्रुते' इत्यमरः। (ग) आननाब्जम्—आननमब्जमिव आननाब्जम्। इस प्रकार उपमा मानकर उपमित समास बना सकते हैं। अथवा 'आननमेवाब्जम्' इति आननाब्जम्' ऐसा रूपक-

समास बना सकते हैं। (ख) शोणाग्राभ्याम्—शोणे अग्रे ययोस्ते शोणाग्रे। ताभ्यां शोणाग्राभ्याम्। शोण उसे कहते हैं जिसकी कान्ति लाल कमल की कान्ति के समान होती है। जैसा—अमरकोश का कथन है—शोणः कोकनदच्छविः।" इस प्रकार यहाँ कवि ने जो रक्त लोहित इत्यादि पदों का प्रयोग न करके जो शोण का प्रयोग किया है वह इसी भाव की व्यञ्जना कराने के लिये कि नायिका की आँखें लालकमल जैसी है। उसकी कान्ति लालकमल की कान्ति की तरह है। इस प्रकार यहाँ हम वामन के अनुसार 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' (३।२।२ क) 'वाक्यार्थे च पदाभिधा' रूप ओजस् अर्थगुण की सत्ता स्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि नायिका की आंखों की कान्ति लाल कमल की कान्ति के समान है इस वाक्यार्थ को यहाँ केवल (शोण) पद द्वारा प्रस्तुत किया गया है। (ङ) जोषञ्जोषम्—संसेव्य संसेव्य इत्यर्थः। जुषी प्रीतिसेवनयोः। इत्यनेन (आभीक्ष्ण्ये णमुल् च, (३।४।२२) इति पाक्षिकः णमुल् आशय यह कि देख-देख कर। यहाँ कवि ने 'जोषम्' पद का तीन बार प्रयोग किया है। पहले दो 'जोषम्' पद तो 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' से आभीक्ष्ण्य अर्थ में 'णमुल्' करके बने हैं। तीसरा 'जोषम्' अव्यय है जिसका अर्थ चुप रह जाना है। हलायुध कोश का कथन है—तूष्णीं जोषम्भवेन्मौने इस श्लोक में कवि ने 'शालिनी' वृत्त उपनिबद्ध किया है। उसका लक्षण है। मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः (छन्दोमञ्जरी) ॥ १५ ॥'

गुरुभिः परिवेष्टिताऽपि गण्डस्थलकण्डूयनचारुकैतवेन।
दरदर्शितहेमबाहुनाला मयि बाला नयनाञ्चलञ्चकार ॥ १६ ॥

अन्वयः—गुरुभिः परिवेष्टिता अपि बाला गण्डस्थलकण्डूयनचारुकैतवेन दरदर्शितहेमबाहुनाला मयि नयनाञ्चलम् चकार।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुजनों से घिरी हुई भी प्रियतमाने कपोलस्थल के खुजलाने के सुन्दर बहाने से स्वर्ण सदृश रूप बाहुदण्ड को थोड़ा दिखाती हुई मुझ पर कटाक्षपात किया।

व्याख्या—यहाँ कवि ने नायिका गत नायक विषयक रतिभाव को व्यक्त किया है। नायिका ने गुरुजनों के बीच होते हुए भी अपना गाल खुजलाने के बहाने अपने अनुराग को कटाक्ष फेंक कर और भुजमृणाल को दिखाकर व्यक्त किया है। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में नायिका की अनुराग चेष्टायें इस प्रकार बताई हैं—

"चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ॥
कापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥

आह्लादयति यागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥
यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत् कबरीमोक्षसंयमौ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत् तिलक क्रियाम् ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
दशति स्वाधरञ्चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥
दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मुहुरीक्षते ।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥
मन्यते बहुतच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्त्तते ॥
विकारान् सात्त्विकानास्य सम्मुखीनाधिगच्छति ।
भाषते सूनृतं स्निग्धमनुरक्ता नितम्बिनी ॥"

इस प्रकार यहाँ नायिकागतरति स्थायीभाव उद्बुद्ध हुआ है । नायक का दिखाई पड़ना विभाव है । भुजमृणाल का दिखाना, कटाक्ष आदि फेंकना अनुभाव है । जिससे नायिकागत रतिभाव व्यञ्जित होता है । (क) गण्डस्थलकण्डूयनचारुकैतवेन—गण्डस्य स्थलं गण्डस्थलम् । 'गण्डौ कपोलौ' इत्यमरः । गण्डस्थलस्य कण्डूयनं गण्डस्थलकण्डूयनम् । कण्डूञ् गात्र-विघर्षणे + भावे ल्युट् । चारुकैतवमिति चारुकैतवम् । कैतवं कपटं कूटं व्याजच्छ-द्मोपधिच्छलम् । मिषं निभञ्च निर्दिष्टं व्यपदेशश्च सूरिभिः । इति हलायुधः । गण्डस्थल कण्डूयन मेव चारुकैतवमिति गण्डस्थल कण्डूयनचारुकैतवम् । तेन तथोक्तेन । (ख) दरदर्शितहेमबाहुनाला—हेमवद् बाहुः हेमबाहुः । 'स्वर्ण सुवर्णं कनकं हेम हाटकम्' इत्यमरः । हेम बाहुरेव नालः । 'नालोनालः' । दर (ईषत्) दर्शितः दरदर्शितः । दर ईषदर्थ में अव्यय माना गया है' ईषदर्थे दराव्ययम् । इति विश्वप्रकाशः दरदर्शितः हेमबाहुनालः यया सा दर-दर्शितहेमबाहुनाला । (ग) नयनाञ्चलम्—अञ्चति प्रान्तभागं गच्छतीति अञ्चलं, (अञ्च् + अलच्) नयनयोरञ्चलः नयनाञ्चलः । तम् नयनाञ्चलम् कटाक्षपातमित्यर्थः । इसमें कवि ने 'मालभारिणी, वृत्त उपनिबद्ध किया है

लक्षण है । 'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम् ।' (वृत्तरत्नाकर)॥ १६ ॥

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी
निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवम्नतभ्रू—
लतिकम्मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत् ॥१७॥

अन्वयः—गुरुमध्यगता नताङ्गी मया नीरजकोरकेण मन्दम् निहता दरकुण्डलताण्डवम् नतभ्रूलतिकम् माम् अवलोक्य आसीत् ।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुजनों के बीच बैठी हुई झुके हुए अङ्गों वाली (प्रियतमा) मेरे द्वारा कमल की कली से धीरे से मारे जाने पर थोड़ा सा कुण्डलों को नचाते हुए और भ्रूलताओं को झुकाये हुए देखकर घूम गई थी ।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपने मित्र से युक्ति है, वह अपने मित्र से बताता है कि एक समय उसकी प्रियतमा अपनी सास, ननद आदि के बीच में बैठी हुई थी कि इसे बदमाशी सूझी और इसने कमल की एक कली से उसे मारा जब बड़ों के बीच उसका इसकी ओर देखना या कुछ कहना कैसे सम्भव था, अतः उसने भौंहे चढ़ाकर और कुण्डल नचाकर मेरी ओर ताक कर अपने अमर्ष को व्यक्त कर मुख फेर लिया । इस प्रकार कवि ने यहाँ नायिका के अमर्ष व्यभिचारिभाव को व्यक्त किया है । उसका व्यञ्जक अनुभाव है नायिका का कुण्डल नचाते हुए भौहे टेढ़ीकर प्रियतम को देखकर मुँह फेर लेना और विभाव है प्रियतमा पर कमल की कलिका से प्रहार । अतः यहाँ भी भावध्वनि है । (क) गुरुमध्यगता—गुरूणां मध्यं गुरुमध्यम् । गुरुमध्यं गता गुरुमध्यगता । (ख) नताङ्गी—नतानि (यौवनभरेण) अङ्गानि यस्याः सा नताङ्गी । (ग) दरकुण्डलताण्डवम्—कुण्डलयोः ताण्डवं कुण्डलताण्डवम् । दर (ईषत्) कुण्डलताण्डवं यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा दरकुण्डलताण्डवम् (क्रिया-विशेषणमेतत्) । 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यञ्च नर्तने' इत्यमरः । (घ) नतभ्रूलतिकम्—लते एव लतिके (स्वार्थे कन्) । इति भ्रुवौ एव लतिके भ्रूलतिके । नते भ्रूलतिके यस्मिन् कर्म्मणि तद् यथा स्यात् तथा नतभ्रूलतिकम् । (एतदपि क्रिया विशेषणम्) । (ङ) घूर्णिता—(घूर्ण भ्रमणे + क्त टाप्) । इसमें भी कवि ने मालभारिणी वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें ।

विनये नयनारुणप्रसारः
प्रणतौ हन्त ! निरन्तराश्रुधाराः ।
अपि जीवितसंशयः प्रयाणे
न हि जाने हरिणाक्षि ! केन तुष्येः ? ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे हरिणाक्षि ! विनये नयनारुणप्रसारः, प्रणतौ निरन्तराश्रुधाराः, प्रयाणे जीवितसंशयः अपि ; हन्त ! केन तुष्येः ? न हि जाने ।

हिन्दी रूपान्तर—ऐ मृगनैनी ! विनती करने पर आँखों में स्पष्ट लालिमा दौड़ जाती है, प्रणाम करने पर अविच्छन्न अश्रुधारायें बहने लगती है, चले जाने पर प्राणों का संशय है, अफसोस ! तुम कैसे प्रसन्न होओगी ? यह मैं नहीं ही जान पा रहा हूँ ।

व्याख्या—किसी नायक की प्रियतमा उससे रुष्ट है । वह उसे प्रसन्न करने की कोशिश कर रहा है, पर वह प्रसन्न नहीं हो रही है । अतः उसे मनाते हुए कह रहा है । (क) नयनारुणप्रसारः—अरुणस्य प्रसारः अरुणप्रसारः । नयनयोः अरुणप्रसारः नयनारुणप्रसारः । अरुण का अर्थ स्पष्ट ललिमा है—'अरुणो व्यक्तरागे स्यात्' इति विश्वप्रकाशः । (ख) निरन्तराश्रुधाराः—निर्गत मन्तरं यासां ताः निरन्तराः अविच्छिन्ना इत्यर्थः । अश्रुणां धाराः अश्रुधाराः । निरन्तराः अश्रुधाराः निरन्तराश्रुधाराः (ग) जीवितसंशयः—जीवितस्य संशयः जीवितसंशयः । 'असवो जीवितं प्राणाः' इति हलायुधः । (घ) प्रयाणे—गमने । (ङ) हरिणाक्षि—हरिणस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी । 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति वार्तिकेन समासः उपमानवाचकपदलोपश्च । तत्सम्बुद्धौ हे हरिणाक्षि । यहाँ पर धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है । इसमें कवि ने 'कालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १८ ॥

अकरुण ![1] मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलं ।
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ्मयेत्यभिधायिनीम् ॥
अविरलगलद्बाष्पान्तन्वीन्निरस्तविभूषणां ।
क इह भवतीम्भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ? ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे भद्रे ! निद्रे ! इह भवतीं विना कः, 'अकरुण ! मृषाभाषा-

---

१. "मृषा वाचं ब्रूषे" इति पाठान्तरम् ।

सिन्धो !! मम अञ्चलं विमुञ्च, मया तव स्नेहः सम्यक् परिचितः' इति अभिधायिनीम् अविरलगलद्बाष्पाम् निरस्तभूषणाम् तन्वीम् विनिवेदयेत् ?

हिन्दीरूपान्तर-- ऐ कल्याणकारिणी ! नींद ! इस संसार में तुम्हारे सिवा और कौन है जो, "ऐ निर्दय ! मिथ्याभाषण के समुद्र !! मेरा आँचल छोड़ दो, मैंने तुम्हारा प्रेम भली भाँति जान लिया" ऐसा कहती हुई, निरन्तर बहते हुए आँसुओं वाली, गहनों को उतार फेंकने वाली, कृशाङ्गी को मुझसे मिला सकता है ?"

व्याख्या—स्वप्न में अपनी प्रियतमा का साक्षात्कार करने वाले किसी विरही की यह उक्ति है। यहाँ पर कवि ने 'स्वप्न' व्यभिचारीभाव को व्यञ्जित कराया है। स्वप्न का लक्षण है—

"स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् नींद में निमग्न पुरुषका जो विषय का अनुभव, कोप, आवेग भय, ग्लानि, सुख तथा दुःख का उत्पादक होता है उसे स्वप्न कहते हैं। यहाँ पर इस व्यभिचारी भाव का व्यञ्जक विभाव निद्रा तथा अनुभाव नायकगत सुखानुभव है। इस प्रकार यहाँ स्वप्नभाव ध्वनि सबसे पहले स्फुरित होती है। तदनन्तर विप्रलम्भशृङ्गार भी अभिव्यक्त होता है साथ ही वस्तु भी ध्वनित होती है कि—"हे निद्रा देवी, आपने 'ऐ निर्दय !" आदि भाषण करती रोती हुई प्रियतमा को स्वप्न में मिला कर मेरा बड़ा उपकार किया है।" (क) अकरुण—करोति मनः आनुकूल्यायेति करुणः (डुकृञ् करणे + उनन् 'कृवृदारिभ्य उनन्' (उणादि ३३३) इति सूत्रेण)। न करुणः अकरुणः। तत्सम्बुद्धौ अकरुण। (ख) मृषाभाषासिन्धो—मृषा (मिथ्या) भाषा मृषाभाषा मृषाभाषायाः सिन्धुः मृषाभाषासिन्धुः। 'मृषा मिथ्या च वितथे' इत्यमरः। 'उदन्वान्नुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः' इति चामरः। तत्सम्बुद्धौ मृषाभाषासिन्धो। (ग) अविरलगलद्बाष्पाम्—न विरलमविरलम्। निरन्तरमित्यर्थः। गलन्तिबाष्पाणि गलद्बाष्पाणि। अविरलं यथा स्यात्तथा गलद्बाष्पाणि यस्याः सा अविरलगलद्बाष्पा। तामविरलगलद्बाष्पाम्।

(घ) निरस्तविभूषणाम्—विशिष्टानि भूषणानि विभूषणानि। निःशेषेण अस्तानि क्षिप्तानीत्यर्थः (असुक्षेपणे + क्त) निरस्तानि। निरस्तानि विभूषणानि यया सा निरस्तविभूषणा। ताम् निरस्तविभूषणाम्। 'भूषणं स्यादलङ्कारः' इति हलायुधः। इस श्लोक में कवि ने 'हरिणीवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—न सभरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता। (छन्दोमञ्जरी)॥ १९॥

तीरे तरुण्या वदनं सहासम्
नीरे सरोजञ्च मिलद्विकाशम् ।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्दलुब्धाऽलिकिशोरमाला ॥ २० ॥

अन्वय—तीरे तरुण्याः सहासं वदनम् च नीरे मिलद्विकाशम् सरोजम् आलोक्य मुग्धा मरन्दलुब्धा अलिकिशोरमाला उभयत्र धावति ।

हिन्दीरूपान्तर—किनारे पर युवती के हँसते हुए मुख को और जल में खिलते हुए कमल को देखकर मुग्ध हो गई हुई, मधुलोलुप बालभ्रमरों की पंक्ति दोनों ओर दौड़ रही है ।

व्याख्या—स्नान करने के लिए सरोवर के तट पर आई हुई तरुणी के हासयुक्त मुख को और सरोवर में खिलते हुए कमल को देखने वाले बाल भ्रमरों का सन्देह यहाँ पर व्यंग्य हो रहा है । क्योंकि वाच्य रूप से तो यही कहा गया कि भौंरे दौड़ रहे हैं पर इससे ध्वनि यही निकलती है 'कमलत्व स्त्री के मुख में है या कि सरोवर में खिलते हुए कमल में और इसी कारण से भौंरों का दोनों ओर दौड़ना वर्णित किया गया है । अतः यहाँ पर 'ससन्देहालङ्कार ध्वनि' है । यहाँ पर तरुणी के मुख के 'सहासत्व' और कमल के 'मिलद्विकासत्व' रूप समान धर्मों में बिम्बप्रति बिम्बभाव विद्यमान (क) वदनम्—तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । (ख) सहासम्—हासेन सहितं सहासम् । (ग) मुग्धा—मुह्यतिस्म इति मुग्धा (मुहवैचित्ये + क्त + टाप्) मूढेत्यर्थः वैचित्यमविवेकः (सिद्धान्त कौमुदी) तथा 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वप्रकाशः । (घ) अलिकिशोरमाला—अलीनां किशोराः अलिकिशोराः । अलिकिशोराणां माला अलिकिशोरमाला । इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में इन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' तथा चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा 'उपेन्द्रवज्राजतजास्ततो गौ' का लक्षण विद्यमान होने के कारण उपजाति' वृत्त है ।

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।
अंसदेशविनिवेशिताङ्क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम् ॥२१॥

अन्वयः—भामिनी दयितस्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म वीक्ष्य क्षणाद् अंसदेशविनिवेशिताम् निजबाहुवल्लरीम् आचकर्ष ।

हिन्दीरूपान्तर—प्रियतमाने प्रियतम के सीने पर सपत्नी के हार का निशान देखकर तुरन्त कन्धे पर रखी हुई अपनी भुजलता को खींच लिया ।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने यह दिखाया है कि एक नायक अपनी प्रियतमा से मिलने गया परन्तु उससे मिलने के पूर्व वह उस की सपत्नी से मिल चुका था और उसका गाढालिङ्गन कर चुका था जिससे कि उसके सीने पर नायिका की सपत्नी के हारका निशान बना हुआ था। नायिका ने प्रियतम को देख बड़े हर्ष के साथ उसका आलिङ्गन करने के लिए अपनी भुजा नायक के कन्धे पर रखा परन्तु जैसे ही उसने सपत्नी के हार का चिह्न उसके वक्षः स्थल पर देखा कि उसके अन्दर रोष जाग उठा और उसने अपनी भुजा झट से खींचली। इस प्रकार कवि ने यहाँ पर अमर्ष भावोदय ध्वनि को प्रस्तुत किया है। क्यों किसी भी हर्ष अमर्ष इत्यादि भावों की उत्पत्ति को भावोदय ध्वनि कहते है—"भावोदयो भावस्योत्पत्तिः"—रसगङ्गाधर। यहाँ पर प्रियतम के वक्षः स्थल पर विद्यमान सपत्नी के हार के चिह्न का दिखाई पड़ना विभाव है, तथा प्रियतम के कन्धे पर रखी हुई भुजलता को खींच लेना अनुभाव है तथा अमर्षादिव्यङ्गय होने वाले भाव है। (क) विपक्षकामिनीहारलक्ष्म—विरुद्धः पक्षः यस्याः सा विपक्षा। विपक्षा चासौ कामिनी च विपक्षकामिनी। सपत्नीत्यर्थः। क्यों कि स्त्रियों की सबसे बड़ी दुश्मन सपत्नी ही होती है। विपक्षकामिन्या हारः विपक्षकामिनीहारः। विपक्षकामिनीहारस्य लक्ष्म विपक्षकामिनीहारलक्ष्म। तत् तथोक्तम्। 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। (ख) दयितस्य—प्रियस्येत्यर्थः 'वल्लभो दयितः प्रियः इति हलायुधः। (ग) अंसदेशविनिवेशिताम्—अंसस्य देशः अंसदेशः। 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री' इत्यमरः। विशेषेण निवेशिता विनिवेशिता (वि+नि+विश+क्त+टाप्)। अंसदेशे विनिवेशिता अंसदेशविनिवेशिता। तामंसदेशविनिवेशिताम्। (घ) निजबाहुवल्लरीम्—बाहुरेव वल्लरी बाहुवल्लरी। 'वल्लरिर्मञ्जरिः स्त्रियौ' इत्यमरः। निजा (स्वकीया) बाहुवल्लरी निजबाहुवल्लरी। 'स्वके नित्ये निजं त्रिषु' इत्यमरः। ताम् निजबाहुवल्लरीम्। इस श्लोक में कवि ने रथोद्धता वृत्त उपनिबद्ध किया है—'रात् परैर्नरलगै रथोद्धता' (छन्दोमञ्जरी) जीवानन्द जी ने पता नहीं कैसे इस पद्य में (इन्द्रवज्रा) वृत्त का निदेश किया है ॥ २१ ॥

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः ॥२२॥

अन्वयः—दरानमत्कन्धरबन्धम् ईषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् अनल्पनिश्वासभरालसाङ्गम् अङ्गनायाः सङ्गम् चिरं स्मरामि।

हिन्दीरूपान्तर—थोड़े झुके हुए ग्रीवाबन्ध वाले, कुछ मुँदे हुए सुन्दर नयन-कमलों वाले, लम्बी लम्बी उसासों के अतिशय से अलसाये हुए अङ्गोंवाले प्रियतमा के सुरतसमागम को मैं हमेशा याद किया करता हूँ।

व्याख्या—यहाँ पर कोई नायक अपनी प्रियतमा के सुरत समागम को अपने मित्र से बता रहा कि मैं कभी भी उसे भूल नहीं पाता हमेशा हमें उसकी याद सताया करती है। यहाँ केवल विभाव रूप नायिका का ही वर्णन प्रधान है, साथ ही क्यों कि वह चमत्कारजनक है अतः यथा कथञ्चित् उसका विप्रलम्भशृङ्गार रस में पर्यवसान माना जा सकता है। स्पष्ट रूप से न तो यहाँ 'स्मृति भाव ध्वनि ही स्वीकार की जा सकती है क्योंकि स्मरामि के द्वारा वह वाच्य रूप में ही प्रस्तुत की जा चुकी है और न हम स्मरणालङ्कार' ही मान सकते है क्योंकि किसी प्रकार के सादृश्यवश होने वाला पदार्थ-स्मरण स्मरणालङ्कार कहा जाता है—"सदृशानुभवाद् वस्तु स्मृतिः स्मरणमुच्यते" (साहित्य-दर्पण) (क) ईषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्—विलोचनेऽब्जे इवेति विलोचनाब्जे। ईषत् निमीलिते इति ईषन्निमीलिते। ईषन्निमीलिते च स्निग्धे च ईषन्निमीलितस्निग्धे। ईषन्निमीलितस्निग्धे विलोचनाब्जे यस्मिन् तत् ईषन्निमीलित-स्निग्धविलोचनाब्जम् (ग), अनल्पनिश्वासभरालसाङ्गम्—निश्वासस्य भरः निश्वासभरः। 'अथातिशयो भरः' इत्यमरः। न अल्पः अनल्पः। अनल्पः निश्वास-भरः अनल्पनिःश्वासभरः अनल्पनिश्वासभरेण अलसानि अङ्गनि यस्मिन् तत् अनल्पनिः-श्वासभराल साङ्गम्। (घ) अङ्गना—प्रशस्तान्यङ्गानि अस्याः इति अङ्गना। तस्याः अङ्गनायाः। अङ्गना उस स्त्री विशेष को कहते हैं जिससे अंग बड़े सुन्दर होते हैं। अमरकोश में कहा गया है 'विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना' इत्यादि। (ङ) सङ्गम्—रतिसंगमं इति लक्ष्मणरामचन्द्रवैद्यः। 'सुरतसमागममित्यर्थः। इति जीवानन्दः। इसमें कवि ने 'उपेन्द्रवज्रा' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" (वृत्तरत्नाकर)॥ २२॥

रोषावेशान्निर्गतं यामयुग्मा-
देत्य द्वारङ्काश्चिदाख्याङ्गृणन्तम्।
'मामज्ञात्वैवाययौ कातराक्षी
मन्दन्मन्दम्मन्दिरादिन्दिरेव ॥ २३ ॥

अन्वयः—रोषावेशात् निर्गतं यामयुग्माद् द्वारम् एत्य काञ्चित् आख्याम् गृणन्तम् माम् अज्ञात्वा एव कातराक्षी मन्दिरात् इन्दिरेव मन्दम् आययौ।

हिन्दीरूपान्तर—क्रोधावेश के कारण निकल गए हुए किन्तु दो पहर बाद दरवाजे पर आकर कुछ (दूसरा नहीं) नाम बताते हुए मुझे विना पहचाने ही कातर नेत्रों वाली प्रियतमा घर से लक्ष्मी की तरह धीरे-धीरे (मेरे पास) आई।

---

१. 'मामाज्ञात्वैव' इति पाठान्तरम्।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से बता रहा है कि एक दिन वह क्रोधावेश में आकर प्रियतमा से नाराज हो घर से भाग निकला। लेकिन रोष अधिक ठहर न सका। दो पहर बाद श्री मान् जी पुनः दरवाजे पर तशरीफ लाये और अपना कुछ बनावटी दूसरा नाम बतलाया। वह उन्हें पहचान न पाई अतः व्याकुल सी धीरे-धीरे दरवाजे पर आयी। यहाँ कवि ने उस नायिका का उपमान इन्दिरा को प्रस्तुत किया। अतः उपमालङ्कार है। (क) रोषावेशात्—रोषस्य आवेशः रोषावेशः। तस्मात् रोषावेशात्। 'आवेशः संवेगः संरम्भः सम्भ्रमस्तथाऽऽटोपः' इति हलायुधः। (ख) यामयुग्मात्—यामानां युग्मं यामयुग्मम्। तस्मात् यामयुग्मात्। एक पहर को याम कहते हैं—'प्रहरो यामः' इति हलायुधः। प्रत्येक दिन तथा रात में चार चार याम होते हैं। (ग) एत्य—इण् गतौ + ल्यप्। आगत्येत्यर्थः। (घ) आख्याम्—सञ्ज्ञां, नाम वा। 'आख्या सञ्ज्ञाभिधाह्वानं नामधेयञ्च नाम च' इति हलायुधः। (ङ) कातराक्षी—कातरेऽधीरे अक्षिणी यस्याः सा कातराक्षी। (च) इन्दिरेव—लक्ष्मीव। 'इवेन सहसमासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासः। विभक्तेरलुक्च। इससे शालिनी वृत्त प्रयुक्त है—'मात् तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः' (छन्दोमञ्जरी)॥ २३॥

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
प्रियनामपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥२४॥

अन्वयः—हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुः यतः ततः अङ्गानि क्षिपन्ती इयम् प्रियनामपरे सखीनाम् मुखे अतिदीनाम् दृष्टिम् आदधाति।

हिन्दीरूपान्तर—वक्षःस्थल पर सेवार का सम्पर्क स्थापित किए हुए (सेवार का लेप लगाए हुए) बार बार जहां तहाँ अंगों को फेंकती हुई यह (प्रियतमा) प्रियतम का नामोच्चारण करने वाली सहेलियों के मुँह पर अत्यन्त दीन नजर डाल रही है।

व्याख्या—किसी विरहिणी नायिका का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है। वह मदनव्यथा से अत्यन्त पीडित है। इसी लिए वक्षस्थल पर सेवार का लेप लगाए हुए है। अङ्गों के इधर-उधर फेंकने से उसकी विकलता अभिव्यक्त होती है। इस तरह यहां नायिका गत व्याधि व्यभिचारिभाव व्यञ्जित होता है। व्याधि का लक्षण है—'व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्' (साहित्य दर्पण) अर्थात् वातादिक से ज्वर आदि को व्याधि कहते हैं जिसमें जमीन पर लोटने की इच्छा और कम्प आदि होते हैं। यहाँ प्रियतम का विरह विभाव है, अंगों का पटकना आदि अनुभाव हैं जिनसे नायिकागत व्याधि व्यभिचारीभाव

व्यञ्जित हो भावध्वनि को प्रस्तुत करता है। (क) कृतशैवलानुषङ्गा—शैवलानामनुषङ्ग सम्पर्कः शैवलानुषङ्गः। कृतः शैवलानुषङ्गः यया सा कृतशैवलानुषङ्गा अनुषङ्गः प्रलेप इति यावत्' इति जीवानन्दः (ख) मुहुः—बार बार। (ग) प्रियनामपरे—प्रियस्य नाम प्रियनाम। तत्परं प्रियनामपरम्। तस्मिन् प्रियनामपरे (घ) अतिदीनाम्—अतिशयेन दीनामतिदीनाम्। अतिकातरामित्यर्थः। (ङ) दृष्टिम्—नजर। इसमें कवि ने कालभारिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है—"विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्" (छन्दोमञ्जरी) ॥ २४ ॥

इत एव निजालयङ्गतायाः
वनितायाा गुरुभिः समावृतायाः।
परिवर्त्तितकन्धरन्नतभ्रु
स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि ॥ २५ ॥

अन्वयः—गुरुभिः समावृतायाः इतः एव निजालयम् गतायाः वनितायाः परिवर्त्तितकन्धरम् नतभ्रु स्मयमानं वदनाम्बुजं स्मरामि।

हिन्दी रूपान्तर—गुरुजनों से घिरी हुई इधर से ही अपने घर गई हुई प्रियतमा के मुड़ी हुई गर्दनवाले, झुकी हुई भौहोंवाले एवं मुस्कुराते हुए मुखकमल को याद कर रहा हूँ।

व्याख्या—यहाँ पर कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के विषय में अपने मित्र से बता रहा है, इधर से ही अभी हमारी प्रेमिका अपने घर गई है। जिस समय वह इस रास्ते से गुजरी उसके माता-पिता आदि उसके साथ थे अतः मुझसे वह न तो बात ही कर सकती थी।और न अच्छी तरह देख ही सकती थी। अतः उसने अपनी भौंहें झुकाये हुए जरा-सा गर्दन मोड़कर मुस्करा दिया। अब उसको उस चितवन से युक्त और मुस्कराते हुंए मुखड़े को मैं भूल नहीं पा रहा हूँ। यहाँ पर चूँकि कवि ने 'वनिता' शब्द का प्रयोग किया है इसी लिए उसका अर्थ पत्नी करना उतना चमत्कारक नहीं वनिता का अर्थ ही अनुरागिणी-स्त्री—वनिता जातरागस्त्री स्त्रियोस्त्रिषु"—मेदिनीकोश। फिर कवि ने निजालयङ्गतायाः' अर्थात् अपने घर जाती हुई; मेरे घर नहीं इससे उसका प्रेमिका होना ही अधिक उचित प्रतीत होता है पत्नी नहीं। यहाँ भी केवल विभाव रूप नायिका का वर्णन ही किया गया है। यहाँ स्मृतिभावध्वनि अथवा स्मरणालङ्कार भी नहीं है। हाँ 'वदनाम्बुजम्' में 'वदनमम्बुजमिव' इस प्रकार उपमा तथा 'वदनमेवाम्बुजम्' इस प्रकार रूपक दोनों ही सम्भव है। स्मरण वस्त्र और

अम्बुज दोनों का किया जा सकता है। अतः यहाँ रूपक और उपमा का सन्देह-सङ्कर माना जायगा। (क) परिवर्त्तितकन्धरम्—परिवर्तितः कन्धरो यस्मिन् तत् परिवर्तितकन्धरम्। (ख) नतभ्रु—नते भ्रुवौ यस्मिन् तत् नतभ्रु। इसमें कवि ने 'मालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है लक्षण है—'विषमे स सजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम्, (वृत्तरत्नाकर)। जीवानन्द ने इस पद्य में 'उपेन्द्रवज्रा' वृत्त का निर्देश किया है ॥ २५ ॥

कथय कथमिवाशा जायताञ्जीविते मे
मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः।
अयमपि खलु गुञ्जन् मञ्जु माकन्दमौलौ
चुलुकयति मदीयाञ्चेतनाञ्चञ्चरीकः ॥२६॥

अन्वयः—यदा मलयभुजगवान्ताः कृतान्ता वाताः वान्ति, माकन्दमौलौ मञ्जु गुञ्जन् अयम् चञ्चरीकः अपि मदीयाम् चेतनाम् चुलुकयति खलु (तदा त्वमेव) कथय जीविते मे आशा कथमिव जायताम्?

हिन्दीरूपान्तर—(जिस समय) मलयाचल पर रहनेवाले नागों द्वारा उगली गई काल हवायें बह रही हैं, और आमों की चोटी पर मधुर गुञ्जार करता हुआ यह भँवरा भी मेरी चेतना को पिये जा रहा है भला (उस समय तुम्हीं) बताओ कि जीवन के विषय में मेरी आशा कैसे होवे?

व्याख्या—यह किसी विरहिणी नायिका का उसकी सखी से कथन है। यहाँ नायिका के प्राणनाश का कारणभूत मलय पर्वत पर रहनेवाले नागों द्वारा उगली गई काल हवायें तो बह ही रही थी कि उसके साथ ही आमों की चोटी पर मधुर गुञ्जार करता हुआ भँवरा भी उसकी चेतना को पीने लगा। अतः एक कार्य को सिद्ध करनेवाले एक हेतु के विद्यमान रहने पर दूसरे हेतु के भी उसीको सिद्ध करने में लग जाने से यहाँ समुच्चयालङ्कार है। लक्षण है—

"समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्य्यस्य साधके।
खले कपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात् परोऽपि चेत् ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ पर कार्य के एक साधक के विद्यमान रहने पर 'खलकपोत-न्याय' से दूसरा भी उसी कार्य को सिद्ध करने में लग जाय तो समुच्चय अलङ्कार होता है। (क) मलयभुजगवान्ताः—मलये जाताः भुजगाः मलयभुजगाः। वान्त आदि के ऐसे प्रयोग आचार्य दण्डी ने हृद्य बताये हैं क्योंकि इनमें उपचार है वान्त का मतलब यहाँ उल्टी करना या कै करना नहीं है बल्कि सामान्यरूप से हवा का बाहर निकालना है। दण्डी का कथन है—

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् ।
अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।
पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूता पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥
इति हृद्यमहृद्यन्तुष्ठीवति वधूरिति ।'

इस प्रकार यहाँ दण्डी के अनुसार समाधि गुण भी है ।

(क) कृतान्तः—'कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड्यमः' इत्यमरः । कृतः अन्तः नाशः येन स कृतान्तः । अर्थात् यम के सदृश अत्यन्त क्रूर ।

(ख) वाताः—'पवनः स्पर्शनो वायुर्मरुदनिलो मारुतो जगत्प्राणः । पृषदश्वः पवमानः प्रप्रञ्जनः स्पर्शनो वातः । इति हलायुधः ।

(ङ) माकन्दमौलौ—माकन्दस्य (आम्रस्य) मौलिः माकन्दमौलिः । तस्मिन् माकन्दमौलौ । 'माकन्दः सहकारे स्यात्' इति विश्वप्रकाशः ।

(च) चुलुकयतिः—चुलुक्+क्यच्+लट् (तिप्) । चुलुक का अर्थ चुल्लू होता है उससे क्यच् प्रत्यय करके इसे नामधातु बनाया गया है । इसका अर्थ हुआ कि चेतना को पिये जा रहा है अर्थात् उसे छीनले रहा है चेतनाहीन बना रहा है ।

(छ) चञ्चरीकाः—चरति पुनः पुनरिति चञ्चरीकः । भ्रमर इत्यर्थः । "मधुकर-मुधुप-मधुव्रत-शिलीमुख-भ्रमर-भृङ्ग-पुष्पलिहः । इन्दिन्दिरालिषट्चरण-चञ्चरीकालिनो द्विरेफाः स्युः ।" इति हलायुधः । इस पद्य में कवि ने 'मालिनी' वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—"ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" (छन्दोमञ्जरी) ॥ २६ ॥

निरुध्य यान्तीन्तरसा कपोतीङ्कूजत्कपोतस्य पुरो दधाने ।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दन्नमयाम्बभूव ॥२७॥

अन्वयः—मयि तरसा यान्तीम् कपोतीम् निरुध्य कूजत्कपोतस्य पुरः दधाने सा स्मितार्द्रं वदनारविन्दम् मन्दमन्दम् नमयाम्बभूव ।

हिन्दीरूपान्तर—मेरे वेगपूर्वक भागती हुई कपोती को रोककर कूजन करते हुए कबूतर के सामने रख देने पर उस (प्रियतमा) ने मुस्कराते हुए मुखकमल को धीरे-धीरे झुका लिया ।

व्याख्या—नायक अपने मित्र से बताता है कि एक दिन एक कबूतर कामातुर होकर सम्भोग करने की इच्छा से कबूतरी के पीछे पीछे कूज रहा था और कबूतरी भागी जा रही थी । मैंने झट से उस कबूतरी को पकड़ कर कबूतर

के सामने कर दिया कि वह स्वेच्छा से उसके साथ सम्भोग करे। मेरे इस सुकृत्य को मेरी प्रियतमा देख रही थी, उसने जब मुझे ऐसा करते देखा तो मुस्कराते हुए धीरे-धीरे मारे शरम के अपना मुँह नीचा कर लिया। इस प्रकार यहाँ पर नायिकागत 'व्रीडा' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित कराया गया है। व्रीडा का लक्षण हैं—"स्त्रीणाम्पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसाश्च प्रतिज्ञाभङ्ग पराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याघोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा"—(रसङ्गाधर) अर्थात् स्त्रियों में पुरुषों के मुख देखने आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञाभङ्ग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता और अधोमुखता आदि की कारण भूत विशेष ढंग की चित्तवृत्ति 'व्रीडा' कही जाती है। यहाँ पर व्रीडा का व्यञ्जक विभाव है कबूतरी को पकड़ कर कबूतर के सामने रखते हुए प्रियतम को देखना, और अनुभाव है मुस्कराते हुए मुँह को धीरे-धीरे नीचा कर लेना। इसमें जो कुछ-कुछ नायिका गत हर्ष की प्रतीति होती है वह इसी 'व्रीडा' को और भी अधिक पुष्ट करती है क्योंकि वह इसके अनुकूल ही है। (क) कूजत्कपोतस्य—कूजन् कपोतः कूजत्कपोतः। तस्य कूजत्कपोतस्य। 'पारावतः कलरवः कपोतः' इत्यमरः।

(ख) स्मितार्द्रम्—स्मितेन आर्द्रं स्मितार्द्रम्। (स्मिङ् ईषद्धसने + क्त) ईषच्च हसितं स्मितम्। इति हलायुधः। 'आर्द्रं क्लिन्नेऽभिचेयवत्' (विश्वप्रकाशः)। यहां आर्द्र का लाक्षणिक प्रयोग है। (ग) वदनारविन्दम्—वदनमरविन्दमिव वदनारविन्दम्। इस पद्य के प्रथम और तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण विद्यमान होने से 'उपजाति' वृत्त है ॥ १२७ ॥

तिमिरं हरन्ति हरिताम्पुरः स्थिताः
स्थिरयन्ति तापमथ तापशालिनाम्।
वदनत्विषस्तव चकोरलोचने !
परिमुद्रयन्ति सरसीरुहश्रियः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे चकोरलोचने ! तव वदनत्विषः हरिताम् तिमिरं हरन्ति अथ पुरः स्थिताः तापशालिनाम् तापं स्थिरयन्ति। (तथा) सरसीरुहश्रियः परिमुद्रयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चकोराक्षि ! तुम्हारी मुखकान्तियाँ दिशाओं के अंधकार को नष्ट कर देती हैं साथ ही सामने आकर सन्तप्त लोगों के सन्ताप को मिटा देती है और कमल की शोभा को ढँक देती हैं।

व्याख्या—नायक अपनी प्रियतमा से कह रहा है। यहाँ पर कवि ने अर्थशक्तिमूलक रूपकालङ्कार ध्वनि प्रस्तुत की है। पद्य में प्रयुक्त अन्धकार के नष्ट होने, सन्ताप को दूर करने, कमलों की शोभा ढांक देने आदि अर्थों की शक्ति से यह बात ध्वनित होती है कि नायिका का मुख चन्द्रमा है क्योंकि उक्त सभी कार्यों को करने की क्षमता चन्द्रमा में ही विद्यमान है। परन्तु मुख को वाच्य रूप से चन्द्रमा कहीं नही कहा गया। अतः मुख पर किया गया चन्द्रमा का आरोप उक्त अर्थों की शक्ति से ध्वनित होता है। इसी लिए अर्थशक्तिमूलक रूपकालङ्कार ध्वनि है। साथ ही 'चकोर लोचने' पद में उपमान वाचक एवं धर्मलुप्ता उपमा है। क्योंकि 'चकोरस्य लोचने इव लोचने यस्याः' इस अर्थ में "सप्तम्युपमानपूर्वस्य" इस भाष्यवार्तिक से समास तथा उत्तरपद (उपमान वाचक लोचन पद) का लोप हुआ है। इस प्रकार वाचक, उपमान और साधारण धर्म तीनों का ही लोप है केवल उपमेयभूत लोचन विद्यमान है (क) तिमिरम्—'अन्धकारश्च तिमिरं तमः' इति हलायुधः। द्वितीयैकवचनम्। (ख) हरिताम्—'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्चताः' इत्यमरः। षष्ठी बहुवचनम्। (ग) तापेन शालते इति तापशाली। तेषां तापशालिनाम् (घ) वदनत्विषः (त्विष् दीप्तौ + सम्पदादित्वात् क्विप् + जस् = त्विषः) वदनस्य त्विषः वदनत्विषः। मुखप्रभाः इत्यर्थः। 'प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाषश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यर्थः। (ङ) चकोरलोचने—चकोरस्य लोचने इव लोचने यस्याः सा चकोरलोचना। तत्सम्बुद्धौ चकोरलोचने।

(च) सरसीरुहश्रियः—सरस्यां रोहतीति सरसीरुहम्' (सरसी + रुह् + क्विप्) 'कासारः सरसी सरः' इति हलायुधः। 'कमलं शतपत्रम् कुशेशयं पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः। सरसीरुहाणां श्रीः (शोभा) सरसीरुह श्रीः। ताः सरसीरुहश्रियः। इस पद्य में कवि ने 'प्रबोधिता' नामक वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—लक्षण है—'ससजा जगौ च भवति प्रबोधिता'। (छन्दोमञ्जरी) ॥ २८ ॥

कुचकलशयुगान्तर्मामकीनन्नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दम्मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनम्मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकिततनु नताङ्गी सद्म सद्यो विवेश ॥ २९ ॥

अन्वयः—कचकलशयुगान्तः मामकीनम् नखाङ्कं सपुलकतनु मन्दम् मन्दम् आलोकमाना बाला गवाक्षे विनिहितवदनम् मां वीक्ष्य चकिततनु नताङ्गी सद्यः सद्म विशेष।

हिन्दीरूपान्तर—दोनों स्तनघटों के बीच मेरे नख चिह्न को रोमाञ्चित शरीर वाली होकर धीरे-धीरे देखती हुई प्रियतमा खिड़की पर मुँह रखे हुए मुझे देख कर चकित शरीर वाली होकर अंगों को झुकाए हुए तुरन्त घर के भीतर घुस गई।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से बता रहा है कि एक दिन उसकी प्रियतमा अपने स्तनों पर किए गए उसके नखचिह्नों को धीरे-धीरे देखती हुई रोमाञ्चित हो रही थी कि खिड़की पर मुँह रखे हुए उसको देख लिया और चकित हो अंगों को झुकाए हुए झटसे घर में जा घुसी। यहाँ पर नख चिह्नों को देख कर रोमाञ्चित होती हुई नायिका का प्रियतम द्वारा देख लिया जाना और प्रियतम का दिखाई पड़ना विभाव है, तथा तुरन्त भयभीत सी हो नायिका का घर में घुस जाना अनुभाव है जिसके द्वारा नायिकागत 'व्रीडा' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है। साथ ही प्रियतम के दिखाई पड़ जाने से जो नायिका गत 'त्रास' भाव का उदय हुआ वह इसी व्रीडा भाव को और भी अधिक पुष्ट कर देता है। व्रीडा का लक्षण है—'स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः पुंसाञ्च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकरणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।' (रसगंगाधर) अर्थात् स्त्रियों में पुरुषों का मुख देखने आदि से तथा पुरुषों में प्रतिज्ञाभङ्ग एवं पराभव आदि से उत्पन्न होनेवाली विर्णता तथा अधोमुखता आदि को उत्पन्न करने वाली एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति को 'व्रीड़ा' कहते है। (क) कुचकलशयुगान्तः—कुचावेव कलशौ कुचकलशौ। 'स्तनौ कुचौ' इत्यमरः। 'घटः करीरः कलशः कुटः कुम्भो निपः स्मृतः' इति हलायुधः। कुचकलशयो युगं कुचकुलशयुगम् 'युग्मं तु युगलं युगम्' इत्यमरः। कुचकलशयुगस्यः अन्तः कुचकलशयुगान्तः अन्तरित्यव्ययम्। मध्य इत्यर्थः। (ख) मामकीनम्—ममेदं मामकीनम् (अस्मद्+खञ् युस्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ च) (४।३।१) इति सूत्रेण। ततः 'तवकममका वेकवचने (४।३।३) इति मकादेशः, आदि वृद्धिः मामकीनम्। (ग) सपुलकतनु—पुलकेन सहिता सपुलका। 'रोमाञ्चः पुलकः' इति हलायुधः। सपुलकातनुः यस्मिन् तत् यथा स्यात्तथा सपुलतनु (क्रियाविशेषणमेतत्)। (घ) गवाक्षे—'वातायनो गवाक्षश्च' इति हलायुधः। तस्मिन् गवाक्षे। (ङ) चकिततनु—चकिता तनु यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा चकिततनु (एतदपि क्रियाविमेषणम्)। (च) सद्म—'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। इसमें कवि ने मालिनी वृत्त प्रयुक्त किया है लक्षण है—"ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" (छन्दोमञ्जरी)॥ २९॥

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना।
तन्वी तदानीमतुलां बलारेः साम्राज्यलक्ष्मीमधरीचकार ॥३०॥

अन्वयः—मद्वदनानुकूलम् कपोलमूलं विधाय हृदये शयाना सा तन्वी तदानीम् बलारेः अतुलां साम्राज्यलक्ष्मीम् अधरीचकार।

हिन्दीरूपान्तर—मेरे मुँह के अनुरूप अपने कपोलमूल को बना करके वक्षःस्थल पर सोती हुई उस कृशाङ्गी ने उस समय इन्द्र की अनुपम साम्राज्य लक्ष्मी को हीन बना दिया।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से अपनी प्रियतमा के साथ किए गये विपरीत सुरत के बाद की स्थिति का वर्णन कर रहा है। उसकी प्रियतमा विपरीत सुरत करने से बिल्कुल थक गई। अतः उसके वक्षःस्थल पर लेटे हुए अपना कपोल मूल उसके मुँह पर रख सोने लगी। इस प्रकार यहाँ नायिका का 'श्रम' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित कराया गया है। श्रम का लक्षण है—

"खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः।" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् रति तथा रास्ता चलने आदि के कारण जिसमें सांसों का चढ़न और नींद आदि पाया जाता है उसे श्रम कहते हैं। यहाँ विपरीत सुरत विभाव है तथा नायिका का प्रियतम के मुँह पर कपोलमूल को रखकर सो जाना अनुभाव है। इन्हीं दोनों से नायिका का 'श्रम' भाव ध्वनित होता है। साथ ही मुझे उस समय अलौकिक आनन्द की अनुभूति हुई' ऐसा न कहकर 'इन्द्र की अनुपम साम्राज्य लक्ष्मी को नीचा दिखा दिया' इस प्रकार भङ्ग्यन्तर से कहा गया है अतः 'पर्यायोक्त' अलङ्कार भी वाच्य रूप से प्रस्तुत किया गया है—"विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनम्पर्यायोक्तम्" (रसगङ्गाधर) अर्थात् जो अर्थ जिस रूप से विवक्षित रहता है उससे भिन्न ढङ्ग से कथन करने पर पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। (क) मद्वदनानुकूलम्—मम वदनं मद्वदनम्। मद्वदनस्यानुकूलं मद्वदनानुकूलम्। (ख) बलारेः—बलस्य अरिः (शत्रुः) बलारिः। तस्य बलारेः। इन्द्रस्येत्यर्थः। "इन्द्रः ++ सुरपतिर्बलारातिः शचीपतिः' इत्यमरः। (ग) अधरीचकार—अनधरां अधरां चकोरेति अधरीचकार (अभूततद्भावे च्विः) अहीनाम् हीनामकरोत् इत्यर्थः। 'अधरो दन्तवसनेऽनुर्द्धे हीनेऽधरोऽन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। इस श्लोक के प्रथम तथा द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा तृतीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण विद्यमान होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है ॥ ३० ॥

मुहुरर्थितयाऽद्य निद्रया मे
बत ! यामे चरमे निवेदितायाः ।
चिबुकं सुदृशो मृशामि याव-
न्मयि तावन्मिहिरोऽपि निर्दयोऽभूत् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अद्य मुहुः अर्थितया मे निद्रया चरमे यामे निवेदितायाः सुदृशः यावत् चिबुकं स्पृशामि, बत ! तावत् मिहिरः अपि मयि निर्दयः अभूत् ।

हिन्दीरूपान्तर—आज बार-बार प्रार्थित मेरी नींद द्वारा (रात के) चौथे पहर प्राप्त कराई सुनयना की ठुड्डी का जब तक स्पर्श करूँ, हाय ! तब तक सूर्य भी मुझ पर निर्दय हो उठा ।

व्याख्या—किसी विरही नायक की अपने मित्र से यह उक्ति है । उसे स्वप्न में किसी तरह उसकी प्रियतमा प्राप्त हुई परन्तु जब तक वह उसकी ठुड्डी का स्पर्श करे कि सवेरा हो गया । सूर्य निकल आया । वह वैसा न कर सका । इस तरह यहाँ सूर्य के प्रति नायक गत असूया भाव की अभिव्यक्ति होने से भाव ध्वनि है । असूया का लक्षण है—

"असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥" (साहित्यदर्पण)

यहाँ सूर्योदय विभाव है, उसे निर्दय आदि कहना अनुभाव हैं जिनसे नायक गत असूया व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है । (क) बत—यहाँ खेदसूचक के रूप में प्रयुक्त हुआ (—'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत) । (ख) यामे—प्रहरे । 'प्रहरो यामः, इति हलायुधः (ग) चरमे—अन्त्ये । 'चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः' इत्यमरः । (घ) ठुड्डी को चिबुक कहते हैं । (ङ) सुदृशः—शोभने दृशौ यस्या सा सुदृक् । तस्याः सुदृशः । सुन्दर नेत्रों वाली के । (च) मिहिरः—'सूर्योगोपतिरर्यमा दिनकरः सूरोंऽशुमालीरविः मिहिरः' इति हलायुधः । (छ) निर्दयः—निर्गता दया यस्मात् स निर्दयः । क्रूर इत्यर्थः इसमें कवि ने कालभारिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३१ ॥

श्रुति शतमपि भूयः शीलितम्भारतं वा
विरचयति तथा नो हन्त ! सन्तापशान्तिम् ।
[1]अयि ! सपदि यथाऽयङ्केलिविश्रान्तकान्ता-
[2]वदनकमलवल्गत्कान्तिसान्द्रो नकारः ॥ ३२ ॥

१. 'अपि' इति पाठान्तरम् । २. 'वदनकमलनालात्' इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः—अयि ! (सखे) भूयः शीलितं श्रुतिशतम् वा भारतम् अपि हन्त ! तथा सन्तापशान्तिम् नो विरचयति यथा सपदि केलिविश्रान्तकान्तावदन-कमलवल्गत्कान्तिसान्द्रः अयम् नकारः ।

हिन्दीरूपान्तर—अरे (मित्र)! बार-बार अच्छी तरह समझी गई सैकड़ों श्रुतियां, अथवा महाभारत भी अहा ! उस तरह सन्ताप को शान्त नहीं कर पाते जैसे कि तत्काल केलि से थकी हुई प्रियतमा के मुख कमल से निकलता हुआ कान्ति से परिपूर्ण यह 'नकार' (शान्त कर देता) है ।

व्याख्या—किसी नायक की अपने मित्र से यह उक्ति है । यहाँ सन्ताप शान्ति के लिए प्रसिद्ध श्रुतियों तथा महाभारत को प्रियतमा के नकार के आगे तुच्छ बताया गया है । अतः प्रतीप अलङ्कार है ! (क) श्रुतिशतम्—श्रुतीनां शतं श्रुतिशतम् । सैकड़ों श्रुतियाँ । (ख) भूयः—पुनः पुनः, बार बार । (ग)भारतम्—महाभारतम् । (घ) हन्त—यहाँ हर्ष सूचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । (ङ) सन्तापशान्तिम्—सन्तापस्य शान्तिः सन्तापशान्तिः । तां तथोक्ताम् । (च) सपदि—शीघ्रमेव (छ) केलिविश्रान्तकान्तावदन-कमलवल्गत्कान्तिसान्द्रः—केलौ (सुरतविहारक्रीडायां) विश्रान्ता केलि-विश्रान्ता (विशेषेण श्रान्ता विश्रान्ता) । विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरु-च्यते' इति साहित्यदर्पणः । केलिविश्रान्तकान्तायाः वदनकमलं केलिविश्रान्त कान्तावदनकमलम् । तस्माद् वल्गन्ती (गच्छन्ती, निःसरन्तीत्यर्थः 'वल्गगतौ (भ्वादि०) + शतृ + नेम + ङीप्) कान्तिः .केलिविश्रान्तकान्तावदनकमलवल्ग-त्कान्तिः । तया सान्द्रः (परिपूर्णः) केलिविश्रान्तकान्तावदनकमलवल्गत्कान्ति-सान्द्रः । जीवानन्द संस्करण में 'वदनकमलनालात्' पाठ मिलता है । वहाँ हमें रूपकसमास करना होगा 'वदनमेव कमलम् वदनकमलम् ! तस्य नालात् । 'क्योंकि वदन में नाल नहीं होता । साथ ही खेमराज संस्करण में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का कथन है—"न, न" कहना तो इतना सुख कर है, यदि वह 'हूँ' कहे तो न जाने कितना सुख होगा ! मूल में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह भाव ध्वनित होता है । 'परन्तु इस ध्वनि की रमणीयता सहृदय स्वयं आकें कि 'कान्ता' के नकार में आनन्द प्राप्त होता है या कि उसके स्वीकार में । इसमें कवि ने मालिनी वृत्त उपनिबद्ध किया है । 'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३२ ॥

लवलीन्तव लीलया कपोले कवलीकुर्व्वति कोमलत्विषा ।
परिपाण्डुरपुण्डरीकषण्डे परिपेतुः परितो महाधयः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—तव कपोले कोमलत्विषा लीलया लवलीम् कवलीकुर्व्वति परि-पाण्डुरपुण्डरीकषण्डे परितः महाधयः परिपेतुः ।

हिन्दीरूपान्तर—तुम्हारे कपोलों की कोमलकान्ति द्वारा सहज ही लवली-लता को ग्रास बना लेने पर अत्यन्त शुभ्र कमलसमूह पर चारों ओर से बड़ी-बड़ी मानसिक व्यथायें फट पड़ी।

व्याख्या—किसी नायक का अपनी प्रियतमा से यह कथन है। यहाँ पर कवि ने नायिका के कपोलों की कान्ति द्वारा लवली को ग्रास बना लेने पर कमलों को मानसी व्यथा से युक्त कर देने की बात कही है। जिससे नायिका के कपोलों की कोमल कान्ति का लवली और कमलों की कान्ति से उत्कर्ष ध्वनित होता है। अतः यहाँ व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है। व्यतिरेक का लक्षण है—'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (मम्मट)। (क) लीलया—खेल ही खेल में, सहज ही। (ख) कवलीकुर्वति—अकवलां कवलां कुर्वति इति कवलीकुर्वति। अभूततद्भावे च्विः। यहाँ पर उपचार वक्रता है। क्योंकि कपोल लवली को अपना 'कवल' कब बनायेंगे अर्थात् मुख द्वारा अपनी सुन्दरता से लवली को परास्त कर देने पर। (ग) कोमलत्विषा—कोमला त्विट् कोमलत्विट्। तया कोमलत्विषा। मृदुकान्त्येत्यर्थः। (घ) परिपाण्डुरपुण्डरीकषण्डे—परितः पाण्डुराणि परिपाण्डुराणि। अति विशदानीत्यर्थः। तथाभूतानि पुण्डरीकानि सिताम्बुजानि परिपाण्डुरपुण्डरीकानि। 'पुण्डरीकः सिताम्बुजम्' इति हलायुधः। तेषां षण्डः समूहः परिपाण्डुरपुण्डरीकषण्डः। तस्मिन् तथोक्ते भावे सप्तमी। 'षण्डः पद्मादिसङ्घाते' इति विश्वप्रकाशः। परितः—सर्वतः (ङ) महाधयः—महान्तः आधयः महाधयः 'आधिस्तु मानसो पीडा' इति हलायुधः। "स्वापेक्षया अधिकपाण्डुराया अपि लवल्या अधरीकरणात् ममाप्यवश्यमेव अधरीकारः सम्भवतीति धिया सिताम्भोजवृन्दमतीव विषादमनुभवतीति भावः इति जीवानन्दः। इसमें जीवानन्द जी ने सुन्दरी वृत्त बताया है जो सर्वथा प्रामादिक है। महावीर प्रसाद जी ने 'वैतालीय' और औपच्छन्दसिक की सङ्कीर्णता मानकर इसे 'उपजाति' वृत्त माना है। हमारे विचार से वह भी समीचीन नहीं। यहाँ यदि हम सङ्कीर्णता मान सकते हैं तो 'कालभारिणी' और 'सुन्दरी' वृत्तों का। अतः यहाँ इन्हीं दोनों की सङ्कीर्णता से इसमें उपजाति वृत्त माना जा सकता है। इसका विशेष विवेचन भूमिका में छन्दविवेचन की समाप्ति पर देखें॥ ३३॥

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥ ३४॥

अन्वयः—जानकीनयननीरजश्रियः राघवे यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः संकुचन्ति (च) शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः विकसन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—सीता के नयनकमलों की कान्तियाँ रामचन्द्रजी के विषय

में जवानी के उद्गम से अत्यधिक भयभीत होकर संकुचित हो जाती है और आचरण, शूरता, आकृति और सौन्दर्य से लुब्ध होकर खिल उठती हैं।

व्याख्या—जिस समय भगवान् श्रीरामचन्द्र सीतास्वयंवर के समय धनुष-यज्ञ में धनुष पर डोरी चढ़ाने के लिये उठे उस समय राम को देखकर सीता के नेत्रों की कैसी दशा हुई, इसी का वर्णन इसमें किया गया है। राम के यौवनोद्गम को देखना विभाव है और नेत्रों का संकुचित हो जाना अनुभाव है जिनसे सीतागत लज्जाभाव की अभिव्यक्ति होती है। लज्जा का लक्षण रसगङ्गाधर में इस प्रकार है—"स्त्रीणाम्पुरुषमुखावलोकनादेः पुंसाञ्च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।" अर्थात् स्त्रियों में पुरुष का मुख देखने आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञाभङ्ग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता और अधोमुखता को उत्पन्न करनेवाली एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम व्रीडा या लज्जा है। इसके साथ ही रामचन्द्र के शील, पराक्रम, आकृति और सौन्दर्य आदि का लोभ होना विभाव है नेत्रों का विकसित होना अनुभाव है जिससे राम को प्राप्त करने का सीता का औत्सुक्य भाव अभिव्यक्त होता है। औत्सुक्य का लक्षण है—

"इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥ (साहित्यदर्पण)

अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति न होने से विलम्ब को सहन न कर सकना औत्सुक्य होता है इसमें चित्त में सन्ताप, जल्दबाजी, लम्बी-लम्बी साँसे आदि उत्पन्न होती है। इस प्रकार यहाँ परस्पर दो भावों की सन्धि वर्णित होने से व्रीडा और औत्सुक्य भावों की सन्धि ध्वनित होती है। साथ ही इस पद्य में 'यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः' का 'संकुचन्ति' के साथ तथा 'शीलशौर्य्यबलकान्तिलोभिताः' का 'विकसन्ति' के साथ अन्वय होता है। जिनका कि यथाक्रम निर्देश किया गया है। अतः 'यथासङ्ख्य' अलङ्कार वाच्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। लक्षण है—"यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः" (काव्यप्रकाश) अर्थात् जहाँ पर क्रम से कहे गये पदार्थों का क्रम से ही अन्वय होता है वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है। (क) यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः—यौवनस्योद्गमः यौवनोद्गमः। नितान्तं यथा स्यात्तथा शङ्किताः नितान्तशङ्किताः। 'तारुण्यं यौवनं समे' इति हलायुधः। (ख) शीलशौर्य्यबलकान्तिलोभिताः—शीलञ्च शौर्यञ्च बलञ्च कान्तिश्चेति 'शीलशौर्य्यबलकान्तयः। शीलशौर्य्यबलकान्तिभिः लोभिताः शीलशौर्य्यबलकान्तिलोभिताः। लोभः सञ्जातः आसामिति लोभिताः' तदस्य सञ्जातः तारकादिभ्य इतश्च' (५।२।३६) इतीतच् प्रत्ययः। शुद्ध आचरण को शील कहते है—'शुचौ तु चरिते शीलम्' इत्यमरः। शौर्य और बल दोनों ही

समानार्थी हैं। जैसा कि अमरकोश में आया है 'सहोबलवीर्याणि'। परन्तु दोनों के समानार्थी मानने पर पुनरुक्तदोष आ जायगा। अतः यहां हम बल का अर्थ यदि 'रूप' अथवा आकार ग्रहण कर लें तो यह दोष दूर हो सकता है। कोश है—बलं गन्धरसे रूपे स्थामनि स्थौलसैन्ययोः सैन्य अर्थ ग्रहण करने में आपत्ति इसलिये हैं कि सीतास्वयंवर के अवसर पर राम के पास सेना तो थी ही नहीं। इस तरह हम 'बलञ्च' 'कान्तिश्च' को यदि अलग-अलग न कर 'बलस्य स्वरूपस्य कान्तिः' करके एक पद मान लें तो भी कोई हानि नहीं। (ग) जानकीनयन-नीरजश्रियः—जानक्याः नयने जनकीनयने। त एव नीरजे (कमले) जानकी-नयननीरजे। तयोः श्रियः शोभाः जानकीनयन नीरजश्रियः। इसमें कवि ने 'रथोद्धता' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' (छन्दोमञ्जरी) पता नहीं जीवानन्द ने इन्द्रवज्रा वृत्त कैसे बताया है॥ ३४॥

अधिरोप्य हरस्य हन्त! चापम्
परितापम् प्रशमय्य बान्धवानाम्।
परिणेष्यति वा न वा युवाऽयम्
निरपायम्मिथिलाधिनाथपुत्रीम्॥ ३५॥

अन्वयः—अयं युवा हरस्य चापम् अधिरोप्य बान्धवानाम् परितापम् प्रशमय्य, हन्त! मिथिलाधिनाथपुत्रीम् निरपायम् वा परिणेष्यति वा न (परिणेष्यति)।

हिन्दीरूपान्तर—यह तरुण शङ्कर भगवान् के धनुष को चढ़ाकर, स्वजनों के सन्ताप को शान्त करके हाय! मिथिलानरेश की कन्या सीता को निर्विघ्न विवाहेगा या नहीं (विवाहेगा? कुछ पता नहीं चलता)।

व्याख्या—राजर्षि जनक के यहाँ सीता स्वयंवर में शिवधनुष की डोरी चढ़ाकर सीता का विवाह करने में जब भूतल के अनेक महारथी नृपगण असमर्थ हो गए तो धनुर्भङ्ग करने के लिए उद्यत युवक राम को देखकर जनकपुर-वासियों की 'सीता का पाणिग्रहण करेगा या नहीं करेगा इस सन्देह से 'चिन्ता' अभिव्यक्त होती है। (क) निरपायम्—निर्गतः अपायः यस्मात् तद् यथा स्यात्तथा निरपायम् निर्विघ्नमित्यर्थः। (ख) मिथिलाधिनाथपुत्रीम्—अधिकः नाथः इति अधिनाथः। मिथिलायाः अधिनाथः मिथिलाधिनाथः। जनकः इत्यर्थः। मिथिलाधिनाथस्य पुत्री मिथिलाधिनाथपुत्री। ताम् मिथिलाधिनाथ-पुत्रीम्। सीतामित्यर्थः। इसमें कवि ने कालभारिणीवृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत्, सभरा येन तु कालभार-णीयम्।" (छन्दोमञ्जरी)॥ ३५॥

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण रहसि वधूः।
तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ॥३६॥

अन्वयः—नवपरिणीता वधूः रहसि वरेण भुजपञ्जरे गृहीता, तत्कालजालपतिता बालकुरङ्गीव नितरां वेपते।

हिन्दीरूपान्तर—नवविवाहिता वधू एकान्त में पति द्वारा बाहुपाश में पकड़ी जाकर, तत्काल जाल में फंस गई हुई बालमृगी की तरह अत्यधिक काँप रही है।

व्याख्या—कोई नायिका विवाह के अनन्तर पहले पहल अपने पति के घर आई है। सखियों ने उसे पति के कमरे में पहुँचा दिया है। पति ने उसको जिस समय अपने भुजपाश में बाँधा वह काँपने लगी। उसे देखने वाली किसी सखी की यह दूसरी सखी से उक्ति है। यहां कवि ने उपमा अलङ्कार प्रस्तुत किया है। 'बालमृगी' उपमान है। वधू उपमेय है। इव 'उपमावाचक शब्द है जो बालकुरङ्गी के साथ समस्त है तथा कँपना दोनों का अनुगामी साधारण धर्म है। इसके अतिरिक्त 'भुजपञ्जर में गृहीत होना' और 'तत्काल जाल से फंसना' भी दोनों के साधारण धर्म हैं जिनमें परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। इस तरह यहां पदगता श्रौती पूर्णोपमा अलङ्कार है। साथ ही यहाँ केवल नायक की नायिका के विषय में रति प्रतिपादित की गई है। नायिका की नायक के विषय में नहीं। जो उसकी 'बालमृगी' से उपमा दी गई है, उससे जाहिर है कि उसके अन्दर प्रेम छू भी नहीं गया। उसे रोमाञ्च की कँपकँपी नहीं बल्कि जबर्दस्ती बाहों में फँसा लेने के भय से कँपकपी है। अतः रति के उभयनिष्ठ न होने के कारण यहाँ श्रृङ्गार रस न होकर श्रृङ्गाराभास ध्वनि है। क्योंकि रति का अनुभयनिष्ठ होना अनौचित्य को प्रस्तुत करता है—"बहु-नायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम्। प्रतिनायकनिष्ठत्वे×××श्रृङ्गारेऽनौचित्यम्।" (साहित्यदर्पण) तथा "अनौचित्य प्रवृत्तत्त्वे आभासो रसभावयोः" (साहित्यदर्पण) (क) भुजपञ्जरे—भुजे एव पञ्जरं भुजपञ्जरे। (ख) रहसि—'एकान्ते विजने इत्यर्थः। 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः। (ग) तत्कालजालपतिता—जाले पतिता जाल पतिता। स चासौ कालश्च तत्कालः। तत्काले जालपतिता तत्कालजालपतिता। (घ) बाल-कुरङ्गीव—बाला चासौ कुरङ्गी च बालकुरङ्गी। तदिव बालकुरङ्गीव। 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। कुरङ्गी हरिणी। 'मृगे कुरङ्गवातायु हरिणाजिनयो-नयः' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'गीतिवृत्त' का प्रयोग किया है। लक्षण है—"आर्याप्रथमार्धसमं यस्या अपरार्धमाह ताम् गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३६ ॥

उपनिषदः परिपीता गीता च हन्त ! मतिपथन्नीता ।
तदपि न हा ! विधुवदना मानससदनाद् वहिर्याति ॥३७॥

अन्वयः—उपनिषदः परिपीताः, च हन्त ! गीता अपि मतिपथम् नीता, तद् अपि हा ! विधुवदना मानससदनात् वहिः न याति ।

हिन्दीरूपान्तर—उपनिषदों को भली-भाँति पी गया और हाय ! गीता को भी बुद्धि के मार्ग पर पहुँचा दिया फिर भी अफसोस ! वह चन्द्रमुखी मानस-मन्दिर से बाहर नहीं जाती ।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है कि क्या करूं भाई साहब ! किसी तरह मैं अपनी उस चन्द्रमुखी प्रियतमा को भूल ही नहीं पा रहा हूँ । भूलने के लिए समस्त उपनिषदों का अध्ययन किया, समझा और गीता भी समझा पर उसे भूलता ही नहीं । इस प्रकार यहाँ कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य का न होना दिखाया गया है । क्योंकि उपनिषद् और गीता के समझ लेने पर सम्पूर्ण लोक की अनित्यता का ज्ञान हो जाने पर उससे विरति होना चाहिए पर यहाँ विरति की अनुपपत्ति दिखाई गई है । अतः यहां विशेषोक्ति अलङ्कार है । लक्षण है—"सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।" (साहित्यदर्पण) अर्थात् कारण के विद्यमान रहने पर भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है । यह 'अनुक्तनिमित्ता' और 'उक्तनिमित्ता' भेद से दो प्रकार की होती है । मम्मट आदि 'अचिन्त्य निमित्ता' भी मानते हैं । परन्तु विश्वनाथ ने उनका अन्तर्भाव 'अनुक्तनिमित्ता' में ही कर दिया है । प्रस्तुत पद्य में 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति है, क्योंकि विरति के न होने का हेतुभूत 'रागाधिक्य' कहा नहीं गया । (क) विधुवदना—विधुरेव वदनं यस्याः सा विधुवदना । विधु का अर्थ यहाँ पर चन्द्रमा है 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशेऽपि । राक्षसे' इति विश्वप्रकाशः । (ख) मानससदनात्—'मानसं हृदयमेव सदनं मानससदनम् । तस्मात् मानससदनात् । 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति मेदिनी । 'सदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः । इसमें कवि ने आर्यावृत्त प्रयुक्त किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ३७ ॥

अकरुणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परन्नाहम् ।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ॥३८॥

अन्वयः—विकला सा आलीजनस्य कराम्बुजम् आदाय । 'हे अकरुणहृदय ! प्रियतम । इतः परम् त्वाम् अहम् न मुञ्चामि' इति आलपति ।

हिन्दीरूपान्तर—(प्रिय विरह से) व्याकुल वह (प्रियतमा) सखी के कर-कमल को पकड़कर 'ऐ निर्दयहृदय ! वल्लभ !! अब से तुम्हें मैं नहीं छोड़ूगी' इस प्रकार बड़बड़ाती है ।

व्याख्या—कोई सन्देशवाहिनी दूती विरहिणी नायिका की दशा का वर्णन करते हुए नायक से कहती है । तुम्हारे विरह के कारण तुम्हारी प्रियतमा बिल्कुल पागल सीं हो गई है और अनाप सनाप बड़बड़ाया करती है । इससे नायिकागत उन्मादभाव अभिव्यक्त होता है । उन्माद का लक्षण है—

"चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥"

(साहित्यदर्पण)

अर्थात् काम, शोक तथा भय आदि के कारण वेमौके ही हँसने, रोने, गाने, एवं प्रलाप आदि को उत्पन्न करने वाला चित्त का व्यामोह उन्माद कहलाता है । प्रस्तुत पद्य में प्रियतम के विरह से उत्पन्न दुःख उन्माद का व्यञ्जक विभाव है तथा, उसकी सखी को ही प्रियतम समझते हुए अनाप-सनाप बातें करता अनुभाव है । इस प्रकार यहां भावध्वनि है । साथ ही कराम्बुजम् में धर्मवाचकलुप्तोपमा भी है । (क) अकरुणहृदय—न करुणमकरुणम् । अकरुणं हृदयं यस्य सः अकरुणहृदयः । तत्सम्बुद्धौ हे अकरुणहृदय । (ख) कराम्बुजम—करमम्बुजमिव कराम्बुजम् । इस श्लोक में कवि ने 'गीतिवृत्त' का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम् ।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३८ ॥

लोभाद् वराटिकानां विक्रेतुन्तक्रमविरतमटन्त्या ।[1]
लब्धो गोपकिशोर्य्या मध्येरथ्यम्महेन्द्रनीलमणिः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—वराटिकानाम् लोभात् तक्रं विक्रेतुम् अविरतम् अटन्त्या गोपकिशोर्या मध्येरथ्यम् महेन्द्रनीलमणिः लब्धः ।

हिन्दीरूपान्तर—कौड़ियों की लालच से माठा वेचने के लिए निरन्तर घूमती हुई गोपबाला ने गली के बीच महेन्द्रनीलमणि (श्रीकृष्ण) को प्राप्त कर लिया ।

व्याख्या—यहाँ कवि ने 'प्रहर्षण' अलङ्कार प्रस्तुत किया है । 'प्रहर्षण' का लक्षण कुवलयानन्द में इस प्रकार दिया गया है—"वाञ्छितादधिकार्थस्य

---

१. "आनिशमटन्त्या" इति पाठान्तरम् ।

संसिद्धिश्च प्रहर्षणम् ।" अर्थात् अभीष्ट अर्थ से अधिक अर्थ की संसिद्धि होने पर प्रहर्षण अलङ्कार होता है। यहाँ गोपबाला बेच तो रही थी मट्ठा वह भी कौड़ियों की लालच से। इस तरह कौड़ी प्राप्त करना उसका अभीष्ट था, परन्तु उसे प्राप्त हो गई इन्द्रनील मणि इस तरह अभीष्ट से अधिक अर्थ की सिद्धि होने से प्रहर्षण अलङ्कार है। साथ ही साथ परस्पर अननुरूप घटना का वर्णन होने से विषमालङ्कार भी है कहाँ कौड़ी और कहाँ इन्द्रनीलमणि। विषम का लक्षण है— विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ अननुरूप पदार्थों का सम्बन्ध वर्णित किया जाता है वहाँ विषमालङ्कार होता है। इसके साथ ही यहाँ 'इन्द्रनीलमणिः' में रूपकातिशयोक्ति भी है क्योंकि इन्द्रनीलमणि रूप विषयी के द्वारा कृष्ण रूप विषय का निगरण कर लिया गया है। लक्षण है— "रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ पर विषयी के द्वारा विषय का निगरण करके अध्यवसान किया जाता है वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' होती है। यह रूपकातिशयोक्ति 'प्रहर्षण' अलङ्कार को परिपुष्ट करती है, उसके अनुरूप है क्योंकि विषय कृष्ण और विषयी इन्द्रनीलमणि दोनों ही अभीष्ट अर्थ से अधिक हैं अतः उनकी संसिद्धि होने से प्रहर्षण अलङ्कार समीचीन है। परन्तु विषम अलङ्कार के अनुरूप यह अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि विषमालङ्कार को इन्द्रनीलमणि रूप विषयी ही अच्छी तरह प्रस्तुत करता है जैसी अननुरूपता कौड़ी और इन्द्रनीलमणि में है वैसी कौड़ी और कृष्ण में नहीं जमती। क्योंकि कहां कौड़ी और उसकी करोड़ों गुना कीमत की इन्द्रनीलमणि ? अतः अननुरूप कौड़ी और मणि ही समीचीन प्रतीत होते हैं। (क) वराटिकानाम्—वराट एव वराटिका। वराट शब्द से स्वार्थ में कन् प्रत्यय के अनन्तर स्त्रीत्व विवक्षा में 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्थात् इदाप्यसुपः' (७।३।४४) टाप् होने पर अकार के स्थान में इकार हो जाने पर वराटिका शब्द निष्पन्न होगा इस प्रकार वराटिका का अर्थ कौड़ी है 'वराटकः स्थूलरज्जौ पद्मबीजे कपर्दके' इति विश्वप्रकाशः। (ख) तक्रम्—अमरकोश के अनुसार तक्र उस मट्ठे को कहते हैं जिसमें चौथाई पानी मिला होता है। 'तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बुनिर्जलम्" । (ग) अविरतम्—न विरतं यथा स्यात्तथा अविरतम्। निरन्तमित्यर्थः। क्रियाविशेषणमेतत्। (घ) अटन्त्या— भ्रमन्त्येत्यर्थः। (अट् गतौ + शतृ + टाप्) (ङ) गोपकिशोर्या—गोपस्य किशोरी गोपकिशोरी। तया गोपकिशोर्या। (च) मध्येरथ्यम्—रथ्यायाः मध्ये मध्येरथ्यम्। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा। (२।१।१८) इति पाक्षिकः अव्ययीभाव-समासः। इसमें भी कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है—लक्षण है पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखे ॥ ३९ ॥

रूपारुचिं निरसितुं रसयन्त्या हरिमुखस्य लावण्यम् ।
सुदृशः शिव ! शिव !! सकले जाता सकलेवरे[1] जगत्यरुचिः ॥४०॥

अन्वयः—रूपारुचिं निरसितुं हरिमुखस्य लावण्यं रसयन्त्याः सुदृशः शिव ! शिव !! जगति सकले सकलेवरे अरुचिः जाता ।

हिन्दीरूपान्तर—सौन्दर्य के प्रति अरुचि को मिटाने के लिए कृष्ण के मुख के सौन्दर्य का पान करती हुई सुनयना की, शिव ! शिव ! (अपने) शरीर सहित समस्त जगत् में अरुचि पैदा हो गई ।

व्याख्या—किसी नायिका को सौन्दर्य के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई थी । उसे मिटाने के लिए तो उसने श्रीकृष्ण के लावण्य का पान करना प्रारम्भ किया कि उसकी रूप के प्रति अरुचि मिटे । पर हुआ क्या ? रूप के प्रति अरुचि मिटना तो दूर रहा उल्टा सारे संसार के प्रति ही उसकी अरुचि उत्पन्न हो गई । इस प्रकार इष्ट की प्राप्ति तो हुई नहीं बल्कि अनिष्ट भी मिल गया । अतः यहाँ कवि ने 'विषमालङ्कार' प्रस्तुत किया है । लक्षण है—

"अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।" (कुवलयानन्द) अर्थात् किसी इष्ट की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने पर जहाँ इष्ट की प्राप्ति तो होती नहीं वल्कि अनिष्ट भी प्राप्त हो जाता है वहाँ विषमालङ्कार होता है । इस पद्य का आशय यह है कि नायिका ने जब विष्णु भगवान् के मुखलावण्य का पान प्रारम्भ किया तो उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई और उसे तत्त्व ज्ञान हो गया कि यह शरीर, यह जगत् सब मिथ्या है केवल ब्रह्म ही सत्य है अतः उसे जगत् से वैराग्य हो गया । इस प्रकार यद्यपि उसे तत्त्व ज्ञान हो जाने से परम लाभ हुआ फिर भी कवि ने जिस ढङ्ग से इसे प्रस्तुत किया उससे विषमालङ्कार प्रस्तुत होता है । पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने सकलेवरे के स्थान पर 'सकलेरेव' पाठ रखकर इस श्लोक की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह मेरी समझ में तो नहीं आई पर शायद अन्य विद्वान् समझ सके अतः उद्धृत कर रहा हूँ—"रूपे सौन्दर्ये, अरुचिमप्रीतिं, निरसितुं निवर्त्तयितुं हरि-मुखस्य अश्वमुखस्य लावण्यं लवणरसं रसयन्त्या आस्वादयन्त्या इवेति प्रतीय-मानोत्प्रेक्षा, अरुचिनिवारणार्थम् अश्वैर्यथा लवणरस आस्वाद्यते तद्वत् प्रणयको-पेन स्वसौन्दर्ये जनिताया: अप्रीतेर्निवारणेन पुनः प्रीतिं स्थापयितुमिति भावः सकलेरेव सकले सर्वस्मिन् जगति, वस्तुनीति यावत् अरुचिः अप्रीतिः द्वेष इति यावत् , जाता भूता । दूत्या नायकं प्रत्युक्तिरियम् ।" अश्व मुख के लवण रस

---

१. "सकलेरेव" इति पाठान्तरम् ।

का आस्वादन करते हुये भी जगत् से अरुचि उत्पन्न हो सकती है इसे जीवानन्द जी की ही सहृदयता भाव सकती थी। (क) सकलेवरे—कलेवरेण सहितं सकलेवरम्। तस्मिन् सकलेवरे। 'कलेवरं गात्रं वपुः संहननम् शरीरम्' इत्यमरः। इसमें भी कवि ने 'गीतिवृत्त' का ही प्रयोग किया है ॥ ४० ॥

किञ्जल्पसि मुग्धतया हन्त! ममाङ्गं सुवर्णवर्णमिति?
'तद् यदि पतति हुताशे तदा हताशे! तुलान्तवारोहेत् ॥४१॥

अन्वयः—हन्त! मम अङ्गं सुवर्णवर्णम् इति मुग्धतया किम् जल्पसि? अरे हताशे! तद् यदि हुताशे पतति तदा तव तुलाम् आरोहेत्।

हिन्दीरूपान्तर—'अहा हा! मेरा अङ्ग सोने के रंग का है' ऐसा भोलेपन के साथ क्या बक रही है? अरी हताशे! वह (सोना) यदि आग में पड़ता है उस समय तुम्हारी समता को पहुँच पाये।

व्याख्या—नायिका ने कदाचित् नायक से यह कहा कि मेरा अंग सोने के रंग का है। इस उपमा से सुवर्ण के रंग का उत्कर्ष व्यक्त होता है क्योंकि उपमान हमेशा उपमेय से उत्कृष्ट ही होता है। परन्तु नायक को यह जँचा नहीं उसने कहा अरी! तू निरा भोली ही है चली है सुवर्ण के रंग से अपने अंगों की उपमा देने, अरी हताशे वह सोना तो जब आग में तपाया जाता है तो कदाचित् तुम्हारी तुलना के लायक बन पाता है यहाँ प्रतीप अलङ्कार प्रस्तुत किया गया है क्योंकि नायिका को उपमान और स्वर्ण को उपमेय बनाया गया है—"प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्" (कुवलयानन्द)। इससे नायिका के अंगों का उत्कर्ष प्रतिपादित होता है। तथा 'मुग्धतया' और 'हताशे' पदों से यह बात ध्वनित होती है कि सोना विना आग में पड़े तेरे अंगों का उपमेय भी नहीं बन सकता, उपमान बनना तो बहुत दूर की बात है। (क) मुग्धतया—मुग्धस्य भावः मुग्धता। तया मुग्धतया। 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ख) हन्त—अमरकोश के अनुसार 'हन्त' का प्रयोग हर्ष, अनुकम्पा, वाक्यारम्भ और विषाद को सूचित करने के लिए किया जाता है। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' यहाँ हन्त के तीन अर्थ लिए जा सकते है। नायिका के वाक्य का आरम्भ, अथवा नायिका का वाक्य मानने पर उसका हर्ष वाच्य होगा। और यदि यह नायिका के वाक्य का आरम्भ न मानकर नायक वाक्य में प्रयुक्त माना जाय तो नायक-गत विषाद को प्रस्तुत करेगा। इसमें भी कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है

१. "तप्यति" इति पाठान्तरम्।

औत्सुक्यात् परिमिलतान्त्रपया सङ्कोचमञ्चताञ्च मुहुः।
नवसङ्गमयोर्यूनोर्नयनानामुत्सवो जयति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—नवसङ्गमयोः यूनोः औत्सुक्यात् परिमिलताम् च त्रपया मुहुः सङ्कोचम् अञ्चताम् नयनानाम् उत्सवः जयति।

हिन्दीरूपान्तर—अभिनव समागम वाले युवक दम्पति की उत्कण्ठावश परस्पर मिलती हुई साथ ही लज्जा से बार-बार सङ्कुचित होती हुई आँखों का उत्सव सर्वोत्कर्ष से युक्त है।

व्याख्या—नव विवाहित नायिका तथा नायक के स्वभाव का वर्णन होने से यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है। नये नये एवं अपरचित होने के कारण दोनों को एक दूसरे की ओर उत्कण्ठापूर्वक देखना स्वाभाविक ही है साथ ही आँखे मिल जाने पर लज्जा से उनका निमीलित भी हो जाना स्वभावतः सिद्ध है। स्वभावोक्ति का लक्षण कुवलयानन्द में इस प्रकार दिया गया है—'स्वभावोक्ति स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्' अर्थात् जाति, गुण, क्रिया आदि से सम्बन्धित स्वभाव का वर्णन होने पर स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है। यहाँ नेत्रों की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन होने से क्रियास्वभावोक्ति है। (क) औत्सुक्यात्—उत्सुकस्यभावः औत्सुक्यम्। तस्मात्। औत्सुक्यात्। दर्शनोत्कण्ठावशादित्यर्थः। (ख) त्रपया—लज्जया। ह्रीर्लज्जापत्रपा व्रीडा त्रपा मन्दाक्षमुच्यते' इति हलायुधः। (ग) सङ्कोचम्—निमीलनमित्यर्थः। (घ) नवसङ्गमयोः—नवः सङ्गमः ययोस्तौ नवसङ्गमौ। तयोः नवसङ्गमयोः। नवीन समागम वाले। (ङ) यूनोः—युवती च युवा च युवानौ। तयोः यूनोः। एक शेष। युवकदम्पत्योरित्यर्थः। (च) उत्सवः—नियताह्लादजनकव्यापारः इत्यर्थः। (छ) जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते। इसमें आर्या वृत्त प्रयुक्त है। 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥४२॥

गरिमाणमर्प्पयित्वा लघिमानङ्कुचतटात् कुरङ्गदशाम्।
स्वीकुर्व्वते नमस्ते[1] यूनान्धैर्य्याय निर्व्विवेकाय ॥४३॥

अन्वयः—गरिमाणम् अर्पयित्वा कुरङ्गदशाम् कुचतटात् लघिमानं स्वीकुर्वते यूनां निर्विवेकाय धैर्याय ते नमः।

हिन्दीरूपान्तर—गौरव देकर के मृगनैनियों के स्तनप्रदेश से लाघव को स्वीकार करने वाले युवकों के विवेकहीन धैर्य तुझे नमस्कार है।

---

१. "नमस्तेषाम्" इति पाठान्तरम्

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने युवकों के धैर्य और मृगनैनियों के स्तन में परस्पर विनिमय दिखाया है। धैर्य ने दिया तो गरिमा पर स्वीकार किया लघिमा इस प्रकार अधिक देकर न्यून की प्राप्ति करने से यहाँ परिवृत्ति अलङ्कार है। परिवृत्ति का लक्षण है—

"समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः।" (अलङ्कारसर्वस्व) अर्थात् (१) सम का सम के साथ (२) न्यून का अधिक के साथ तथा (३) अधिक का न्यून के साथ विनिमय होने पर परिवृत्ति अलङ्कार होता है। (क) गरिमाणम्—गुरोर्भावः गरिमा गुरु शब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इतिमनिच् प्रत्ययः। तम् गरिमाणम्। (ख) लघिमानम्—लघोर्भावः लघिमा। अत्रापि लघुशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (५।१।१२२) इति इमनिच् प्रत्ययः। तम् लघिमानम्। (ग) कुरङ्गदृशाम्—कुरङ्गो मृगः। 'मृगे कुरङ्ग वातायुहरिणाजिनयोनयः' इत्यमरः। कुरङ्गस्य दृशाविव दृशौ यस्याः सा कुरङ्गदृक्। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इति भाष्यवार्तिकेन समासः उत्तरपदलोपश्च तासां कुरङ्गदृशाम्। मृगाक्षीणामित्यर्थः। (घ) स्वीकुर्वते—इत्यादिषु 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च' (२।३।१६) इति चतुर्थी विभक्तिः। (ङ) निर्विवेकाय—निर्गतः विवेकः यस्मात् तत् निर्विवेकम्। विवेको विचार इत्यर्थः 'विवेकः स्याज्जलद्रोण्यां विचारेऽपि रहस्येऽपि' (विश्वप्रकाशः)। तस्मैनिर्विवेकाय। इसमें कवि ने गीतिवृत्त' का प्रयोग किया है—'आर्या प्रथमार्धसमं यस्या अपरा र्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४३॥

'अञ्चति वयसि प्रथमे समुदञ्चति[2]तरुणिम्नि तदा सुदृशः।
दधतिस्म मधुरिमाणं वाचो गतयश्चविभ्रमाश्च भृशम् ॥४४॥

अन्वयः—सुदृशः प्रथमे वयसि अञ्चति तदा तरुणिम्नि समुदञ्चति वाचः च गतयः च विभ्रमाः च भृशम् मधुरिमाणम् दधति स्म।

हिन्दीरूपान्तर—सुनयना की प्रथम (बाल्य) अवस्था के चले जाने पर तदनन्तर यौवन के प्राप्त हो जाने पर (उसकी) वाणी, गति और विलासों ने अत्यधिक माधुर्य को धारण किया।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने नायिका की तारुण्यावस्था का वर्णन प्रस्तुत किया है। इससे नायिका के तारुण्य का वर्णन प्रस्तुत है। इसलिए वाणी, गति और विलास सभी प्रस्तुत है इन सभी प्रस्तुत पदार्थों का 'मधुरिमा को धारण

१. "न्यञ्चति" इति पाठान्तरम्।
२. "किञ्च तरुणिमसि सुदृशः," इति पाठान्तरम्।

करना' रूप एक गुण के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलङ्कार है। तुल्ययोगिता का लक्षण—

"पदार्थानां प्रस्तुतनामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ पर केवल प्रस्तुत पदार्थों का अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों का किसी एक ही गुण अथवा क्रिया रूप धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित किया जाता है तो वहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। (क) अञ्चति—'अञ्चु' गतौ याचने च + शतृ + ङि। गच्छति सतीत्यर्थः। कहीं-कहीं 'न्यञ्चति' पाठ मिलता है वहाँ निःशेषेण अञ्चति न्यञ्चति अर्थ होगा और अञ्चु के पहले 'नि' उपसर्ग जुड़ जायगा। (ख) समुदञ्चति—सम् + उत् + अञ्चु गतौ + शतृ + ङि। समागच्छति सतीत्यर्थः। (ग) सुदृशः—शोभने दृशौ यस्याः सा सुदृक्। तस्याः सुदृशः। (घ) दधतिस्म—दधति के साथ स्म का प्रयोग भूतकाल के वाचक रूप में हुआ है। अमरकोश का कथन है—'स्मातीते'। (ङ) मधुरिमाणम्—मधुरस्य भावः मधुरिमा (मधुर + इमनिच्) माधुर्यमित्यर्थः। तं मधुरिमाणम्। (च) गतयः—गमनं गतिः। (गमलृगतौ + भावे क्तिन्) बहुवचने गतयः। (छ) विभ्रमाः—स्त्रियों की शृङ्गार भाव से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं को विलास विभ्रम आदि कहते हैं—'स्त्रीणां विलासबिब्बोक विभ्रमा ललितन्तथा। हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः'। (अमरकोश) इस पद्य में भी कवि ने 'गीति' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पहले के श्लोक की व्याख्या में देखें॥ ४४॥

निःसीमशोभासौभाग्यन्नताङ्ग्या नयनद्वयम्।
अन्योऽन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम्॥ ४५॥

अन्वयः—नताङ्ग्याः निःसीमशोभासौभाग्यम् नयनद्वयम् अन्योऽन्यालोकनानन्दविरहादिव चञ्चलम् (भवति)।

हिन्दीरूपान्तर—नताङ्गी के समोप सौन्दर्य-सम्पत्ति वाले दोनों नेत्र मानों एक दूसरे को देखने के आनन्द के अभाव के कारण चञ्चल हैं।

व्याख्या—यहाँ कवि नायिका दोनों चञ्चल नेत्रों को देखकर उनकी चञ्चलता के हेतु की उत्प्रेक्षा करता है कि ये दोनों नेत्र जिसके पास असीम सौन्दर्य-सम्पत्ति है सम्भवतः एक दूसरे को देख नहीं पाते इसलिये आनन्द से वञ्चित रह जाते हैं और उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए ही एक दूसरे को देखने के लिए चञ्चल रहते हैं। यहाँ जो चञ्चलता का कारण 'एक दूसरे को देख पाने के आनन्द का अभाव' उत्प्रेक्षित किया गया है वह आनन्द गुण

रूप है। अतः यहाँ गुणाभावहेतूत्प्रेक्षालङ्कार है। (क) निःसीमशोभासौभाग्यम्—निर्गता सीमा यस्मात् तत् निःसीमम्। शोभनं भगं (श्रीः) यस्य तत् सुभगम्। सुभगस्य भावः सौभाग्यम् (सुभग + घञ्)। 'भगमैश्वर्यमाहात्म्यज्ञानवैराग्ययोनिषुः। यशोवीर्य्यप्रयत्नेच्छाश्रीधर्म्मरविमुक्तिषु।' (विश्वप्रकाशः) शोभायाः सौभाग्यं शोभासौभाग्यम्। सौन्दर्यसमृद्धिरित्यर्थः। निःसीमं शोभासौभाग्यं यस्मिन् तत् निःसीमशोभासौभाग्यम्। (ख) अन्योऽन्यालोकनानन्दविरहादिव—अन्योऽन्यम् परस्परमित्यर्थः अन्यशब्दस्य 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' (वा०) इति द्वित्वेऽसमासवद्भावे 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः' इति सुश्च अन्योऽन्यम् अन्योऽन्यस्यालोकनमन्योऽन्यालोकनम्। अन्योऽन्या लोकनेन आनन्दः अन्योऽन्यालोकनानन्दः। तस्य विरहः अन्योऽन्यालोकनानन्दविरहः। तस्मादिव अन्योऽन्यालोकनानन्दविरहादिव। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया है। ॥४५॥

गुरुमध्ये हरिणाक्षी मार्त्तिकशकलैर्निहन्तुकामम्माम्।
रदयन्त्रितरसनाग्रन्तरलितनयनन्निवारयाञ्चक्रे ॥ ४६ ॥

अन्वयः—हरिणाक्षी गुरुमध्ये मार्तिकशकलैः निहन्तुकामम् माम् रदयन्त्रितरसनाग्रम् तरलितनयनम् निवारयाञ्चक्रे।

हिन्दीरूपान्तर—मृगनैनी ने गुरुजनों के बीच मिट्टी के ढेलों से मारने की इच्छावाले मुझको दातों से जीभ के अग्रभाग को दबाकर और आँखों को घुमाकर रोक दिया।

व्याख्य—कोई नायक अपने मित्र से बता रहा है कि एक समय उसकी प्रियतमा अपने गुरुजनों के बीच बैठी थी कि हजरत वहाँ पहुँच गए और एक मिट्टी का टुकड़ा उठाया उसे मारने के लिए कि उसने देख लिया। परन्तु गुरुजनों के बीच मे होने के कारण वह तो कुछ बोल तो सकती न थी, अतः दाँतो तले जीभ दबाकर आंख घुमाकर जनाब को वैसा करने से रोक दिया। यहाँ पर कवि ने नायिका सामान्य के गुरुजनों के बीच बैठी हुई होने पर और पति द्वारा ऐसी शरारत किए जाने पर स्वाभाविक क्रिया का वर्णन प्रस्तुत किया है। अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है। साथ ही इस स्वभावोक्ति से नायिकागत अमर्ष भाव की भी अभिव्यक्ति होती है। 'हरिणाक्षी' पद में धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। (क) हरिणाक्षी—हरिणस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इति भाष्यवार्तिकेन समास उपमानवाचकपदलोपश्च। (ख) मार्त्तिकशकलैः—मृत्तिकायाः इदं मार्त्तिकम्। 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण्। मृत्पिण्डमित्यर्थः। मार्तिकस्य शकलानि (खण्डानि)

मार्त्तिकशकलानि। तैः मार्त्तिकशकलैः 'शकलं त्वचि खण्डे च रागवस्तुनि वल्कले' इति विश्वप्रकाशः। (ग) रदयन्त्रितरसनाग्रम्—रदैः यन्त्रितं रदयन्त्रितम्। 'रदना दसना दन्ता रदाः' इत्यमरः। रसनायाः अग्रं रसनाग्रम्। 'रसज्ञा रसना जिह्वा' इत्यमरः। रदयन्त्रितं रसनाग्रं यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा रदयन्त्रित-रसनाग्रम्। (घ) तरलितनयनम्—तरलिते नयने यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा तरलितनयनम्। ये दोनों क्रिया विशेषण हैं। इसमें कवि ने गीति वृत्त का प्रयोग किया है—'आर्याप्रथमार्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ४६॥

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित् पुरा[1] सेहे।
आलिङ्गिताऽपि जोषन्तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन॥ ४७॥

अन्वयः—या पुरा कदाचित् नयनाञ्चलावमर्शम् न सेहे सा गन्तुकेन दयितेन आलिङ्गिता अपि जोषम् तस्थौ।

हिन्दीरूपान्तर—जिसने पहले कभी कटाक्ष स्पर्श को नहीं सहन किया था वही परदेश जानेवाले प्रियतम द्वारा आलिङ्गित होने पर भी चुपचाप खड़ी रही।

व्याख्या—किसी नायिका का प्रियतम परदेश जा रहा है। वह नायिका बड़ी ही चंचल थी। प्रियतम का कटाक्ष स्पर्श भी नहीं बर्दाश्त करती थी। लेकिन जब प्रियतम ने विदेश के लिये तैयार हो कर जाते समय उसका आलिङ्गन भी किया तो भी वह बिलकुल निश्चञ्चल जड़-सी खड़ी रह गई। यहाँ नायिका का वर्तमान प्रवासविप्रलम्भ शृङ्गार वर्णित किया गया है। उसका व्यञ्जक विभाव है प्रियतम का परदेशगमन, अनुभाव है नायिका की स्वाभाविक चञ्चलता का नष्ट हो जाना और व्यभिचारी भाव है जडता। जडता का लक्षण है—

"अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीम्भावादयस्तत्र॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् इष्ट या अनिष्ट के देखने या सुनने से जो किंकर्तव्यविमूढ़ता उत्पन्न हो जाती है उसे जडता कहते हैं। इसमें व्यक्ति एकटक देखते रह जाता है या चुप रह जाता है इत्यादि। यहाँ पर नायिका को अनिष्ट है प्रियतम का विदेश गमन जिसे कि वह देख रही है। इन सभी के संयोग से नायिकागत रतिस्थायी भाव व्यञ्जित होता है। इस तरह यहाँ पर विप्रलम्भशृङ्गाररसध्वनि है। वैसे हम प्रियतम के परदेशगमन रूप विभाव और चञ्चलता की निवृत्ति रूप अनुभाव के

१. "पुरा कथं सेहे" इति पाठान्तरम्।

द्वारा व्यञ्जित 'जडता' व्यभिचारिभाव की भावध्वनि भी मान सकते हैं। (क) नयनाञ्चलावमर्शम्—नयनयोः अञ्चले :(प्रान्तभागे) नयनाञ्चले तयो अवमर्शः नयनाञ्चलावमर्शः। तं नयनाञ्चलावमर्शम्। कटाक्षपातमित्यर्थः। (ख) जोषम्—तूष्णीमित्यर्थः। चुपचाप। तूष्णीं जोषं भवेन्मौने इति हलायुधः। (ग) गन्तुकेन—विदेशगन्त्रेत्यर्थः। श्री जीवानन्द ने यहाँ 'आगन्तुकेन' पाठ मानकर व्याख्या इस प्रकार दी है—'आगन्तुकेन अपरिचितेन दयितेन पत्या आलिङ्गिताऽपि जोषं तूष्णीं, तस्थौ स्थिता पूर्वदृष्टाऽपि तेन विरूपमाचरितवती। इदानीमालिङ्गिताऽपि न किमपीति यौवनोद्भेद एवात्र हेतुरिति भावः।' परन्तु यह अर्थ और पाठ रमणीय नहीं है। (घ) दयितेन—प्रियेण पत्येत्यर्थः। 'वल्लभो दयितः प्रियः।' इति हलायुधः। इसमें कवि ने उद्गीति वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४७ ॥

[1]मानपराञ्चद्वदनाऽपि सा प्रिया शयानेव[2] करकमले।
उद्वेल्लद्भुजमलसग्रीवाबन्धङ्कपोलमाधत्ते ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मानपराञ्चद्वदना अपि सा प्रिया शयानेव (प्रियतमस्य) करकमले उद्वेल्लद्भुजम् अलसग्रीवाबन्धम् कपोलम् आधत्ते।

हिन्दीरूपान्तर—मान के कारण पीछे की ओर मुँह किए हुए भी वह प्रियतमा सोती हुई-सी (प्रियतम के) करकमल पर भुजा को ऊपर की ओर उठा करके ग्रीवाबन्ध को ढीला करके (अपने) गण्डस्थल को स्थापित करती है।

व्याख्या—यहाँ मानिनी नायिका के मानभग्न होने का वर्णन प्रस्तुत किया है। नायिका प्रियतम से रुष्ट होकर पीछे की ओर मुँह किए हुए लेटी थी। प्रियतम का हाथ उसकी गर्दन के नीचे था। उसका मान समाप्त हुआ। उसने अपनी भुजा को थोड़ा सा उठाकर गर्दन को ढीली कर अपना कपोल प्रियतम के हाथ पर रख दिया। यद्यपि यह सब क्रिया वह जानती हुई ही कर रही थी परन्तु ऐसे ढङ्ग से कि प्रियतम समझे कि वह सो रही है। इसीलिए कवि ने 'शयानेव' सोती हुई-सी यह उपमा प्रस्तुत किया है। (क) मानपराञ्चद्वदना—परा अञ्चद् पराञ्चद्। मानेन पराञ्चद् मानपराञ्चद्। तथाभूतं वदन मुखं यस्याः सा मानपराञ्चद्वदना। (ख) शयानेव—शयनं कुर्वाणेव। (ग) करकमले—करः कमलमिव करकमलम्। तस्मिन् करकमले।

---

१. "मानपराग्वदनाऽपि प्रिया" इति पाठान्तरम्।
२. "शयानैव" इति पाठान्तरम्।

(घ) उद्वेल्लद्भुजम्—उद्वेल्लन् सञ्चलन् भुजः बाहुः यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा उद्वेल्लद्भुजम्। क्रियाविशेषणम् । (ङ) अलसग्रीवाबन्धम्—ग्रीवायाः बन्धः ग्रीवाबन्धः । अलसः ग्रीवाबन्धः यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा अलसग्रीवाबन्धम्। इसमें गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया गया है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४८ ॥

लोचनफुल्लाम्भोजद्वयलोभान्दोलितैकमनाः शुभे[1] !
कस्तूरीतिलकमिषादयमलिकेऽलिस्तवोल्लसति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—हे शुभे ! लोचनफुल्लाम्भोजद्वयलोभान्दोलितैकमनाः अयम् अलिः तव अलिके कस्तूरीतिलकमिषात् उल्लसति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कल्याणी ! युगल नेत्र रूपी विकसित कमलों के लोभ से दोलायितहृदय यह भँवरा तुम्हारे ललाट पर कस्तूरी के तिलक के बहाने सुशोभित हो रहा है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने रूपक और अपह्नुति अलङ्कार का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर प्रस्तुत किया है। नायिका के दोनों नेत्रों पर विकसित कमलों का आक्षेप किया गया है । अतः यहाँ रूपक है । कस्तूरी तिलक का भ्रमर के द्वारा अपह्नव प्रस्तुत किया गया है अतः कैतवापह्नुति है। इस अपह्नुति को रूपकालङ्कार सिद्ध करता है अतः वह इसका अङ्ग है। क्योंकि अलि की सत्ता तभी सिद्ध होगी जब कि नेत्रों को कमल बना दिया जाय। कुवलयानन्द के अनुसार क्रमशः रूपक और कैतवापह्नुति के लक्षण इस प्रकार है—'विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्। रूपकं तत्।' तथा 'कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुते पदैः'। (क) लोचनफुल्लाम्भोजद्वयलोभान्दोलितैकमनाः—अम्भसि जातानि अम्भोजानि । कमलानीत्यर्थः । फुल्लान्यम्भोजानि फुल्लाम्भोजानि । लोचनानि एव फुल्लाम्भोजानि लोचनफुल्लाम्भोजानि । तेषां द्वयम् लोचनफुल्लाम्भोजद्वयम्। तस्मिन् लोभः लोचनफुल्लाम्भोजद्वयलोभः । तस्मात् आन्दोलितम् एकं मनः यस्य सः लोचनफुल्लाम्भोजद्वयलोभान्दोलितैकमनाः। (ख) शुभे—शुभं कल्याणमस्त्यस्या इति शुभा (शुभ + डाच् + टाप्) कल्याणीत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ हे शुभे । (ग) कस्तूरीतिलकमिषाद्—कस्तूर्याः तिलकं कस्तूरीतिलकम्। तस्य मिषं छलं कस्तूरीतिलकमिषम्। तस्मात् कस्तूरीतिलकमिषात्। 'व्याजच्छद्मोपधिच्छलं मिषम्' इति हलायुधः कस्तूरी-तिलक के छल से। (घ) अलिके—ललाटे। 'ललाटमलिकम् गोधि' इत्यमरः। (ङ) अलिः—भ्रमरः। 'अलिः सुरापुष्पलिहोः। इति विश्वप्रकाशः। इसमें आर्यावृत्त' उपनिबद्ध है।

---

१. क्वचिदेतत्पदन्नास्ति, क्वचिच्च 'शुभ्रे' इति पठितम्।

'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा त्रितीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ ४९ ॥

अधिरजनि प्रियसविधे कथमपि संवेशिता बलाद्[1] गुरुभिः।
किम्भवितेति [2]सशङ्कम्पङ्कजनयना [3]परामृशति ॥ ५० ॥

अन्वयः—अधिरजनि गुरुभिः कथमपि बलात् प्रियसविधे संवेशिता पङ्कजनयना 'किम् भविता?' इति सशङ्कम् परामृशति।

हिन्दीरूपान्तर—रात मे गुरुजनों द्वारा किसी तरह जबर्दस्ती प्रियतम के पास सुलाई गई कमलनैनीं 'क्या होगा?' इस बात को सशङ्क हो कर विचारती है।

व्याख्या—यह किसी नवविवाहिता नायिका का वर्णन है। रात के समय गुरुजनों ने उसे प्रियतम के पास पहुँचा दिया। अब प्रियतम से सर्वथा अपरिचित होने के कारण वह सशङ्क है। पता नहीं प्रियतम क्या करेंगे? क्या कहेंगे? इत्यादि शङ्कायें उसके मानस को व्याकुल कर रही हैं। और ऐसी क्रिया नवविवाहिता के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। अतः यहाँ पर स्वभावोक्ति अलंकार है। वैसे 'पङ्कजनयना' में उपमा भी है। (क) अधिरजनि—रजन्यामिति अधिरजनि। यहाँ विभक्त्यर्थ में 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययोगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' (२।१।६) सूत्रसे अव्ययी भाव समास हुआ है। निशायामित्यर्थः। 'निशा च दोषा रजनी च यामिनी' इति हलायुधः। (ख) प्रियसविधे—'समीपं सनीडXXसविधम्' इति हलायुधः। (ग) सशङ्कम्—शङ्कया सहितं यथा स्यात्तथा सशङ्कम्। क्रियाविशेषणम्। (घ) पङ्कजनयना—पङ्कजे इव नयने यस्याः सा पङ्कजनयना। कमल के सदृश नेत्रों वाली। इसमें भी आर्या वृत्त प्रयुक्त है। लक्षण पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥ ५० ॥

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत्त्वाम्प्रतिबोधयामि[4] मम चेदुक्तिं हिताम्मन्यसे
मुग्धे! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति ॥ ५१ ॥

---

१. "नु शङ्काम्" इति पाठान्तरम्।
२. एतत् पदम् क्वचिन्न दृश्यते।
३. "परम् मृशति" इति पाठान्तम्।
४. "एतत्त्वां विनिवेदयामि" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—हे मुग्धे ! मनसिजः चिन्तामीलितमानसः, सख्यः विहीनप्रभाः, प्राणेशः प्रणयाकुलः, पुनः असौ समस्ता कथा आस्ताम् , चेत् मम उक्ति हिताम् मन्यसे त्वाम् एतत् प्रतिबोधयामि (यत्) मानम् मा कुरु अन्यथा राकापतिः इदम् आननम् जेष्यति ।

हिन्दीरूपान्तर—अरी मुग्धे ! कामदेव चिन्ता से तिरोहित हृदयवाला है, सहेलियाँ प्रभा-हीन हैं, प्राणनाथ प्रेम से व्याकुल हैं, फिर भी यह सारी कथा दूर रहे, अगर तू मेरी बात को हितकर समझती है (तो) तुम्हें यह समझाती हूँ (कि) मान न कर (नहीं तो) राकेश (चन्द्रमा तुम्हारे) इस मुख को जीत लेगा ।

व्याख्या—किसी मानिनी नायिका को मानते हुए उसकी सखी उससे कह रही है। यहाँ नायिका के मुख के विषय में उसका कहना है कि अगर तू मान नहीं छोड़ेगी तो रोष से तेरा मुख मलिन हो जायगा और जब तेरा मुख मलिन हो जायगा तो यह कलङ्की चन्द्रमा उसे जीत लेगा, क्योंकि अभी तो वह स्वयं परास्त है क्यों कि उसके अन्दर कलङ्क है और तेरा मुख निष्कलङ्क है । पर जब तेरा मुख भी कलङ्की हो जायगा तो उसकी बन जायगी। इस प्रकार यहाँ नायिका का मुख चन्द्रमा से अधिक सुन्दर है' इस प्रकार व्यतिरेकालंकार की ध्वनि प्रस्तुत की गई है । उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"—(काव्यप्रकाश) । (क) चिन्तामीलितमानसः—चिन्तया मीलितं चिन्तामीलितम् । चिन्तामीलितं मानसं यस्य सः चिन्तामीलितमानसः । (ख) मनसिजः—मनसि जातः मनसिजः (जनीप्रादुर्भावे + ड) 'कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः शम्बरारिर्मनसिजः' इत्यमरः । (ग) विहीनप्रभाः—विशेषेण हीनाः विहीनाः । विहीनाः प्रभाः यासां ताः विहीनप्रभाः (ग) राकापतिः—राकायाःपतिः राकापतिः । पौर्णमासी चन्द्रः इत्यर्थः । 'राका सम्पूर्णे पौर्णमासी च' इति हलायुधः । इस पद्य में शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया गया है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५१ ॥

अलङ्कर्त्तुङ्कर्णौ भृशमनुभवन्त्या नवरुजां[1]
सशीत्कारन्तिर्य्यग्वलितवदनाया मृगदृशः ।
कराब्जव्यापारानतिसुकृतसारान् रसयतो
जनुः[2] सर्वश्लाघ्यञ्जयति ललितोत्तंस ! भवतः ॥५२॥

---

१. "नवरुजम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "जनुः सर्वं श्लाघ्यम्" इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः—हे ललितोत्तंस ! कर्णौ अलंकर्तुम् भृशम् नवरुजाम् अनुभवन्त्या सशीत्कारम् तिर्य्यग्वलितवदनायाः मृगदृशः अतिसुकृतसारान् कराब्जव्यापारान् रसयतः (ते) सर्वश्लाघ्यम् जनुः जयति ।

हिन्दीरूपान्त—ऐ रमणीय कर्णाभरण ! कानों को विभूषित करने के लिए अत्यधिक नवीन पीड़ा का अनुभव करती हुई सी शी करते हुए मुख को तिरछा मोड़ने वाली मृगनैनी के तमाम पुण्यों के सारभूत करकमलों के व्यापारों का आस्वादन करते हुए तुम्हारा सर्वश्लाघ्य जन्म सर्वोत्कृष्ट है ।

व्याख्या—यहाँ कवि ने समासोक्ति अलंकार प्रस्तुत किया है । समासोक्ति का लक्षण है—'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्' यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषणसाम्यबलादप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिस्तत्र समासोक्तिरलङ्कारः । समासेन सङ्क्षेपेण प्रस्तुताप्रस्तुतवृत्तान्तयोर्वचनात् ।" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहां पर विशेषणों के साम्य के कारण प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अप्रस्तुत के वृतान्त की प्रतीत होती है वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है । पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेषण की समानता दो प्रकार से स्वीकार किया है—एक श्लेष के द्वारा और दूसरी शुद्ध साधारणता के द्वारा । प्रस्तुत उदाहरण शुद्ध साधरणता द्वारा प्राप्त विशेषणों की समानता का है । यहाँ पर ललितोत्तंस के वृत्तान्त से तत्काल जिसने उस नायिका के अधर को खण्डित किया है उस कामुक के वृत्तान्त की अभिन्न रूप से प्रतीति होती है । अतः समासोक्ति है । (क) भृशम्—अत्यधिकमित्यर्थः । 'भृशं प्रकर्षे चात्यर्थे' इति विश्वप्रकाशः । (ख) अनुभवन्त्या—अनु+भू+शतृ (नुम्) ङीप् । अनुभव करती हुई । (ग) नवरुजाम्—नवा रुजा (पीडा) नवरुजा । तां नवरुजाम् । नयी पीडा को । (घ) सशीत्कारम्—शीत्कारेण सहितं यथा स्यात्तथा सशीत्कारम् । क्रियाविशेषणम् । शी-शी करते हुये । (ङ) तिर्य्यग्वलितवदनायाः—तिर्य्यक् वलितं वदनं मुखं यस्याः यया वा सा तिर्य्यग्वलितवदना तस्याः तथोक्तायाः । तिरछे मुड़े हुये मुखवाली, अथवा मुख को तिरछा मोड़ने वाली । (च) मृगदृशः—मृगस्य दृशाविव दृशौ यस्याः सा, तस्याः मृगदृशः । धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा । 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति समासः उपमानपदलोपश्च । मृग के नेत्रों के सदृश नेत्रों वाली के । (छ) कराब्जव्यापारान्—करौ अब्जे इव कराब्जे तयोः व्यापाराः कराब्जव्यापाराः । तान् तथोक्तान् । कमल के सदृश हाथों के व्यापारों को । (ज) अतिसुकृतसारान्—अति अत्यधिकं सुकृतम् पुण्यम् अतिसुकृतम् । तस्य सारान् तत्त्वभूतानित्यर्थः । अत्यधिक पुण्य के सारभूत । (झ) रसयतः—आस्वादयतः । रस आस्वादने स्नेहनयोः (चुरादि०)+शतृ+ङस्) आस्वादन करने वाले । (ञ) जनुः—

जन्म । 'जनुर्जननजन्मानि' । इत्यमरः । (ञ) सर्वश्लाघ्यम्—सर्वेभ्यः श्लाघ्यम् सर्वश्लाघ्यम् सबसे प्रशंसनीय । (ञ) ललितोत्तंसः—ललितः उत्तंसः (कर्णपूरः) । ललितोत्तंसः । तत्सम्बुद्धौ हे ललितोत्तंस । इसमें शिखरिणी वृत्त प्रयुक्त है । लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन सभला गः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५२ ॥

आयातैव निशा निशापतिकरैः[1] कीर्णन्दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरङ्गान्यलङ्कुर्व्वते[2] ।
मुग्धे ! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा ! हा !! बालमृणालतोऽप्यतितरान्तन्वीतनुस्ताम्यति[3] ॥५३॥

अन्वयः—हे मुग्धे ! निशा आयाता एव, निशापतिकरैः दिशाम् अन्तरम् कीर्णम्, भामिन्यः भवनेषु भूषणगणैः अङ्गानि अलङ्कुर्व्वते, अद्य अपि मानम् मनाक् न अपाकरोषि, हा ! हा !! रोषेण ते बालमृणालतः अपि अतितराम् तन्वी तनुः ताम्यति ।

हिन्दीरूपान्तरः—ऐ मुग्धे ! रात आ ही गई, चन्द्रमा की किरणों से दिशाओं का अन्तराल व्याप्त हो गया, रमणियाँ घरों में अलङ्कारों से अंगों को सजा रही हैं (तो भी) आज भी तू मान को जरा-सा भी दूर नहीं कर रही है, हाय ! हाय !! क्रोध से तुम्हारा अभिनव मृणाल से भी अत्यधिक दुबला शरीर झुलसा जा रहा है ।

व्याख्या—यहाँ कोई नायक अपनी रूठी हुई प्रियतमा से मिन्नतें कर रहा है । नायिका मुग्धा है । मुग्धा का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—

"प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥

अर्थात् मुग्धा नायिकायें वे होती है जिनमें नवीन यौवन की छटा तथा कामकलाओं के विलास पहिले-पहिल उत्पन्न होते हैं, जो रति में संकोच करती है, जिनका मान चिरस्थायी नहीं होता और जो अत्यधिक लज्जाशील होती हैं । यहाँ कवि ने प्रणयमान विप्रलम्भशृङ्गार प्रस्तुत किया है । नायिका आलम्बन है । रात्रि आदि उद्दीपन है, शरीर का क्षीण होना आदि अनुभाव है। रोष आदि व्यभिचारीभाव है, और सहृदय विषयक रति स्थायिभाव है। (क) निशापतिकरैः—निशायाः पतिः निशापतिः । चन्द्र इत्यर्थः निशापतेः कराः (किरणाः)

१. "पूर्णन्दिशामन्तरम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "भूषणगणैरङ्गानि संस्कुर्व्वते" इति पाठान्तरम् ।
३. "तनुः क्षाम्यति" इति पाठान्तरम् ।

निशापतिकराः । 'करो वर्षोपले पाणौ शुण्डा प्रत्ययरश्मिषु' इति विश्वप्रकाशः । (ख) कीर्णम् (कृ + क्त) । (ग) भामिन्यः—अवश्य कुपित हो जाने-वाली स्त्री को भामिनी कहते हैं अवश्यं भामते इति भामिनी' 'भाम क्रोधे' इति धातोः 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३।३।१७०) इति णिनिः । अथवा 'नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्य च' (३।१।१३४), णिनिः । 'कोपना सैव भामिनी' इत्यमरः । प्रथमा बहुवचने भामिन्यः । (घ) बालमृणालतः—बालं मृणालं बालमृणालम् । तस्मात् बालमृणालतः । (बालमृणाल + तसिल) इस श्लोक में कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का ही प्रयोग किया है । 'सूर्याश्वैर्यदि मः स जौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।" (छन्दोमञ्जरी) ।। ५३ ।।

[1]वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पञ्जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजम्[2] ।
निःश्वासग्लपिताधरम्परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ! शिव !! प्राणेशमालोकते ।।५४।।

अन्वयः—प्रयाणसमये जने माङ्गलिकीः वाचः अनल्पम् जल्पति केली-मन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजम् परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा लोलविलोचना बाला, शिव ! शिव !! निःश्वासग्लपिताधरम् प्राणेशम् आलोकते ।

हिन्दीरूपान्तर—(प्रियतम को परदेश) यात्रा के समय लोगों के मङ्गलकारी वचनों के खूब कहते समय क्रीड़ागृह की खिड़की के सामने मुख-कमल को रखे हुए आंसुओं से गीले हो गए स्तनोंवाली एवम् चंचल नेत्रोंवाली बाला, शिव ! शिव !! निःश्वासों से सूखते हुए अधर से युक्त होकर प्राणनाथ को देख रही है ।

व्याख्या—किसी नायिका का पति विदेश जा रहा है । लोग उसे तरह-तरह के आशीर्वाद दे रहे हैं, पर नायिका की दशा कुछ और ही है । उसी की दशा का कोई सखी अपनी सखी से वर्णन कर रही है । यहाँ कवि ने 'प्रवास विप्रलम्भ शृङ्गार प्रस्तुत किया है । प्रवास विप्रलम्भ का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्य्याच्छापाच्च सम्भ्रमात् ।
तत्रांगचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ।।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।

---

१. "वाचम्माङ्गलिकीम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "विन्यस्तवक्त्राम्बुजा" इति पाठान्तरम् ।

किञ्च—

अंगेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ।
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ॥
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥

अर्थात् कार्यवश, शापवश अथवा भयवश नायक के दूसरे देश चले जाने को 'प्रवास' कहते हैं। इसमें शरीर और कपड़ों की मलिनता, सिरपर एकवेणी को धारण करना, निश्वास, उच्छ्वास, जमीन पर गिर पड़ना आदि होता है। इसमें अङ्गों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, अनालम्बन-सा, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण, दस (ग्यारह) काम दशायें होती है। इनमें कार्यवश होने वाला प्रवास तीन प्रकार का होता है भावी, भवन और भूत। 'भावी भव-भूत इति त्रिधा स्यात् तत्र कार्यजः" (साहित्यदर्पणः) प्रस्तुत पद्य में प्रवास कार्यवश हो रहा है। क्योंकि नायक किसी कार्यवश परदेश जा रहा है। अतः लोग उसे हर तरह के मङ्गल-आशीर्वाद दे रहे हैं कि उसका कार्य्य शीघ्र सिद्ध हो। साथ ही पति विदेश जा रहा है इस लिये यह प्रवास वर्तमान (भवन) है। यहां नायक आलम्बन विभाव है, निःश्वासों से अधर का सूखना, आँसुओं का गिरना आदि अनुभाव हैं, तथा विषाद, चिन्ता, आवेग, आदि व्यभिचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से नायिका की रति व्यञ्जित होती है। और चूंकि वह रति प्रवास काल में है अतः विप्रलम्भशृङ्गार को प्रस्तुत करती है। (क) माङ्गलिकीः— मङ्गलाय हिता माङ्गलिकी (मङ्गल + ठक्)। ताः माङ्गलिकीः। (ख) प्रयाणस्य समयः प्रयाणसमयः। (प्र + या + ल्युट् + प्रयाणम्) तस्मिन् प्रयाणसमये 'यात्रा प्रयाणम् प्रस्थानम्' इति हलायुधः। 'जने जल्पति' इत्यत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम् (२।३।३७) इति सप्तमी। (ग) अनल्पम्—न अल्पं यथा स्यात्तथा अनल्पम्। क्रिया विशेषणमेतद्। (घ) केलीमन्दिरमारुतायनमुखे—केल्याः मन्दिरं केलीमन्दिरम् (क्रीडागृहमित्यर्थः) 'द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा खेला च नर्म च' इति 'सदनं भवनागारमन्दिरम्' इति चामरः। मरुदेव मारुतः। (मरुत + प्रज्ञादिभ्यश्च (५।४।३८) इति स्वार्थेऽण्। 'पवनः श्वसनो वायुर्मरुदनिलो मारुतः' इति हलायुधः। मारुतस्य अयनम्। अय्गतौ + ल्युट्, गमनागमनमार्गः मारुतायनम्। गवाक्ष इत्यर्थः। 'अयनं पदवी मार्गः' इति हलायुधः। केलीमन्दिरस्य मारुतायनं केलीमन्दिरमारुतायनम्। तस्य मुखं केलीमन्दिरमारुतायनमुखम्। तस्मिन् तथोक्ते (ङ) विन्यस्तवक्त्राम्बुजम्—विशेषेण न्यस्तं विन्यस्तम्। वक्त्रमम्बुजमिवेति वक्त्रमेवाम्बुजमिति वा वक्त्राम्बुजम्। विन्यस्तवक्त्राम्बुजम्।

(क्रियाविशेषणम्) (च) निःश्वासग्लपिताधरम्—निःश्वासेन ग्लपितः निःश्वासग्लपितः । निःश्वासग्लपितः अधरः यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा निःश्वासग्लपिताधरम् । (एतदपि क्रियाविशेषणम्) (छ) परिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा—वक्षसि रोहतीति वक्षोरुहः (वक्षस् + रुह + क) स्तन इत्यर्थः । 'उरसिज-कुचवक्षोरुहपयोधराः स्तनसमाननामानि' इति हलायुधः । परितः पतन् परिपतन् । परिपतन् वाष्पः परिपतद्बाष्पः तेन आर्द्रः परिपतद्बाष्पार्द्रः वक्षोरुहो यस्याः सा परितद्वाष्पार्द्रवक्षोरुहा । इसमें कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदिमः सतौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४५ ॥

दारिद्र्यम्भजते कलानिधिरयं राकाऽधुना म्लायति[1]
स्वैरङ्कैरवकाननेषु परितो मालिन्यमुन्मीलति ।
द्योतन्ते हरिदन्तराणि सुहृदां वृन्दं समानन्दति[2]
त्वञ्चेदञ्चसि काञ्चनाङ्गि ! वदनाम्भोजे विकासश्रियम् ॥५५॥

अन्वयः—हे काञ्चनाङ्गि ! चेत् त्वम् वदनाम्भोजे विकासश्रियम् अञ्चसि अधुना अयम् कलानिधिः दारिद्र्यम् भजते, राका म्लायति कैरवकाननेषु परितः स्वैरम् मालिन्यम् उन्मीलति, हरिदन्तराणि द्योतन्ते, सुहृदां वृन्दं समानन्दति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सुवर्ण की तरह गौर अंगों वाली (नायिके) ! यदि तू मुखकमल में विकास की शोभा धारण करती है तो इसी समय यह कलानिधि चन्द्रमा दारिद्र्य को प्राप्त कर लेता है, पूनम की रात मलिन हो जाती है, कुमुदवनों में चारों ओर स्वच्छन्द रूप से मालिन्य फैल जाता है, दिशाओं के अन्तराल प्रकाशित हो उठते हैं, और मित्रों का समुदाय आनन्दित हो जाता है ।

व्याख्या—लोक प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा कमलों की शोभा का अपहरण करने वाला है, कारण चन्द्रमा रात में दिखाई पड़ता है और कमल रात में संकुचित हो जाते हैं वे तो सूर्योदय होने पर विकसित होते हैं । अतः कमल और चन्द्रमा को हम परस्पर प्रतिद्वन्द्वी भी कह सकते हैं । यहाँ कवि ने नायिका के मुख में कमल का आरोप किया है और उस मुख कमल का सौन्दर्यातिशय प्रतिपादित करने के लिए उक्त पद्य में कहीं गई सभी अतथ्य ओर अद्भुत बाते वर्णित की हैं । कहीं कमल के खिलाने से चन्द्रमा भी दरिद्र हो सकता है !

१. "ग्लायति" इति पाठान्तरम् ।
२. "स्वमानन्दति" इति पाठान्तरम् ॥

परन्तु कवि ने वर्णन किया कि जब तुम्हारा मुख कमल विकसित हुआ अर्थात् तुम मुस्कराई तो चन्द्रमा पराजित हो गया इसी लिए दरिद्र हो गया। साथ ही जब पति ही दरिद्र हो गया तो पत्नी कैसे न म्लान हो अतः राकारमण के दरिद्रता को प्राप्त हो जाने पर राका भी म्लान हो गई। तथा कुमुद भी तो चन्द्रमा के बान्धव ठहरे "हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः इन्दुः कुमुदबान्धवः' (अमरकोश) वे कैसे खुश रह सकते थे। अतः उनमें भी मालिन्य छा गया। तथा दिशायें और कमल के सुहृद्गण प्रसन्न हो उठे क्यों कि उनका सपक्षी उत्कर्षयुक्त था। अतः यहाँ पर 'अत्युक्ति' अलङ्कार माना जायगा। लक्षण है—'अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्य्यौदार्य्यादिवर्णनम्" (कुवलयानन्द) अद्भुत एवं मिथ्या रूप शौर्य्य, उदारता आदि का वर्णन होने पर अत्युक्ति 'अलङ्कार' होता है। यह अत्युक्ति रूपकानुप्राणित है (क) दारिद्र्यम्—दरिद्रस्य भावः दारिद्र्यम्। 'दरिद्र + ष्यञ् + गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्म्मणि च' (५।१।१२४) इति सूत्रेण। (ख) कलानिधिः—कलाः निधीयन्तेऽत्रेति कलानिधिः (कला + नि + डुधाञ् धारणपोषणयोः + कि 'कर्म्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इति सूत्रेण। चन्द्रमा इत्यर्थः। (ग) 'राका सम्पूर्णे पूर्णमासी च' इति हलायुधः। (घ) कौरवकाननेषु—'कौरवं कुमुदं विदुः' इति हलायुधः। विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। (ङ) मालिन्यम्—मलिनस्य भावः मालिन्यम् (मलिन + भावे ष्यञ्)। (च) हरिदन्तराणि—हरितामन्तराणि हरिदन्तराणि। 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः। (छ) समुदायः—समुदयः समवायश्च यो गणः। स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्' इत्यमरः। (ज) काञ्चनाङ्गि—काञ्चनमिवाङ्गानि यस्याः सा काञ्चनाङ्गी। सुवर्णवद्गौराङ्गीत्यर्थः। (झ) वदनाम्भोजे—वदनमेवाम्भोजं वदनाम्भोजम् तस्मिन् वदनाम्भोजे। (ञ) विकासश्रियम्—विकासस्य श्रीः विकासश्रीः तां विकासश्रियम्। इसमें भी कवि ने शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है॥ ५५॥

पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखाद्[1] याता इवातापिनो
वाता वान्ति दहन्ति लोचनममी ताम्रा रसालद्रुमाः।
एते हन्त! किरन्ति कूजितमयं हालाहलङ्कोकिला
बाला बालमृणालकोमलतनुः प्राणान् कथं रक्षतु?॥५६॥

अन्वयः—पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखात् याता इव आतापिनः वाताः वान्ति,

---

१. "पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखायाता" इति पाठान्तरम्।

अमी ताम्रा रसालद्रुमाः लोचनम् दहन्ति, एते कोकिलाः कूजितमयं हालाहलम् किरन्ति, हन्त ! बालमृणालकोमलतनुः बाला प्राणान् कथं रक्षतु ?

हिन्दीरूपान्तर—चन्दनके वृक्षों पर के श्रेष्ठ भुजंगों के मुख से निकली हुई सी सन्ताप-कारिणी हवायें बह रही हैं, ये लाल-लाल आमों के पेड़ आंखों को जला रहे हैं, ये कोयल कूजनमय जहर बिखेर रहे हैं, हाय ! (ऐसे समय में भला) अभिनव मृणाल की तरह कोमल शरीर वाली बाला प्राणों की कैसे रक्षा करे ?

व्याख्या—किसी विरहिणी नायिका का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि वह बेचारी अपने प्राणों की रक्षा कैसे करे जब कि चन्दन के पेड़ों पर रहने वाले बड़े-बड़े भुजंगों के मुँह से निकली हुई जहरीली हवायें, नये-नये किसलयों से युक्त आमों के पेड़, जहर उगलते हुए ये कोकिल उसका प्राण लेने पर तुले हैं। यहाँ यद्यपि नायिका का प्राण हरण कर लेने में पहला ही कारण समर्थ है फिर भी दूसरे और तीसरे कारण उसी कार्य को करने के लिए अह-महमिका से कूदे पड़ रहे हैं। अतः यहाँ 'समुच्चय' अलङ्कार है। लक्षण है—

"अहम्प्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः।' (कुवलयानन्द)

अर्थात् हम पहले इस कार्य को कर ले हम पहले इस कार्य को कर लें इस प्रकार की अहमहमिका से जहाँ कई एक कारणों का एक ही कार्य से सम्बन्ध वर्णित होता है वहाँ भी समुच्चय अलङ्कार होता है। (क) पटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखात्—पटीरमेव पाटीरम् (स्वार्थेऽण्)। 'पटीरं चन्दनम्' इति शब्दकल्पद्रुमः। पाटीरस्य द्रुः पाटीरद्रुः। चन्दनवृक्ष इत्यर्थः। 'द्रुविष्टरनगद्रुमपादपाश्च' इति हलायुधः। भुजङ्गेषु पुङ्गवाः भुजङ्गपुङ्गवाः। पाटीरद्रुषु स्थिताः भुजङ्गपुङ्गवाः पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवाः। पुङ्गवाः श्रेष्ठा इत्यर्थः। यथोक्तम्मेदिन्याम्—'पुङ्गवः स्याद् बलीवर्दे प्रभेदेऽप्यौषधस्य च। उत्तरस्थे, पुनः श्रेष्ठे" इति। तेषां मुख पाटीरद्रुभुजङ्गपुङ्गवमुखम्। तस्मात् तथोक्तात् (ख) रसालद्रुमाः—रसालस्य द्रुमाः रसालद्रुमाः। आम्रवृक्षा इत्यर्थः। 'आम्रश्चूतो रसालः" इत्यमरः। (ग) हालाहलम्—हलायुध कोश में हलाहल को विष का एक भेद बताया गया है—'रसः सौराष्ट्रिकः श्वेऽतस्तीक्ष्णश्च विषमुच्यते। शृङ्गिको वत्सनाभश्च कालकूटो हलाहलः। काकोलो विस्फुलिङ्गश्च तद्भेदाः स्युरनेकधा।" भाव प्रकाश में हालाहल का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'गोस्तनामफलो गुच्छस्ताल-पत्रच्छदस्तथा। तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः॥ असौ हलाहलोज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये। दाक्षिणाब्धितटे देशे कोंकणेऽपि च जायते।" (घ) बालमृणालकोमलतनुः—बालं मृणालम् बालमृणालम्। मृणालं बिसम् इत्यमरः बालमृणालादपि कोमलं बालमृणाकोमलम्। अथवा बालमृणालमिव

कोमलं बालमृणालकोमलम्। बालमृणालकोमलं तनुर्यस्याः सा बालमृणालकोमल-तनुः 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुः' इत्यमरः। इसमें भी कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का ही प्रयोग किया है ॥ ५६ ॥

आयातैव निशा मनो मृगदृशामुन्निद्रमातन्वती
मानो मे कथमेष सम्प्रति निरातङ्कं हृदि स्थास्यति।
'उन्नीयोहमिमं सरोजनयना यावद् विधत्ते त्वराम्
तावत् कामनृपातपत्रसुषमम्बिम्बम्बभासे विधोः ॥५७॥

अन्वयः—"मृगदृशाम् मनः उन्निद्रम् आतन्वती निशा आयाता एव, सम्प्रति एषः मानः मे हृदि कथम् निरातङ्क स्थास्यति ?" इमम् ऊहम् उन्नीय सरोजनयना यावत् त्वरां विधत्ते तावद् विधोः कामनृपातपत्रसुषमम् बिम्बम् बभासे।

हिन्दीरूपान्तर—"मृगनैनियों के हृदय को उद्बुद्ध करती हुई रात आ ही गई, अब यह मान मेरे हृदय में कैसे निर्भय होकर ठहरेगा ?" इस तर्क को उठाकर कमलनयनी जब तक जल्दी करती है तब तक में ही चन्द्रमा का राजा कामदेव के आतपत्र के सौन्दर्यवाला मण्डल कान्तिमान हो उठा।

व्याख्या—यहाँ कवि ने मुग्धा नायिका का वर्णन प्रस्तुत किया है। उस ने नायक से प्रणयमान किया तो, परन्तु वह रात आते ही भागने का इरादा करने लगा कि इतने में ही चन्द्रोदय भी हो गया और उसे सिर पर पैररख भागना पड़ा। इस प्रकार यहाँ नायिका जिस मान का परित्याग करने जा रही थी अचानक चन्द्रोदय के उदय होने से वह और भी आसान हो गया। अतः यहाँ समाधि अलङ्कार है। लक्षण है—"समाधिः कार्य्यसौकर्य्यं कारणान्तर-सन्निधेः" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ किसी कार्य को करते समय किसी दूसरे कारण से वह कार्य और भी सुगम हो जाय तो वहाँ समाधि अलङ्कार होता है। (क) मृगदृशाम्—मृगस्य दृशाविव दृशौ यस्याः सा मृगदृक्। तासां मृग-दृशाम्। (ख) उन्निद्रम्—उद्गता निद्रा यस्मात् तत् उन्निद्रम्। विगतनिद्र-मित्यर्थः। (ग) निरातङ्कम्—निर्गत आतङ्को यस्मात् तद् यथा स्यात् तथा निरातङ्कम्। आतङ्क का अर्थ यहां पर भय है—'आतङ्कस्तापे रुग्भीत्योः' इति नानार्थसङ्ग्रहः। (घ) ऊहस्तर्कोऽनुमानोक्तिः'—इति हलायुधः। (ङ)

१. "ऊहापोहमिमम्" इति पाठान्तरम्।

सरोजमिव नयनं यस्याः सा सरोजनयना, (च) जल्दबाजी को त्वरा कहते है—'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः । (छ) कामनृपातपत्रसुषमम्—कामः नृपः कामनृपः । कामनृपस्यातपत्रं कामनृपातपम्, 'आतपत्रं भवेच्छत्रम्, इति हलायुध । कामनृपातपत्रेण सुषमा यस्मिन् तत् कामनृपातपत्रसुषमम् । 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः । (ज) 'बिम्बोऽस्त्रीमण्डलं त्रिपु' इत्यमरः । इस पद्य में भी कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है ।। ५७ ।।

प्रभातसमयप्रभाम्प्रणयिनि ह्नुवाना[१] रसा-
दमुष्य निजपाणिना दृशममीलयल्लीलया ।
अयन्तु खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरैः[२]
रवेरुदयमध्यगादधिकचारु तैर्मारुतैः ।। ५८ ।।

अन्वयः—रसात् प्रणयिनि प्रभातसमयप्रभां ह्नुवाना, लीलया अमुष्य दृशं निजपाणिना अमीलयत् । तु अयं खलु पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरैः तैः मारुतैः रवेः उदयम् अधिक चारु अध्यगात् ।

हिन्दीरूपान्तर—प्रेमवश प्रियतम से प्रभात काल की प्रभा को छिपाती हुई (नायिका ने) विलास पूर्वक इस (नायक) के नेत्र को अपने हाथ से मूद दिया । लेकिन इसने तो कमलिनियों के सुगन्धसमूह के चुरानेवाले उन (प्रसिद्ध) पवनों के द्वारा सूर्य के उदय को अधिक सुन्दर ढंग से जान लिया ।

व्याख्या—कोई नायिका अपने प्रियतम के पास सोई हुई थी ! सवेरा हो गया । परन्तु वह चाहती थी कि उसका प्रियतम सवेरे को न जान पाये और उसके समीप लेटा रहे अतः उसने विलासपूर्वक उसकी आंखे बन्द कर दिया कि प्रकाश न दिखाई पड़े । लेकिन सूर्योदय हो जाने पर कमलिनियाँ विकसित हो गई और हवाओं के द्वारा उनकी सुगन्ध नायक तक पहुँच गई अतः वह जान गया कि अब सवेरा हो गया और बिस्तर पर से उठ गया । इस प्रकार नायिका के इष्ट की सिद्धि न हो सकी । अतः यहाँ पर 'विषमालङ्कार' है । विषम का लक्षण है—

'गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः सङ्घटना या च तद्विषमं मतम् ।।' (साहित्यदर्पण)

१. "प्रणयनिह्नुवाना" इति पाठान्तरम् ।
२. पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरः" इति पाठान्तरम् ।

अर्थात् यदि कार्य और कारण के गुण या क्रियायें परस्पर विरुद्ध हों, अथवा आरम्भ किया हुआ कार्य विफल हो गया हो, उल्टे अनर्थ की प्राप्ति हुई हो, या कि दो विरूप पदार्थों का सम्बन्ध वर्णित हो तो विषमालङ्कार होता है। यहाँ आरम्भ किये हुए कार्य के विफल हो जाने के कारण विषमालङ्कार (क) प्रभातसमयप्रभा—प्रभातस्य समयः प्रभातसमयः। प्रातःकाल इत्यर्थः। तस्य प्रभा (प्रकाशः) प्रभातसमयप्रभा। तां तथोक्ताम्। (ख) प्रणयिनि—प्रणयोऽस्त्यस्मिन्निति प्रणयी। (प्रणय+इनि) तस्मिन् प्रणयिन। प्रियतमे, स्वपत्यौ इत्यर्थः। (ग) ह्नुवाना—गोपयन्ती। छिपाती हुई। (घ) रसात्—रागात्। 'रसो गन्धरसे स्वादे चित्तादौ विषरागयोः।' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) निजपाणिना—निजः पाणिः निजपाणिः। तेन निजपाणिना। स्वकरेणेत्यर्थः। पाणिः शयपञ्चशाखकरहस्ताः' इति हलायुधः। (च) लीलया—सविलासमित्यर्थः। (छ) पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चरैः—पद्मिनीनां परिमलाः पद्मिनीपरिमलाः। तेषामालिः पङ्क्तिः समूह इत्यर्थः पद्मिनी परिमलालिः। 'आलिः पङ्क्तौ च सख्याञ्च' इति विश्वप्रकाशः। तस्याः पाटच्चराः चौराः पद्मिनीपरिमलालिपाटच्चराः। तैः तथोक्तैः। 'पाटच्चरः पटचौरः' इति हलायुधः। 'आमोदः स्यात् परिमलः सौरभ्यञ्च सुगन्धिता' इति च हलायुधः। कमलिनियों के सुगन्धसमूह को चुरानेवाले। (ज) रवेः—सूर्य्यस्य। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। (झ) अधिकचारु—अधिकं चारु यथा स्यात् तथा अधिकचारु। क्रियाविशेषणमेतत्। अधिक सुन्दर ढङ्ग से। (ञ) मारुतैः—वायुभिः। 'समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः' इत्यमरः। इसमें कवि ने पृथ्वीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५८ ॥

विदूरादाश्चर्य्यस्तिमितमथ किञ्चित् परिचया-
दुदञ्चच्चाञ्चल्यन्तदनु[1] परितः स्फारितरुचि।
गुरूणां सङ्घाते[2] सपदि मयि याते समजनि
त्रपाघूर्णत्तारन्नयनमिह सारङ्गजदृशः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—इह गुरूणां सङ्घाते मयि सपदि याते सारङ्गजदृशः नयनं विदूरात् आश्चर्य्यस्तिमितम् अथ परिचयात् किञ्चित् उदञ्चच्चाञ्चल्यम् तदनु परितः स्फारितरुचि (ततः) त्रपाघूर्णत्तारं समजनि।

---

१. "परिविस्फारितरुचि" इति पाठान्तरम्।
२. "सङ्घातम्" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—यहाँ गुरुजनों के समुदाय में मेरे सहसा पहुँच जाने पर मृग-शावकनैनी की आँख दूर से आश्चर्यवश निश्चल, तदनन्तर पहचानने से कुछ-कुछ उत्पन्न चञ्चलता वाली, उसके बाद चारों ओर कान्ति फैलाने वाली तब लज्जा से चञ्चल पुतली वाली हो गई।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से बता रहा है। यहाँ नायिको की आंखों में क्रमशः अनेक रूपों का वर्णन होने के कारण पर्य्यायालङ्कार है। पर्याय का लक्षण है—

'क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ पर क्रम से एक अनेकों में अथवा अनेक एक में होते है अथवा किये जाते हैं वहाँ पर्यायालङ्कार होता है। (क) आश्चर्यस्तिमितम्—आश्चर्य्येण स्तिमितमाश्चर्य्यस्तिमितम्। आश्चर्य के कारण निश्चल। (ख) उदञ्चच्चाञ्चल्यम्—उद् अञ्चत् चाञ्चल्यं (चञ्चलस्य भावः चाञ्चल्यम्, भावे ष्यञ्) यस्मिम् तत् उदञ्चचाञ्चल्यम्। उत्पन्न होती हुई चंचलता वाले। (ग) परितः स्फारितरुचि—परितः (सर्वतः) स्फारिता रुचिः (कान्तिः) येन् तत् परितः स्फारितरुचि। चारों ओर कान्ति फैलाने वाली। (घ) सङ्घाते—समूहे, समुदाये ! 'स्तोमौघनिकरव्रातवारसङ्घातसंचयाः। समुदायः।' इत्यमरः। (ङ) सपदि—झटिति तुरन्त। (च) त्रपाघूर्णत्तारम्—त्रपया घूर्णन्ती त्रपाघूर्णन्ती। त्रपाघूर्णन्ती तारा यस्य तत् त्रपाघूर्णत्तारम्। लज्जा से चंचल हो उठी पुतली वाला। 'त्रपा व्रीडा लज्जा' इत्यमरः। (छ) सारङ्गजदृशः—सारङ्गो मृगः। 'हरिणो मृगः स्यात् सारङ्गः' इति हलायुधः। तस्माज्जातः सारङ्गजः। सोऽपि। मृग से उत्पन्न भी मृग ही होगा। चूंकि सारङ्गज शब्द का प्रयोग यहां कवि ने किया है सारङ्ग का नहीं अतः हम इसका अर्थ मृग शिशु ले सकते हैं। मृगशिशुता को द्योतित करने के लिये ही, यहां सारङ्गज शब्द प्रयुक्त हुआ। मृगशिशु के नेत्र प्रौढमृग से अधिक चंचल होते हैं। इससे नायिका के नेत्रों की चंचलता का आतिशय्य ध्वनित होता है। सारङ्गजस्य दृशाविव दृशौ यस्या सा तस्याः सारङ्गज दृशः। "सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चवक्तव्यः" इति भाष्यवार्तिकेन समासः उपमानवाचकपदलोपश्च। अतः अतः यहां धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। मृगशावक के सदृश नेत्रों वाली का। इसमें शिखरिणी वृत्त प्रयुक्त है। लक्षण है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन सभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५९ ॥

कपोलावुन्मीलत्पुलकनिकुरम्बौ[1] मयि मनाङ्[2]
मृशत्यन्तःस्मेरस्तवकितमुखाम्भोरुहरुचेः[3]।
कथङ्कारं शक्याः परिगदितुमिन्दीवरदृशो
[4]दलद्द्राक्षानिर्य्यद्रसभरसपक्षा भणितयः॥ ६० ॥

अन्वयः—मयि उन्मीलत्पुलकनिकुरम्बौ कपोलौ मनाक् मृशति अन्तःस्मेरस्तवकितमुखाम्भोरुहरुचेः इन्दीवरदृशः दलद्द्राक्षानिर्य्यद्रसभरसपक्षाः भणितयः कथङ्कारम् परिगदितुं शक्याः ?

हिन्दीरूपान्तर—मेरे उत्पन्न हुए रोमांच समूहों वाले गालों के जरा सा छू लेने पर भीतरी मुस्कान के कारण उत्पन्न हो गए गुच्छों वाले मुखकमल की कान्ति वाली नीलकमल के सदृश नैनों वाली (प्रियतमा) की दलित होते हुए दाख के रससमूह के तुल्य उक्तियाँ कैसे पूर्णतया बताई जा सकती हैं।

व्याख्या—यह किसी नायक का अपने मित्र से अपनी प्रियतमा की मधुर विलास भरी उक्तियों के विषय में कथन है। कवि ने इसमें कई उपमायें प्रस्तुत की हैं। उन सबका विवेचन प्रत्येक पर की गई टिप्पणियों में स्पष्ट करेंगे। (क) उन्मीलत्पुलकनिकुरम्बौ—पुलकानां निकुराम्बानि। पुलकनिकुरम्बानि उन्मीलन्ति पुलकनिकुरम्बानि ययोस्तौ उन्मीलत्पुलकनिकुरम्बौ। 'रोमांचः पुलकः स्यात्' इति हलायुधः। 'समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः। स्त्रियां तु संहतिर्वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्' इत्यमरः। उत्पन्न होते हुए रोमांच समूहों वाले। (ख) अन्तःस्मेरस्तबकितमुखाम्भोरुहरुचेः—अन्तःस्मेरैः (अन्तर्मन्दहास्यैव) स्तबकितम् अन्तःस्मेरस्तबकितम्। स्तबकाः गुच्छकाः सञ्जाताअस्मिन्निति स्तबकितम्। 'तदस्यसञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (५।२।३६) इति सूत्रेण इतच् प्रत्ययः। नायिका जब भीतर-भीतर मुस्कराई तो ऐसा लगा मानों उसके कपोलों पर गुच्छे निकल आये हों। 'स्याद्गुच्छकस्तु स्तबकः' इत्यमरः। मुखमेवाम्भोरुहं मुखाम्भोरुहम्। मुखकमलमित्यर्थः। अन्तः स्मेरस्तबकितं मुखाम्भोरुहं अन्तःस्मेरस्तबकितमुखाम्भोरुहम्। तस्य रुचिः यस्यां सा अन्तःस्मेरस्तबकितमुखाम्भोरुहरुचिः। तस्याः तथोक्तायाः। भीतरी मुस्कान के कारण उत्पन्न हो गये गुच्छों

---

१. "०पुलकनिकुरम्बे" इति "०नवपुलकपाली" इति च पाठान्तरे।
२. "०मुखाम्भोरुहरुचः" इति पाठान्तरम्।
३. "मनाक् स्पृशत्यन्तः०" इति पाठान्तरम्।
४. "लसन्द्राक्षानिर्य्यद्रस०" इति पाठान्तरम्।

वाले मुखकमल की कान्तिवाली। (ग) इन्दीवरदृशः—इन्दीवरे इव दृशो यस्याः सा तस्या इन्दीवरदृशः उपमा। नीलकमल के समान नेत्रों वाली 'स्यादिन्दीवरमुत्पलं नीलोत्पलं कुवलयम्' इति हलायुधः। (घ) दलद्द्राक्षा-निर्य्यद्रसभरसपक्षाः—दलन्ती द्राक्षा दलद्द्राक्षा। रसस्य भरः रसभरः। द्राक्षायाः निर्य्यन् (निर्गच्छन्) रसभरः दलद् द्राक्षानिर्य्यद्रसभरः। समानः पक्षः यासां ताः सपक्षाः। तुल्या इत्यर्थः दलद्द्राक्षानिर्य्यद्रसभरस्य सपक्षाः दलद्द्राक्षा-निर्य्यद्रसभरसपक्षाः। दलित होती हुई द्राक्षा से निकलते हुये रस समूह के तुल्य उक्तियां, यहां भी उपमा है। (ङ) कथङ्कारं परिगदितुं शक्याः—कैसे भली-भांति बताई जा सकती है। आशय यह कि उनकी मधुरता का केवल अनुभव किया जा सकता है वाणी द्वारा स्वरूपण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नायिका के वचनों का अत्यन्य माधुर्यातिशय किंवा मनोहारिता का अतिशय ध्वनित होता है। इसमें भी कवि ने शिखरिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें॥ ६०॥

राजानञ्जनयाम्बभूव सहसा जैवातृक! त्वान्तु यः
सोऽयङ्कुण्ठितसर्वशक्तिनिकरो जातो[1]जरार्त्तो विधिः।
सम्प्रत्युन्मदखञ्जरीटनयनावक्त्राय नित्यश्रिये
दाता राज्यमखण्डमस्य जगतो धाता नवो मन्मथः॥६२॥

अन्वयः—हे जैवातृक! यः विधिः त्वाम् राजानम् जनयाम्बभूव सः तु अयम् जरार्त्तः सहसा कुण्ठितसर्व्वशक्तिनिकरः जातः। सम्प्रति अस्य जगतः नवः धाता मन्मथः नित्यश्रिये उन्मदखञ्जरीटनयनावक्त्राय अखण्डं राज्यम् दाता।

हिन्दीरूपान्तर—अरे चन्द्रमा! जिस विधाता ने तुझे राजा उत्पन्न किया था वह तो यह वृद्धावस्था से पीडित होकर सहसा कुण्ठित हो गई सम्पूर्ण शक्तियों वाला हो गया है। अब तो इस संसार के नूतन विधाता कामदेव के उन्मत्त खञ्जन की आँखों के सदृश आँखों वाली नायिका के शाश्वत सौन्दर्यवाले मुख को अखण्ड राज्य प्रदान करेगा।

व्याख्या—चन्द्रमा को सम्बोधित करके किसी नायक का यह कथन है। उसका कहना है कि जिस विधाता ने तुझे राजा बनाया था वह वृद्ध हो गया। उसे सुन्दरता परखने की बुद्धि कहाँ रह गई। इसी लिए तो उसने तुझे राजा बना दिया। पर अब तो नया विधाता कामदेव है, वह सौन्दर्य का सही पारखी ठहरा, बूढ़े ब्रह्मा की तरह उसकी इन्द्रियाँ थोड़े ही शिथिल हैं। इसी लिए अब

१. "जातो जरातो विधिः" इति पाठान्तरम्।

राजा होने का तुम्हारा सौभाग्य समाप्त। क्योंकि तुम्हारी सुन्दरता अस्थायी है, रात में तो सुन्दर लगते हो पर दिन में बेकार अतः राज्य अब शाश्वत सौन्दर्य-वाले नायिका के मुख को मिलेगा। इस तरह यहाँ पर उपमेय मुख का प्रसिद्ध उपमानचन्द्र से उत्कर्ष ध्वनित होता है। अतः यहाँ व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि' मानी जायगी व्यतिरेक का लक्षण है—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।" (काव्य प्रकाश) अर्थात् जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है वहां व्यतिरेकालङ्कार होता है। साथ ही 'उन्मद खञ्जरीटनयना' में धर्मवाचकोपमान लुप्ता उपमा वाच्यरूप से प्रस्तुत की गई है। (क) राजा-नम्—'राजा परिवृढे भूपे क्षत्रिये शशलाञ्छने' इति नानार्थसङ्ग्रहः। यहां राजा का अर्थ भूप और चन्द्रमा दोनों ही है। वाच्यरूप से यहां भूप अर्थ ही अभीष्ट है। (ख) जैवातृक :—चन्द्रमा को कहते हैं—'जैवातृको मृगालंको विधुश्च दाक्षायणीरमणः" इति हलायुधः। (ग) कुण्ठितसर्वशक्तिनिकर :—सर्वाः शक्तयः सर्वशक्तयः। सर्वशक्तीनां निकरः सर्वशक्तिनिकरः। कुण्ठितः सर्वशक्तिनिकरः यस्य सः कुण्ठितसर्वशक्तिनिकरः। 'निकर निकाय निवह विसर व्रज पुञ्ज समूह 'सञ्चयाः' इति हलायुधः। (घ) जरार्त्तः—जरसा, जरया वा आर्त्तः जरार्त्तः (ङ) उन्मदखञ्जरीटनयनावक्त्राय—उन्मदः खञ्जरीटः उन्मदखञ्जरीटः। 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः। इत्यमरः। उन्मदखञ्जरीटस्य नयने इव नयने यस्याः सा उन्मदखञ्जरीटनयना। उन्मदखञ्जरीटनयनावक्त्राया 'तुण्डं वदनं वक्त्रं लपनम् मुखम्" इति हलायुधः। (च) मदनो—मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः। कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः कामः पञ्चशरः स्मरः' (अमरकोशः) (छ) धाता—दधातीति धाता (धा + तृच्) 'ब्रह्मा स्रष्टा परमेष्ठी धाता' इति हलायुधः। (ज) नित्यश्रिये—नित्या श्रीर्यस्य तत् नित्यश्री। तस्मै नित्यश्रिये। सततशोभाशालिने इत्यर्थः। इस पद्य में कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—

"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥६१॥

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डमूले
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशाञ्चेतसि प्रादुरासीत्॥ ६२॥

अन्वयः—यदवधि नन्दसूनोः निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा मधुस्यन्दिनी काचित् कान्तिः आविर्भूता तदवधि कुलमृगदृशाम् मुखे दीर्घः श्वासः गण्डमूले पाण्डिमा चेतसि शून्या वृत्तिः प्रादुरासीत्।

हिन्दीरूपान्तर--जिस समय से नन्दनन्दन की समस्त (संसार) के नेत्रों को आकृष्ट करने में जादूगरी एवं मधुवरसाने वाली कोई अनिर्वचनीय कान्ति उत्पन्न हुई उसी समय से कुलाङ्गनाओं के मुख में लम्बी सांस, कपोल-मूल पर पाण्डुता तथा हृदय में शून्य वृत्ति उत्पन्न हो गई।

व्याख्या—यहां पर कवि ने विप्रलम्भ शृङ्गार का वर्णन प्रस्तुत किया है। यहां नन्दनन्दन आलम्बन हैं, नायिकाओं की लम्बी सांसे, पीले कपोल मूल हृदय की शून्यवृत्तिता आदि अनुभाव है चिन्ता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव है इस सबके संयोग से कुलाङ्गनाओं की रति ध्वनित होकर शृङ्गार रस को प्रस्तुत करती है। चूँकि नायक से उनका वियोग है अतः विप्रलम्भ शृङ्गार है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार विप्रलम्भ चार प्रकार का होता है—

"यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।
सच पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।"

अर्थात् जहां पर अनुराग अत्यन्त उत्कृष्ट होता है किन्तु अभीष्ट (प्रियसमागम) नहीं होता वहां विप्रलम्भशृङ्गार होता है। यह चार प्रकार का होता है—(१) पूर्वराग विप्रलम्भ (२) मानविप्रलम्भ (३) प्रवास विप्रलम्भ और (४) करुणविप्रलम्भ। प्रस्तुत पद्य में कविने पूर्वराग विप्रलम्भ प्रस्तुत किया है। लक्षण है—

श्रवणाद् दर्शनाद् वाऽपि मिथः संरूढरागयोः।
दशाविशेषो योऽप्राप्तो पूर्वरागः स उच्यते॥
श्रवणन्तु भवेत् तत्र दूतवन्दी सखी मुखात्।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात् स्वप्ने च दर्शनम्॥

अर्थात उत्कृष्ट गुणों के सुनने अथवा देखने से परस्पर अनुरक्त नायक और नायिका की समागम से पहले की दशा का नाम 'पूर्वराग' है। इसमें श्रवण दूतों, वन्दियों और सखियों के मुख से होता है तथा दर्शन इन्द्रजाल में या चित्र में या साक्षात् अथवा स्वप्न में होता है। यहां पर नायिकाओं ने साक्षात् कृष्ण की कान्ति देखी है और उनका समागम अभी कृष्ण से हुआ नहीं अतः पूर्वराग विप्रलम्भ है। इसमें दस कामदशाये होती है। (१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३) स्मृति (४) गुण कथन, (५) उद्वेग, (६) सम्प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता और (१०) मरण—

अभिलाषाचिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा॥

प्रस्तुत पद्य में कवि ने 'व्याधि' और 'जडता' कामदशायें प्रस्तुत की है। 'व्याधि' का लक्षण है—"व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः" और 'जडता' का लक्षण है-"जडता हीनचेष्टात्वमङ्गानामथमनसस्तथा।" (साहित्य-दर्पण) (क) मधुस्यन्दिनी—मधु स्यन्दतेऽस्या इति मधुस्यन्दिनी। मधुवर्षिणी, मनोहारिणीत्यर्थः। (ख) नन्दसूनोः—नन्दस्य सूनुः (पुत्रः) नन्दसूनुः तस्य नन्दसूनोः। कृष्णस्येत्यर्थं। 'सूनुः सन्ततिरात्मजश्च तनुजः पुत्रः प्रसूतिः सुतः' इति हलायुधः। (ग) काचित्—अनिर्वचनीयेत्यर्थः (घ) निखिलनयनाकर्षणे—निखिलानां (सर्वेषां जगतामित्यर्थः) नयनानि निखिलनयनानि तेषामाकर्षणं निखिलनयनाकर्षणम्। तस्मिन् तथोक्ते। (ङ) कार्म्मणज्ञा—कार्म्मणं वशीकरणकर्मं जानातीति कार्म्मणज्ञा। कार्मण + ज्ञा + क + टाप्। (च) पाण्डिमा—पाण्डोः भावः पाण्डिमा। पाण्डु + इमनिच् पाण्डुतेत्यर्थः (छ) गण्डमूले—गण्डयोः मूलं गण्डमूलम् तस्मिन् गण्डमूले। कपोलभित्तावित्यर्थः। (ज) कुलमृगदृशाम्—मृगस्य दृशाविव दृशौ यासां ताः 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। इति वार्तिकेन समासः उपमानवाचकपद लोपश्च। धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमात्र। कुलानां मृगदृशः कुलमृगदृशः कुलस्त्रियः इत्यर्थः। तासां कुलमृगदृशाम्। इसमें कवि ने मन्दाकान्ता वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है 'मन्दाकान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६२ ॥

प्रसङ्गे गोपानाङ्गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालन्धगिति[1] वमतः पन्नगपतेः
[2]फणायां साश्चर्य्यङ्कथयतितरान्ताण्डवविधिम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—गुरुषु गोपानाम् प्रसङ्गे यदुपतेः महिमानम् उपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः धगिति विषज्वालाजालं वमतः पन्नगपतेः फणायां साश्चर्यम् ताण्डवविधिम् कथयतितराम्।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुजनो के बीच गोपों के प्रसङ्ग में यदुराज कृष्ण का माहात्म्य सुनकर के स्वेदयुक्त रोमाञ्चित कपोलों वाली कुलवधू 'धग् धग्' कर के विष की लपटों को उगले हुए नागराज (कालिय) के फन पर आश्चर्य युक्त ताण्डव विधि का वर्णन कर रही है।

---

१. "झटिति वमतः" इति पाठान्तरम्।

२. "फणायामाश्चर्य्यंस्थगयतितराम्" इति पाठान्तरम्।

व्याख्या—किसी समय घर के बड़े-बूढ़े लोग आपस में बैठ कर गोपों की चर्चा कर रहे थे। उनकी बहू भी वहीं बैठी थीं। उस गोपों की चर्चा के प्रसङ्ग में जब उन लोगों ने भगवान श्रीकृष्ण की महिमा का गुणगान करना प्रारम्भ किया तब तो कृष्ण के प्रेम वश कुलवधू के कपोलों पर पसीना आ गया, रोमाञ्च हो आया। उसको डर लगा कि कहीं ये लोग उसके कृष्ण-विषयक अनुराग को भाँप न ले तो झट उसने भगवान कृष्ण की अंग-अंग को रोमाञ्चित करने वाली आश्चर्य युक्त कालिय नाग के फन पर किए गए ताण्डव नृत्य का वर्णन करना शुरू कर दिया। इसे उसकी एक सखी देख रही थी वही दूसरी सखी से बता रही है। यहां पर जो कुलवधू के अन्दर सात्त्विक भावों का रोमाञ्चादि का उदय हुआ था उसको छिपाया गया है। अतः यहाँ 'अवहित्था' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित हुआ—

"भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् भय, गौरव या लज्जा आदि के कारण हर्ष आदि के आकार को छिपाना 'अवहित्था' कहा जाता है। इसमें किसी दूसरे व्यापार में लग जाना, दूसरी तरह की बात बनाना, दूसरी ओर देखने लग जाना आदि कार्य होते हैं। यहां गुरु-जन कहीं मेरे इस भाव को ताड़ न ले इस प्रकार का भय तथा लज्जा विभाव है और कृष्ण के ताण्डव का वर्णन करने लगना आदि अनुभाव हैं जिनसे नायिका गत अवहित्था भाव ध्वनित होता है। (क) यदुपतेः—यदूनां पतिः यदुपतिः। तस्य यदुपतेः। कृष्णस्येत्यर्थः। (ख) स्विद्यत्पुलकितकपोला—स्विद्यन्तौ पुलकितौ च कपोलौ यस्याः सा स्विद्यत्पुलकितकपोला। (ग) कुलवधूः—कुलस्य सदाचारवत्कुटुम्बस्य वधूः कुलवधूः। 'कुलवधू' पद का प्रयोग अवहित्था भाव का और भी अधिक व्यञ्जक है। क्योंकि किसी कुलवधू का परपुरुष के माहात्म्य को सुनकर पुलकित हो उठना अत्यन्त अनुचित एवम् लज्जाजनक होता है। (घ) विषज्वालाजालम्—विषस्य ज्वाला विषज्वाला विषज्वालायाः जालं विषज्वालाजालम्। 'जालं समूह आनाय गवाक्षक्षमकेष्वपि' इत्यमरः। 'गरलं विषम्' इति चामरः। (ङ) पन्नगपतेः—पन्नगानां पतिः पन्नगपतिः। तस्य पन्नगपतेः। कालियस्येत्यर्थः। (च) साश्चर्य्यम्—आश्चर्येण सहितः साश्चर्यः। तं साश्चर्यम् ताण्डवविधिम्। अथवा आश्चर्येण सहितं यथा स्यात् तथा साश्चर्यम्' (क्रियाविशेषणम्) इस श्लोक में कवि ने शिखरिणीवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला नः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६३ ॥

कैशोरे वयसि क्रमेण तनुतामायाति तन्व्यास्तना-
वागामिन्यखिलेश्वरे रतिपतौ तत्कालमस्याज्ञया।
आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोस्तादात्म्यमम्भोरुहाम्
किञ्चासीदमृतस्य भेदविगमः साचिस्मिते तात्त्विकः ॥६४॥

अन्वयः—क्रमशः कैशोरे वयसि तनुताम् आयाति तन्व्याः तनौ अखिलेश्वरे रतिपतौ आगामिनि (सति) अस्य आज्ञया तत्कालम् आस्ये पूर्णशशाङ्कता नयनयोः अम्भोरुहाम् तादात्म्यम् किञ्च साचिस्मिते अमृतस्य तात्त्विकः भेदविगमः आसीत्।

हिन्दीरूपान्तर—क्रमशः किशोरावस्था के क्षीण होते समय कृशाङ्गी के शरीर में सार्वभौम कामदेव के आने वाला होने पर इसकी आज्ञा से तत्काल (उस कृशाङ्गी के) मुख में पूर्ण चन्द्रत्व, आँखों में कमलों की तादात्म्य, और साथ ही बांकी मुस्कान में अमृत का वास्तविक अभेद हो गया।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने तीन रूपक प्रस्तुत किए है। पहला मुख में पूर्णचन्द्र का तादात्म्य रूप, दूसरा आखों में कमलों का तादात्म्यरूप और तीसरा बांकी मुस्कान में अमृत का तादात्म्य रूपक। ये सभी रूपक परस्पर सापेक्ष नहीं है अतः निरवयव रूपक हुआ साथ ही माला रूप न होने से केवल रूपक है। इस प्रकार यहाँ निरयव केवल रूप है। इस पद्य में कवि ने नायिका के तारुण्यागमन का वर्णन प्रस्तुत किया है! (क) कैशोरे—किशोरस्य भावः कैशोरम्। तस्मिन् कैशोरे। (किशोर + ष्यञ्) अमरकोश में कहा गया है 'किशोरः बालः' इति। किशोरावस्था दस वर्ष से १५ वर्ष पर्यन्त स्वीकार की गई है। जैसा कि शब्दकल्पद्रुम में उदधृत किया गया है—

"कौमारं पञ्चमाब्दान्तं, पौगण्डं दशमावधि।
कैशोरमापञ्चदशात् यौवनञ्च ततः परम्॥" इति।

यहाँ रतिपतौ, कैशोरे, तनौ इत्यादि में सर्वत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) सूत्र से सप्तमी हुई है। (ख). तनुताम्—तनोः भावः तनुता। ताम् तथोक्ताम्। तनु का अर्थ यहां पर कृश है। किशोरावस्था का कृश हो जाना उसका समाप्त हो जाना है। किशोरावस्था कृशहो गई है अर्थात् बिल्कुल समाप्त प्राय हो गई है। 'सूक्ष्मं दभ्रं कृशं तनुः' इत्यमरः। (ग) तनौ—शरीरे इत्यर्थः। 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। अथवा 'तनुः काये त्वचि स्त्री स्यात्त्रिष्वल्पे विरले कृशे' इति मेदिनी। (घ) आगामिनि—आगमिष्यति सतीत्यर्थः। (आङ् + गम् + णिनि + ङि)। (ङ) अखि-

लेश्वरे—अखिलानामीश्वरः अखिलेश्वरः। तस्मिन् अखिलेश्वरे। (च) रतिपतौ—रतेः रत्या वा पतिः रतिपतिः। तस्मिन् रतिपतौ। कामदेवेत्यर्थः। 'मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः। + + पुष्पधन्वा रतिपतिर्मकरध्वज आत्मभूः' इत्यमरः। (घ) पूर्णशशाङ्कता—पूर्णः शशाङ्कः पूर्णशशाङ्कः। पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। 'इन्दुश्चन्द्रश्चन्द्रमा ओषधीशः × × प्रालेयांशुः श्वेतरोचिः शशाङ्कः' इति हलायुधः पूर्णशशाङ्कस्य भावः पूर्णशशाङ्कता। (ज) मुख-मास्यं माननञ्च समम्' इति हलायुधः। (झ) साचिस्मिते—साचि अव्यय का तिर्यक् के अर्थ में प्रयोग होता है। 'तिर्यगर्थे साचि तिरस्। इत्यमरः। तिरछी मुस्कान अर्थात् बांकी (वक्र) मुस्कान में। इस श्लोक में कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ६४॥

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव[1]॥ ६५॥

अन्वयः—सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव शैवलशयने शयिता सविधे आगतम् अपि प्रियतम मधुरवीक्षणैः एव सत्कुरुते।

हिन्दी रूपान्तर—केवल बची हुई सुषमा वाली नवीन चन्द्रकला के समान सेवार की सेज पर सोयी हुई (नायिका) समीप में आए हुए भी प्रियतम को केवल मनोहर चितवनों से ही सत्कार कर रही है।

व्याख्या—किसी नायिका का प्रियतम परदेश चला गया था। उसकी वियोगव्यथा से पीडित होकर वह अत्यन्त निर्बल हो गई। उसका चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना सभी कुछ जाता रहा। उसी की दशा का वर्णन कोई सखी अपनी सखी से बता रही है। उसे सेवार की सेज पर लिटाया गया है। उसका प्रियतम भी परदेश से बुलवा लिया गया है। पास आ गया है। कहाँ वह नायिका उठ कर, प्रियतम का आलिङ्गन कर उससे प्रेम भरी बातें कर हमेशा उसका स्वागत करती थी और कहाँ आज उसकी यह दशा कि वह केवल मीठी चितवनों से ही प्रियतम को देख रही है उसी से उसका स्वागत कर रही है। इस प्रकार यहाँ नायिका गत 'ग्लानि' व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है। 'ग्लानि' का लक्षण है—

"रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्यानुत्साहतादिकृत्॥" (साहित्यदर्पण)

---

१. "मधुरवीक्षणेनैव" इति "वीक्षणैरेव" इति च पाठान्तरे।

अर्थात् रति, परिश्रम, मानसिक सन्ताप, भूख, प्यास आदि से उत्पन्न होने वाले कम्प और कार्य्य में अनुत्साह आदि को जन्म देने वाली निष्प्राणता को ग्लानि कहते हैं। यहाँ प्रियतम के विरह से उत्पन्न मानस-सन्ताप विभाव है केवल आंखों से ही देखने से उठने, बैठने, चलने फिरने आलिङ्गन करने आदि क्रियाओं के अभाव अनुभाव है जिनसे 'ग्लानि' व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है। (क) शैवलशयने—शैवलनिर्मितं शयनं शैवलशयनम्। तस्मिन शैवल-शयने। 'जलनीली तु शेवालं शैवलः' इत्यमरः। (ख) सुषमाशेषा—सुषमा एव शेषः यस्याः सा सुषमाशेषा। 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः। (ग) नवेन्दुलेखा—इन्दोः लेखा इन्दुलेखा। नवा इन्दुलेखा नवेन्दुलेखा। अथवा नवः (तत्कालमुदितः) इन्दुः नवेन्दुः तस्य लेखा नवेन्दुलेखा। तदिव नवेन्दु-लेखेव। 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदवान्धवः', इत्यमरः। 'लेखा लिपिराजिकयोर्मता' इति विश्वप्रकाशः। यहां लेखा का अर्थ लकीर, रेखा अथवा कला है। (घ) सविधे—आसन्ने समीपे इत्यर्थः। 'आसन्नं सविधं पार्श्वम्। इति हलायुधः। (ङ) वीक्षणैः—अवलोकनैः। (वि+ईच्+ल्युट्) इसमें कवि ने 'आर्या' वृत्त उपनिबद्ध किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रा-स्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या।" ॥ ६ ॥

विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित ! दयितेति।
[1]प्रियमागतमपि सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥६६॥

अन्वयः—विरहेण विकलहृदया बाला दयित ! दयित ! इति विलपन्ती सविधे आगतम् अपि प्रियम् परिचयहीनेव वीक्षते।

हिन्दीरूपान्तर—(प्रिय) वियोग से विकलचित्त किशोरी 'हे प्रियतम। हे प्रियतम ! इस प्रकार विलाप करती हुई समीप में आ गए भी प्रियतम को परिचय हीन की तरह देख रही है।

व्याख्या—किसी नायिका का प्रियतम परदेश चला गया था। वह उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल हो उठी। उसे केवल प्रियतम की ही चिन्ता रह गई और लगी 'प्रियतम ! प्रियतम !' की रट लगाने। लोगों ने उसके प्रियतम को बुलाया। प्रियतम पास में आ भी गया पर वह इतना मोह मे पड़ चुकी थी कि उन्हे पहचान भी नहीं पाती थी। इस प्रकार यहां नायिका के 'मोह' भाव की अभिव्यक्ति होती है। मोह का लक्षण है—

"मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥" (साहित्यदर्पण)

---

१. "आगतमपि सा सविधे" इति पाठान्तरम्।

अर्थात् भय, दुःख, घबड़ाहट, तथा अनुचिन्तन आदि के कारण मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर, अदर्शन आदि को उत्पन्न करने वाली हृदय की विकलता को 'मोह' कहते हैं। यहां पर नायक का वियोग विभाव है। नायिका के हृदय की व्याकुलता प्रियतम को पहिचान न पाना आदि अनुभाव हैं जिनसे नायिका का 'मोह' भावध्वनित होता है। (क) विकलहृदया—विकलं हृदयं यस्याः सा विकलहृदया। (ख) विलपन्ती—(वि + लप् + शतृ + ङीप्) (ग) परिचयहीनेव—परिचयात् हीना परिचयनहीना। तदिव परिचयहीनेव। (घ) बाला—भरतमल्लिक ने मेघदूत की टीका में 'बाला' के विषय में 'नागरसर्व्वस्व' से ये पंक्तियाँ उद्धत की है—'सततं भुज्यमानाऽपि बाला वर्द्धयते बलम्। क्षयन्नयति योग्या स्त्री प्रौढा तु कुरुते जराम्।' तथा 'बालेति गीयते नारी यावत् षोडषवत्सरम्।' इसमें कवि ने उद्गीति वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६६ ॥

अधरद्युतिरस्तपल्लवा मुखशोभा शशिकान्तिलंघिनी।
तनुरप्रतिमा च सुभ्रुवो न विधेरस्य कृतिं विवक्षति ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सुभ्रुवः अस्तपल्लवा अधरद्युतिः शशिकान्तिलङ्घिनी मुखशोभा च अप्रतिमा तनुः अस्य विधेः कृतिम् न विवक्षति।

हिन्दीरूपान्तर—सुन्दर भौंहों वाली (नायिका) की पल्लवों को परास्त कर देने वाली अधर कान्ति, चन्द्रमा की कान्ति का अतिक्रमण कर जाने वाली मुख की शोभा और सादृश्य से रहित शरीर (उसे) इस विधावा की रचना नही कहना चाहते।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपने मित्र से उक्ति है। वह नायिका को इस सर्व-विदित विधाता की कृति मानने को तैयार नहीं। क्यों कि विधाता ने सबसे कान्ति पूर्ण चन्द्रमा बनाया, इस नायिका की मुख कान्ति उसका भी अतिक्रमण कर रही है। विधाता ने कान्ति युक्त रक्त वर्ण पल्लव बनाये इस नायिका का अधर उन्हें भी परास्त कर दे रहा है, फिर विधाता की सृष्टियों में परस्पर कुछ कुछ सादृश्य अवश्य होता है परन्तु इसके सदृश कोई अन्य रचना है ही नहीं। इससे यह बात सिद्ध है कि विधाता की रचना नहीं है। इस प्रकार यहाँ पर कवि ने इस तरुणी की सृष्टि का विधाता से सम्बन्ध होते हुए भी असम्बन्ध स्थापित कर असम्बन्धातिशयोक्ति को प्रस्तुत किया है—'योगेऽप्ययोगोऽसम्बन्धातिशयोक्तिरितीर्य्यते—" (कुवलयान्द)। साथ ही इस असम्बन्धातिशयोक्ति को पुष्ट करते हैं दो व्यतिरेकालङ्कार जो अधरद्युतिरस्त-पल्लवा, और शशिकान्तिलंघिनी मुखशोभा में हैं, क्योंकि उभयत्र उपमान

से उपमेय का आधिक्य प्रतिपादित किया गया है। तथा तनुरप्रतिमा में प्रयुक्त प्रतीयमान अनन्वय अलङ्कार। (क) अधरद्युतिः—अधरस्य द्युतिः अधरद्युतिः 'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः। (ख) अस्तपल्लवा—अस्ताः पल्लवाः यया सा अस्तपल्लवा। (ग) शशिकान्तिलंघिनी—शशिनः कान्तिः शशिकान्तिः। शशिकान्ति लंघते इति शशिकान्तिलंघिनी। इसमें कवि ने वैतालीय वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समेस्युर्नो निरन्तराः। न समात्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः।" (छन्दोमञ्जरी) पता नहीं जीवानन्द जी ने इसमें 'गीति' वृत्त का लक्षण कैसे घटित किया है जब कि द्वितीय और चतुर्थ चरण में केवल सोलह-सोलह मात्रायें ही हैं॥ ६७॥

व्यत्यस्तँल्लपति[1] क्षणं क्षणमहो! मौनं समालम्बते
सर्व्वस्मिन् विदधाति किञ्च विषये दृष्टिन्निरालम्बनाम्।
श्वासन्दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिम्
वैदेहीविरहव्यथाविकलितो हा! हन्त!! लङ्केश्वरः॥ ६८॥

अन्वयः—हा! हन्त!! वैदेहीविरहव्यथाविकलितः लङ्केश्वरः क्षणं व्यत्यस्तम् लपति, अहो! क्षणम् मौनं समालम्बते किञ्च सर्वस्मिन् विषये निरालम्बनाम् दृष्टिं विदधाति, दीर्घं श्वासम् उरीकरोति, अङ्गेषु मनाक् धृतिम् न धत्ते।

हिन्दीरूपान्तर—हाय! अफसोस!! सीता की वियोग व्यथा से व्याकुल लङ्काधिपति रावण क्षण भर में ऊटपटांग बकने लगता है, अहो! क्षण भर में मौन धारण कर लेता है, साथ ही सभी चीजों पर आश्रय हीन दृष्टि डालता है, लम्बी सांसे भरता है, अङ्गों में जरा सी भी धीरता नहीं धारण करता।

व्याख्य—कवि ने यहाँ सीता जी की विरह व्यथा से व्याकुल रावण की सीता विषयक 'रति' को व्यञ्जित कराया है। परन्तु वह रति उभयनिष्ठ नहीं है केवल रावण गत ही है सीता गत नहीं साथ ही सीता जगद्गुरु राम की पत्नी है इस लिए और भी अनौचित्य है। अतः अनौचित्य के कारण यहाँ विप्रलम्भ शृगार न होकर विप्रलम्भाभास व्यञ्जित होता है। क्योंकि कहा गया है—"अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभासे रसभावयोः' (साहित्यदर्पण) अर्थात् जब 'रस और भाव अनौचित्य से प्रवृत्त हो तो क्रमशः रसाभास और भावाभास हुआ करते हैं। इस अनौचित्य का एक देशतः निर्देश साहित्य दर्पण में इस प्रकार किया गया है—

१. "व्यत्यस्तन्नयति क्षणम्" इति पाठान्तरम्।

"उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्य्यगादिगते शृङ्गारेऽनौचित्यम् ।"

यहाँ रति अनुभय निष्ठ होने के साथ साथ जगद्गुरु राम की पत्नी में निष्ठ होने के कारण अत्यन्त अनौचित्य को प्रस्तुत करती है। इस विप्रलम्भाभास को व्यञ्जित करने वाले विभवादिक इस प्रकार है। सीता आलम्बन विभाव है। रावण का ऊट पटाँग बकना आदि अनुभाव है। तथा 'ऊट पटाँग बोलने से 'रावण गत 'उन्माद' व्यभिचारिभाव अभिव्यक्त होता है। लक्षण है—

'चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत्' ॥ (साहित्य दर्पण)

अर्थात् काम, शोक, भय आदि के कारण उत्पन्न चित्त का व्यामोह उन्माद कहलाता है। इसमें अनवसर में हसना, रोना, गाना, बड़ बड़ाना, आदि होता है। 'मौन धारण करने से 'रावण गत' 'श्रम' अभिव्यक्त होता है। लक्षण है—

'खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् रति तथा मार्ग में चलने आदि से उत्पन्न खेद को श्रम कहते है। इसमें लम्बी सांसों का भरना, नींद का आना आदि पाया जाता है। सभी विषयों को आलम्बन रहित देखने से' रावणगत 'मोह' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है। मोह का लक्षण है—

'मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः ।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥' (साहित्यदर्पण)

अर्थात् भय, दुःख, घबड़ाहट, अत्यधिक चिन्ता, आदि के कारण होने वाली चित्त की व्याकुलता को मोह कहते हैं, इसमें मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, चक्कर आना, दिखाई न पड़ता, इत्यादि पाया जाता है। लम्बी-लम्बी सांसों के भरने से 'रावणगत 'चिन्ता' भाव की अभिव्यक्ति होती है चिन्ता का लक्षण है—

"ध्यानश्चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् हित के प्राप्त न होने से उत्पन्न ध्यान को चिन्ता कहते हैं इसमें इसमें शून्यता, श्वास भरना तथा सन्तापादिक होते हैं। तथा 'अंगों की अधीरता से रावणगत 'व्याधि' व्यभिचारिभाव व्यञ्जित होता है। व्याधि का लक्षण है—

"रोग विरहादि प्रभावो मनस्तापो व्याधिः ।
गात्रशैथिल्यत्रासादयोऽत्रानुभावाः ॥" (रसगङ्गाधर)

अर्थात् रोग तथा विरह आदि से उत्पन्न होने वाले मानस सन्ताप को व्याधि कहते हैं। इसमें अङ्गों की शिथिलता तथा भय आदि अनुभाव होते हैं। परन्तु ये सभी 'उन्माद' आदि व्यभिचारिभाव जगद्गुरु राम की पत्नी के विषय में होने के कारण आभास रूप होकर उक्त विभावों एवं अनुभावों के संयोग से 'विप्रलम्भाभास' को ध्वनित करते हैं। (क) व्यत्यस्तम्—(वि + अति + अस् + क्त) उलटा पुलटा, अनापशनाप (ख) निरालम्बनाम—निर्गतमालम्बनं यस्या सा निरालम्बना तां निरालम्बनाम्। (ग) वैदेहीविरहव्यथाविकलितः—वैदेह्याः विरहः वैदेहीविरहः। विदेहस्यापत्यं स्त्री वैदेही (विदेह + ङीप) सीता इत्यर्थः। वैदेहीविरहस्य व्यथा वैदेहीविरहव्यथा। 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' वैदेहीविरहव्यथया विकलितः वैदेहीविरहव्यथाविकलितः। यहां पर एक ही कर्त्ता कारक लंकेश्वर 'लपन' मौन समालम्बन, निरालम्बन दृष्टि का आधान, 'धैर्य धारण', दीर्घ श्वास का उरी करण आदि अनेक क्रियाओं में अन्वित होता है अतः कारक दीपक अलङ्कार है। लक्षण है—क्रमिकैकगतानान्तु गुम्फः कारकदीपकम्' (कुवलयानन्दः) अर्थात् अनेक क्रमिक क्रियाओं को एक कारकगत गुम्फन होने पर कारक-दीपक अलङ्कार होता है। इस श्लोक में 'शार्दूल विक्रीडित' वृत्त उपनिबन्ध किया है। लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्" (छन्दोमञ्जरी)॥ ३८॥

उदितम्मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गे।
मुदितञ्च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन॥ ६९॥

अन्वयः—इन्दोः मण्डलम् उदितम् सद्यः वियोगिवर्गेण रुदितम्, च सकल ललनाचुडामणिशासनेन मदनेन मुदितम्।

हिन्दीरूपान्तर—चन्द्रमा का मण्डल उदित हुआ कि तुरन्त विरहियों का समुदाय रो पड़ा और समस्त रमणियों की चूडामणियों के शासक कामदेव प्रसन्न हो गये।

व्याख्या—चन्द्रोदय का वर्णन करते हुए कवि ने इस पद्य में चन्द्रमा का 'उदय होना' वियोगिवर्ग का 'रोना' और कामदेव का 'प्रसन्न होना' रूप तीन क्रियाओं का एक साथ होना वर्णित किया है! अतः यहाँ पर 'समुच्चय' अलङ्कार वाच्य है। समुच्चय का लक्षण है—"गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः" (अलङ्कारसर्वस्य) अर्थात् अनेक गुणों एवं क्रियाओं का एक साथ होना समुच्चयालङ्कार होता है साथ ही ये तीनों क्रियायें चन्द्रमा का उदय होना, वियोगियों का रोना और कामदेव का प्रसन्न होना स्वतः लोकसिद्ध है। इस तरह यह स्वतः सम्भावी समुच्चयालङ्कार हुआ। यह अलङ्कार कार्यकारण की समकालिकता रूप

अतिशयोक्ति का व्यञ्जक है। क्योंकि कारण का पूर्व भाव और कार्य का पश्चाद्भाव ही युक्तियुक्त होता है। कारण का लक्षण है—नियतोऽनन्यथा सिद्धश्च तत् कारणम्" (तर्कभाषा)। परन्तु जब किसी वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने के लिए कारण को बाद में और कार्य को पहले या कि दोनों को साथ-साथ प्रदिपादित किया जाता है वहाँ अतिशयोक्ति' अलङ्कार होता है—"कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्व्वापर्य्यविपर्य्यये चातिशयोक्तिः"—(अलंकारसर्वस्व)। यहाँ पर वियोगियों का रोना, और कामदेव का प्रसन्न होना कार्य है जिनका कारण चन्द्रमा का उदय होना है परन्तु कार्य और कारण सभी साथ वर्णित है अतः अतिशयोक्ति अलंकार की अभिव्यक्ति होती है इस प्रकार यह स्वतः सम्भावि अलंकारमूलक अलंकारध्वनि को प्रस्तुत करता है। (क) सद्यः—तत्क्षणमित्यर्थः। 'सद्यः सपदि तत्क्षणे' इत्यमरः। (ख) वियोगिवर्गेण—वियोगिनां विरहिणाम् (वि + युज् + घञ् + इनिः + आम्) वर्गःवियोगिवर्गः। तेन वियोगिवर्गेण। 'विरहवियोगौ च तुल्यार्थौ इति हलायुधः। समान जातियों के समूह को वर्ग कहते हैं 'समैर्वर्गः' इत्यमरः (ग) उदितम्—(उद् + इण् गतौ + क्त) रुदितम्—(रुदिर् अश्रुविमोचने + क्त) मुदितम्—(मुद् हर्षे + क्त) (घ) सकलललनाचूडामणिशासनेन—चूडायाः मणिः चूडामणिः। सकला ललनाः सकलललनाः। सकलललनानां चूडामणिशासनः। तेन तथोक्तेन ललना-ललाति ईप्सति कामानीति ललना। स्त्री विशेषा इत्यर्थः। 'चूडामणिः शिरोरत्नम्' इत्यमरः। इसमें कवि ने गीतिवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—"आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह ता गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६९ ॥

प्रादुर्भवति पयोदे कज्जलमलिनम्बभूव नभः।
रक्तश्च पथिकहृदयङ्कपोलपाली मृगीदृशः[1] पाण्डुः ॥ ७० ॥

अन्वयः—पयोदे प्रादुर्भवति नभः कज्जलमलिनम् पथिकहृदयम् च रक्तं मृगीदृशः कपोलपाली पाण्डुः बभूव।

हिन्दीरूपान्तर—बादल के उत्पन्न हो जाने पर आकाश काजल की तरह मलिन राहियों का हृदय रागयुक्त और मृगनैनी की गण्डस्थली पीली हो गई।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने समुच्चयालंकार प्रस्तत किया है। समुच्चय दो प्रकार का होता है। एक तो वह जहाँ पर कि किसी प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के एक साधक के विद्यमान् रहने पर अन्य साधक भी उसीकार्य को सिद्ध करने में लग जाते है—

१. "मृगदृशः" इति पाठान्तरम्।

"तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्राऽन्यत् तत्करम्भवेत् । समुच्चयोऽसौ" । तथा दूसरे प्रकार का समुच्चय वह होता है जहाँ अनेक गुणों या क्रियाओं का एक साथ होना वर्णित होता है--"स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रियाः" (काव्यप्रकाश)। इस तरह यहाँ पर दूसरे प्रकार का समुच्चय अलंकार है क्योंकि 'रक्त होना' 'मलिन होना' और 'पाण्डुहोना' तीन गुणों का एक साथ वर्णन प्रस्तुत किया गया है। (क) पयोदे--मेघे इत्यर्थः। पयो ददातीति पयोदः (ख) नभः--अकाशमित्यर्थः--'नभोऽन्तरिक्षं गगनम्' इत्यमरः। (ग) कज्जलमलिनम्--कज्जलवन्मलिनं कज्जलमलिनम् (घ) रक्तम्--(रञ्जरागे + क्त) । (ङ) पथिकहृदयम्--पथिकानां हृदयं पथिकहृदयम्। 'पान्थाः पथिकः' इत्यमरः। मृगीदृशः--मृग्याः दृशाविव दृशौ यस्या साः मृगीदृक्। तस्याः मृगीदृशः। 'सतस्युयमानपूर्वस्य' इति भाष्यवार्तिकेन समासः उपमानपदलोपश्च। इसमें कवि ने उद्गीतिवृत्त' का प्रयोग किया है लक्षण है 'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७० ॥

इदमप्रतिमम्पश्य सरः सरसिजैर्वृतम् ।
सखे ! माजल्प नारीणान्नयनानि दहन्ति माम् ॥७१॥

अन्वयः—हे सखे ! सरसिजैः वृतम् इदम् अप्रतिमं सरः पश्य, मा जल्प, माम् नारीणाम् नयनानि दहन्ति ।

हिन्दीरूपान्तरः—अरे मित्र ! कमलों से ढके हुए इस अनुपम सरोवर को देखो ! मत बको मुझे स्त्रियों की (ये) आँखे जला रही हैं।

व्याख्या—यहाँ पर नायक को मित्र ने तालाब में खिले हुए कमलों को देखकर नायक से कहा कि अरे मित्र ! इस तालाब को तो देखो कमलों से ढका हुआ कितना रमणीय एवम् अनुपम है। परन्तु नायक को उन कमलों को देखते ही स्त्रियों की आँखों की याद आ गई और उसके हृदय में काम सन्ताप व्याप्त हो उठा अतः उसने कहा "अजी बको मत ! उधर मैं नहीं देखना चाहता क्यों कि मुझे स्त्रियों की आँखे जलाये दे रही हैं।" इस प्रकार यहाँ पर स्त्रियों की आँखों के सदृश वस्तु कमल को देखकर उन आँखों की याद आ जाने से 'स्मरणालङ्कार' है और वही इसमें प्रधान भी है। परन्तु स्मरण शब्दों द्वारा प्रतिपादित नहीं किया गया अतः स्मरणालङ्कार यहाँ वाच्य न स्वीकार कर व्यङ्ग्य स्वीकार किया जायगा। इस प्रकार यहाँ कवि ने 'स्मरणालङ्कार ध्वनि को प्रस्तुत किया है। (क) अप्रतिमम्—न विद्यते प्रतिमा प्रतिकृतिः सादृश्य-मित्यर्थः यस्य तत् अप्रतिमम्। (ख) सरसिजैः—सरसि जातं सरसिजम्।

(सरस् + जनीप्रादुर्भावे + ड) 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) इति सूत्रेण ततः 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इति पाक्षिके ङेरलुकि तत्सिद्धिः। कमलमित्यर्थः। तैः सरसिजैः। इसमें 'अनुष्टुप्' वृत्त प्रयुक्त हुआ है ॥ ७१ ॥

मुञ्चसि नाद्यापि रुषम्भामिनि मुदिरालिरुदियाय।
इति सुदृशः प्रियवचनैरपायिनयनाब्जकोणशोणरुचिः॥७२॥

अन्वयः—'हे भामिनि ! मुदिरालिः उदियाय (किन्तु) अद्य अपि रुषम् न मुञ्चसि' इति प्रियवचनैः सुदृशः नयनाब्जकोणशोणरुचिः अपायि।

हिन्दीरूपान्तर—"अरी प्रियतमे ! मेघों की पङ्क्ति उदित हो गई (लेकिन) आज भी (तू) क्रोध नहीं त्याग रही है" ऐसे प्यारे वचनों से (अथवा ऐसे प्रियतम के वचनों से) सुनयना के नेत्र कमलों के कोनों की लाल कान्ति दूर हो गई।

व्याख्या—यह किसी नायिका के विषय में एक सखी की दूसरी सखी से उक्ति है। कोई नायिका जो कि अपने प्रियतम से मान किए हुए थी, अत्यन्त क्रुद्ध होने के कारण उसकी आँखों के कोने लाल पड़ गए थे। प्रियतम ने आकार निवेदन किया कि 'अरी प्रियतमे ! देख बादल घिर आये हैं अब तो मान का परित्याग कर दे इतना मान अच्छा नहीं'। बस तुरन्त उसकी आंखों के कोनों पर जो ललाई छाई हुई थी वह दूर हो गई अर्थात् नायिका का रोष शान्त हो गया। रोष अर्थात् अमर्ष का लक्षण है—

'निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥' (साहित्यदर्पण)

परन्तु यहां पर कवि ने उस अमर्ष भाव की शान्ति व्यञ्जित कराई है। उसका विभाव है प्रियतम का निवेदन, तथा अनुभाव है आँखों के कोनों की लालिमा का दूर हो जाना। इस प्रकार यहां 'अमर्ष भावशान्ति' ध्वनि है। (क) रुषम्—(रुष् रोषे + क्विप्) द्वितीयैकवचनम्। क्रोधमित्यर्थः। 'कोप-क्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियां' इत्यमरः। (ख) मुदिरालिः—मुदिराणा-मालिः मुदिरालिः। मुदिरो मेघः। 'घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः' इत्यमरः। 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इति चामरः। (ग) नयनाब्जकोणशोण-रुचिः—नयनं अब्जमिव नयनाब्जम्। तस्य कोणं नयनाब्जकोणम्। शोणा रुचिः शोणरुचिः। नयनाब्जकोणे शोणा रुचिः नयनाब्जकोणशोणरुचिः। 'शोणः कोकनदच्छविः' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'उद्गीति' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी) ॥७२॥

आलोक्य सुन्दरि ! मुखन्तव मन्दहासम्
नन्दन्त्यमन्दमरविन्दधिया मिलिन्दाः ।
किञ्चासिताक्षि ! मृगलाञ्छनसम्भ्रमेण
चञ्चूपुटञ्चटुलयन्ति चिरंचकोराः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—हे सुन्दरि ! मिलिन्दाः तव मन्दहासम् मुखम् आलोक्य अरविन्द-धिया अमन्दम् नन्दन्ति, किञ्च हे असिताक्षि ! चकोराः मृगलाञ्छनसम्भ्रमेण चञ्चूपुटम् चिरम् चटुलयन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सुन्दरी ! भँवरे मन्द मुस्कान वाले मुख को देखकर कमल समझ कर खूब आनन्दित होते हैं, साथ ही ऐ श्यामाक्षि ! चकोर चन्द्रमा के भ्रम से चोचों को बड़ी देर तक चंचल करते हैं ।

व्याख्या—नायक अपनी प्रियतमा की चाटुकारिता करते हुए कह रहा है कि तुम्हारे मन्द हास से युक्त मुख को भौंरें कमल समझकर खूब प्रसन्न हो रहे हैं, इस प्रकार यहाँ भौंरों को नायिका के मुख में कमल की भ्रान्ति हो रही, अतः भ्रान्तिमान् अलंकार है । भ्रान्तिमान् का लक्षण है—

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् सादृश्य के कारण अन्यवस्तु में अन्यवस्तु के कवि प्रतिभा से उत्थापित निश्चयात्मक ज्ञान को भ्रान्तिमान् कहते हैं । यहाँ नायिका के मुख और कमल में इतना सादृश्य है कि भौंरें मुख को कमल समझ बैठे । इसी प्रकार चूंकि नायिका के उसी मन्द हासयुक्त मुख को चकोर चन्द्रमा समझकर चन्द्रिका पान के लिए अपनी चोंचों को चंचल कर रहे हैं अतः वहाँ भी 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार है । साथ ही भ्रमर एवं चकोर रूप ज्ञाताओं के भेद से एक ही नायिका मुख रूप कमल वस्तु का कमल और चन्द्रमा के रूप में अनेकधा उल्लेख होने के कारण 'उल्लेखालङ्कार' भी है । क्योंकि उल्लेख का लक्षण है—

"क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणान्तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् उल्लेखालंकार दो प्रकार का होता है ? कहीं तो ग्रहीताओं अर्थात् ज्ञाताओ के भेद से जब एक ही वस्तु का अनेक रूपों में उल्लेख होता है तो पहला उल्लेखालंकार होता है जैसे कि उक्त उदाहरण में हैं । (२) कहीं पर विषयभेद के कारण जो एक वस्तु का अनेकधा उल्लेख होता है वह दूसरे प्रकार का उल्लेख होता है । यह उल्लेखालंकार पुनः शुद्ध और संकीर्ण भेद से

दो-दो प्रकार का हो जाता है। जब यह अकेला ही रहता है तब तो शुद्ध उल्लेख और जब किसी अन्य अलंकार से मिश्रित होता है तो संकीर्ण होता है। प्रस्तुत श्लोक में भ्रान्तिमान् से संकीर्ण उल्लेख प्रस्तुत किया गया है। (क) मन्द-हासम्—मन्दः हासः यस्मिन् तत् मन्दहासम्। (ख) अमन्दम्—न मन्दं यथा स्यात्तथा अमन्दम्। (क्रियाविशेषणमेतत्)। (ग) अरविन्दधिया—अरविन्दस्य धीः अरविन्दधीः। तया अरविन्दधिया। 'बुद्धिर्मनीषा धिषणाधीः' इत्यमरः। 'राजीवमरविन्दंच पद्मं पंकजमिष्यते' इति हलायुधः। मिलिन्दाः—भ्रमरा इत्यर्थः। (घ) असिताक्षि—असिते (न सिते असिते) अक्षिणी यस्याः सा असिताक्षी तत्सम्बुद्धौ हे असिताक्षि। कृष्णनयने इत्यर्थः (ङ) मृग-लाञ्छनसम्भ्रमेण—मृग इव लाञ्छनंयस्मिन् सः मृगलाञ्छनः (चन्द्रः इत्यर्थः)। मृगलाञ्छनस्य सम्भ्रमः मृगलाञ्छनसम्भ्रमः। सम्यग् भ्रमः (भ्रान्तिः) सम्भ्रमः। 'भ्रान्तिर्मिथ्यामतिर्भ्रमः।" इत्यमरः तेन मृगलाञ्छन-सम्भ्रमेण। चन्द्रभ्रान्त्या इत्यर्थं। (च) चटुलयन्ति—चटुलं कुर्वन्तीति चटुलयन्ति (चटुल + णिच्) चंचलीकुर्वन्तीत्यर्थः। इसमें कविने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७३ ॥

स्मितन्नैतत् किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितम्
मुखम्ब्रूते को वा कुसुममिदमुद्यत्परिमलम्।
स्तनद्वन्द्वम्मिथ्या कनकनिभमेतत् फलयुगं
लता सेयं रम्या भ्रमरकुलनम्या न रमणी ॥ ७४ ॥

अन्वय—एतत् स्मितम् न किन्तु प्रकृतिरमणीयं विकसितम्, वा कः इदम् उद्यत्परिमलम् कुसुमम् मुखम्, एतत् कनकनिभम् फलयुगम्, स्तनद्वन्द्वम् मिथ्या ब्रूते ? इयम् भ्रमरकुलनम्या रम्या लता, सा रमणी न।

हिन्दीरूपान्तर—यह मुस्कुराहट नहीं बल्कि सहज सुन्दर विकास है, अथवा कौन फैलती हुई सुगन्ध वाले फूल को मुँह और इस स्वर्ण सदृश फल युगल को स्तनयुगल झूठे ही कहता है। यह भँवरों द्वारा झुका सकने योग्य सुन्दर लता है वह प्रसिद्ध स्त्री नहीं।

व्याख्या—किसी रमणी को देख कर कवि कहता है यह रमणी नहीं है बल्कि सुन्दर लता है। इस प्रकार प्रकृत रमणी का निषेध कर अप्रकृत लता की स्थापना करने से यहाँ 'अपह्नुति' अलंकार है! लक्षण है—

"प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् उपमेय को असत्य रूप में स्थापित कर जहां उपमान की सत्यरूप से स्थापना की जाती है वहां अपह्नुति अलंकार होता है। कवि ने इस अपह्नव को प्रस्तुत करने में और भी कई अपह्नव किए हैं। जैसे रमणी के दो स्तन होते हैं उनका निषेध कर उन्हें लता में लगनेवाले स्वर्ण सदृश दो फल बताया, तथा रमणी के मुख का निषेध करके उसे फैलाती हुई सुगन्धवाला फूल बताया एवं उसकी मुस्कुराहट का निषेध करके उसे स्वभावतः रमणीय विकास बताया। इस तरह ये सभी अपह्नव समर्थ्य समर्थक के रूप में आये हैं, अतः यह अपह्नुति अलंकार सावयव है (क) प्रकृतिरमणीयम्—प्रकृत्या (स्वभावेन) रमणीयम्। 'संसिद्धिप्रकृती त्विमे, स्वरूपंच स्वभावश्च' इत्यमरः (ख) उद्यत्परिमलम्—उद्यन् (उद्गच्छन् उद् + या + शतृ) परिमलः यस्मात् तत् उद्यत्परिमलम्। 'आमोदः स्यात् परिमलः' इति हलायुधः। द्वितीयैकवचनम्। (ग) स्तनद्वन्द्वम्—स्तनयोः (कुचयोः) द्वन्द्वं स्तनद्वन्द्वम्। 'द्वन्द्वं मिथुनयुग्मयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहा द्वन्द्व का अर्थ युग्म है, जोड़ा है। (घ) कनकनिभम्—स्वर्णसदृशमित्यर्थः। किसी शब्द के अनन्तर अर्थात् उत्तरपद के रूप में जब 'निभ' शब्द का प्रयोग होता है तो वह सदृश अर्थ का वाचक होता है। अमरकोश का कथन है—"वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्। साधारणः समानश्च स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसंकाशनीकाशप्रतीकांशोयमादयः।" (ङ) फलयुगम्—फलयोः युगं फलयुगम् (फलयुग्मम् इत्यर्थः) 'युग्मं तु युगलं युगम्' इत्यमरः। (च) भ्रमरकुलनम्या—भ्रमराणां कुलं भ्रमरकुलम् नमयितुं शक्या नम्या। भ्रमरकुलैः नम्या भ्रमरकुलनम्या। (छ) रमणी-रमतेऽस्यामिति रमणी (रम् + ल्युट् + ङीप्) 'अबला महिला ललना प्रमदा रमणी नितम्बिनी वनिता' इति हलायुधः। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—"रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी"। (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७४ ॥

सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वर-
व्यादीर्णीकृतमध्यमाङ्गविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा।
अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलम्
मार्त्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः ॥७५॥

अन्वयः—सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वरव्यादीर्णीकृतमध्यमाङ्गविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा, अङ्गारप्रखरैः करैः एतत् महीमण्डलम् कवलयन् अयम् मार्त्तण्डः उदेति, लोके केन पशुना शशाङ्कीकृतः ?

हिन्दीरूपान्तर—रण प्राङ्गण में सम्मुख मारे गये कितने ही भूपालों द्वारा भेदे गए मध्यम भाग के छेद से प्रकाशित होती हुई आकाश की नीलिमा वाला, और अङ्गारों की तरह तेजकिरणों से इस पृथ्वी मण्डल को निगलता हुआ यह सूर्य उदित हो रहा है, संसार में किस पशु ने (इसे) चन्द्रमा बना दिया !

व्याख्या—यह उदित होते हुए चन्द्रमा को देखने वाले किसी विरही का कथन है। चन्द्रमा शीतल होता है परन्तु विरहियों के लिए वह अत्यन्त कष्टकारी होता है। इसी लिए विरही उसे सूर्य समझता है। जो पुरुष रणप्राङ्गण में मुख मोड़ कर भाग नहीं जाता बल्कि सम्मुख लड़ते हुए मारा जाता है वह सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक को जाता है ऐसा शास्त्रों में प्रसिद्ध है। जैसे कि महाभारत में कहा गया है—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥"

विरही चन्द्रमा में दिखाई पड़ने वाले मृगचिह्न को रणप्राङ्गण में सम्मुख मारे गए अनेकों राजाओं द्वारा भेदन किए सूर्य-मण्डल के छिद्र से दिखाई पड़ने वाला नीला आकाश मानता है। और चूंकि वह उसे अत्यधिक सन्ताप पहुँचा रहा है इसी लिये उसे प्रचण्ड किरणों से भूमण्डल को निगल जाने वाला कह रहा है। इस प्रकार यहाँ प्रकृत चन्द्रमा का निषेध करके अप्रकृत सूर्य की स्थापना की गई है। अतः यहां अपह्नुति अलङ्कार है। लक्षण है—'प्रकृतं प्रतिसिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुति (साहित्यदर्पण) अर्थात् जहां पर प्रकृत का निषेध करके अप्रकृत की स्थापना की जाती है! वहां अपह्नुति अलंकार होता है।

(क) सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वरव्यादीर्णीकृतमध्यमाङ्गविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा—सङ्ग्रामस्याङ्गणं सङ्ग्रामाङ्गणम्। सम्मुखमाहताः। विश्वं बिभर्ति या सा विश्वम्भरा (विश्व + भृ + खच् + मुम् + टाप्) अधिकाः ईश्वराः अधीश्वराः विश्वम्भराया अधीश्वराः विश्वम्भराधीश्वराः। कियन्तः विश्वम्भराधीश्वराः कियद्विश्वम्भराधीश्वराः। सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वराः। मध्ये भवं मध्यमम् (मध्य + म 'मध्यान्मः' (४।३।८) इति सूत्रेण)। मध्यमम् अङ्गं मध्यमाङ्गम्। न व्यादीर्णं व्यादीर्णं कृतमिति व्यादीर्णीकृतम् (अभूततद्भावे च्विः)। सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वरैः व्यादीर्णीकृतं मध्यमाङ्गम् सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वरव्यादीर्णीकृतमध्यमाङ्गम्। तस्य विवरं ०मध्यमाङ्गविवरम्। नभसोनीलिमा नभोनीलिमा। ०मध्यमाङ्गविवरेण उन्मीलन् नभोनीलिमा यस्मिन् सः सङ्ग्रामाङ्गणसम्मुखाहतकियद्विश्वम्भराधीश्वरव्यादीर्णीकृतमध्यमाङ्गविवरोन्मीलन्नभोनीलिमा। 'सङ्ग्रामः समितिः समिच्च समरं सख्यं समीकं रणम्' इति हलायुधः। 'कुः पृथ्वी पृथिवी

स्थिरा च धरणी विश्वम्भरा मेदिनी' इति च हलायुधः। 'राजा तु प्रणताशेष सामन्तः स्यादधीश्वरः इत्यमरः। 'विवरं बिलं छिद्रम्' इति चामरः। 'नभोऽन्तरिक्षं गगनम्' इत्यमरः। (ख) अङ्गारप्रखरैः—अङ्गारा इव प्रखराः अङ्गारप्रखराः। तैः अङ्गारप्रखरैः। (ग) करैः—किरणैः इत्यर्थः। 'करो वर्षोपले पाणौ शुण्डाप्रत्ययरश्मिषु' इति विश्वप्रकाशः। पशु का यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग है। उसका अर्थ है पशुसदृश मूर्ख व्यक्ति। (घ) शशाङ्कीकृतः—न क्षशाङ्कः शशाङ्कः कृतः इति शशाङ्कीकृतः। 'अभूततद्भावे च्विः'। (ङ) मार्त्तण्डः—सूर्यः। 'मार्त्तण्डस्तपनो विकर्तन इनः पूषा पतङ्गो भगः सूर्यः' इति हलायुधः। इस पद्य में कवि ने 'शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७५ ॥

श्यामं सितञ्च सुदृशो न दृशोः स्वरूपम्
किन्तु स्फुटङ्गरलमेतदथामृतं च।
नो चेत् कथन्निपतनादनयोस्तदैव
मोहम्मुदंच नितरान्दधते युवानः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—एतत् श्यामम् च सितम् सुदृशः दृशोः स्वरूपम् न किन्तु स्फुटम् गरलम् अथ च अमृतम् (अस्ति) नो चेत् युवानः अनयोः निपतनात् तदा एव मोहम् च मुदम् कथन् दधते ?

हिन्दीरूपान्तर—यह काला और सफेद सुलोचना की आँखों का स्वरूप नहीं है बल्कि स्पष्ट रूप से जहर और अमृत है नहीं तो युवक लोग इन दोनों के गिरने से उसी समय मूर्च्छा और आनन्द (दोनों) कैसे (एक साथ) धारण करते ?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने सुनयना की आँखों का निषेध कर उन्हें स्पष्ट रूप से जहर और अमृत बताया है अतः अपह्नुति अलङ्कार है क्योंकि अपह्नुति का लक्षण है—'प्रकृतम्प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः''—साहित्यदर्पण। और चूंकि पूर्वार्द्ध में किए गये अपह्नव को उत्तरार्द्ध में युक्ति द्वारा साबित किया गया है—कि अगर ये आँखे अमृत और जहर न होती तो जब ये युवकों पर बिजली की तरह बरस पड़ती है तो उन वेचारों को मोह और आनन्द दोनों कैसे प्राप्त हो जाता है। अतः हेत्वपह्नुति है क्योंकि हेत्वपह्नुति का लक्षण है—"स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुतिः" (कुवलयानन्द) अर्थात् यदि अपह्नव युक्ति पूर्वक किया गया हो तो 'हेत्वपह्नुति' होती है। साथ ही क्योंकि इसके कोई अवयव नहीं है अतः निरवय हेत्वपह्नुति है। (क) सुदृशः—शोभने दृशौ

यस्याः सा सुदृक्। तस्याः सुदृशः। सुनयनाया इत्यर्थः। (ख) विषं स्याद् गरलं गरः' इति हलायुधः। (ग) 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' इत्यमरः। 'सम्मदो मुत् तथाऽऽनन्दः' इति हलायुधः। जहर का वर्ण काला और अमृत का सफेद स्वीकार किया गया है। इसी लिए काली पुतली को जहर और सफेद भाग को अमृत रूप से अपह्नुत किया गया है। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त का प्रयोग किया है 'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७६ ॥

अलिर्मृगो वा नेत्रं वा यत्र किञ्चिन्न[1] भासते।
अरविन्दम्मृगाङ्को वा मुखं वेदम्मृगीदृशः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—इदम् मृगीदृशः मुखम्, वा मृगाङ्कः, वा अरविन्दम्; यत्र नेत्रं वा मृगः वा अलिः किञ्चित् न भाषते।

हिन्दीरूपान्तर—यह मृगनैनी का मुख है, अथवा चन्द्रमा है, या कि कमल है, जहाँ आँख या हरिण अथवा भँवरा कुछ भी समझ में नहीं आता।

व्याख्या—यहां पर कवि ने ससन्देहालङ्कार प्रस्तुत किया है। यहां मृगनैनी के मुख के विषय में कविगत सन्देह प्रकट हो रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने ससन्देहालङ्कार के 'वास्तविक' और 'आहार्य' रूप से दो भेद माने है। उनके अनुसार कवि परम्परागत सन्देह को प्रस्तुत करता है वहां तो सन्देह वास्तविक माना जाता है। उदाहरणार्थ चतुर्थ विलास के ३४ वें ३५ वें पद्य को लिया जा सकता है। ३४ वें में कवि ने ऋषिगण गत सन्देह को प्रस्तुत किया है, ३५ वें में हनुमानगत सन्देह को। अतः वहाँ वास्तविक ससन्देहालङ्कार है। किन्तु यहाँ पर कवि ने स्वगत सन्देह को प्रस्तुत किया है। जहाँ कवि स्वगत सन्देह को प्रस्तुत करता है वह आहार्य अथवा कल्पित ससन्देहालङ्कार होता है—

"यत्र हि कविना परनिष्ठस्संशयो निबध्यते प्रायशस्तत्रानाहार्य्यः।
यत्र च स्वगत एव तत्राहार्य्यः।" (रसगङ्गाधर)

क्योंकि यहाँ कवि वस्तुतः तत्त्व को समझ रहा है वह जानता है कि यह मृगनैनी का मुख है और उसमें दिखाई पड़ने वाली आंख है फिर भी वह ससन्देहालङ्कार को प्रस्तुत करने के लिए कल्पित या आहार्य्य कमल और चन्द्रमा के सन्देह को प्रस्तुत करता है। सन्देह (अथवा ससन्देह) का लक्षण 'साहित्यदर्पण' में इस प्रकार है—

'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा॥"

---

१. "किञ्चिद्विभासते" इति पाठान्तरम्।

अर्थात् जहां प्रकृत उपमेय में अन्य अर्थात् उपमान का संशय प्रस्तुत किया जाता है वहां सन्देहालङ्कार होता है। जहां संशय में ही पर्यवसान होता है वह शुद्ध सन्देह, जहां आदि और अन्त में संशय और मध्य में निश्चय होता है वह निश्चयगर्भ और जहां आदि में संशय अन्त में निश्चय होता है वह निश्चयान्त सन्देह होता है। यहां पर शुद्ध ससन्देहालंकार है। (क) 'द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्ग-षट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः। (ख) 'सोमो ग्लौमृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः। चन्द्र इत्यर्थः। (ग) मृगीदृशः— मृग्याः दृशाविव दृशौ यस्याः सा मृगीदृक्। तस्याः मृगीदृशः। धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा। 'सप्तम्युपमान का लोप। इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त प्रस्तुत किया है ॥ ७७ ॥

दयिते! [1]रदनत्विषादयि! तेऽमी विलसन्ति केसराः।
अपि[2] चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः ॥७८॥

अन्वयः—अयि दयिते! अमी ते रदनत्विषाम् मिषात् केशराः अपि च मकरन्दस्पृहयालवः अलकवेषधारिणः अलयः विलसन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—अरी प्रियतमे! ये तुम्हारी दातों की कान्तियों के बहाने केसर और मकरन्द के लिए लालायित केशवेष को धारण करने वाले भँवरे सुशोभित हो रहे हैं।

व्याख्या—कोई नायक नायिका की चाटुकारिता करते हुए कह रहा है कि अरी प्रियतमे ये तेरे दांतों की कान्तियां नहीं है बल्कि केसर है तथा ये तुम्हारे अलक नहीं बल्कि भँवरे हैं। इस प्रकार कवि ने यहां दो अपह्नुतियों क्रमशः पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में प्रस्तुत किया है। दोनों ही स्थलों पर कैतवापह्नुति है। क्योंकि एक जगह मिष शब्द के प्रयोग द्वारा अपह्नव को प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरी जगह वेषधारी' पद के द्वारा अपह्नव व्यक्त किया है—

"कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः"। (कुवलयानन्द)

तथा इन दोनों अपह्नुतियों के द्वारा तू स्त्री नहीं बल्कि कमलिनी है" इस प्रकार की अपह्नुति ध्वनित होती है। अतः यहां कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार ध्वनि है। (क) रदनत्विषाम्—रदनानां त्विट् रदनत्विट्। 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः। 'प्रभारुग् रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तय.' इति चामरः। तासां रदनत्विषाम् (ख) "कैतवं कपटं कूटं व्याजच्छद्मोपधिच्छलम्। मिषं निभञ्च' इति हलायुधः। (ग) किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। (घ)

---

१. "वदनत्विषाम्मिषात्" इति पाठान्तरम्।
२. "अमी चालकवेशधारिणः" इति पाठान्तरम्।

अलकवेषधारिणः—अलका एव वेषः अलकवेषः। अलकवेषं धारयन्तीति अलकवेषधारिणः। 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इति 'आकल्पवेशौ नेपथ्यं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इति चामरः। (ङ) मकरन्दस्पृहयालवः—स्पृह् ईप्सायाम् + आलुच् 'स्पृहिग्रहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' (३।२।१५८ इति सूत्रेण) स्पृहयालुः। बहुवचने स्पृहयालवः। मकरन्दस्य स्पृहयालवः मकरन्दस्पृहयालवः। मधुलुब्धाः इत्यर्थः। 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः। इसमें कवि ने सुन्दरी वृत्त उपनिबद्ध किया है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभराल्गौयदि सुन्दरी तदा'। (छन्दोमञ्जरी)॥ ७८ ॥

अनिशन्नयनाभिरामया रमया सम्मदिनो[1] मुखस्य ते।
निशि निःसरदिन्दिरङ्कथन्तुलयामः कलयापि पङ्कजम् ॥७९॥

अन्वयः—अनिशम् नयनाभिरामया रमया सम्मदिनः ते मुखस्य कलया अपि निशि निःसरदिन्दिरम् पङ्कजम् कथम् तुलयामः ?

हिन्दीरूपान्तर—हमेशा नेत्रों को आनन्दित करने वाली शोभा के कारण गर्वीले तुम्हारे मुख के अंशमात्र से भी रात में नष्ट होती हुई शोभा वाले कमल की कैसे तुलना करें।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने उपमा भूत कमल से उपमेयभूत की उत्कृष्टता प्रतिपादित की है। नायिका का मुख दिन रात नयनाभिराम रमणीयता से सम्पन्न रहता है जब कि कमल केवल दिन में ही शोभा धारण करता है रात में बिल्कुल श्रीहीन हो जाता है। इस तरह कहाँ स्थायी सौन्दर्य वाला मुख ? और कहाँ क्षणिक सौन्दर्य वाला कमल ? अतः मुख की कमल के साथ जरा सी भी तुलना तो नहीं की जा सकती। अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। लक्षण है—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। (काव्यप्रकाश) अर्थात् जहाँ उसमेय का उपमान से उत्कर्ष वर्णित किया जाय वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है। (क) अनिशम्—निशारात्रिः। उपचाराद् व्यापारराहित्यम्। नास्ति निशा यस्मिम् तद् यथा स्यात्तथा अनिशम्। क्रियाविशेषणम्। हमेशा। निरन्तर। 'सततं सन्ततमनिशम्' इति हलायुधः। (ख) नयनाभिरामया—नयनयोरभिरामा नयनाभिरामा। नेत्रप्रीतिकरीत्यर्थः। तया नयनाभिरामया। (ग) रमया—लक्ष्म्या। शोभयेत्यर्थः। (घ) सम्मदिनः—सम्यक् मदः अस्त्यस्येति सम्मदो (इनिः) तस्य सम्मदिनः। (ङ) निःसरदिन्दिरम्—निःसरन्ती निर्गच्छन्ती इन्दिरा लक्ष्मीर्यस्मात्तत् निःसरदिन्दिरम्। जिसकी शोभा रात में खत्म

१. "संवादिनः" इति पाठान्तरम्।

हो जाती है इतना ही नहीं (च) पङ्कजम्—पङ्के कर्दमे जातं पंकजम्। जो कीचड़में पैदा हुआ है। कहां तुम्हारा सुन्दर मुख? कहां कीचड़ में पैदा होने वाला कमल? छिः छिः कहीं उसकी तुलना तुम्हारे मुख के साथ की जा सकती है। सर्वथा असम्भव! मुख तो दूर रहा उसकी कला के अंशमात्र से भी तुलना नहीं की जा सकती यह आशय पंकज पद से ध्वनित होता है। यही तो कवि का शब्द-चयन विषयक कौशल है। यही पर्यायरचना है। कलयापि—अंशमात्रेणापि। 'कला स्यान्मूलवित्तवृद्धौ शिल्पादौ वंशमात्रके' इति विश्वप्रकाशः। 'अपि' से यही आशय ध्वनित होता है कि अंशमात्र से भी तुलना नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण मुख से तो बात ही क्या? इसमें सुन्दरीवृत्त उपनिबद्ध है लक्षण है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा"। (छन्दोमञ्जरी) ॥७९॥

अङ्गैः सुकुमारतरैः सा कुसुमानां श्रियं हरति।
विकलयति कुसुमबाणो बाणालीभिर्मम प्राणान्॥ ८०॥

अन्वयः—सा सुकुमारतरैः अङ्गैः कुसुमानां श्रियं हरति, कुसुमबाणः बाणालीभिः मम प्राणान् विकलयति।

हिन्दीरूपान्तर—(एक ओर तो) वह (नायिका) अत्यन्त सुकोमल अङ्गों से फूलों की शोभा छीन ले रही है और दूसरी ओर यह पुष्पधन्वा कामदेव बाणों से मेरे प्राणों को व्याकुल किये दे रहा है।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपने मित्र से युक्ति है। यहाँ कवि ने असङ्गति अलङ्कार प्रस्तुत किया है। असङ्गति का लक्षण है—

'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः' (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ पर कारण और कार्य भिन्न-भिन्न देशों में वर्णित होते है वहाँ असङ्गति अलङ्कार होता है। यहाँ कुसुमों की शोभा का अपहरण तो कर रही है वह कान्ता लेकिन बाणों से प्राण बींधे जा रहे है मेरे। इस प्रकार कारण अन्यत्र और कार्य अन्यत्र हो रहा है। अतः असङ्गति अलकार है। (क) सुकुमारतरैः—अतिशयेन सुकुमाराणि सुकुमारतराणि। अत्यन्तकोमलानित्यर्थः। तैः सुकुमारतरैः। (ख) कुसुमानाम्—पुष्पानाम्। (ग) श्रियम्—लक्ष्मीं शोभामित्यर्थः। नायिका के अङ्गों द्वारा पुष्पों की श्री के अपहरण से आशय यह है कि नायिका का अंग फूलों से भी अधिक कोमल है। (ग) कुसुमबाणः—कुसुमान्येव बाणाः यस्य स कुसुमबाणः। कामदेव के पाँच फूलों के बाण गिनाये गये हैं। वे हैं—'अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः।' (घ) बाणालीभिः—बाणानामालयः बाणालयः ताभिः बाणालीभिः। बाणपंक्तिभिरित्यर्थः। 'आली श्रेण्यावली पंक्तिः' इति

हलायुधः। इसमें कवि ने उपगीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है। 'आर्या परार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८० ॥

खिद्यति सा पथि यान्ती कोमलचरणा नितम्बभारेण।
खिद्यामि हन्त परितस्तद्रूपविलोकनेन[1] विकलोऽहम् ॥ ८१ ॥

अन्वय—कोमलचरणा सा पथि यान्ती नितम्बभारेण खिद्यति, हन्त ! अहम् परितः तद्रूपविलोकनेन विकलः (सन्) खिद्यामि।

हिन्दीरूपान्तर—(एक ओर तो) कोमल चरणों वाली वह (कान्ता) रास्ते में चलती हुई नितम्बों के बोझ से कष्ट पा रही है (और दूसरी ओर) हाय ! मैं चारों ओर उसके सौन्दर्य को देखने के कारण व्याकुल होकर कष्ट भोग रहा हूँ।

व्याख्या—अपनी प्रेयसी को मार्ग में जाते हुए देखकर नायक की अपने मित्र से यह उक्ति है। यहाँ भी असङ्गति अलंकार है। नायिका को खेद हो रहा है सो तो ठीक है क्योंकि वह कोमल चरणों वाली है, रास्ते में चल रही है, नितम्बों का भार उसे कष्ट दे रहा है। लेकिन जो श्रीमान् नायक साहब को कष्ट हो रहा है वह तो असंगत ही है क्योंकि इनके ऊपर नितम्बों का बोझ नहीं, न कोमलचरण ही हैं और न रास्ते में ही चल रहे हैं। अतः असंगति है। (क) पथि—मार्गे। (ख) कोमलचरणा—कोमलौ चरणौ यस्याः सा कोमलचरणा मुलायम पैरों वाली। (ग) नितम्बभारेण—नितम्बयोः भारः नितम्बभारः। तेन नितम्बभारेण। नितम्बों के बोझ से। (घ) हन्त—यहाँ पर खेद अथवा विषाद के सूचक रूप में प्रयुक्त हुआ है—'हन्त हर्षे विषादे च वाक्यारम्भविषादयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) परितः—सब ओर से, चारों ओर से। (च) तद्रूपविलोकनेन—तस्याः रूपं तद्रूपम। तस्य विलोकेन तद्रूपविलोकेनम् तेन तद्रूप विलोकनेन। 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये' इति विश्वप्रकाशः। श्री जीवानन्द ने 'तद्रूपविलोकनेन' पाठ दिया है वह वैसे भी समीचीन नहीं फिर छन्दोभंग भी होता है। इसमें गीतिवृत्त है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८१ ॥

मथुरागमनोन्मुखे मुरारावसुभारार्त्तिभृतां व्रजाङ्गनानाम्।
प्रलयज्ज्वलनायते स्म राका भवनाकाशमजायताम्बुराशिः ॥८२॥

अन्वय—मुरारौ मथुरागमनोन्मुखे असुभारार्त्तिभृतां व्रजाङ्गनानां राका प्रलज्ज्वलय नायते स्म, भवनाकाशात् अम्बुराशिः अजायत्।

---

1. "तद्रुपविलोकनेन" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—श्रीकृष्ण के मथुरा जाने के लिये उद्यत हो जाने पर प्राणरूप बोझ के कारण पीडा को वहन करने वाली गोकुल की कामिनियों के लिए पूनम की रात प्रलय की आग की तरह आचरण करने लगी और गृहप्रदेश सागर बन गया।

व्याख्या—यह कृष्ण की विरह-व्यथा से पीड़ित व्रजबालाओं का वर्णन करते हुए कवि का कथन है। यहाँ प्राणों के ऊपर भार का आरोप किया गया है अतः उससे रूपक है। साथ ही पूर्णिमा को प्रलय की आग की तरह आचरण करने वाली कहा गया है अतः वहाँ उपमा है। साथ ही भवनाकाश पर भी सागर का आरोप करने के कारण उसमें भी रूपक है। इन सभी की संसृष्टि है। (क) मथुरागमनोन्मुखे—मथुरायां गमनं मथुरागमनम्। तस्मिन् उन्मुखः (उद्यत इत्यर्थः) मथुरागमनोन्मुखः। तस्मिन् मथुरागमनोन्मुखे। भावे सप्तमी। (ख) मुरारौ—कृष्णे। (ग) असुभारार्तिभृताम्—असवः एव भाराः असुभाराः। तैः आर्तिः; असुभारार्त्तिः। तां बिभ्रतीति असुभारार्त्तिभृतः। तासां तथोक्तानाम्। 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इत्यमरः। 'दुःखमार्त्तिः पीडा' इति हलायुधः। प्राणरूपी बोझ के कारण पीडा को धारण करने वाली। (घ) व्रजाङ्गनानाम्—व्रजस्याङ्गनाः व्रजाङ्गनाः। तासां व्रजाङ्गनानाम्। गोपियों का। (ङ) प्रलयज्वलनायतेस्म—प्रलयस्य ज्वलनः प्रलयज्वलनः। प्रलयाग्निरित्यर्थः। तदिव आचरतिस्म इति प्रलयज्वलनायतेस्म। प्रलयकालीन अग्नि की तरह आचरण करती थी। प्रलयज्वलनायते' इत्यत्र 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) इति सूत्रेण क्यङ् प्रत्ययः। क्रिया के साथ 'स्म' अव्यय का प्रयोग अतीत अर्थ को द्योतित करने के लिये आता है 'स्मपादपूरणेऽतीते' इति विश्वप्रकाशः। (घ) 'राका' सम्पूर्णे पूर्णमासी च' इति हलायुधः। (छ) भवनाकाशम्—भवनस्याकाशम् भवनाकाशम्। गृहप्रदेशमित्यर्थः। (ज) अम्बुराशिम्—अम्बुनांराशिः अम्बुराशिः। समुद्र इत्यर्थः। इसमें कालभारिणी वृत्त प्रयुक्त है 'विषणे ससजा यदा गुरूचेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्।' (छन्दोमञ्जरी)॥ ८२॥

केलीमन्दिरमागतस्य शनकैरालीरपास्येङ्गितैः
सुप्तायाः सरुषः सरोरुहदृशः संवीजनङ्कुर्व्वतः।
जानन्त्याऽप्यनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या सखि!
श्रान्ताऽसीत्यभिधाय वक्षसि तया पाणिर्ममासञ्जितः॥८३॥

अन्वयः—केलीमन्दिरमागतस्य शनकैः इङ्गितैः आलीः आपास्य सरुषः

सुप्तायाः सरोरुहदृशः संवीजनम् कुर्व्वतः मम पाणिः जानन्त्या अपि अनभिज्ञयेव कपटव्यामीलिताक्ष्या तया 'सखि ! श्रान्ता असि' इति अभिधाय वक्षसि आसञ्जितः ।

हिन्दीरूपान्तर—क्रीडागृह में आये हुए धीरे से इशारों से सखियों को हटाकर क्रोधपूर्वक सोई हुई कमलनैनी के पंखा झलते हुए मेरे हाथ को जानती हुई भी न जानती हुई सी झूँठे ही आँख बन्द किए हुए (मेरी प्रियतमा) 'अरी सखी ! थक गई हो' ऐसा कहकर सीने पर रख लिया ।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से अपनी प्रियतमा के विषय में बता रहा है । इसमें सम्भोग शृङ्गार है । उसकी प्रियतमा उससे रूठी हुई थी । मारे क्रोध के क्रीडागृह में सो रही थी । नायक ने वहाँ जाकर उसकी सखियों को इशारे से वहां से हटा दिया और खुद पंखा हांकने लगा कि किसी तरह प्रियतमा का गुस्सा खत्म हो । नायिक ने यद्यपि यह जान लिया कि पंखा नायक ही हांक रहा है फिर अनजान सी बनी हुई झूठे आंख बन्द करके 'अरी सखी ! तू थक गई होगी अब रहने दे' ऐसा कहकर उसका हाथ अपने सीने पर रख लिया है । इस प्रकार यहां नायक को अभीष्ट तो था कि नायिका का गुस्सा दूर हो जाय परन्तु उसको उतना ही लाभ नहीं हुआ गुस्सा तो दूर हो ही गया साथ ही प्रियतमा के स्तनों का स्पर्श करने को मिल गया । अतः वाञ्छित अर्थ से अधिक की सिद्धि हो जाने से यहाँ 'प्रहर्षण' अलंकार है । लक्षण है—

"वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम् ।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् जहाँ वाञ्छित अर्थ से अधिक की संसिद्धि होती है वहाँ प्रहर्षण अलंकार होता है । (क) केलीमन्दिरम्—केल्याः मन्दिरं केलीमन्दिरम् । द्वितीयैकवचनम् । (ख) शनकैः—धीरे से । (ग) आलीः—सखियों को । 'आली सखी' इति हलायुधः । (घ) सरुषः—रुषा क्रोधेन सहिता सरुट् । तस्याः सरुषः । क्रोधयुक्ताया इत्यर्थः । (ङ) सरोरुहदृशः—सरोरुहे इव दृशौ यस्याः सा तस्याः सरोरुहदृशः । कमल के सदृश नेत्रों वाली के । उपमा । (च) कपटव्यामीलिताक्ष्याः—वि विशेषेण आङ् समान्तात् मीलिते व्यामीलिते । कपटेन व्यामीलिते कपटव्यामीलिते । तथाभूते अक्षिणी यस्याः सा कपटव्यामीलिताक्षी । तया तथोक्तया । छलपूर्वक झूठ मूठ ही आंख बन्द किये हुये । इसमें शार्दूलविक्रीडितवृत्त है—'सूर्य्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८३ ॥

मान्थर्य्यमाप गमनं सह शैशवेन
रक्तं सहैव मनसाऽधरबिम्बमासीत् ।
किञ्चाभवन् मृगकिशोरदृशो नितम्बः
सर्व्वाधिको गुरुरयं सह मन्मथेन[1] ॥ ८४ ॥

अन्वयः—मृगकिशोरदृशः गमनं शैशवेन सह मान्थर्य्यम् आप, अधरबिम्बम् मनसा सह एव रक्तम् आसीत् किञ्च अयम् नितम्बः मन्मथेन सह सर्व्वाधिकः गुरुः अभवत् ।

हिन्दीरूपान्तर—हरिणशिशुनयना की चाल बालकपन के साथ धीमी हो गई, बिम्ब के सदृश अधर हृदय के साथ ही रक्त (अनुराग युक्त, लाल) हो उठा, साथ ही यह नितम्ब कामदेव के साथ सबसे अधिक गुरु (महान् और विस्तृत) हो गया ।

व्याख्या—इसमें कवि ने सहोक्ति अलंकार प्रस्तुत किया है । सहोक्ति का लक्षण कुवलयानन्द में इस प्रकार दिया गया है—'सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः' यदि (किन्हीं पदार्थों का) सहभाव सहृदयाह्लादजनक हो तो सहोक्ति अलंकार होता है । और रसगङ्गाधरकार के अनुसार गुण प्रधानभाव से अवच्छिन्न (पदार्थों का) 'सह' अर्थ के साथ सम्बन्ध कथन होने पर सहोक्ति अलंकार होता है—'गुणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्धोक्तिः' । यहां पर गमन का शैशव के साथ मान्थर्य प्राप्त करना, अधरबिम्बका मन के साथ रक्त होना, और नितम्ब का कामदेव के साथ गुरु होना वर्णित होने से सहोक्ति है । (क) मान्थर्यम्—मन्थरस्य भावः मान्थर्य्यम् । भावेष्यञ् । मन्दतामित्यर्थः । (ख) शैशवेन—शिशोर्भावः शैशवम् । भावे अञ् । तेन शैशवेन । (ग) रक्तम्—अधर तो लाल रंग का हो उठा और मन अनुरागयुक्त हो उठा । "रक्तं स्यात् कुङ्कुमे ताम्रे प्राचीनामलकेऽसृजि । अनुरागिणि नील्यादिरञ्जिते लोहितेऽप्यवत् ।" इति विश्वप्रकाशः । (घ) अधरबिम्बम्—अधरः बिम्बमिव अधरबिम्बम् । उपमा । बिम्बफल के सदृश अधर । (ङ) मृगकिशोरदृशः—मृगस्य किशोरः (शिशुः) मृगकिशोरः । तस्य दृशाविव दृशौ यस्याः सा, तस्याः मृगकिशोरदृशः । 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति समासः । धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा । हरिण के बच्चे की आंखों के सदृश आंखों वाली का । (च) सर्व्वाधिकः—सर्वेभ्योऽधिकः सर्वाधिकः सबसे ज्यादा । (छ) गुरुः—नायिक के नितम्ब तो अलघु अर्थात् विशाल हो गया । और कामदेव सबसे अधिक महान् हो उठा । दुर्जरा लघुनोः प्रोक्तो

१. "समनोरथेन" इति पाठान्तरम् ।

गुरुर्महति वाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। (ज) मन्मथेन–कामदेवेन 'मदनो मन्मथो मारः' इत्यमरः। शैशवेन, मनसा और मन्मथेन में सर्वत्र 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) से तृतीया विभक्ति हुई है। इस तरह रसगंगाधरकार के लक्षण के अनुसार शैशव, मन, और कामदेवरूप गौणपदार्थों के साथ, नति, अधर और नितम्बरूप प्रधान पदार्थों का सह अर्थ से सम्बन्धकथन होने के कारण सहोक्ति है। इसमें वसन्ततिलकवृत्तप्रयुक्त है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः। (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८३ ॥

श्वासोऽनुमानवेद्यः शीतान्यङ्गानि निश्चला दृष्टिः।
तस्याः सुभग ! कथेयन्तिष्ठतु तावत् कथान्तरङ्कथय ॥८५॥

अन्वयः—हे सुभग ! तस्याः श्वासः अनुमानवेद्यः, अङ्गानि शीतानि, दृष्टिः निश्चला (अस्ति)। इयम् कथा तिष्ठतु, तावत् कथान्तरम् कथय।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ वल्लभ ! 'उसकी साँस अनुमान द्वारा जानने योग्य है, अङ्ग ठंढे हैं, ओर दृष्टि निश्चल है, (अथवा) इस कथा को रहने दो, तब तक (तुम्हीं) दूसरी कथा कहो।

व्याख्या—कोई दूती किसी नायक से उसके विरह से बिल्कुल मरणासन्न किसी नायिका का वर्णन कर रही थी। वह 'उसकी सांस अनुमान द्वारा जानने योग्य है, अंग ठंढे हैं और दृष्टि निश्चल है' इतना कहने के बाद रुक गई क्योंकि उसे बताना था कि नायिका बिल्कुल मरणासन्न है पर वह उसे न कहकर नायक से कुछ दूसरी बात कहने का अनुरोध करने लगी इस प्रकार यहां यद्यपि दूती ने नायिका की वक्ष्यमाण अवस्था का कुछ निरूपण तो किया परन्तु उसके एक 'अंश विशेष 'कि वह मरणासन्न है' का निषेध कर दिया। अतः यहाँ आक्षेपालङ्कार है। आक्षेप का लक्षण है—

"निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥ (काव्य प्रकाश)

अर्थात् जहाँ पर किसी विशेष का प्रतिपादन करने की इच्छा से विवक्षित अर्थ का निषेध कर दिया जाता है वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है। उसके दो भेद होते है एक वक्ष्यमाण विषयक आक्षेप और दूसरा उक्त विषयक आक्षेप। प्रस्तुत पद्य में वक्ष्यमाण विषयक आक्षेप प्रस्तुत किया गया है। यहाँ कवि ने 'विप्रलम्भशृङ्गार' को प्रस्तुत किया है। नायक आलम्बन है। अङ्गों का ठण्ढा हो जाना आदि अनुभाव हैं। तथा चिन्ता, जडता आदि व्यभिचारी भाव है जिनके संयोग से नायिकागत रति स्थायीभाव व्यञ्जित होता है। (क) अनुमानवेद्यः—वेदितु योग्यः वेद्यः। अनुमानेन वेद्यः अनुमानवेद्यः। (ख)

सुभग—सुन्दरः भगः श्रीर्यस्य स सुभगः। तत्सम्बुद्धौ सुभग 'चक्षुष्यः सुभगो द्वेष्यो वल्लभो दयितः प्रियः' इति हलायुधः। इसमें कवि ने गीति वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—"आर्या प्रथमार्धसम यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्।" (छन्दोमञ्जरी)॥ ८५॥

पाणौ कृतः पाणिरिलासुतायाः सस्वेदकम्पो रघुनन्दनेन।
हिमाम्बुसङ्गानिलविह्वलस्य प्रभातपद्मस्य बभार शोभाम्॥८६॥

अन्वयः—रघुनन्दनेन पाणौ कृतः इलासुतायाः सस्वेदकम्पः पाणिः हिमाम्बुसङ्गानिलविह्वलस्य प्रभातपद्मस्य शोभाम् बभार।

हिन्दीरुपान्तर—रामचन्द्रजी द्वारा हाथ में धारण किये गये धरणितनया सीता के पसीने और कम्प से युक्त हाथ ने पाले के जल के सम्पर्क से और हवा के द्वारा व्याकुल प्रातः कालीन कमल की शोभा को धारण किया।

व्याख्या—यहाँ कवि ने राम और सीता के पाणिग्रहण की अवस्था का वर्णन किया है। जब रामचन्द्रजो ने सीता का हाथ पकड़ा तो सात्त्विक भाव का उदय होने के कारण सीता जी को रोमाञ्च हो आये जिससे उनके हाथ पर पसीने की बूदे और कँपकपी दिखाई पड़ने लगी। उस पर कवि ने दृष्टान्त दिया कि सीता जी के हाथ ने उस समय पाले के जल के सम्पर्क और हवा के द्वारा व्याकुल प्रातः कालीन कमल की शोभा धारण की। अब यहाँ सीता के हाथ ने 'कमल की शोभा धारण की' इस का हाथ के द्वारा कमल की शोभा धारण करना सम्भव न होने से उपमा में पर्यवसान होता है अर्थात् जिस प्रकार प्रातः कालीन कमल पर पाले की बूँदे पड़ो रहती और हवा के चलने से वह हिलता रहता है उसी प्रकार सीता के हाथ पर भी पसीने की बूँदे पड़ी थी और वह कँप रहा था। इस प्रकार यहाँ निदर्शना अलङ्कार है—"निदर्शना—अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।" (काव्यप्रकाश) जहाँ वस्तुओं का सम्बन्ध अनुपपन्न होते हुए उपमा को कल्पित कर लेता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है। (क) इलासुतायाः—इलायाः (पृथिव्याः) सुता इलासुता तस्या इलासुतायाः। धरणितनयायाः सीताया इत्यर्थः। 'धरा गौर्गोत्रा जगती रसा क्षितिरिला' इति हलायुधः। (ख) पाणिः—'पाणिः शयपञ्चशाखकर-हस्ताः' इवि हलायुधः। (ग) सस्वेदकम्पः स्वेदश्च कम्पश्चेति स्वेदकम्पौ। स्वेदकम्पाभ्यां सहितः सस्वेदकम्पः। स्वेद और कम्प सात्त्विक भाव हैं। कम्पका आशय रोमाञ्च है। साहित्यदर्पण में कहा गया है—'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथवेपथुः। वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः। (ख) हिमाम्बुसङ्गानिलविह्वलस्य—हिमवदम्बु हिमाम्बु। हिमाम्बुनः सङ्गः हिमाम्बु-

सङ्गः । हिमाम्बुसङ्गश्च अलिश्च हिमाम्बुसङ्गानिलौ । ताभ्यां विह्वलं हिमाम्बुसङ्गानिलविह्वलम् । तस्य हिमाम्बुसङ्गानिलविह्वलस्य । हिम का अर्थ शीतल और बर्फ दोनों होता है । यहां बर्फ के सदृश (शीतल) जल अथवा 'शीतलजल' दोनों ही अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है । 'हिम शीते तुषारे च चन्दने च हिमं विदुः' इति विश्वप्रकाशः । जब केवल शीतल जल अर्थ लिया जायगा तो समास विग्रह होगा 'हिममम्बु इति हिमाम्बु' 'कुशजलवनंक्षीरमम्भोऽम्बुनीरम्' इति हलायुधः । 'विक्लवो विह्वलः' इत्यमरः । इसमें कवि ने 'उपजाति' वृत्त उपनिबद्ध किया है । प्रथम तथा द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा और तृतीय तथा चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा के लक्षण विद्यमान है ॥ ८६ ॥

अरुणमपि[1] विद्रुमद्रुम्मृदुलतरञ्चापि किसलयम्बाले[2] ।
अधरीकरोति नितरान्तवाधरो मधुरिमातिशयात् ॥८७॥

अन्वयः—हे बाले ! तव अधरः मधुरिमातिशयात् अरुणाम् अपि विद्रुमद्रुम् च मृदुलतरम् अपि किसलयम् नितराम् अधरीकरोति !

हिन्दीरूपान्तर—अरी मुग्धे ! तेरा अधर माधुर्य्याधिक्य से (स्वाभावतः) रक्तवर्ण भी प्रवाल वृक्ष और अत्यन्त कोमल भी किसलय को अच्छी तरह नीचा दिखा रहा है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने प्रवालवृक्ष और किसलय जो अधर के प्रसिद्ध उपमान है उनसे उपमेयभूत अधर का उत्कर्ष प्रतिपादित किया है । क्यों कि प्रवाल वृक्ष केवल अरुण है कोमल और मधुर नहीं, किसलय केवल कोमल और अरुण ही है उसमें मधुरता नहीं, जब कि नायिका का अधर अरुण भी है और कोमल भी है और मधुर भी है । अतः उपमानों को नीचा दिखाना स्वाभाविक ही है । इस लिए यहाँ व्यतिरेक अलंकार माना जायगा—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।" (क) अरुणम्—'अव्यक्तरागस्त्वरुणः' (अमरकोश) अर्थात् जो हल्का लाल रंग होता है उसे अरुण कहते हैं । (ख) विद्रुमद्रुम्—विद्रुमस्य द्रुः विद्रुमद्रुः । तं विद्रुमद्रुम् । 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः । 'द्रुविष्ठरनगद्रुमपादपाश्च' इति हलायुधः । प्रवालवृक्षमित्यर्थः । (ग) मृदुलतरम्—अतिशयेन मृदुलं मृदुलतम् (मृदुल + तरप्) । (घ) पल्लवेऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । (ङ) अधरीकरोति—न अधरं अधरं करोति इति अधरीकरोति (अभूततद्भावे च्विः) (च) मधुरिमातिशयात्—मधुरस्य भावो मधुरिमा (मधुर + इमनिच्) । मधुरिम्णः अतिशयः

१. "विद्रुमदण्डम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "पल्लवम्बाले" इति पाठान्तरम् ।

मधुरिमातिशयः। तस्मात् मधुरिमातिशयात्। 'अथातिशायोभरः' इत्यमरः। कवि ने अर्थावृत्त का प्रयोग किया है। 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽया ॥ ८७ ॥

[1]नयने वहतो नु खञ्जनानामिह नानाविधमङ्गने ! भयन्ते[2]।
[3]मुखमेतु तुलां कथं सुशोभं सुदृशो भङ्गुरसम्पदोऽम्बुजस्य[4] ॥८८॥

अन्वयः—हे अङ्गने ! इह ते नयने खञ्जनानाम् नाना विधम् भयं वहतः नु। सुदृशः सुशोभम् मुखम् भङ्गुरसम्पदः अम्बुजस्य तुलाम् कथम् एतु ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ रमणी ! इस संसार में तुम्हारी आँखे खञ्जन पक्षियों के नाना प्रकार के भय को धारण करती है। सुन्दर आँखों वाली का रमणीय सौन्दर्य सम्पन्न मुख नश्वर शोभा वाले कमल की तुलना कैसे प्राप्त करे ?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने व्यतिरेकालङ्कार प्रस्तुत किया है। व्यतिरेक का लक्षण है—'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश) अर्थात् जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष वर्णित होता है वहाँ व्यतिरेकालंकार होता है। खञ्जन पक्षी की आंखों से नेत्रों की उपमा दी जाती है। वह नेत्रों का प्रसिद्ध उपमान है। परन्तु यहां उन्हें भयभीत दिखाकर उनकी अपेक्षा नायिका के नेत्रों का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में मुख के प्रसिद्ध उपमान कमल से मुख का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है। मुख सदैव शोभा-सम्पन्न रहता है जब कि कमल की शोभा क्षणभङ्गुर है। अतः उभयत्र व्यतिरेकालङ्कार है। (क) नानाविधम्—नाना प्रकारम्। अनेकों प्रकार का। (ख) अङ्गने—प्रशस्तान्यङ्गानि यस्याः सा अङ्गना। तत्सम्बुद्धौ हे अङ्गने। (ग) तुलाम्—तुलनाम्। (घ) सुशोभम्—सु शोभा यस्मिन् तत् सुशोभम् आशय यह कि दिनरात समान शोभावाला। (ङ) सुदृशः—शोभने दृशौ यस्याः सा, तस्याः सुदृशः। (च) भङ्गुरसम्पदः—भङ्गुरा विनाशशीला सम्पद् यस्य तत्, तस्य भङ्गुरसम्पदः। नश्वर शोभा वाले। इसमें कालभारिणीवृत्त है—'विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्।" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८८ ॥

१. "नयनानि वहन्तु" इति "नयने वहतान्नु" इति च पाठान्तरे।
२. "नानाविधमङ्गभङ्गभाग्यम्" इति पाठान्तरम्।
३. "सदृशङ्कथमाननं सुशोभम्" इति पाठान्तरम्।
४. "भङ्गुरसम्पदाऽम्बुजेन" इति पाठान्तरम्।

सुदृशो जितरत्नमालया[1] सुरतान्तश्रमविन्दुमालया ।
[2]अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे काऽपि रुचिः परस्परम् ॥८९॥

अन्वयः—सुदृशः जितरत्नमालया सुरतान्तश्रमविन्दुमालया च हेमकान्तिना अलिकेन परस्परम् काऽपि रुचिः विदधे ।

हिन्दीरूपान्तर—सुनयना की रत्नों की माला को जीत लेनेवाली सम्भोग की समाप्ति पर श्रमजन्य पसीने की बूँदों की माला और सुवर्ण के सदृश कान्ति-वाले ललाट ने परस्पर किसी अनिर्वचनीय कान्ति को धारण किया ।

व्याख्या—सुरत-श्रम से थकी हुई नायिका के ललाट पर पसीनें की बूँदों को देखकर कवि ने इस कल्पना को प्रस्तुत किया है। यहाँ 'अन्योऽन्य' अलङ्कार है। साहित्यदर्पणकारादि ने दोनों के द्वारा परस्पर की जाती हुई एक ही क्रिया के वर्णन को 'अन्योऽन्य' अलङ्कार माना है—"अन्योऽन्यमुभयोरेक-क्रियायाः करणम्मिथः ।" परन्तु रसगङ्गाधरकार ने 'एक दूसरे के एक दूसरे से परस्पर विशेष आधान को 'अन्योऽन्य' कहा है—''द्वयोरन्योऽन्येनान्योऽन्यस्य विशेषाधानमन्योऽन्यम्'' और इसी 'विशेष' को उन्होंने क्रिया, गुण आदि रूप माना है—"विशेषश्च क्रियादिरूपः" प्रस्तुत पद्य में उन्होंने परस्पर गुणों का आधान माना है, क्यों कि 'रुचि' एक गुण है। यहाँ ललाट और श्रमबिन्दु परस्पर एक दूसरे की कान्ति का आधान कर रहे है। अतः अन्योऽन्य अलंकार है। यहाँ पर वे कान्ति विधान रूप क्रिया का विशेषाधान नहीं स्वीकार करते—'न च विधानरूपक्रियात्मकविशेषाधानमिह शङ्क्यम्, भावनासामान्यरूपस्य विधानस्याचमत्कारित्वेनाविशेषत्वात् ।" (क) जितरत्नमालया—रत्नानां माला रत्नमाला। जिता रत्नमाला यया सा जितरत्नमाला तया जितरत्नमालया कहीं कहीं पर 'मालया' के स्थान पर 'जालया' पाठ भी प्राप्त होता है। वहां जाल का अर्थ समूह होगा। 'जालं समूह आनाय गवाक्षक्षारकेष्वपि' इत्यमरः। जितं रत्नजालं (रत्नानाम् जालम्) यया सा जितरत्नजाला। तया जितरत्नजालया। जिसने रत्नों के समूह को परास्त कर दिया है। (ख) सुरतान्तश्रमबिन्दु-मालया—सुरतस्य (सम्भोगस्य) अन्तः (अवसानं) सुरतान्तः। सुरतान्ते श्रमः सुरतान्तश्रमः। सुरतान्तश्रमजन्या बिन्दवः सुरतान्तश्रमबिन्दवः। तेषां माला सुर-तान्तश्रमबिन्दुमाला। तया तथोक्तया। (ग) ललाटमलिकम्, इति हला-युधः। तेन अलिकेन। (घ) हेमकान्तिना—हेमवत् कान्तिः यस्य तत् हेम-कान्ति। तेन हेमकान्तिना। श्री जीवानन्द जी ने 'अलकेन च नीलकान्तिना'

१. "जितरत्नजालया" इति पाठान्तरम् ।
२. "अलकेन च नीलकान्तिना" इति पाठान्तरम् ।

पाठ दिया है। परन्तु वह पाठ उतना हृद्य नहीं है। क्यों कि अलकों की नीली कान्ति और रत्नों की कान्ति को जीत लेने वाले श्रमबिन्दुओं की कान्ति का परस्पर शोभा धारण करना उतना रमणीय नहीं है जितना कि सुवर्णवद् गौर ललाट का उसपर पड़ी हुई श्रम की बूदों के साथ। श्रम की बूदें ललाट पर पड़ी हुई हैं इस लिये ललाट की ही कान्ति के साथ उनकी कान्ति का परस्पर शोभा धारण करना समीचीन है। इसमें कवि ने 'सुन्दरी' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा।" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ८६ ॥

'परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता[1] हृदयम्प्रियस्य सीता ।
अविशत् परकामिनीभुजङ्गीभयतः[2] सत्वरमेव सोऽपि तस्याः ॥९०॥

अन्वयः—परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता सीता सत्वरम् एव प्रियस्य सः अपि परकामिनीभुजङ्गीभयतः तस्याः हृदयम् अविशत्।

हिन्दीरूपान्तर—परपुरुष के दृष्टिपात रूपी वज्रघात से डरी हुई सीता ने शीघ्र ही प्रियतम (राम) के (और) उस (राम) ने भी परस्त्री रूपी नागिन के डर से उस (सीता) के हृदय में प्रवेश किया।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में भी अन्योऽन्य' अलकार ही प्रस्तुत किया गया है। रसगङ्गाधरकार के अनुसार यहाँ पर परस्पर क्रियारूप विशेषाधान होने से अन्योऽन्यालङ्कार है। यहाँ राम ने सीता के हृदय में प्रवेश किया और सीता ने राम के हृदय में प्रवेश किया। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के हृदय में प्रवेश रूप क्रिया विशेष का आधान होने के कारण अन्योऽन्य अलंकार है। (क) परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीतः—पुरुषः एव पूरुषः (स्वार्थेऽण्) परः पूरुषः परपूरुषः दृष्टयोः पातः दृष्टिपातः। परपूरुषस्य दृष्टिपातः परपूरुषदृष्टिपातः। वज्रेणाहतिः वज्राहतिः। परपूरुषदृष्टिपात एक वज्राहतिः इति परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिः। तस्माद् भीता परपूरुषदृष्टिपातवज्राहतिभीता। 'पविरशनिः शतधारं वज्रं कुलिशम्' इति हलायुधः। (ख) परकामिनीभुजङ्गीभयतः—परा कामिनी परकामिनी अथवा परस्य कामिनी परकामिनी। परकामिनी एव भुजङ्गी परकामिनीभुजङ्गी। तस्याः भयं परकामिनीभुजङ्गीभयम्। तस्मात् परकामिनीभुजङ्गीभयतः। (भय + तसिल्) परस्त्री रूपी नागिन के भय से। (ग) सत्वरमेव—शीघ्रमेव। त्वया सह वर्तते इति सत्वरम्। 'शीघ्रमरमह्नाय

१. "परपुरुषदृष्टिजातवज्राहतिभीता" इति पाठान्तरम्।
२. "परकामिनीभुजगीभयतः" इति पाठान्तरम् ॥

सत्वरम्' इति हलायुधः। इसमें कालभारिणी वृत्त है 'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९० ॥

जम्बीरश्रियमतिलङ्घ्य लीलयैव
व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ ।
नीलाम्भोरुहनयनेऽधुना कुचौ ते
स्पर्द्धेते किल कनकाचलेन सार्द्धम् ॥ ९१ ॥

अन्वयः— हे नीलाम्भोरुहनयने ! व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ ते कुचौ लीलया एव जम्बीरश्रियम् अतिलङ्घ्य अधुना किल कनकाचलेन सार्द्धं स्पर्द्धेते ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ नील कमल के सदृश आँखों वाली ! सुन्दर स्वर्ण घटों को अच्छी तरह नीचा दिखा चुकने वाले तेरे स्तन लीला से ही जाम्बीरों की शोभा का अतिक्रमण करके अब सुमेरु पर्वत के साथ होड़ लगा रहे हैं ।

व्याख्या—यह नायिका के क्रमशः बढ़ते हुए स्तनों को देखने वाले नायक की उस नायिका के प्रति कथन है । यहाँ कवि ने 'सार' अलङ्कार प्रस्तुत किया है। साहित्यदर्पणकार, कुवलयानन्दकार, तथा अलङ्कारसर्वस्वकार आदि ने, जहाँ वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है वहाँ सार अलङ्कार माना है—

"उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ।" (सा० द०)
"उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ॥" (कुवलयानन्द)
"उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदारः (उत्कर्षः सारः) । (अल० सर्व०)

परन्तु रसगङ्गाधरकारने उत्तरोत्तर उत्कर्ष के साथ साथ उत्तरोत्तर अपकर्ष का वर्णन होने पर भी सार अलङ्कार माना है । साथ ही उन दोनों भेदों के एकविषयता और अनेकविषयता के आधार पर अन्य दो-दो भेद स्वीकार किए है । यह पद्य एक विषय के ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष के उदाहरण रूप में उद्धृत है । यहाँ पर केवल कुचों के ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष का प्रतिपादन किया गया है । पहले कामिनी के कुचयुगल जम्बीर के आकार के थे। फिर कुछ बढ़कर स्वर्ण कलश के आकार के हुए तदनन्तर अब वे सुमेरु से होड़ ले रहे है, इस प्रकार अवस्था भेद से उन्हीं कुचों के ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्रतिपादित किया गया है अतः एक विषयक सार अलङ्कार है । कवि ने कुचों के गौरवर्ण होने के कारण उसके प्रतिद्वन्द्वियों में जम्बीर, स्वर्णकलश और सुमेरु को प्रस्तुत किया है । (क) जम्बीरश्रियम्—जम्बीराणां श्रीः जम्बीरश्रीः । तां जम्बीर-श्रियम् । (ख) व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ—हेम्नः कुम्भौ हेमकुम्भौ ।

स्वर्णकलशावित्यर्थः। कमनीयौ हेमकुम्भौ कमनीयहेमकुम्भौ। अनम्रौ नम्रौ कृतौ इति नम्रीकृतौ। अभूततद्भावे च्विः। वि विशेषेण आङ् समन्तात् नम्रीकृतौ इति व्यानम्रीकृतौ। व्यानम्रीकृतकमनीयहेमकुम्भौ। (ग) नीलाम्भोरुहनयने—नीलेऽम्भोरुहे नीलाम्भोरुहे। ते इव नयने यस्याः सा नीलाम्भोरुहनयना। तत्सम्बुद्धौ हे नीलाम्भोरुहनयने। उपमा। नील कमल के सदृश नेत्रों वाली। (घ) अधुना—इदानीम्। इस समय। (ङ) कुचौ—स्तनौ। (च) किल—सम्भावनायाम्—'किल शब्दस्तु वार्तायां सम्भाव्यानुनयार्थयोः। (छ) कनकाचलेन—कनकमयः अचलः कनकाचलः। सुमेरुपर्वतः। 'सुमेरुहेमपर्वतः। इति हलायुधः। तेन कनकाचलेन। इसमें कवि ने प्रहर्षिणी 'वृत्त उपनिबद्ध किया है लक्षण है—'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्'। (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९१ ॥

अङ्गानि दत्त्वा हेमाङ्गि! प्राणान् क्रीणासि चेन्नृणाम्।
युक्तमेतन्नतु पुनः कोणन्नयनपद्मयोः[1] ॥ ९२ ॥

अन्वय—हे हेमाङ्गि! चेत् अङ्गानि दत्त्वा नृणाम् प्राणान् क्रीणासि एतद् युक्तम्, तु पुनः नयनपद्मयोः कोणम् (दत्त्वा चेत् प्राणान् क्रीणासि तत्) न (युक्तम्)।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सुवर्ण के सदृश गौर अङ्गों वाली! यदि (तू) अङ्गों को देकर लोगों के प्राण खरीदती है (तो) यह ठीक है, लेकिन फिर नेत्रकमलों का कोना (अर्थात् कटाक्ष देकर यदि प्राणों को खरीदती है तो यह उचित) नहीं है।

व्याख्या—यह नायक का नायिका के प्रति कथन है। इसमें कवि ने 'परिवृत्ति' अलङ्कार प्रस्तुत किया है। 'रसगङ्गाधर' के अनुसार परिवृत्ति का लक्षण है—"परकीययत्किञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टम् परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तु-समर्पणम् परिवृत्तिः।" अर्थात् दूसरे की किसी वस्तु को ग्रहण कर अपनी किसी वस्तु का दूसरे के लिए समर्पण परिवृत्ति है। यह परिवृत्ति सम और विषम भेद से दो प्रकार की होती है। समान वस्तु का त्याग और ग्रहण होने पर सम परिवृत्ति तथा असमान वस्तुओं का ग्रहण व त्याग होने पर विषम परिवृत्ति होती है। रसगङ्गाधरकार इन दो भेदों के पुनः दो-दो भेद करते हैं। सम परिवृत्ति में उत्तमों की उत्तमों के साथ तथा न्यूनों की न्यूनों के साथ परिवृत्ति। एवं विषमपरिवृत्ति में उत्तमों की न्यूनों के साथ तथा न्यूनों की उत्तमों के साथ परिवृत्ति। जब कि अलंकारसर्वस्वकारादि तीन ही प्रकार स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत श्लोक के प्रथमार्ध में अङ्गों को देकर प्राणों का क्रय करने से समपरिवृत्ति

१. "नयनयुग्मयोः" इति पाठान्तरम्।

है, तथा उत्तरार्द्ध में केवल कटाक्षों को देकर ही प्राणों का क्रय करने से न्यून के साथ उत्तम की परिवृत्ति होने से विषम परिवृत्ति है। (क) हेमाङ्गि—हेमानि इवाङ्गानि यस्याः सा हेमाङ्गी। सुवर्णवद्गौरवर्णेत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ हे हेमाङ्गि। (ख) नृणाम्—मनुष्याणाम्। (ग) युक्तम्—उचितम् (घ) नयनपद्मयोः—नयने एव पद्मे इति नयने पद्मे इवेति वा नयनपद्मे। तयोः नयनपद्मयोः। नेत्रकमलयोः। उपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः। इसमें 'अनुष्टुप्' वृत्त है॥ ६२॥

[1]जितरत्नरुचां सदा रदानां सहवासेन परां मुदं दधानाम्।
[2]विरसादधरीकरोति नासामधुना साहसशालि मौक्तिकन्ते ॥९३॥

अन्वयः—सदा जितरत्नरुचां रदानां सहवासेन पराम् मुदम् दधानम् ते नासाम् अधुना विरसाद् साहसशालिमौक्तिकम् अधरीकरोति।

हिन्दीरूपान्तर—हमेशा रत्नों की कान्ति को जीत लेनेवाले दातों के सहवास के कारण महान् आनन्द को धारण करने वाली तुम्हारी नासिका को इस समय वैरस्य के कारण साहसी मौक्तिक नीची बनाये दे रहा है।

व्याख्या—यह किसी नायक का नायिका के प्रति कथन है। इसमें 'प्रत्यनीक' अलङ्कार है साहित्यदर्पण में प्रत्यनीक का लक्षण है—

"प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः॥"

अर्थात् यदि मुख्य शत्रु का प्रतीकार करने में असमर्थ व्यक्ति उस शत्रु के किसी सम्बन्धी का तिरस्कार करता है तो वहाँ प्रत्यनीक अलङ्कार होता है, यदि उस तिरस्कार से शत्रु पक्ष का ही उत्कर्ष सिद्ध हो। यहां पर नासामौक्तिक एक रत्न है। रत्नों की सम्पत्ति पर दांतो ने विजय प्राप्त करली है। अब वह नासामौक्तिक मुख्य शत्रु दांतों का तो कुछ भी बिगाड़ सकने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये 'धोबी से न जीते गधे का कान उमेठे' उक्ति के अनुसार वह दांतों की सहवासिनी नासिका को ही नीचा दिखा रहा है। इससे स्पष्ट ही दांतों का अत्यधिक कान्तियुक्त होना सिद्ध होता है। अतः प्रत्यनीक अलङ्कार है। चूंकि नासामौक्तिक नाक के ऊपर धारण किया जाता है अतः कवि ने ऐसी कल्पना प्रस्तुत की है। (क) जितरत्नरुचाम्—रत्नानां रुचः कान्तयः रत्नरुचः। जिताः रत्नरुचः यैस्ते जितरत्नरुचः। तेषां जितरत्नरुचाम्। 'रत्नों की कान्ति की कान्ति को जीतलेने वाले। (ख) रदानाम्—दन्तानाम्। (ग) पराम्—उत्कृष्टाम्। (घ) मुदम्—आनन्दम्। (ङ) विरसात्—विरुद्धः रस, यस्मिन् तत् विरसम्।।वैरस्यमित्यर्थः। तस्माद विरसाद्। (च) अधरीकरोति—अन-

धरामधरां करोतीति अधरीकरोति। अभूततद्भावे च्विः (छ) नासाम्—नासिकाम्। (ज) अधुना—इस समय। (झ) साहसशाली—साहसेन शालते श्लाघते इति साहसशाली। इसमें कवि ने कालभारिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है—'विषमे ससजा यदा गुरुश्चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) पता नहीं श्री जीवानन्द जी ने इसमें 'उपेन्द्र वज्रा' वृत्त किस लक्षण के आधार पर बनाया है॥ ९३॥

निभाल्य भूयो निजगौरिमाणम्
मा नाम मानं सहसैव यासीः[1]।
गृहे गृहे पश्य तवाङ्गवर्णा
मुग्धे! सुवर्णावलयो लुठन्ति॥ ९४॥

अन्वयः—हे मुग्धे। निजगौरिमाणम् भूयः निभाल्य सहसा एव मानम् नाम मा यासीः (यतः) पश्य। गृहे गृहे तव अङ्गवर्णाः सुवर्णावलयः लुठन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—अरी मुग्धे। अपनी गोराई को खूब देखकर अचानक ही मान न कर (क्योंकि) देख! घर घर में तेरे अंगों के रंग वाली काञ्चनपङ्क्तिया लोट रही हैं।

व्याख्या—किसी मानिनी नायिका के प्रति नायक की यह उक्ति है। इसमें कवि ने प्रतीपालङ्कार प्रस्तुत किया है। यहां पर कवि ने उपमेयभूत कामिनी के अंगों की गौरवर्णता की अद्वितीयता के उत्कर्ष को मिटाने के लिए उसी के अंगों के वर्ण वाले सुवर्णावलि रूप दूसरे उपमेय को प्रस्तुत किया है। लक्षण है—

वर्ण्योपमेयलाभेन तथाऽन्यस्याप्यनादरः' (कुवलयानन्द) अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट गुण के कारण उपमानता को न सह सहने वाले पदार्थ का उससे भिन्न किसी उपमेय की कल्पना कर जहां तिरस्कार किया जाता है वहां प्रतीपालङ्कार होता है। (क) निभाल्य—अवलोक्य। देखकर। (ख) भूयः—अतिशयेन (ग) निजगौरिमाणम्—गौरस्य भावः गौरिमा। गौर+इमनिच्। निजः गौरिमा निजगौरिमा। तम् निजगौरिमाणम्। स्वमित्यर्थः। अपनी गोराई को। (घ) सहसा—एकाएक, अचानक। (ङ) अङ्गवर्णाः—अङ्गानांवर्णः यासां ताः अङ्गवर्णाः। अङ्ग के वर्णवाली। (च) मुग्धे—वैसे विश्वप्रकाश के अनुसार मुग्ध का अर्थ सुन्दर तथा मूढ होता है—"मुग्धः सुन्दरमूढयोः"। अतः इसका अर्थ मूढे, अथवा सुन्दरि दोनों किया जा सकता है। वैसे मूढे अर्थ अधिक

१. "यायाः" इति पाठान्तरम्।

समीचीन होगा। मुग्धा नायिका का स्वरूप साहित्यदर्पण में इस प्रकार बतलाया गया है—

"प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥"

अर्थात् जिसमें नवयौवन की छटा विद्यमान रहती है, जिसमें काम के विकार पहले पहल अवतीर्ण हुए रहते हैं, जो रति में झिझकने या सङ्कोच करनेवाली होती है, जिसका मान चिरस्थायी नहीं होता और जो अत्यन्त लज्जालु होती है उसे मुग्धा कहते हैं। (छ) सुवर्णावलयः—सुवर्णस्य आवलयः सुवर्णावलयः। 'आली श्रेण्यवाली पंक्तिः' इति हलायुधः। इस श्लोक के प्रथम तथा तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने से उपजातिवृत्त है॥ ९४॥

करिकुम्भतुलामुरोजयोः क्रियमाणां कविभिर्विशृङ्खलैः।
कथमालि! शृणोषि सादरं विपरीतार्थविदो हि योषितः॥९५॥

अन्वयः—हे आलि! विशृङ्खलैः कविभिः क्रियमाणाम् उरोजयोः करिकुम्भ-तुलाम् कथं सादरं शृणोषि, हि योषितः विपरीतार्थविदः (भवन्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सखी! उच्छृङ्खल कवियों द्वारा की जाती हुई स्तनों की गजकुम्भों से उपमा को (तू भला) कैसे आदरपूर्वक सुन लेती है, (अथवा ठीक ही है) क्योंकि स्त्रियाँ विपरीत अर्थ समझने वाली होती हैं।

व्याख्या—कोई सखी नायिका से कहती है कि तू सचमुच बड़ी बुद्धू है कहाँ तो हाथी का कुम्भस्थल भोंडा काला और कलूटा जिसपर भिन-भिन कर भँवरे भनभनाते रहते हैं और कहाँ तेरे रमणीय स्तन? लेकिन ये उच्छृङ्खल कवि हाथी के कुम्भ स्थल से तेरे स्तनों का मजाक उड़ाना है, लेकिन तू ऐसी बुद्धू है कि बड़े प्रेम से कवियों द्वारा गजकुम्भ स्थल से की जाती हुई अपने स्तनों की उपमा को बड़े प्रेम से आदर पूर्वक सुन लेती है। अथवा तेरा क्या दोष! स्त्रियों की बुद्धि ही उल्टी होती है वे हमेशा उल्टा मतलब ही लगाया करती हैं। यहाँ प्रथम तीन चरणों के द्वारा जो नायिका विशेष के बुद्धूपन को प्रतिपादित किया गया था उसका चतुर्थ चरण रूप सामान्य के द्वारा समर्थन कर दिया गया अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार है। लक्षण है—

"सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि।
कार्य्यञ्च कारणेनेदं कार्य्येण च समर्थ्यते॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ (१) विशेष के द्वारा सामान्य का या (२) सामान्य के

द्वारा विशेष का तथा (३) कारण के द्वारा कार्य का और (४) कार्य के द्वारा कारण का समर्थन किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। चूंकि यह समर्थन कभी साधर्म्य के द्वारा किया जाता है कभी वैधर्म्य के द्वारा, अतः इसके आठ भेद होते हैं। यहाँ पर साधर्म्य के कारण सामान्य द्वारा विशेष का समर्थन किया गया है। (क) करिकुम्भतुलाम्—करिणः कुम्भौ करिकुम्भौ। करिकुम्भौ। करिकुम्भाभ्याम् तुला करिकुम्भतुलाम्' 'मातङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः' इति चामरः। हाथी के मस्तक पर जो दो पिण्ड होते हैं उन्हें कुम्भ कहते हैं। तुला सादृश्यम्। (ख) विशृङ्खलैः—विगता शृङ्खला येषान्ते विशृंखलाः। तैः विशृंखलैः। शृंखलारहितैः निरंकुशैः स्वच्छन्दैरित्यर्थः। (ग) सादरम्—आदरेण सहितं यथा स्यात्तथा सादरम् (क्रियाविशेषणमेतत्)। (घ) विपरीतार्थविदः—विपरीतोऽर्थः वितरीतार्थः। विपरीतार्थं विदन्ति इति विपरीतार्थविदः। (ङ) 'योषा योषिद् वासिता वर्णिनी स्त्री' इति हलायुधः। प्रथमाबहुवचने योषितः स्त्रियः इत्यर्थः। इसमें कवि ने 'सुन्दरी' वृत्त उपनिबद्ध किया है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ जुजोः सभरालगौ यदि सुन्दरी तदा।" (छन्दोञ्जमरी) ॥ ९५ ॥

[1]'तिरस्कृतो रोषवशात् परिष्वजन्
प्रियो मृगाक्ष्या शयितः पराङ्मुखः।
किन्दुःखितोऽसाविति कान्दिशीकया
कदाचिदाचुम्ब्य चिराय सस्वजे ॥ ९६ ॥

अन्वयः—रोषवशात् परिष्वजन् तिरस्कृतः पराङ्मुखः शयितः प्रियः "किम् असौ दुःखितः" इति कदाचिद् कान्दिशीकया आचुम्ब्य चिराय सस्वजे।

हिन्दीरूपान्तर—क्रोध के कारण आलिङ्गन करते समय तिरस्कृत कर दिये गये मुँह घुमाकर लेटे हुए प्रियतम का "क्या यह दुःखी है" ऐसा सोचकर कदाचित् भयभीत हृदया मृगनैनी ने चुम्बन करके देर तक आलिङ्गन किया।

व्याख्या—किसी नायक ने अपनी मानवती प्रियतमा का आलिङ्गन करना चाहा तो उसके द्वारा झिड़क दिया गया। अतः निराश हो बेचारा मुँह दूसरी ओर करके चुपचाप लेट गया। कुछ देर बाद नायिका का रोष कम हुआ तो उसने सोचा कि 'मेरे तिरस्कार से ये क्या दुःखी हो गए हैं। अतः डरती हुई उसे प्रसन्न करने के लिए उसका चुम्बन किया और काफी देर तक उससे लिपटी

१. "परिष्वजन् रोषवशात् तिरस्कृतः" इति क्रमः क्वचित्।

रही। इस प्रकार नायक को विना प्रयत्न के ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो गई। अतः यहाँ प्रहर्षणालङ्कार है। लक्षण है—

"उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्" (कुवलयानन्द)

अर्थात् अभीष्ट अर्थ की विना प्रयत्न ही के संसिद्धि हो जाने पर प्रहर्षण अलङ्कार होता है। यहाँ कवि ने मुग्धा नायिका का वर्णन किया है क्यों कि वही मान में मृदु होती है—

"प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥" (साहित्यदर्पण)

(क) परिष्वजन्—(परि + ष्वञ्ज परिष्वङ्गे + शतृ) (ख) मृगाक्ष्या— मृगस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी। तया मृगाक्ष्या। यहाँ धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। (ग) पराङ्मुखः—पराक् (प्रतिलोमगामि) मुखं यस्य सः पराङ्मुखः। (घ) कान्दिशीकया—भयद्रुतया इत्यर्थः। 'कान्दिशीको भयद्रुतः' इत्यमरः। कान्दिशीक शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्। 'कान्दिशीक' शब्द की व्युत्पत्ति भट्टोजी दीक्षित ने इस प्रकार दिया है। 'कां दिश यामि' इत्याह 'तदाहेति मा शब्दादिभ्यः' (वा० ४।४।१) इति ठक्। 'पृषोदरादिः' (६।३।१०९) इति पृषोदरादित्वात् साधु। इसके प्रथम तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में 'वंशस्थविल' वृत्त का प्रयोग होने से तृतीय चरण में 'वदन्ति वंशस्थविलम् जतौ जरौ, (छन्दोमञ्जरी) तथा तृतीय चरण में इन्द्रवंशा 'स्यादिन्द्रवंशा तत जैरसंयुतैः (वृत्तरत्नाकर) का प्रयोग होने से उपजाति वृत्त है। पता नहीं जीवानन्द जी ने वंशस्थविल कैसे बताया है॥ ९६॥

चेलाञ्चलेनाननशीतरश्मिं संवृण्वतीनां हरिदृश्वरीणाम्।
व्रजाङ्गनानां स्मरजातकम्पादकाण्डसम्पातमियाय नीवी॥९७॥

अन्वयः—चेलाञ्चलेन आननशीतरश्मिं संवृण्वतीनां हरिदृश्वरीणां व्रजाङ्गनानां नीवी स्मरजातकम्पात् अकाण्डसम्पातम् इयाय।

हिन्दीरूपान्तर—वस्त्र के आँचल से मुखचन्द्र को छिपाती हुई कृष्ण को देखने वाली व्रजबालाओं की नीवी कामजनित कम्प के कारण अकस्मात् खिसक गई।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने विषादन अलङ्कार प्रस्तुत किया है। विषादन का लक्षण है—"इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्" (कुवलयानन्द) अर्थात् अभीष्ट अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्राप्ति जहाँ वर्णित होती है वहाँ विषादन अलङ्कार होता है। यहाँ पर कृष्ण भगवान् को देखकर मारे लाज के व्रजबालाये कहाँ तो अपने आंचल से अपना मुँह छिपाने जा रही थी कहाँ इसके

विरुद्ध कामजनित कम्प से उनकी नीवी ही खिसक गई। इस प्रकार वे चाहती तो कुछ और ही थीं पर हो गया कुछ और अतः विषादन 'अलङ्कार है। (क) चेलाञ्चलेन—चेलस्याञ्चलः चेलाञ्चलः। तेन चेलाञ्चलेन। 'चेलं चोरं वासः कर्पटमाच्छादनं निवसनञ्च। अम्बरमंशुकमुक्तं वस्त्रम्' इति हलायुधः 'वस्त्रस्यान्तो मतोऽञ्चलः' इति च हलायुधः। (ख) आननशीतरश्मिम्—शीताः (शीतलाः) रश्मयः (किरणाः) यस्य सः शीतरश्मिः। चन्द्र इत्यर्थः। आननमेव शीतरश्मिः आननशीतरश्मिः। तम् आननशीतरश्मिम्। मुखचन्द्रमित्यर्थः। (ग) स्मरजातकम्पात्—स्मरेण (हेतुना) जातः स्मरजातः। स्मरजातः कम्पः स्मरजातकम्पः। तस्मात् स्मरजातकम्पात्। 'कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः। (घ) अकाण्डसम्पातम्—अविद्यमानः काण्डः अकाण्डः। अनवसर इत्यर्थः। 'काण्डः स्तम्बे तरुस्कन्धे बाणेऽवसरनीरयोः' इति मेदिनी। अकाण्डे सम्पातः (सम्यक् पतनम्) अकाण्डसम्पातः। तमकाण्डसम्पातम्। (ङ) इयाय—(इण् गतौ + लिट्)। इस श्लोक के प्रथम तथा द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा और तृतीय तथा चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण उपजाति वृत्त है॥ ६७॥

अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुक्लभावः[1]।
हसितेन सितेन पक्ष्मलाक्ष्याः पुनरुल्लासमवाप जातपक्षः॥६८॥

अन्वयः—रदानां शुक्लभावः अधरेण समागमाद् अरुणिम्ना पिहितः अपि पक्ष्मलाक्ष्याः सितेन हसितेन जातपक्षः (सन्) पुनः उल्लासम् अवाप।

हिन्दीरूपान्तर—दाँतों की सफेदी अधर के साथ संयोग होने से लालिमा से आच्छादित होकर भी सुन्दर पलकों से युक्त आँखों वाली (कान्ति) की सफेद हँसी के द्वारा सहायक पाकर फिर से चमक उठी।

व्याख्या—यहाँ पर स्पष्ट रूप से पूर्वार्द्ध में तद्गुण अलङ्कार विद्यमान है क्योंकि अधर के साथ समागम होने से दाँतों का अपनी शुक्लता को त्याग कर अरुणिमा को ग्रहण करना बताया गया है—तद्गुण का लक्षण है—

"तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् अपने गुण के त्याग से दूसरे के गुण का ग्रहण करना तद्गुण अलङ्कार है। परन्तु उत्तरार्द्ध में दाँतों की शुक्लता की पुनः प्राप्ति का वर्णन प्रस्तुत किया गया है क्योंकि उसका हास सफेद है इस लिए दोनों की गई हुई शुक्लता उसके हास से पुनः शुक्ल हो गई, अतः यहाँ 'पूर्वरूप' अलङ्कार होगा। 'पूर्वरूप' का लक्षण है—

१. "शुद्धभावः" इति पाठान्तरम्।

"पुनः स्वगुणसम्प्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम् ।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् अपने खोए हुए गुण को पुनः प्राप्त कर लेना 'पूर्वरूप' अलङ्कार है। यद्यपि मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ आदि के अनुसार यहाँ भी तद्गुण ही होगा क्यों कि उन्होने 'पूर्वरूप' नामक कोई अलंकार नहीं माना है। पण्डितराज भी 'पूर्वरूप' नहीं मानते। इस पद्य के उदाहरण के बाद उन्होंने लिखा है—"(अत्र) पूर्वार्द्धे स्पष्ट एव तद्गुणः। परन्तूत्तरार्द्धगतेन प्रतिप्रसवतुल्येन हासेनापोद्यमानत्वाद् भङ्गुरः। यदि तु हासेनाधरसितीकरणद्वारा तदरुणिम्नो बाधस्तदा तत्राप्यपरस्तद्गुणः।" (रसगङ्गाधर) साथ ही 'सितेन' 'सितेन' में यमक शब्दालङ्कार भी है। (क) अरुणिम्ना—अरुणस्य भावः अरुणिमा (अरुण् + इमनिच्) तेन अरुणिम्ना। (ख) पक्ष्मलाक्ष्याः—पद्मले इव अक्षिणी यस्याः सा पक्ष्मलाक्षी। तस्याः पक्ष्मलाक्ष्याः। (पद्म + लच्) सुन्दर बरौनियों से युक्त आँखो वाली। 'पक्ष्माक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि। इत्यमरः। (ग) जातपक्षः—जातः पक्षः यस्य स जातपक्षः। 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'कालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है—'विषमे ससजा यदा गुरूचेत् सभरा येन तुं 'कालभारिणीयम्'। (छन्दोमञ्जरी) ॥९८॥

सरसिरुहोदरसुरभावधरितबिम्बाधरे मृगाक्षि ! तव।
[1]वदने शुचिमणिरदने ताम्बूलङ्केन लक्षयेम वयम् ॥ ९९ ॥

अन्वयः—हे मृगाक्षि ! वयम् सरसिरुहोदरसुरभौ, अधरितबिम्बाधरे शुचिमणिरदने तव वदने ताम्बूलम् केन लक्षयेम।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मृगनयनी ! हम लोग कमल की भीतरी सुगन्धिवाले, बिम्बफल को नीचा दिखाने वाले अधर वाले, स्वच्छ मणि के सदृश दाँतों वाले तुम्हारे मुख में पान को कैसे जाने।

व्याख्या—कोई नायिका अपने प्रियतम से मिलने गई। प्रियतम ने उससे पान खाने के लिये निवेदन किया। नायिका ने उत्तर दिया मैं तो अभी-अभी पान खाये चली आ रही हूँ। इस पर नायक की यह उक्ति है। यहाँ अधर की अरुणिमा और पान की अरुणिमा में इतना अधिक सादृश्य रहा कि नायकजीको दोनों में अभेद दिखाई पड़ने लगा। इस प्रकार यहाँ अत्यन्त सादृश्यवश भेद के दिखाई न पड़ने से 'मीलित' अलङ्कार है। लक्षण है—'मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते"। (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ कहीं यदि अत्यधिक सादृश्य के कारण भेद नहीं दिखाई पड़ता वहाँ पर 'मीलित' अलङ्कार स्वीकार कियाजाता है (क) सरसिरुहोदरसुरभौ—सरसि रोहतीति सरसि

१. "वद वदने मणिरदने" इति पाठान्तरम्।

रुहम् । कमलमित्यर्थः । सरसिरुहस्योदरं सरसिरुहोदरम् । तस्य सुरभिरिव सुरभिः यस्मिन् तत् सरसिरुहोदरसुरभिः । तस्मिन् सरसिरुहोदरसुरभौ । (ख) अधरिततबिम्बाधरे—अधरितः बिम्बः येन स अधरितबिम्बः । अधरितबिम्बः अधरः यस्मिन् तत् अधरितबिम्बाधरम् । तस्मिन् अधरितबिम्बाधरे । (ग) मृगाक्षि—मृगस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा मृगाक्षी । तत्सम्बुद्धौ हे मृगाक्षि । (घ) शुचिमणिरदने—शुचयः मणयः शुचिमणयः । शुचिमणय इव रदनाः यस्मिन् तत शुचिमणिरदनम् तस्मिन् शुचिमणिरदने । इसमें कविने गीतिवृत्त का प्रयोग किया है—"आर्या प्रथमार्द्धसम यस्याम् अपरार्धमाह तां गीतिम्" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ९९ ॥

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्त्तुमहो ! मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजम्दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥१००॥

अन्वयः—सविधे शयिता अपि दयिता मनोरथान् सफली कर्त्तुम् अनीश्वरा (सती) अहो दरमीलन्नयना दयिताननाम्बुजम् निरीक्षते ।

हिन्दीरूपान्तर— (प्रियतम के) समीप में लेटी हुई भी प्रियतमा अभिलाषाओं को पूरी करने में असमर्थ होकर अहा ! कुछ कुछ आँखें बन्द किए हुए प्रियतम के मुखकमल को देख रही है ।

व्याख्या—कोई प्रियतमा अपने प्रियतम के पास लेटी हुई है, उसे सम्भोग की इच्छा सता रही है पर वह उसे पूर्ण नहीं कर पा रही । सम्भवतः प्रियतम सोया हुआ है अथवा सोने का स्वांग रचाये हुए है । अब प्रियतमाजी उत्सुक तो बहुत हैं पर खुल के देखने में शरमाती भी है कहीं प्राणप्यारे ताड़ न लें । अतः आँखे कुछ कुछ बन्द किए देख रही हैं इस प्रकार कवि ने यहाँ सम्भोग शृङ्गार रस प्रस्तुत किया है । नायक आलम्बन है । एकान्त स्थान आदि उद्दीपन हैं । नायिका का कुछ कुछ आँखें बन्द करके देखना अनुभाव है । तथा कुछ कुछ देखने के कारण प्रकट हुई लज्जा तथा देखने की इच्छा होने के कारण प्रकट होने वाला औत्सुक्य व्यभिचारी भाव है ।जिससे सम्भोग शृङ्गार की निष्पत्ति होती है । साथ ही 'दयिताननाम्बुजम्' उपमा और रूपक का सन्देहसङ्कर भी है । (क) 'आसन्नं सविधं पार्श्वम्' इति हलायुधः । बगल में, पास में । (ख) 'वाञ्छितोऽर्थो मनोरथः'—इति च हलायुधः । तान् मनोरथान् । (ग) सफलीकर्त्तुम्—असफलान् सफलान् कर्त्तुमिति सफलीकर्त्तुम् (अभूततद्भावे च्विः) (सफल + च्वि + कृ + तुमुन्) । (घ) दयिताननाम्बुजम्—दयितस्याननं दयिताननम् । दयिताननमेवाम्बुजम् अथवा दयिताननमम्बुजमिव इति दयिताननाम्बुजम् । तत् दयिताननाम्बुजम् (ङ) दरमील-

न्नयना—दरेषत् मीलती नयने यस्याः सा दरमीलन्नयना। थोड़ा-थोड़ा आँखें-बन्द किये हुये। इसमें कवि ने सुन्दरी, वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण-है—'अयुजो यदि सौ जगौ युजोः सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी तथा।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०० ॥

किमिति कृशाऽसि कृशोदरि ! किन्तव परकीयवृत्तान्तैः ?
कथय तथापि मुदे मम कथयिष्यति पथिक ! तव जाया ॥१०१॥

अन्वयः—हे कृशोदरि ! किम् इति कृशा असि ? हे पथिक ! परकीय-वृत्तान्तैः तव किम् ? तथाऽपि मम मुदे कथय। तव जाया कथयिष्यति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ क्षीण कटिवाली ! किस लिए तू इतनी कमजोर है ? अरे राही ! दूसरे की स्त्री के वृत्तान्त से तेरा क्या (प्रयोजन) ? फिर भी मेरी खुशी के लिए तो बताओ, तुम्हारी पत्नी कहेगी।

व्याख्या—यह किसी पथिक और विरहिणी का परस्पर वार्तालाप है। यहां कवि ने 'उत्तर' नामक अलंकार उपनिबद्ध किया है। उत्तर का लक्षण है—

"उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात् प्रश्नादप्युत्तरं यत्र॥" (रुद्रट, काव्यालंकार)

अर्थात् जहां पर उत्तर के वचनों को सुनकर पहले के (अर्थात् प्रश्न के) वचनों का बोध हो जाता है वहां तथा जहां प्रश्न से भी उत्तर होता है वहां उत्तर अलंकार होता है। 'कुवलयानन्द' में इसी उत्तरालंकार को जरा और चमत्कारपूर्ण होने पर अलंकार स्वीकार किया गया है—"किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्" अर्थात् विना प्रश्न के दिया गया उत्तर अथवा प्रश्न-पूर्वक दिया गया उत्तर जहां किसी अभिप्राय से युक्त और गूढ होता है वहाँ उत्तरालंकार होता है। यहां राही ने पूछा—अरी कृशाङ्गी ! तू दुबली क्यों है ? इससे यह बात ध्वनित होती है कि अगर तू अपने दुबलेपन का कारण बताये तो मैं उसका प्रतीकार करूँ। नायिका ने उत्तर दिया तुम्हें दूसरे की स्त्री का वृत्तान्त जानने से क्या वास्ता ? इससे यह बात ध्वनित होती है कि मैं पतिव्रता हूँ, मुझे परपुरुष से अपना दुःख न बताना चाहिए और तुम मेरे दुःख का प्रतीकार भी नहीं कर सकते। परन्तु परोपकारपरायण पथिक जी को इस उत्तर से सन्तोष न मिला उन्होंने फिर पूछा कि अच्छा तुम वैसे नहीं बताना चाहती तो ठीक, परन्तु मेरी खुशी के लिए तो बता दो ? इससे ध्वनित होता है कि अरी भोली ! तू क्यों व्यर्थ पातिव्रत्यधर्म के चक्कर में पड़ती है वह तो नादानों का स्वभाव है, मनुष्य को अपना सन्तोष और दूसरे का सन्तोष देखना चाहिये। यही संसार का रहस्य है। अतः व्यर्थ की चिन्ता छोड़ मुझ से बताओ कि तुम क्यों

दुबली हो ? जब नायिका ने देखा कि ये मिस्टर परोपकारीजी अब ऐसे मानने वाले नहीं तो जवाब दिया कि श्रीमान्‌जी आपकी धर्मपत्नीजी इसका जवाब देगी। इससे ध्वनित होता है कि जिस तरह से मेरा प्रियतम परदेश गया हुआ है मैं दुबली हो रही हूँ उसी तरह तुम्हारी स्त्री भी तुम्हारे वियोग में क्षीण हो गई होगी मेरा उपकार करने को छोड़ उसका उपकार करो। पहले अपने घर की आग तो बुझा लो फिर दूसरे के घर लगी आग बुझाने दौड़ो। और यदि इतने परोपकारी हो कि अपना घर जलता छोड़ दूसरे का बुझाने दौड़ते हो तो मेरी ही तरह तुम्हारी पत्नी को भी किसी दूसरे से उपकार करवाना चाहिये। इसलिये महाशय जी आप मेरी फिक्र छोड़िये अपनी पतिव्रता पत्नी की चिन्ता कीजिये। इस प्रकार यहां पहले प्रश्न फिर उत्तर दिया गया है। अतः यहां 'उत्तरालंकार' है। (क) कृशोदरि—कृशमुदरं यस्याः सा कृशोदरी। तत्सम्बुद्धौ कृशोदरि। 'कृशं क्षीणं पेलवं तलिनम् तनु' इति हलायुधः। (ख) परकीयवृत्तान्तैः—परस्येयं परकीया। परकीयानां वृत्तान्तः परकीयवृत्तान्तः। तैः परकीयवृत्तान्तैः। 'वार्त्तोदन्तः प्रवृत्तिश्च वृत्तान्तः' इति हलायुधः। (ग) जाया—'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी भार्या जाया' इत्यमरः। इस पद्य में कवि ने 'उपगीति' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्या परार्द्धतुल्ये दलद्वये प्राहुरुपगीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०१ ॥

'वदनारविन्दसौरभलोभादिन्दिन्दिरेषु निपतत्सु।
मय्यधरार्थिनि सुदृशो दृशो जयन्त्यतिरुषा परुषाः ॥१०२॥

अन्वयः—वदनारविन्दसौरभलोभात् इन्दिन्दिरेषु निपतत्सु अधरार्थिनि मयि अतिरुषा परुषाः सुदृशः दृशः जयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—मुखकमल की सुगन्ध की लालच से भँवरों के मंडराते समय अधर (चुम्बन) के प्रार्थी मुझ पर अत्यन्त क्रोध के कारण सुनयना की कठोर निगाहें सर्वोत्कृष्ट हैं।

व्याख्या—यहाँ कवि ने नायिका के मुख रूप कमल की सुगन्ध के लोभ से भौंरों के मंडराने का वर्णन किया है जिससे भ्रमरों की नायिका के मुख में कमल की भ्रान्ति ध्वनित होती है। अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलङ्कार की ध्वनि मानना उचित है। साथ 'वदनारविन्द' में रूपक अलंकार वाच्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। भ्रान्तिमान् का लक्षण है—

'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः'। (साहित्यदर्पण)

(क) वदनारविन्दसौरभलोभाद्—वदनमेवारविन्दं वदनारविन्दम्।

---

१. "वदनारविन्दसौरभादिन्दिरेषु" इति पाठान्तरम्।

तस्य सौरभं वदनारविन्दसौरभम्। तस्य लोभः वदनारविन्दसौरभलोभः। तस्मात् तथोक्तात्। 'अरविन्दं महोत्पलं सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः। सुरभेः भावः सौरभम् (सुरभि + अण्) सुगन्धः इत्यर्थः। (ख) इन्दिन्दिरेषु—भ्रमरेषु। 'इन्दिन्दिरालि षट्चरणचञ्चरीकालिनो द्विरेफाः स्युः' इति हलायुधः भावे सप्तमी। (ग) निपतत्सु—(नि + पत् + शतृ + सुप्)। (घ) अधरार्थिनि—अधरस्यार्थी अधरार्थी। तस्मिन् अधरार्थिनि। (ङ) सुदृशः—सुशोभने दृशौ यस्याः सा सुदृक्। तस्याः सुदृशः। सुनयना इत्यर्थः। (च) अतिरुषा अतिकोपेनेत्यर्थः। अत्यन्त क्रोध के कारण। हेतौ तृतीया। इसमें आर्यावृत्त प्रयुक्त है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" ॥ १०२ ॥

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरम्मदीयां सौदामिनीयां सुषमामयासीत् ॥ १०३ ॥

अन्वयः—बाला आलीषु केलीरभसेन मुहुः मम आलापम् उपालपन्ती (सती) आरात् मदीयाम् गिरम् उपाकर्ण्य सौदामिनीयां सुषमाम् अयासीत्।

हिन्दीरूपान्तर—(मेरी) प्रियतमा सखियों के बीच क्रीडा के जोरों पर होने के कारण बार-बार मेरे सम्भाषण का अनुकरण करती हुई पास में मेरी आवाज़ सुनकर बिजली की शोभा को प्राप्त हो गई (अर्थात् चुप हो कर वहां से खिसक गई)।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा के विषय में अपने मित्र से बता रहा है। कि एक समय मेरी प्रियतमा अपनी सखियों के सामने हास-परिहास करती हुई मेरी बातों को जैसी कि मैं उससे किया करता था उसी ढङ्ग से बार बार मजाकिया तौर पर कह रही थी कि मैं पहुँच गया और जैसे ही उसने मेरी आवाज सुनी बिलकुल चुप हो गई और भाग निकली। यहाँ पर नायिका द्वारा की जाती हुई अपनी बातों का प्रियतम द्वारा सुन लिया जाना विभाव है, तथा चुप होकर भाग जाना अनुभाव है जिससे नायिका गत 'व्रीडा' भाव व्यञ्जित होता है अतः यहाँ 'व्रीडा' भाव ध्वनि है। यद्यपि पण्डितराज ने यहाँ पर यह दलील पेश करते हुए नायक की प्रियतमा बाला है अतः बाला के अन्दर लज्जा का मानना उतना समीचीन नहीं जितना कि 'त्रास' का। अतः यहाँ पर 'त्रास' भाव ध्वनि है। परन्तु पण्डितराज का केवल 'बाला' पद के कारण 'त्रास भावध्वनि' दिखाना समीचीन नहीं प्रतीत होता। (क) आलीषु—सखीषु। 'वयस्याली सखी स्मृता' इति हलायुधः। (ख) केलीरभसेन—केल्याः रभसः वेगः केलीरभसस्तेन केलीरभसेन। 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वप्रकाशः।

(ग) बाला—'बालेति गीयते नारी यावत्षोडशवत्सरम्' (घ) आरात्—समीपे। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। (ङ) मदीयाम्—ममेयं मदीया। (अस्मद्+छ) तां मदीयाम्। (च) सुषमाम्—'सुषमा परमा शोभा इत्यमरः। ताम्। इस पद्य के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का तथा द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने से 'उपजाति' वृत्त है ॥ १०३ ॥

प्राणापहरणेनासि तुल्यो हालाहलेन मे।
शशाङ्क! केन मुग्धेन सुधांशुरिति भाषितः॥ १०४ ॥

अन्वयः—हे शशाङ्क! मे प्राणापहरणेन (त्वम्) हालाहलेन तुल्यः असि। केन मुग्धेन सुधांशुः इति भाषितः।

हिन्दीरूपान्तर—अरे चन्द्रमा! मेरे प्राणों को छीन लेने के कारण तू विष के समान है। (पता नहीं) किस बुद्धू ने (तुम्हें) सुधांशु (अमृत किरणों वाला) ऐसा कह दिया है।

व्याख्या—कोई विरहिणी नायिका चन्द्रमा को सम्बोधन करके कहती है कि तुझे जिसने सुधांशु' कहा वह निश्चय ही बड़ा भोला था। अमृत का काम है प्राणदान और उसके विपरीत तेरा काम है प्राणों को छीन लेना जो कि जहर का काम है। इस लिये तुझे कम से कम मैं तो जहर की तरह ही समझती हूँ। यहाँ पर कवि ने पूर्णोपमा प्रस्तुत की है वह भी आर्थी एवं वाक्यगता। चन्द्रमा उपमेय है, जहर उपमान है, प्राणापहरण साधारणधर्म है और तुल्य वाचक शब्द है। चूंकि यहाँ तुल्य शब्द उपमान के साथ समस्त नहीं है अतः वाक्यगता उपमा है। तथा तुरन्त ही इव आदि की तरह सादृश्य की प्रतीति नहीं करा पाता अतः आर्थी उपमा हुई। इस प्रकार इस पद्य में पूर्णा आर्थी वाक्यगता उपमा अलंकार है। (क) प्राणापहरणेन—प्राणानामपहरणं प्राणापहरणम् (अप+हृ+भावे ल्युट्) तेन प्राणापहरणेन। (ख) शशाङ्कः—शशः अंके यस्य सः शशांकः। तत्सम्बुद्धौ हे शशांक। हे चन्द्र इत्यर्थः। प्राणापहरणेन इत्यत्र 'हेतौ' (२।३।२३) इति सूत्रेण तृतीया 'हालाहलेन' इत्यत्र तु तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' (२।३।७२) इति तृतीया (ग) सुधांशुः—सुधायुक्ता अंशवः यस्य स सुधांशुः। 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः विधुः सुधांशुः, इत्यमरः। (घ) 'मुग्धस्तु सुन्दरे मूढे' इति मेदिनी। यहाँ मुग्ध का अर्थ मूढ है। इसमें 'अनुष्टुप्' वृत्त है ॥ १०४ ॥

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां
सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-
रथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥ १०५ ॥

अन्वयः—हे सहचरि ! दैववशेन यदवधि दयितः विलोचनाभ्याम् दूरतः अभूत् अथ तदवधि मदीयैः करणैः निजक्रियासु प्रणयः शिथिलीकृतः ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सखी ! भाग्यवश जब से प्रियतम आँखों से दूर हुए हैं उसके बाद तभी से मेरी इन्द्रियों ने अपने-अपने कार्यों में रुचि कम कर दिया है ।

व्याख्या—कोई नायिका जिसका प्रियतम परदेश चल गया है, अपनी सहेली से कह रही है जब से प्राणेश परदेश चले गए हैं हमारी सभी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गई है कि अपने कामों में जो रुचि उनकी प्रियतम की मौजूदगी में थी अब वह बहुत कम हो गई है इस प्रकार यहाँ नायिकागत 'जडता' व्यभिचारी भाव अभिव्यक्त होता है । जडता का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

"अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींम्भावादयस्तत्र ॥"

अर्थात् इष्ट तथा अनिष्ट के देखने, सुनने से जो चित्त के अन्दर एक प्रकार की किंकर्त्तव्यविमूढता (अप्रतिपत्ति) सी उत्पन्न हो जाती है उसे जडता कहते हैं। इसमें एकटक देखते रहना अथवा चुप हो जाना आदि कार्य होते हैं । प्रस्तुत पद्य में प्रियतम के विदेश गमन से उत्पन्न अनिष्ट विरह विभाव है आँख, कान, हाथ आदि इन्द्रियों का अपने कार्यों में रुचि कम कर देना अनुभाव है जिनसे 'जडता' अभिव्यक्त होती है । अतः यहाँ 'जडता' भावध्वनि स्वीकार की जायगी । (क) सहचरि—सह चरति या सा सहचरी (सह + चर् + अच् + ङीप्) तत्सम्बुद्धौ सहचरि । सखि इत्यर्थः । 'भवेत् सहचरो श्लिष्टयां वयस्यं प्रतिबिम्बके' इति विश्वप्रकाशः । (ख) शिथिलीकृतः—अशिथिलः शिथिलः कृतः इति शिथिलीकृतः (अभूततद्भावेच्विः) (ग) करणैः—इन्द्रियैरित्यर्थः । 'करणं साधनक्षेत्रकायकायस्थकर्मसु । गीताङ्गहारसंवेशक्रिया भेदेन्द्रियेषु च' इति विश्वप्रकाशः । इसमें कवि ने 'औपच्छन्दसिक' वृत्तका प्रयोग किया है । उसका लक्षण है—"तत्रैवान्तेऽधिके गुरौ स्यादौपच्छन्दासिकं कवीन्द्रहृद्यम् । "(छन्दोमञ्जरी) 'तत्रैव' से तात्पर्य वैतालीय छन्द से है । वैतालीय का

लक्षण है—'षड्विषमेऽष्टौ समे कला तांश्च समे स्युर्नो निरन्तराः। न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः। (छन्दोमञ्जरी)॥ १०५॥

निखिलां रजनीम्प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता कथाभिः।
अधिकन्नहि पारयामि वक्तुं सखि! माजल्प तवायसी रसज्ञा॥१०६॥

अन्वयः—दूरात् उपयातेन प्रियेण कथाभिः निखिलां रजनीं विबोधिता अधिकं वक्तुम् न हि पारयामि (अतः) हे सखि! मा जल्प, तव रसज्ञा आयसी (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—दूर से लौटे हुए प्रियतम के द्वारा बातों ही बातों में सारी रात जगाई गई मैं अधिक बोलने में नहीं समर्थ हूँ। (इस लिये) हे सखी! बड़बड़ा मत, तेरी जीभ (तो) लोहे की बनी हुई है।

व्याख्या—किसी नायिका का प्रवासी पति घर आया था। प्रवास से लौटने पर पहली बार मिलने के कारण रात भर प्रेम, विरह, कुशल मंगल आदि की बातें करता रहा जिससे वह रात भर सो नहीं सकी अब सवेरे आलस्य ने उसे घेर रखा है। लेकिन उसकी सखी बार-बार उससे पूछती है कि अच्छा बताओ प्रियतम ने तुमसे क्या कहा। तुमने उनसे क्या कहा इत्यादि पर, नायिका को बोलने में होती है तकलीफ इसी लिए अपनी सखी से चुप रहने को कहती है और अधिक बड़बड़ाने के कारण उसको जीभ को लोहे की बनी हुई कहती है। यहाँ नायिका का 'आलस्य' भाव ध्वनित होता है लक्षण है—

"अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या-चेतसः क्रियानुन्मुखताऽऽलस्यम्(रसगंगाधर)

अर्थात् अत्यन्त तृप्ति, गर्भ, रोग और परिश्रम के कारण उत्पन्न होने वाला क्रियाओं के प्रति हृदय की उन्मुखता का अभाव 'आलस्य' कहलाता है। यहाँ रातभर जगना विभाव है, ज्यादा बोलने में असमर्थ होना अनुभाव है जिससे नायिका का 'आलस्य' भाव ध्वनित होता है (क) "निशा च दोषा रजनी च यामिनी" इति हलायुधः। (ख) आयसी—लौहनिर्मितेत्यर्थः अयसः इयमायसी (अयस्+अण+ङीप्) 'लोहं कालायसं तथा शस्त्रं तीक्ष्णमयः' इति हलायुधः। (ग) रसज्ञा—रसं जानातीति रसज्ञा (रस+ज्ञा+क+टाप) 'रसज्ञा रसना जिह्वा इत्यमरः। इसमें भी कवि ने 'औपच्छन्दसिक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में दिया जा चुका है॥ १०६॥

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम्।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः॥ १०७॥

अन्वयः—मृगीदृशः निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम् नयननीलाब्जम् कदा आलोकेय?

हिन्दीरूपान्तर—मृगनैनी के गिरते हुए आंसुओं के अवरोध के कारण समाप्त हो गई चञ्चलता वाली पुतलियों वाले नेत्र रूपी नीलकमल को मैं (न जाने) कब देख सकूँगा।

व्याख्या—यह किसी विरही नायक की उक्ति है। वह जिस समय घर से परदेश चलने को तैयार हुआ था उस समय उसके विरह की कल्पना से यद्यपि उसकी प्रियतमा को रुलाई आ रही थी फिर भी चूंकि आँसू आदि का गिराना यात्रा के समय में अपशकुन माना गया है अतः उन्हें उसने रोकरखा था और रोकने के कारण उसकी पुतलियाँ बिल्कुल स्थिर हो गई थी। उसी की नायक को याद आ रही है, वह उससे जल्दी ही मिलना चाहता है, उसे देखना चाहता है पर करे क्या समय नहीं बीत रहा है इसीलिए सोचता है कि कब देख सकूँगा?'। यहाँ नायक गत 'औत्सुक्य भाव' ध्वनित होता है। प्रियतमा का विरह और उसकी स्मृति विभाव हैं, चिन्ता तथा लम्बी सांसें आदि (जिनका अनुमान होता है) अनुभाव है और उनके द्वारा नायकगत 'औत्सुक्य' भाव ध्वनित होता है। औत्सुक्य का लक्षण है—

"इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता।
चित्ततापत्वरा स्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत्॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति न होने के कारण विलम्ब को सहन न कर सकना औत्सुक्य होता है। इसमें हृदय में सन्ताप, जल्दबाजी, पसीना, लम्बी सांसों आदि का भरना पाया जाता है। (क). निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम्—निपतद् बाष्पं निपतद्बाष्पम्। निपतद्बाष्पेन संरोधः निपतद्बाष्पसंरोधः। मुक्तं चाञ्चल्यं (चञ्चलस्य भावः चाञ्चल्यम्) येन तत् मुक्तचाञ्चल्यम्। निपतद्बाष्पसंरोधेन मुक्तचाञ्चल्यं निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यम्। निपतद् बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यं तारकं यस्मिन् तत् निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम्। तारकं कनीनिका इत्यर्थः। 'दृशि तारकं कनीनिकायां. नक्षत्रे तारकं तारकेति च' इति विश्वप्रकाशः। द्वितीयैकवचनम्। (ख) नयननीलाब्जम्—नीलमब्जं नीलाब्जम्। नयनमेव नीलाब्जम् (इति रूपकसमासः) नयनम् नीलाब्जमिव (इत्युपमासमासो वा) नयननीलाब्जम्। (ग) मृगीदृशः—मृग्याः दृशौ यस्याः सा मृगीदृक्। तस्याः मृगीदृशः। हरिणीनयनायाः इत्यर्थः। धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया है ॥१०७॥

यदि लक्ष्मण! सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किम्फलम्?॥१०८॥

अन्वयः—हे लक्ष्मण! यदि सा मृगेक्षणा मदीक्षासरणिम् न समेष्यति

अमुना जडजीवितेनवाविफलेन जगता मे किम् फलम् (भविष्यति) ।

हिन्दीरूपान्तर—हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगनयनी (सीता) मेरे दृष्टि पथ में नहीं आयेगी तो इस जड जीवन अथवा विरुद्ध फलवाले संसार से मेरा क्या प्रयोजन होगा ?

व्याख्या—जिस समय रावण सीता जी को हर ले गया था उनके वियोग में वन-वन घूमने वाले व्याकुल राम की लक्ष्मण से यह उक्ति है। राम को बड़ी ग्लानि महसूस हो रही है कि अगर सीता न मिली तो संसार हमें क्या कहेगा, यही न कि बड़ा पुरुषार्थी बनता था पर अपनी स्त्री की भी रक्षा न कर सका। सीता क्या कहेगी, यही न हमारे प्रति बड़ा प्रेम का दावा करते थे पर अब मेरी खबर ही नहीं ले रहे हैं इत्यादि। इस प्रकार की बातों से राम अपने को धिक्कार रहे है। उन्हें अपना जीवन और जगत सभी कुछ निःसार दिखाई पड़ता है। अतः यहाँ राम गत 'निर्वेद' व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति होती है। निर्वेद का लक्षण है—

"नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेपव्याधिताडनदारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद्दर्शनादिभिरुत्तमेषु त्ववज्ञादिनिर्जनिता विषयद्वेषाख्या रोदनदीर्घश्वासदीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः।" (रसगङ्गाधर)

अर्थात् नीच पुरुषों में गाली तिरस्कार, रोग, मारपीट, दरिद्रता, इष्ट विरह एवं दूसरे की सम्पत्ति देखने आदि के कारण तथा उत्तम पुरुषों में अवज्ञा आदि के कारण उत्पन्न होने वाली, लम्बी सांसों एवं मुख पर दीनता आदि को जन्म देने वाली विषयद्वेष नाम की चित्तवृत्ति को निर्वेद कहते है। (क) मृगेक्षणा—मृगस्येक्षणे इवेक्षणे यस्याः सा मृगेक्षणा। मृगनयनीत्यर्थः। धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा। (ख) मदीक्षासरणिम्—ईक्षणमीक्षा (ईक्ष + अ + टाप्) ईक्षायाः सरणिः ईक्षासरणिः। दर्शनमार्ग इत्यर्थः। 'अयनं वर्त्म-मार्गाध्वपन्थानः पदवीसृतिः सरणिः' इत्यमरः। मम ईक्षासरणिः मदीक्षासरणिः। तां मदीक्षासरणिम्। (ग) जडजीवितेन—जडं जीवितम् जडजीवितम्। तेन जडजीवितेन। (ग) विफलेन—विरुद्धं फलं यस्य तत् विफलम्। तेन विफलेन। इसमें कवि ने 'सुन्दरी' वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी वदा" । (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०८ ॥

भवनङ्करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥१०९॥

अन्वयः—भवनं विशन्ती करुणावती बाला पथि गमनाज्ञालवलाभलालसेषु तरुणेषु अथ विलोचनाब्जमालाम् पातयाम्बभूव।

हिन्दीरूपान्तर—घर में घुसती हुई कृपालु तरुणी ने रास्ते में जाने की थोड़ी-सी आज्ञा पाने के इच्छुक जवानों पर बाद में नयन कमलों की पंक्ति गिरा दिया।

व्याख्या—कोई षोडष वर्षीया बाला कहीं से अपने घर की ओर जा रही थी। रास्ते में अपने को 'हीरो' का दावा भरने वाले कुछ मनचले जवान उस पर लट्टू हो गए। बस क्या था चल पड़े ? उसके पीछे-पीछे कृपापात्र बनने के लिए। देवीजी भी कुछ कम न थी। बड़ी ही कृपालु (करुणावती) थी, दया की सागर। कैसे किसी को। कृपा प्रसाद न देकर निराश करतीं, जब कि बेचारे बहुत दूर से उसी के लिए पीछे पड़े हुए थे। आखिर घर में घुसते सबकी ओर तिरछी नजरों से देखकर कृपा कर ही दिया। इस प्रकार यहाँ एक नायिका का अनेक तरुणों पर कटाक्षपात करना, जो कि अनुभाव रूप है, उसके अनेक नायकगत रतिभाव को व्यञ्जित करता है। परन्तु वह रति यहाँ रस रूप न होकर 'रसाभास' रूप है क्योंकि रसाभास का लक्षण है—

'अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभासो रसभावयोः। (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ रस और भाव अनौचित्य से प्रवृत्त होते है वहाँ क्रमशः रस न होकर रसाभास तथा भाव न होकर भावाभास होता है। यहाँ चूंकि एक नायिका की अनेक नायकों के विषय में रति वर्णित है, अतः वह अनुचित है, जैसा कि 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है—

"उपनायकसंस्थायाम्मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे-तद्वदधमपात्रतिर्य्यगादिगते (शृङ्गारोऽनौचित्यम्)।

अर्थात् शृङ्गाररस में अनौचित्य वहां होता है जहां नायिका का अनुराग नायक से भिन्न किसी उपनायक में वर्णित होता है। अथवा नायक का मुनि या गुरुपत्नी के प्रति अनुराग वर्णित होता है, या एक नायिका का अनेक नायकों के विषय में अनुराग वर्णित होता है। अथवा अनुराग नायक-नायिका दोनों में न होकर किसी एक से होता है या कि 'नायिका का अनुराग प्रति-नायकनिष्ठ होता है अथवा जहां पर अधमपात्रों अथवा पक्षी आदिक में अनुराग का वर्णन किया हुआ होता है इस प्रकार यहां पर नायिका की रति के अनेक नायकनिष्ठ होने के कारण 'शृङ्गाराभास' ध्वनि है। (क) करुणा-वती—करुणा अस्त्यस्या इति करुणावती (करुणा + मतुप् + ङीप्) 'कृपायां करुणा मता' इति विश्वप्रकाशः। (ख) विशन्ती—(विश् + प्रवेशने + शतृ + ङीप्। (ग) गमनाज्ञालवलाभलालसेषु—गमनस्याज्ञा गमनाज्ञा

(गम् + ल्युट् गमन) गमनाज्ञायाः लवः (लेशः) गमनाज्ञालवः । 'लवो-लेशे विनाशे च छेदने रामनन्दने' इति विश्वप्रकाशः । गमनाज्ञालवस्य लाभः गमनाज्ञालवलाभः । तस्य लालसा येषु ते गमनाज्ञालवलाभलालसाः । तेषु गमनाज्ञालवलाभलालसेषु । लालसा औत्सुक्यम् । 'लालसाऽपि स्याद् याच्चातृष्णातिरेकायाः औत्सुक्ये च' इति विश्वप्रकाशः । (घ) विलोचनाब्जमालाम्—विलचनेऽब्जमिव विलोचनाब्जम् । तयोः माला विलोचनाब्जमाला । तां विलोचनाब्जमालाम् । इसमें कवि ने कालभारिणीवृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरुचेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १०९ ॥

पापं हन्त ! मया हतेन विहितं सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना बत ! वने किञ्जीवितन्धास्यति ?
आलोकेय कथम्मुखं सुकृतिनाङ्किन्ते वदिष्यन्ति मां
राज्यं यातु रसातलम्पुनरिदन्न प्राणितुङ्कामये ॥ ११० ॥

अन्वयः—हन्त ! मया हतेन पापं विहितं यत् सीता अपि यापिता । बत ! सा इन्दुमुखी किम् माम् विना वने जीवितम् धास्यति ? (अहम्) सुकृतिनाम् मुखम् कथम् आलोकेय ? ते माम् किं वदिष्यन्ति ? इदं राज्यम् पुनः रसातलं यातु (अहम्) प्राणितुम् न कामये ।

हिन्दीरूपान्तर—हाय ! मुझ अभागे ने पाप किया जो सीता को भी (घर से) निकाल दिया । आह ! वह चन्द्रमुखी क्या मेरे विना वन में प्राण धारण करेगी ? मैं पुण्यात्माओं का मुंह कैसे देख सकूंगा ? वे मुझे क्या कहेंगे ? यह राज्य फिर रसातल को चला जाय, मैं जीवित रहना नहीं चाहता ।

व्याख्या—यह सीता को निर्वासित कर देने के बाद का राम का कथन है । यहां कवि ने रामगत अनेकों भावों का मिश्रण प्रस्तुत किया है । अतः यहां 'भावशबलता' ध्वनि स्वीकार की जायगी । 'हाय ! मुझ अभागे ने' के द्वारा 'असूया', 'पाप किया' से 'मति', 'सीता को भी निकाल दिया' से 'विषाद' 'वह चन्द्रमुखी' से 'स्मृति', 'क्या मेरे विना वन में प्राणधारण करेगी' से 'वितर्क', 'मैं पुण्यात्माओं का मुंह कैसे देख सकूंगा ?' से 'लज्जा' 'वे मुझे क्या कहेंगे ?' से 'शङ्का' तथा 'यह राज्य फिर रसातल को चला जाय, मैं जीवित नहीं रहना चाहता से 'निर्वेद' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है । अतः यहां अनेक भावों का मिश्रण होने से 'भावशबलताध्वनि' है । उक्त व्यभिचारी भावों के लक्षण रसगङ्गाधर में इस प्रकार दिए गए हैं—१. असूया—"परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया ।" अर्थात्

दूसरे का उत्कर्ष देखने आदि से उत्पन्न होनेवाली और दूसरे की निन्दा आदि की कारणस्वरूपा एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'असूया' है। (२) मति—"शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणम्मतिः। "अर्थात् शास्त्र इत्यादि के विचार से उत्पन्न होनेवाला किसी बात का निश्चय 'मति' कहा जाता है। (३) विषाद—'इष्टासिद्धिराजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः।" अर्थात् अभीष्ट की सिद्धि न होने से और राजा तथा गुरु आदि के अपराध आदि से होनेवाला पश्चात्ताप 'विषाद' कहा जाता है। (४) स्मृति—"संस्कारजन्य-ज्ञानं स्मृतिः।" अर्थात् वस्तुओं के देखने सुनने आदि से हृदय में जमे हुये संस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है। (५) वितर्क—'सन्देहाद्यनन्तरञ्जायमान ऊहो वितर्कः।" अर्थात् सन्देह आदि के उपरान्त उत्पन्न होनेवाला तर्क 'वितर्क' कहा जाता है। (६) लज्जा—'स्त्रीणां पुरुष-मुखावलोकनादेः पुंसाञ्च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणी-भूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।" अर्थात् स्त्रियों में पुरुषों का मुँह देखने आदि से तथा पुरुषों में प्रतिज्ञाभङ्ग एवं पराभव आदि से उत्पन्न होने वाली विवर्णता तथा अधोमुखता आदि को उत्पन्न करने वाली एक विशेष प्रकार की चितवृत्ति का नाम 'व्रीडा' या 'लज्जा' है। (७) निर्वेद—नीच पुरुषेणाक्रोशनाधिक्षेप व्याधिताडनदारिद्र्येष्ट-विरह-परसम्पद्दर्शनादिभिरुत्तमेषु स्ववज्ञादिभिर्जनिता विषय-द्वेषाख्या रोदनदीर्घश्वासदीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः। अर्थात् नीच पुरुषों में गालियां मिलने, तिरस्कृत होने, रुग्ण होने, मारे जाने द्ररिद्र हो जाने, अभीष्ट की प्राप्ति न होने और दूसरे की सम्पत्ति देखने आदि से तथा उत्तम पुरुषों में अवज्ञा उत्पन्न हुई विषय द्वेष नाम की, रुलाई, लम्बी सांसों, चेहरे पर दीनता आदि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति को, 'निर्वेद' कहते है। (क) इन्दु-मुखी—इन्दुरिवमुखं यस्याः सा इन्दुमुखी। यहां पर 'हन्त' का प्रयोग विषाद अर्थ के वाचकरूप में और 'बत' का खेद के वाचकरूप में हुआ है। अमरकोश के कथन हैं—'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' तथा खेदानुकम्पासन्तोष-विस्मयामन्त्रणे बत। (ख) रसातलम्—रसायाः तलम् निम्नभागस्थलोकविशेषः। रसालतम्। रसातल पाताल लोक का एक भेद है। जैसा कि हलायुध कोश की टीका में शब्दमाल्य से उद्धृत किया गया है। 'अतलं वितलञ्चैव नितलञ्च तलातलम्। महातलञ्च सुतलं सप्तमञ्च रसातलम्। पातालभेदाः सप्तैव नामतः कीर्तिता अमी। तत्र पातालमेकैकं दशशाहस्रयोजनम्।" इसमें कवि ने 'शार्दूल-विक्रीडित वृत्त उपनिबद्ध किया है।

लक्षण है—

'सूर्य्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥११०॥

उषसि प्रतिपक्षकामिनी-
सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये ।
सुदृशो नयनाब्जकोणयो-
रुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥ १११ ॥

अन्वयः—उषसि, प्रिये प्रतिपक्षकामिनीसदनात् अन्तिकम् अञ्चति सुदृशः नयनाब्जकोणयोः त्वरया अरुणद्युतिः उदियाय ।

हिन्दीरूपान्तर—प्रातःकाल प्रियतम के सपत्नी के घर से पास आने पर सुनयना के नयनकमलों के दोनों कोरों में तुरन्त अरुण कान्ति उत्पन्न हो गई ।

व्याख्या—कोई नायक रात भर नायिका की सपत्नी के घर रहा और सवेरे उस नायिका के पास पहुँचा । उसको सपत्नी के घर से आते देखकर क्रोध के मारे उसकी आँखे लाल हो गई । यहाँ आखों का लाल हो जाना नायिका के अमर्षभाव को व्यक्त करता है । अमर्ष का लक्षण है—

"निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्ज्जनादिकृत् ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् निन्दा, आक्षेप तथा अपमान आदि के कारण उत्पन्न होने वाला और आखों में लालिमा, सिर में कँपकपी भ्रूभङ्ग तथा तर्जन आदि को उत्पन्न करने वाला चित्त का अभिनिवेश अमर्ष कहलाता है । प्रस्तुत पद्य में नायिका की सपत्नी के साथ रात बिताने से किया गया नायिका का अपमान विभाव है, आँखों का लाल हो जाना अनुभाव है जिससे नायिकागत अमर्ष व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है । अतः यहाँ अमर्ष भावध्वनि है । (क) प्रतिपक्षकामिनीसदनात्—प्रतिकूलः पक्षः यस्या सा प्रतिपक्षः । प्रतिपक्षा चासौ कामिनी च प्रतिपक्षकामिनी । सपत्नी इत्यर्थः । प्रतिपक्षकामिन्याः सदनं प्रतिपक्षकामिनीसदनम् । तस्मात् प्रतिपक्षकामिनीसदनात् । 'सदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः । (ख) 'समीपं सनीडं × × सन्निधानान्तिके सन्निकृष्टम्' इति हलायुधः । (ग) 'अञ्चति प्रिये' इत्यत्र' "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (२।३।३७) इति सप्तमी । (घ) नयनाब्जकोणयोः—नयनेऽब्जमिव नयनाब्जे । नयनाब्जयोः कोणौ नयनाब्जकोणौ । तयोः नयनाब्जकोणयोः । (ङ) त्वरया—सम्भ्रमेणेत्यर्थ (च) अरुणद्युतिः—अरुणा द्युतिः अरुणद्युतिः । 'कान्तिर्द्युतिः' इत्यमरः । इसमें कवि ने वैतालीय छन्द का प्रयोग किया है । लक्षण है—'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः (छन्दोमञ्जरी) ॥ १११ ॥

क्षमापणैकपद्यां पद्योः पतति प्रिये ।
शेमुः सरोजवदनानयनारुणकान्तयः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—प्रिये क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति सरोजवदनानयनारुण-कान्तयः शेमुः ।

हिन्दीरूपान्तर—क्षमापण के अद्वितीय स्थानभूत चरणों पर प्रियतम के गिर पड़ने पर कमलमुखी के नेत्रों की लाल कान्तियाँ शान्त हो गयीं ।

व्याख्या—कवि वर्णन कर रहा है किसी नायक की प्रियतमा नायक द्वारा किए गए किसी अपराध के कारण रूठी हुई थी । नायक ने तमाम कोशिशें की परन्तु किसी तरह उसका क्रोध कम न हुआ । आखिर सोचा कि अब एक ही रास्ता है कि नायिका के पैरों पर गिरकर माफी मांग ली जाय । और उसने जैसे ही वैसा किया नायिका का सारा रोब गायब हो गया इस प्रकार यहाँ पर कवि ने नायिकागत अमर्ष भाव की शान्ति व्यञ्जित की है । अमर्ष का लक्षण पिछले श्लोक में हम दे चुके हैं । इसमें नायिका या नायक की आँखें लाल हो जाती है । यहाँ कवि ने यह वर्णित किया कि उस कमलमुखी के नयनों की लाल कान्तियाँ शान्त हो गईं जिससे अमर्ष भाव की शान्ति ध्वनि होती है । (क) क्षमापणैकपदयोः—एकमेव पदमेकपदम् । अद्वितीयं स्थानमित्यर्थः क्षमापणस्य एकपदं क्षमापणैकपदम् । तयोः क्षमापणैकपदयोः । (ख) पतति प्रिये' इत्यत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) इति सप्तमीविभक्तिः । (ग) सरोजवदनानयनारुणकान्तयः—सरोजमिव वदनं यस्याः सा सरोज-वदना । सरोजवदनायाः नयने सरोजवदनानयने । अरुणाः कान्तयः अरुणका-न्तयः । सरोजवदनानयनयोः अरुणकान्तयः सरोजवदनानयनारुणकान्तयः । 'वदनं वक्त्रं लपनं मुखम्' इति हलायुधः । 'अव्यक्तरागस्त्वरुणः' इत्यमरः । इस श्लोक में कवि ने अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया ॥ ११२ ॥

निर्वासयन्तीन्धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः ।
चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव ॥११३॥

अन्वयः—अङ्गनानाम् धृतिम् निर्वासयन्तीं हरेः शोभाम् धयन्त्याः एण-दृशः चिरापराधस्मृतिमांसलः अपि रोषः क्षणप्राघुणिकः बभूव ।

हिन्दीरूपान्तर—रमणियों के धैर्य को दूर कर देने वाले श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का पान करती हुई मृगनयनी का दीर्घकाल के किये गए अपराधों के स्मरण से परिपुष्ट भी क्रोध क्षणभर का मेहमान हो गया ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने नायिका के रोष की शान्ति प्रतिपादित की है। नायिका को यद्यपि कृष्ण के द्वारा पहले किए गए अपराधों की याद से बहुत ही जोरों का गुस्सा था, लेकिन जब उसने उनका सौन्दर्य पान किया तो उसका सारा रोष मन का मन ही में रह गया। यहाँ पर हम अमर्ष भाव की शान्ति ध्वनि नहीं मान सकते क्योंकि रोष का शान्त होना वाच्य रूप में शब्दों द्वारा प्रतिपादित कर दिया गया है। यहां पर हम पर्य्यायोक्त अलङ्कार मान सकते है क्योंकि कवि ने 'रोष शान्त हो गया' इस बात को भङ्गयन्तर से 'रोष क्षण भर का मेहमान हो गया' इस रूप में कहा है। पर्य्यायोक्त का लक्षण है—"पर्य्यायोक्तन्तु गम्यस्य वचो भङ्गयन्तराश्रयम्।" (कुवलयानन्द)। साथ ही 'एणदृशः' में धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। (क) निर्वासयन्तीम्—निर्+वस्+णिच्+शतृ+नुम् ङीप्+अम्। (ख) धृतिम्—धैर्य्यम्। 'धृतिर्धारणधैर्य्ययोः' इत्यमरः। (ग) अङ्गनानाम्—प्रशस्तानि अङ्गानि यासां ताः अङ्गनाः। तासामङ्गनानाम्। (घ) एणदृशः—एणस्य दृशाविव दृशौ यस्या सा एणदृक् तस्या एणदृशः। मृगनयनायाः। 'एणः कुरङ्गो हरिणो मृगः स्यात्' इति हलायुधः। (ङ) चिरापराधस्मृतिमांसलः—चिरस्यापराधः चिरापराधः। तस्य स्मृतिः चिरापराधस्मृतिः। तया मांसलः चिरापराधस्मृतिमांसलः। (च) क्षणप्राघुणिकः—प्राघुणः एव प्राघुणिकः। (प्राघुण+स्वार्थं ठक्) अतिथिरित्यर्थः। 'प्राघुणकः आगन्तुरतिथिः। इति हलायुधः। क्षणं प्राघुणिकः क्षणप्राघुणिकः, क्षणभर का मेहमान। इस श्लोक के प्रथम, द्वितीय, और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण उपजाति वृत्त है॥ ११३॥

राज्ञो मत्प्रतिकूलान् मे महत् भयमुपस्थितम्।
बाले! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः॥ ११४॥

व्याख्या—हे बाले! मत्प्रतिकूलात् राज्ञः उपस्थितम् महत् भयम् मे पान्थस्य वासदानविधानतः वारय।

हिन्दीरूपान्तर—हे प्रियतमे! मेरे विपक्षी राजा (चन्द्र) से उपस्थित महान् भय को मुझ राही को निवास स्थान देकर के हटाओ।

व्याख्या—यह किसी राही की किसी तरुणी से उक्ति है। चन्द्रोदय के कारण प्रियाविरह में उसकी कामातुरता अत्यधिक उद्दीप्त हो उठी है वह उस तरुणी के साथ उपभोग करना चाहता है, इस बात को वह व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित करता है। उसने 'राजा' पद का प्रयोग किया है। राजा का अर्थ

चन्द्रमा भी होता है—"राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे" (अमरकोश)। यहाँ 'राजा' पद चन्द्र अर्थ प्रतिपादित करके इस वस्तु की व्यञ्जना करता है कि ऐ बाले! तू मुझे उपभोग दान देकर "मुझ विरही का चन्द्रमा से उत्पन्न भय दूर कर" अतः यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि है। यहाँ राजा पद में नृप और चन्द्रमा दोनों में से राजा को उपमान और चन्द्र को उपमेय मानकर उपमा अथवा दोनों का अभेद मानकर रूपक अलंकार की ध्वनि नहीं मानी जा सकती। 'राजा' शब्द का नृप अर्थ वस्तुतः अपने वास्तविक भाव को दूसरों से छिपाने के लिए ही किया गया है अन्य किसी प्रयोजन वश नहीं। इसलिए जब चन्द्र रूप अर्थ की प्रतीति हो जायगी तो राजा रूप अर्थ की प्रतीति नहीं अवशिष्ट रह जायगी। (क) मत्प्रतिकूलात्—मम प्रतिकूलः मत्प्रतिकूलः। तस्मात् मत्प्रतिकूलात्। मम विपक्षिणः इत्यर्थः। प्रतिकूल शब्द का यहाँ लाक्षणिक प्रयोग है। (ख) वासदानविधानतः—वासस्य दानं वासदानम्। 'वासो गेहेऽप्यवस्थाने' इति विश्वप्रकाशः। वासदानस्य विधानं वासदानविधानम्। तस्मात् वासदानविधानतः (तसिल्)। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ ११४॥

मलयानिलमनलीयति [1]मणिभवनङ्काननीयति क्षणतः।
विरहेण विकलहृदया निर्जलमीनायते महिला ॥११५॥

अन्वयः—विरहेण विकलहृदया महिला क्षणतः मलयानिलम् अनलीयति मणिभवनम् काननीयति, निर्ज्जलमीनायते।

हिन्दीरूपान्तर—विरह के कारण व्याकुलहृदय स्त्री क्षणभर में मलयसमीर को आग की तरह समझने लगती है, मोती महल को जङ्गल की तरह समझती है और जलविहीन मछली की तरह आचरण करती है।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने विरहिणी महिला का वर्णन प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि ने तीन उपमायें प्रस्तुत की हैं तीनों ही वाचकलुप्ता है। अर्थात् वाचक शब्दों का लोप है। पहली उपमा है महिला मलयानिल को अनल की तरह समझती है अर्थात् जिस प्रकार से आग उसे सन्ताप पहुँचाता है उसी प्रकार प्रियविरह के कारण मलयपवन भी उसे सन्ताप पहुँचा रहा है। यहां पर 'अनल-मिवाचरतीति' इस विग्रह में 'उपमानादाचारे (३।१।१०) सूत्र से द्वितीयान्त अनल शब्द से क्यच् प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार दूसरी उपमा मणिभवन को जङ्गल की तरह समझती है अर्थात् जैसे जंगल में अकेलापन भयावह प्रतीत होता है, यहाँ भी उपमानाचारे (३।१।१०) से 'काननमिवाचरति'

१. "मणिभवने काननीयति" इति पाठान्तरम्।

इस विग्रह में क्यच् प्रत्यय हुआ है। कुछ पुस्तकों में और रसगंगाधर में भी 'मणिभवनंकाननीयति' के स्थान पर मणिभवने काननीयति' पाठ मिलता है। उस दशा में यहाँ 'काननमिवाचरति' इस विग्रह में 'अधिकरणाच्च' वार्तिक से क्यच् प्रत्यय हो जायगा। अर्थ हो जायगा जिस प्रकार जंगल में रहने में भय बना रहता है उसी तरह मोतियों के महल में भी वह भयभीत रहती है। इसी तरह निर्ज्जल मीनायते में 'निर्ज्जलमीन' शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" (३।१।११) इस सूत्र से 'निर्ज्जलमीन इवाचरति' इस अर्थ में क्यङ् प्रत्यय हुआ है। अर्थात् जैसे बिना जल की मछली तड़पती है वैसे ही प्रियवियोग में महिला तड़पती है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर लुप्तोपमा के विषय में शास्त्रकारों में आपस में पर्याप्त वैमत्य है। कुछ आचार्य यहाँ 'वाचक लुप्ता' उपमा स्वीकार करते हैं, ऐसा मानने वालों में पण्डितराज जगन्नाथ भी हैं। इसी लिये हमने इसे पहले वाचक लुप्ता ही बताया है। उन लोगों का कहना है कि यहां आचार अर्थ में क्यच् या क्यङ् प्रत्यय होते हैं 'सदृश' आचार के अर्थ में नहीं उस सादृश्य का लक्षण या बोध होता है। अतः वाचक लुप्ता है। परन्तु साहित्य-दर्पणकार आदि यहाँ वाचक का लोप नहीं मानते बल्कि धर्म का लोप स्वीकार करते हैं उनके अनुसार पहली उपमा में 'सन्ताप पहुँचाना' रूप साधारण धर्म लोप होगा। द्वितीय उपमा में 'भयावह होना' रूप साधारण धर्म का लोप होगा। अतः धर्मलुप्तोपमा होगी। (क) मणिभवनम्—मिणिनिर्मितं भवनं मणि-भवनं अथवा मणीनां भवनं मणिभवनम्। (क) विकलहृदया—विकलं हृदयं यस्याः सा विकलहृदया। (ग) 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः। प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा' इत्यमरः इसमें कविने 'आर्या' वृत्तका प्रयोग किया है। लक्षण है—"यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या ॥ ११५ ॥

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद् विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालाम्बाला व्यालावलिङ्किलामनुते ॥११६॥

अन्वयः—कालागुरुद्रवम् नितरां हालाहलवद् विजानती सा बाला नीलो-त्पलमालामपि व्यालावलिम् किल आमनुते।

हिन्दीरूपान्तर—कालागुरु के रस को भरपूर जहर के समान समझती हुई वह प्रियतम नीलकमल की माला को भी सांपों की माला समझती है।

व्याख्या—किसी विरहिणी नायिका की सखी उसके प्रियतम से अथवा अपनी किसी अन्य सखी से उस नायिका की वियोगजन्य उन्मादावस्था का वर्णन करते हुये कह रही है। यहां वैसे विप्रलम्भश्रृंगार की अभिव्यक्ति तो होती ही है

किन्तु पहले नायिकागत उन्माद व्यभिचारिभाव की अभिव्यक्ति होने से यहां भावध्वनि ही प्रधान है। उन्माद का लक्षण है—

"चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगतिप्रलपनादिकृत् ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् काम, शोक तथा भय आदि से उत्पन्न चित्त का व्यामोह उन्माद कहलाता है। इसमें अनवसर हंसना, गाना, रोना प्रलाप करना आदि पाया जाता है। प्रकृत पद्य में प्रिय-विरहजन्यशोक विभाव है, कालागुरु को जहर तथा नील कमलों की माला को सर्पों की माला समझना अनुभाव है जिनसे नायिकागत उन्माद व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है (क) कालागुरुद्रवम्—कालमगुरुकालागुरुं। सुगन्धिकाष्ठविशेषः। अमरः। तस्य द्रवः कालागुरुद्रवः। तं कालागुरुद्रवम्। (ख) हालाहलवत्—विषमिवेत्यर्थः। (ग) नीलोत्पलमालाम्—नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। नीलकमलमित्यर्थः तस्य माला नीलोत्पलमाला तां नीलोत्पलमालाम्। (घ) व्यालावलिम्—व्यालानामवलिः व्यालावलिः। तां व्यालावलिम्। 'विषधरश्चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरः सर्पमालामित्यर्थः। इसमें कवि ने गीति वृत्त उपनिबद्ध किया है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ११६ ॥

विधिवञ्चितया मया न यातं
सखि ! सङ्केतनिकेतनम्प्रियस्य ।
अधुना वत ! किं विधातुकामो
मयि कामो नृपतिः पुनर्नजाने ॥ ११७ ॥

अन्वय—हे सखि ! विधिवञ्चितया मया प्रियस्य संकेतनिकेतनम् न यातम्, अधुना पुनः बत नृपतिः कामः मयि किं विधातुकामः न जाने।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सखी ! भाग्य द्वारा ठगी गई मैं प्रियतम के संकेत-स्थल पर नहीं गई, अब फिर हाय ! राजा कामदेव मुझ पर क्या करना चाहेगें, नहीं जान पा रही हूँ।

व्याख्या—किसी नायिका ने अपने प्रियतम से संकेत स्थान पर मिलने का वादा किया था। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उसके सामने उपस्थित हो गईं कि वह वहाँ न जा सकी। वही नायिका अपनी सखी से कह रही है। उसे भय हो रहा है कि मैंने यह बहुत बड़ा अपराध किया। हालाँ कि प्रत्यक्ष अपराध तो प्रियतम का किया परन्तु उस पर भी शासन तो कामदेव का है, अतः अपराध कामदेव का हुआ। नायिका ने अन्याय कामदेव के शासन में किया। इसीलिए वह डर रही है कि पता नहीं अब राजा कामदेव क्या

अनिष्ट करेंगे। इस प्रकार यहाँ नायिकागत 'शङ्का' व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है। शंका का लक्षण है—

"परक्रौर्य्यात्मदोषाद्यैः शंकाऽनर्थस्य तर्क्कणम्।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्य्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् दूसरे की क्रूरता तथा अपने दोष आदि से अपने अनर्थ की तर्कणा करना 'शंका' कहलाता है, इससे विवर्णता, कँपकँपी, आवाज का लड़खड़ाना, इधर उधर ताकना, मुँह सूखना आदि क्रियायें पायी जाती है। प्रस्तुत पद्य में राजा कामदेव का अपराध विभाव है तथा चेहरे की विवर्णता आदि जिसका ऊपर से अनुमान किया जा सकता है अनुभाव होंगे उनसे नायिकागत 'शंका' व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है। (क) विधिवञ्चितया—विधिना वञ्चिता विधिवञ्चिता। तया विधिवञ्चितया 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः'। 'विप्रलब्धस्तु वञ्चितः' इत्यमरः (वञ्चित+टाप्)। (ख) सङ्केतनिकेतनम्—संकेतस्य निकेतनं सकेतनिकेतनम्। परस्पर की गई प्रतिज्ञा को संकेत कहते हैं। आजकल की भाषा में उसे हम 'वादा' कहेगें। जिस स्थान पर मिलने का वादा किया था उस स्थान को 'संकेत स्थान' कहा गया है। इसमें कवि ने 'कालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'विषमें ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ११७॥

सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे।
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि! राकाऽसि नात्र सन्देहः॥११८॥

अन्वयः—हे सुन्दरि! सुविमलमौक्तिकतारे धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे वदनपरिपूर्णचन्द्रे (सति त्वम्) राका असि, अत्र सन्देहः न (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सुन्दरी! अत्यन्त स्वच्छ मुक्ता रूपी नक्षत्रों वाले, सफेद वस्त्र रूपी चांदनी के प्रकाश वाले मुख रूप परिपूर्ण चन्द्रमा के विद्यमान रहने पर तू पूर्णिमा (ही) है, इसमें संशय नहीं है।

व्याख्या—नायिका की चाटुकारिता करने वाले किसी नायक का यह कथन है। यहाँ कवि ने रूपक अलंकार प्रस्तुतत किया है। रूपक का लक्षण है—

"उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्।" (रसगङ्गाधर)

अर्थात् "उपमेयतावच्छेदक को आगे करके उपमेय में शब्द द्वारा निश्चय किया जाने वाला उपमान का तादात्म्य. रूपक अलंकार होता है।" यह रूपक

१. "सुविरलमौक्तिकवारे" इति पाठान्तरम्।

तीन प्रकार का होता है—१. सावयव २. निरवयव और ३. परम्परित। इनमें से सावयव रूपक के दो भेद होते हैं—१. समस्त वस्तु विषय और २. एकदेशविवर्त्ती। प्रस्तुत पद्य में समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक है। सावयव रूपक वहाँ होता है जिन रूपकों के सिद्ध करने में एक दूसरे की अपेक्षा होती है ऐसे रूपकों का समुदाय सावयव रूपक होता है। उसमें भी जहाँ समस्त आरोप्यमाण वस्तुयें (अर्थात् उपमान) शब्द द्वारा उपात्त किए होते हैं वह समस्त वस्तुविषय सावयव रूपक कहलाता है। यहाँ पर नायिका के साथ पूर्णिमा का तादात्म्य स्थापित किया है, और उस तादात्म्य की सिद्धि के लिए मुक्ता के साथ तारों का तादात्म्य, धवलांशुक के साथ चन्द्रिका का तादात्म्य और मुख के साथ परिपूर्ण चन्द्र का तादात्म्य अपेक्षित है, साथ ही समस्त उपमान तारा, चांदनी, परिपूर्ण चन्द्र और पूर्णिमा शब्दतः प्रतिपादित किये गये हैं किसी का भी अर्थतः आक्षेप नहीं करना है, इसलिये समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक हुआ। (क) सुविमलमौक्तिकतारे—विगतं मलं यस्मात् तत् विमलम्। सु सुष्ठुतया विमल सुविमलम्। सुविमलानि मौक्तिकान्येव ताराः यस्मिन् सः सुविमलमौक्तिकतारः। तस्मिन् सुविमलमौक्तिकतारे। (ख) धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे—धवलमंशुकं धवलांशुकम्। धवलांशुकमेव चन्द्रिका धवलांशुकचन्द्रिका। धवलांशुकचन्द्रिकायाः चमत्कारः यस्मिन् स धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारः। तस्मिन् धवलांशुकचन्द्रिकाचमत्कारे। (ग) वदनपरिपूर्णचन्द्रे—परितः पूर्णः परिपूर्णः परिपूर्णः चन्द्रः परिपूर्णचन्द्रः। वदनमेव परिपूर्णचन्द्रः वदनपरिपूर्णचन्द्रः। तस्मिन् वदनपरिपूर्णचन्द्रे। 'राका सम्पूर्णे पूर्णमासी च' इति हलायुधः। इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ११८॥

रूपजला चलनयना नाभ्यावर्त्ता कचावलीभुजगा[1]।
मज्जन्ति यत्र सन्तः सेयन्तरुणी तरङ्गिणी विषमा॥११९॥

अन्वयः—इयम् तरुणी रूपजला चलनयना नाभ्यावर्त्ता कचावलीभुजगा सा विषमा तरङ्गिणी (अस्ति) यत्र सन्तः मज्जन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—यह युवती सौन्दर्य रूपी जलवाली, चञ्चल नेत्र (रूपी मछलियों) वाली, नाभि रूपी भंवर वाली, केशपंक्ति रूप सर्पों वाली वह भयङ्कर नदी है जिसमें पण्डितन डूब जाया करते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने एक देश विवर्त्ती सावयव रूपक प्रस्तुत

१. "कचावलिभुजङ्गा" इति पाठान्तरम्।

किया है। सावयव रूपक अभी पिछले पद्य में हमने समझा ही दिया है। जिस सावयक रूपक में आरोप्यमाण अर्थात् उपमान कहीं तो एक स्थान पर शब्दतः उपात्त रहता है किन्तु कहीं पर उसका अर्थतः आक्षेप करना पड़ता है वहाँ उसके एक देश में ही स्थित होने के कारण एक देश विवर्ति रूपक माना जाता है। जैसे इस श्लोक में तरुणी के साथ नदी का तादात्म्य स्थापित किया गया और उसकी सिद्धि के लिये रूप के साथ जल का, नाभि के साथ भंवर का, कचावली के साथ सर्पों का तादात्म्य स्थापित किया गया जिनमें कि सभी आरोप्यमाण जल, भंवर तथा सर्प शब्दतः उपात्त है, किन्तु चञ्चल नेत्रों के साथ जो मछलियों का तादात्म्य स्थापित किया गया है, उसमें आरोप्यमाण मछली शब्दतः उपात्त नहीं है, उसका अर्थतः आक्षेप होता है और वह चूंकि समस्त रूपक के एक देश में विद्यमान है अतः एक देशविवर्त्ति सावयव रूपक यहाँ पर माना जायगा। (क) रूपजला—रूपमेव जलं यस्या सा रूपजला। (ख) चलनयना—चले (चञ्चले) नयने (एव मीनौ) यस्यां सा चलनयना। (ग) नाभ्यावर्त्ता—नाभिरेव आवर्तो यस्यां सा नाभ्यावर्त्ता। 'स्यादावर्तोऽम्भसमं भ्रमः इत्यमरः। (घ) कचावलीभुजगा—कचानामवली कचावली 'केशः शिरसिजमूर्धजकचचिकुरशिरोरुहाः' इति हलायुधः कचावल्यः एव भुजगाः यस्यां सा कचावलीभुजगा! 'सर्पः पृदाकुर्भुजगः' इत्यमरः। (ङ) सन्तः—विद्वांसः इत्यर्थः। 'विद्वान् विपश्चित् दोषज्ञः सन् सुधी कोविदो बुधः इत्यमरः (च) तरङ्गिणी—तरङ्गाः सन्त्यस्याः इति तरङ्गिणी। (तरङ्ग + इनिः 'अतः इनि ठनौ' (५।२।११५ इति सूत्रेण)। इस श्लोक में भी कवि ने 'गीति' वृत्त ही उपनिबद्ध किया है। लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें॥ ११६॥

शोणाधरांशुसम्भिन्नास्तन्वि ! ते वदनाम्बुजे।
केशरा इव काशन्ते कान्तदन्तालिकान्तयः॥ १२०॥

अन्वयः—हे तन्वि ! ते वदनाम्बुजे शोणाधरांशुसम्भिन्नाः कान्तदन्तालिकान्तयः केशरा इव काशन्ते।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृशाङ्गी ! तुम्हारे मुख कमल में लाल अधर की किरणों से मिश्रित सुन्दर दाँतों की कान्तियाँ केसर की तरह चमक रही हैं।

व्याख्या—नायक की अपनी प्रियतमा से यह उक्ति है। वह नायिका के बिम्बाधरों की कान्ति से मिश्रित सुन्दर दाँतों की कान्तियों की उपमा केशरों से देता है। इसमें पूर्ण श्रौती समासगा उपमा है। क्योंकि केशर उपमान हैं, दाँतों की कान्तियाँ उपमेय हैं, चमकना साधारण धर्म और इव उपमावाचक शब्द है। अतः पूर्णा उपमा है। इव के कारण सादृश्य की तुरन्त प्रतीति हो जाने से श्रौती है,

और केशर के साथ इव का समास होने से समासगा है। इसके अतिरिक्त कवि ने 'वदनाम्बुज' में भी एक उपमा प्रस्तुत की है। वहाँ हमें उपमा ही मानना समीचीन होगा रूपक नहीं। क्योंकि यदि कवि को रूपक अभीष्ट होता तो वह दन्तकान्तियों और केशरों में जो कि क्रमशः मुख और कमल के अङ्ग हैं सादृश्य न प्रस्तुत कर अभेद को प्रस्तुत करता। चूंकि अंगों में सादृश्य प्रस्तुत किया गया है अतः अङ्गियों में सादृश्य मानना होगा। और ऐसी हालत में यहाँ केवल वदन उपमेय और अम्बुज उपमान की ही स्थिति होने से वाचक और साधारण धर्म का लोप होने के कारण वाचक धर्म लुप्ता समासगता उपमा मानी जायगी। (क) शोणाधरांशुसम्भिन्नाः—शोणः अधरः शोणाधरः। 'शोणः कोकनदच्छविः' इत्यमरः। जिस अधर की कान्ति लाल कमल की कान्ति के समान है। शोणाधरस्य अंशवः शोणाधरांशवः। 'किरणोस्त्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः। शोणाधरांशुभिः सम्भिन्नाः शोणाधरांशुसम्भिन्नाः। सम्यक् भिन्नाः (सङ्गताः) सम्भिन्नाः। भिन्न का अर्थ सङ्गत अथवा मिश्रितः भी होता है। विश्वप्रकाश का कथन है—भिन्नमन्यार्थवचने सङ्गते दारिते स्फुटे'। (ख) वदनाम्बुजे—वदनमम्बुजमिव वदनाम्बुजम्। तस्मिन् वदनाम्बुजे। (ग) कमल के फूल के बीच में जो एक झालर सी होती है उसको केसर या किञ्जल्क कहते हैं—किञ्जल्कः केशरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। (घ) काशन्ते—'काशृ दीप्तौ' (भ्वा०) धातु से लट् (झि) में काशन्ते रूप बनता है। अर्थ है दीप्त हो रही है, चमक रही है। (ङ) कान्तदन्तालिकान्तयः—कान्ताः (सुन्दराः) दन्ताः कान्तदन्ताः। कान्तदन्तानामालिः कान्तदन्तालिः। तस्याः कान्तयः कान्तदन्तालिकान्तयः। 'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधुशोभनम्। कान्तं मनोहरम्' 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः श्रेणी' इति चामरः। कान्तिद्युतिश्छविः' इति चाप्यमरः। इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १२० ॥

तया तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा।
ममायम्मानुषो लोको नाकलोक इवाभवत् ॥ १२१ ॥

अन्वयः—तिलोत्तमीयन्त्या मृगशावकचक्षुषा तया मम अयम् मानुषः लोकः नाकलोक इव अभवत्।

हिन्दीरूपान्तर—तिलोत्तमा की तरह आचरण करने वाली हरिणशावकाक्षी उस प्रियतमा के साथ मेरा यह मानवीय लोक स्वर्ग लोक सा हो गया था।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपनी प्रियतमा के विषय में अपने मित्र से कही गई उक्ति है। कवि ने इस पद्य में तीन उपमायें प्रस्तुत की हैं। पहली

उपमा 'तिलोत्तमीयन्त्या' पद में है। यहाँ तिलोत्तमामिवात्मानमाचरन्त्या' इस अर्थ में आचारार्थक क्यच् प्रत्यय हुआ है। अर्थात् जिस तरह तिलोत्तमा अप्सरा रहती थी उसी तरह खुद रहने वाली। इस प्रकार यहां वाचक शब्द और 'आत्मानम्' उपमेय का लोप होने के कारण वाचकोपमेयलुप्ता क्यज्गता उपमा है दूसरी उपमा है 'मृगशावकचक्षुषा' पद में। इसमें 'मृगशावकस्य चक्षुषी इव चक्षुषी यस्याः तया' इस अर्थ में 'अनेकमन्यपदार्थे'' (२।२।२४) सूत्र के भाष्यवार्त्तिक "सप्तम्युपमानपूर्वस्य" से समास और उत्तर पद (अर्थात् उपमान वाचक 'चक्षुष्' पद) का लोप हुआ है। अर्थ यह हुआ कि जिसकी आखें मृग के बच्चे की आखों के समान है। इस प्रकार यहाँ उपमान (भूत 'चक्षुष्' पद) का लोप होने उपमान लुप्ता, वाचक शब्द का लोप होने से वाचक लुप्ता, 'चञ्चल' इत्यादि साधारण धर्म का लोप होने से धर्मलुप्ता उपमा हुई। अतः यहां धर्मोपमानवाचक लुप्ता उपमा है। और तीसरी उपमा है मानुष लोक का स्वर्गलोक की तरह होने में। यहां मानुषलोक उपमेय, नाकलोक उपमान और इव वाचक शब्द है। यदि हम 'तिलोत्तमा के सदृश आचार' को साधारण धर्म माने तो पूर्णोपमा होगी और यदि 'आनन्ददायक' को साधारण धर्म मानकर उसका लोप माने तो धर्मलुप्तोपमा होगी। (क) नाकलोक इव— नाकः लोकः नाकलोकः। तदिव नाकलोक इव। 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासः विभक्त्यलोपश्च। नाकः स्वर्गः। 'स्वर्गनाकत्रिदिव त्रिदशालयाः' इत्यमरः। इसमें भी अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त है॥ १२१॥

अङ्कायमानमलिके मृगनाभिपङ्कम्
पङ्केरुहाक्षि ! वदनन्तव वीक्ष्य बिभ्रत्।
उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूला—
श्चञ्चूपुटश्चटुलयन्ति चिरञ्चकोराः॥ १२२॥

अन्वयः—हे पंकेरुहाक्षि ! अलिके अङ्कायमानम् मृगनाभिपङ्कम् बिभ्रत् तव वदनं वीक्ष्य उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूलाः चकोराः चिरम् चञ्चूपुटम् चटुलयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कमलनयनी ! ललाट पर (चन्द्रमा के) कलङ्क की तरह आचरण करने वाले कस्तूरी के लेप को धारण करते हुए तुम्हारे मुख को देख कर हर्षातिरेक से कोमल पक्ष मूल को प्रफुल्लित करके चकोरगण चिरकाल तक (अपनी) चोंचों को चञ्चल किए रहते है।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में उपमालंकार वाच्य रूप में प्रस्तुत किया गया है

क्योंकि कस्तूरी का द्रव उपमेय है, चन्द्रमा का कलंक (अंक) उपमान है। साथ ही चकोरों की नायिका के मुख में चन्द्रमा की भ्रान्ति व्यङ्ग्य रूप में प्रस्तुत की गई। क्यों कि प्रसिद्ध है कि चकोर पक्षी चन्द्रिका का पान करते हैं। चूंकि यहाँ पर भ्रान्ति शब्दों द्वारा नहीं प्रतिपादित की गई है अतः 'भ्रान्तिमान्' अलंकार व्यंग्य है। और इस भ्रान्ति का मूल है नायिका के मुख में कस्तूरी द्रव का लेप जो कि चन्द्रमा के कलंक के समान है। अतः वाच्य उपमा अलंकार व्यंग्य भ्रान्तिमान् अलंकार को सुशोभित करता है। साथ ही 'मृगनाभिपंक' की 'अङ्क' के साथ उपमा प्रस्तुत की गई है। यहां पण्डितराज आदि के अनुसार वाचक लुप्ता और विश्वनाथ आदि के अनुसार धर्मलुप्ता है। 'पंकेरुहाक्षि' में भी धर्मवाचक लुप्तोपमा है। (क) अङ्कायमानम्—अङ्कइवाचरतीति अङ्कायते। पहले 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।१) से क्यङ् प्रत्यय करके अङ्क से नाम धातु बना लेंगे तब विशेषण बनाने के लिए उससे 'शानच्' प्रत्यय 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३।२।१२४) सूत्र से करने पर द्वितीया एक वचन में अङ्कायमानम् रूप बनेगा। 'कलङ्कांकौ लाञ्छनं'—इत्यमरः। (ख) मृगनाभिपङ्कम्—मृगस्य नाभिः मृगनाभिः। मृगनाभेः पंकः मृगनाभिपङ्कः। तम् मृगनाभिपङ्कम्। 'मृगनाभि' कस्तूरी को कहते हैं—'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः। 'ललाटमलिकम्'—इति हलायुधः। (ग) पङ्केरुहाक्षि—पंके रोहतीति पंकेरुहम्। पंकेरुहमिवाक्षिणी यस्याः सा पंकरुहाक्षी। तत्सम्बुद्धौ हे पंकेरुहाक्षि। पंकेरुहं कमलम्। (घ) उल्लासपल्लवितकोमलपक्ष्ममूलाः—पल्लवाः सञ्जाता अस्येति पल्लवितम् 'तदस्य सञ्जातम् तारकादिभ्यः इति च' (५।२।३६) इति सूत्रेण पल्लव शब्दात् इतच प्रत्ययः। कोमलः पक्षः कोमलपक्षः। कोमलपक्षस्य मूलं कोमलपक्षमूलम्। उल्लासेन पल्लवितं कोमलपक्षमूलं येषान्ते उल्लासपल्लवितकोमलपक्षमूलाः। चकोरों का चन्द्रिका पान करना कवि-समय सिद्ध है। इसी लिये नायिका के मुख को चन्द्रमा समझ कर चन्द्रिकापानार्थ चकोरों का अपनी चोंचों को चञ्चल करना वर्णित किया है। राजशेखर का कथन है—'असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनम्, यथा—चक्रवाकमिथुनस्य निशिभिन्नतटाश्रयणम्। चकोराणां चन्द्रिकापानञ्च—और चकोरों के चन्द्रिका पान को प्रस्तुत करने वाले निम्न पद्य को वे 'काव्यमीमांसा' में उद्धृत भी करते है—

"एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षिरोधोभुव-
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चुविचलत्कण्ठञ्चकोराङ्गनाः॥"

इसमें कवि ने वसन्ततिलकवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौगः" (छन्दोमञ्जरी) ॥ १२२ ॥

शिशिरेण यथा सरोरुहन्दिवसेनामृतरश्मिमण्डलम् ।
न मनागपि तन्वि ! शोभते तव रोषेण तथेदमाननम् ॥१२३॥

अन्वयः—हे तन्वि ! यथा शिशिरेण सरोरुहम्, दिवसेन अमृतरश्मिमण्डलम् तथा (एव) रोषेण तव इदम् आननम् मनाक् अपि न शोभते ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृशाङ्गी ! जैसे शिशिर के कारण कमल, दिन के कारण चन्द्रमण्डल शोभित नहीं होता वैसे ही क्रोध के कारण तुम्हारा यह मुख जरा सा भी सुशोभित नहीं होता है ।

व्याख्या—अपनी नाराज प्रियतमा को मनाता हुआ नायक कहता है कि ऐ प्रियतमे ! तू अपनी नाराजगी दूर कर दे। कारण तुम्हारी इस नाराजगी से तुम्हारा मुख अच्छा नहीं लगता है। यहाँ प्रस्तुत है नायिका का मुख । 'कवि ने उसके दो अन्य अप्रस्तुतों के रूप में कमल और चन्द्रमण्डल को प्रस्तुत किया है तथा इन तीनों का 'सौन्दर्याभाव' रूप साधारणधर्म से सम्बन्ध दिखाया है। अतः यहाँ दीपक अलङ्कार है क्योंकि उसका लक्षण है—

"प्रकृतानामप्रकृतानाञ्चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्" (रसगङ्गाधर)

अर्थात् प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के एक ही साधारण धर्म से सम्बन्ध का वर्णन होनेपर दीपक अलङ्कार होता है। साथ इस दीपक अलङ्कार को अलंकृत कर रही है उपमा । क्योंकि रोष के कारण तनिक भी शुशोभित न होने वाले कान्ता के मुख की शिशिर के कारण सुशोभित न होनेवाले कमल और दिन के कारण सुशोभित न होनेवाले चन्द्रमण्डल से उपमा दी है। (क) शिशिरेण—शिशिर पाला को कहते हैं—'शिशिरः स्याद् ऋतोर्भेदे तुषारे शीतलेऽन्यवत्' (विश्वप्रकाश) तुषारेणेत्यर्थः। (ख) सरोरुहम्—सरसि रोहतीति सरोरुहम्। कमलम्। (ग) अमृतरश्मिमण्डलम्—अमृतयुक्ताः रश्मयः यस्य सः अमृतरश्मिः चन्द्र इत्यर्थः। अमृतरश्मेः मण्डलम् अमृतरश्मिमण्डलम्। चन्द्रबिम्बमित्यर्थः। 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः। (घ) मनाक्—अल्पार्थवाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है—'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'वैतालीय' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नोनिरन्तराः । न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः" (छन्दोमञ्जरी) ॥ १२३ ॥

चलद्भृङ्गमिवाम्भोजमधीरनयनम्मुखम् ।
तदीयं यदि दृश्येत कामः क्रुद्धोऽस्तु किन्ततः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—यदि तदीयम् चलद्भृङ्गम् अम्भोजम् इव अधीरनयनम् मुखम् दृश्येत, कामः क्रुद्धः अस्तु, ततः किम् ?

हिन्दीरूपान्तर—यदि उस (प्रियतमा) का चञ्चल भँवरों वाले कमल की तरह चञ्चल नेत्रों वाला मुख दिखाई पड़े तो कामदेव भले ही नाराज रहें, उससे क्या (बिगड़ता है) ? ।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से कहता है कि हमें कामदेव की नाराजगी का जरा भी डर नहीं है क्योंकि वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता । मगर कब ? अगर हमारी प्रियतमा हमसे न नाराज़ हो और उसके चञ्चल नयनों वाला मुखड़ा हमेशा दिखाई पड़ता रहे तो। यहाँ कवि ने पूर्णोपमालङ्कार प्रस्तुत किया है । मुख उपमेय है, कमल उपमान है, इव उपमावाचक शब्द है, और साधारण धर्म है चञ्चल भ्रमर रूप नेत्र का होना अथवा चञ्चल नेत्र रूप भ्रमर का होना । वस्तुतः पण्डितराज ने उपमा के साधारण धर्मों के विभिन्न प्रकारों को प्रस्तुतः करते हुए इस पद्य को प्रस्तुत किया है । यहाँ पर विशेषणों के वस्तुप्रतिवस्तु भाव से मिश्रित विशेषणों के बिम्बप्रतिबिम्ब भाव वाला साधारण धर्म है । यहाँ कवि ने चलद्भृङ्गम् और अधीरनयनम् को साधारण धर्म के रूप में प्रस्तुत किया है 'चलना' और 'अधीरता' ये दोनों विशेषण हैं जो वस्तुतः एक रूप होते हुए भी भिन्न शब्दों द्वारा कहे गए हैं अतः इनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है । तथा भृङ्ग और नयन ये दोनों विशेष्य हैं जो कि वस्तु भिन्न होते हुए भी अभिन्न सिद्ध किए गए हैं अतः इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव है इसलिये यहाँ साधारण धर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न है। (क) चलद्भृङ्गम्—चलद् भृङ्गः यस्मिन् तत् चलद्भृङ्गम् । भृङ्गो भ्रमरः । 'भृङ्गो धूम्याटभिङ्गयोः मधुव्रतेऽपि' इति विश्वप्रकाशः । (ख) अधीरनयनम्—न धीरे अधीरे । चञ्चले इत्यर्थः । 'लोलं चपलं चटुलं प्रचलं तरलं परिप्लवमधीरम्' इति हलायुधः । अधीरे नयने यस्मिन् तत् अधीरनयनम् । तदीयम्—तस्याः इदं तदीयम् । (तद् + छ) 'त्यदादीनि च' (१।१७४) इत्यनेन तद् शब्दस्य वृद्ध-संज्ञायाम् 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) इत्यनेन छः । छस्य च 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) इतीयादेशः । इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १२४ ॥

शतकोटिकठिनचित्तः सोऽहन्तस्याः सुधैकमयमूर्त्तेः ।
येनाकारिषि मित्रं स विकलहृदयो[1] विधिर्वाच्यः ॥१२५॥

अन्वयः—येन सुधैकमयमूर्त्तेः तस्याः मित्रम् शतकोटिकठिनचित्तः सः अहम् अकारिषि सः विधिः विकलहृदयः वाच्यः ।

हिन्दीरूपान्तर—जिस (विधाता) ने अद्वितीय अमृतमय मूर्ति वाली उस सीता का मित्र वज्र के सदृश कठोर हृदय वाले उस मुझको बनाया, वह विधाता पागल (विकल हृदय) कहे जाने योग्य है ।

व्याख्या—सीता जी को निर्वासित कर देने के बाद रामचन्द्र जी की यह उक्ति है । यहाँ पर विधि के प्रति रामगत असूया भाव अभिव्यक्त होता है । विधाता आलम्बन है, सीता का रामको मित्र बनाना उद्दीपन है तथा विधि को पागल कहना अनुभाव है जिससे रामगत 'असूया' भाव ध्वनित होता है । असूया का लक्षण है—

"असूयाऽन्यगुणार्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥ (साहित्यदर्पण)

अर्थात् औद्धत्य के कारण दूसरे की गुण समृद्धि को सहन न कर सकना 'असूया' कहलाता है । इसमें दोष कथन, भृकुटि भङ्ग, तिरस्कार तथा क्रोध आदि होते हैं । साथ ही कवि ने 'शतकोटिकठिनचित्तः' में उपमालङ्कार भी प्रस्तुत किया है । यहाँ जिस 'काठिन्य' को चित्त रूप उपमेय तथा वज्र रूप उपमान का साधारण धर्म बताया गया है वह वज्र का धर्म तो है पर चित्त का नहीं क्योंकि कठिनता पार्थिव धर्म है चित्त में वह कैसे सम्भव हो सकता है अतः हमें उपचार से उसे चित्त का धर्म मानना होगा । जो कि चित्त की निर्दयता को बोधित कराता है । इस प्रकार यहाँ उपमा का साधारण धर्म उपचरित है । (क) शतकोटिकठिनचित्तः—शतं कोटयः (कोणाः) यस्य सः शतकोटिः । वज्र-मित्यर्थः । 'वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः शतकोटिः' इत्यमरः । शतकोटि-रिव कठिनं शतकोटिकठिनम् । 'कठोरः कठिनः क्रूरः' इति हलायुधः । शतकोटि-कठिनं चित्तं यस्य सः शतकोटिकठिनचितः । 'चित्तन्तु चेतो हृदयम्' इत्यमरः । (ख) सुधैकमयमूर्तेः—'ब्रह्मा+विधिः विरिञ्चिः' इति हलायुधः । (ग) विकलहृदयः—विकलं हृदयं यस्य सः विकलहृदयः । कहीं-कहीं 'स विकलहृदयः के स्थान पर 'सुविकलहृदयः' पाठ दिया गया है । वहाँ 'सु अतिशयेन विकलं हृदयं यस्य सः सुविकल हृदयः' अर्थात् जिसका चित्त अत्यधिक विकल है यह अर्थ होगा परन्तु ऐसा पाठ मान लेने पर 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' नियम के

१. "सुविकलहृदयः" इति पाठान्तरम् ।

अनुसार यत (येन) का उपादान करके उसके नित्यसम्बन्धी तत (सः) पद का उपादान न होने से न्यून पदता दोष अपरिहार्य होगा। अतः 'स विकल-हृदयः' पाठ ही समीचीन है इसमें कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १२५ ॥

श्यामलेनाङ्कितम्बाले! भाले केनापि लक्ष्मणा!
मुखन्तवान्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते ॥ १२६ ॥

अन्वयः—हे बाले! भाले केन अपि श्यामलेन लक्ष्मणा अङ्कितम् तव मुखम् अन्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते।

हिन्दीरूपान्तर—हे बाले ललाट पर किसी (अत्यन्त रमणीय) साँवले चिह्न से चिह्नित तुम्हारा (गोरा) मुखड़ा, भीतर सोये हुए भँवरे वाले खिले हुए कमल की तरह आचरण कर रहा है।

व्याख्या—कोई नायक नायिका के ललाट पर स्थित किसी साँवले चिह्न को देखकर उसकी समानता भ्रमरयुक्त खिले कमल से स्थापित करते हुए कह रहा है। यहाँ पर अम्बुज उपमान है, मुख उपमेय है। इन दोनों के साधारण धर्म दो हैं एक तो 'आचरण' रूप समानधर्म जो 'अम्बुजमिवाचरति' इस अर्थ में 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' से क्यङ् प्रत्यय करके बने हुए अम्बुजायते पद में है, यह दोनों का अनुगामी समान धर्म है पर इसी से मिश्रित एक अन्य भी साधारणधर्म प्रस्तुत किया गया है जो है ललाट पर स्थित चिह्न और भीतर सोये हुए भवरे का। यहाँ चिह्न और भ्रमर जो कि पूर्णतः भिन्न है उनमें अभेद स्थापित कर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव को प्रस्तुत किया गया है इसलिए इस उपमा में साधारणधर्म अनुगामीधर्म से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न है। उपमावाचक का लोप होने से 'वाचकलुप्तोपमा' है। (क) श्यामलेन—श्यामः वर्ण अस्त्य-स्मिन्निति श्यामलम्। श्याम शब्दात् सिध्मादिभ्यश्च' (५।२।९७) इति लच् प्रत्ययः तेन श्यामलेन। (ख) अङ्कितम्—'अङ्क पदे लक्षणे' च इति धातो क्त प्रत्ययः। (ग) लक्ष्मणा—चिह्नेनेत्यर्थः। 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः। (ग) अन्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायतेअन्तरा –(मध्ये) सुप्तः अन्तरासुप्तः। अन्तरा-सुप्तः भृङ्गः यस्मिन् तत् अन्तरासुप्तभृङ्गम्। अन्तरासुप्तभृङ्गञ्च फुल्लं (विकसितं) च अन्तरासुप्तभृङ्गफुल्लम्। अन्तरासुप्तभृङ्गफुल्लम् अम्बुजम् अम्बुनि जातमम्बुजम्। अन्तरासुप्तभृङ्गफुलाम्बुजम्। तदिवाचरतीति अन्तरासुप्तभृङ्गफुल्लाम्बुजायते। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) इति क्यङ् प्रत्ययः। 'फुल्ल विकसने' धातो क्त प्रत्यये फुल्लम्। इसमें 'अनुष्टुप् वृत्त है ॥ १२६ ॥

अद्वितीयं रुचात्मानम्मत्वा किञ्चन्द्र ! हृष्यसि ।
भूमण्डलमिदम्मूढ ! केन वा विनिभालितम् ॥१२७॥

अन्वयः—अयि चन्द्र ! रुचा आत्मानम् अद्वितीयम् मत्वा किम् हृष्यसि ? अरे मूढ ? इदम् भूमण्डलम् वा केन विनिभालितम् ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ चन्द्रमा ! कान्ति के कारण अपने को अद्वितीय मान कर क्यों फूला नहीं समाता है ? अरे बुद्ध ! इस पृथ्वीमण्डल को भला किसने अच्छी तरह देख रखा है ?

व्याख्या—चन्द्रमा को किरणों से सन्तप्त होने वाले किसी विरही की यह उक्ति है । यहाँ पर 'मूढ' पद से द्योतित होने वाली चन्द्रभा के प्रति विरही की 'असूया' व्यङ्ग्य और अलङ्कार्य है । साथ ही यहाँ पर उपमा अलङ्कार भी व्यङ्ग्य है । क्यों कि उस विरही के कथन से यह बात अभिव्यक्त होती है कि उसकी प्रियतमा का मुख भी चन्द्रमा के समान ही है, चूंकि वह परदेनशीन है, कभी घर से बाहर नहीं निकलती इस लिये चन्द्रमा उसको नहीं देख सका और अपने को कान्ति में अद्वितीय समझ कर घमण्ड में चूर हो उसे सन्तप्त कर रहा है । इस प्रकार 'तेरे समान ही मेरी प्रियतमा का मुख है' यह उपमा व्यङ्ग्य होती है । और यह व्यङ्ग्योपमा ऊपर बताई गई विरही की चन्द्रमा के प्रति 'असूया' को अलङ्कृत करती है । इस तरह यह सिद्ध होता है कि केवल वाच्य उपमा ही अलङ्कार नहीं होती बल्कि व्यङ्ग्योपमा भी अलङ्कार बनती है । (क) अद्वितीयम्—न विद्यते द्वितीयः यस्य स अद्वितीयः । लोकोत्तीर्णं इत्यर्थः । (ख) रुचा—प्रभयेत्यर्थः । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । (ग) भुवः मण्डल भूमण्डलम् । (घ) 'मूढो मन्दो विवर्णश्च मूर्खः' इति हलायुधः । इसमें भी कवि ने अनुष्टुप्' वृत्त प्रयुक्त किया है ॥ १२७ ॥

नीलाञ्चलेन संवृतमाननमाभति हरिणनयनायाः ।
प्रतिबिम्बित इव यमुनागभीरनीरान्तरेणाङ्कः ॥१२८॥

अन्वयः— हरिणनयनायाः नीलाञ्चलेन संवृतम् आननं यमुनागभीरनीरान्तः प्रतिबिम्बितः एणाङ्कः इव आभाति ।

हिन्दीरूपान्तर—मृगनैनी का नीले आँचल से ढका हुआ मुख यमुना के अगाध जल के भीतर प्रतिबिम्बित होते हुए चन्द्रमा की तरह सुशोभित हो रहा है ।

व्याख्या—यहाँ कवि ने मृगनैनी के मुख की उपमा चन्द्रमा से प्रस्तुत की है । मुख उपमेय है, चन्द्रमा उपमान है इव उपमा का वाचक शब्द है

तथा साधारण धर्म दो हैं—एक तो 'सुशोभित होना' जो दोनों का अनुगामी धर्म है। दूसरा है 'नीले आँचल से ढका होना' और 'यमुना के गम्भीर जल में प्रतिबिम्बित होना' ये दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अभिन्न माने गये हैं, अतः इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, इस प्रकार यहाँ साधारण धर्म अनुगामी धर्म से मिश्रित बिम्बभावापन्न है। इस प्रकार चारों तत्त्वों का उपादान होने से पूर्णोपमा, इव शब्द का 'एणाङ्क' के साथ समास न होने से वाक्यगता, और सादृश्य की तुरन्त प्रतीति हो जाने के कारण श्रौती है। अतः यहाँ श्रौती वाक्यगता पूर्णोपमा अलङ्कार है। (क) नीलाञ्चलेन—नीलमञ्चलं नीलाञ्चलम्। तेन नीलाञ्चलेन। (ख) हरिणनयनायाः—हरिणस्य नयने इव नयने यस्याः सा हरिणनयना। तस्याः हरिणनयनायाः। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति भाष्यवार्तिकेन समासः उपमानलोपश्च। यहाँ धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। (ग) यमुनागभीरनीरान्तः—गभीरं नीरं गभीरनीरम्। यमुनायाः गभीरनीरं यमुनागभीरनीरम्। तस्य अन्तः मध्ये यमुनागभीरनीरान्तः। (घ) एणाङ्कः—एणः मृगः अङ्के यस्य स एणाङ्कः। अथवा एणः अङ्कः चिह्नम् यस्य सः एणाङ्कः। चन्द्रमाः इत्यर्थः। इसमें आर्या वृत्त प्रयुक्त है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥ १२८ ॥

स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरगः ॥ १२९ ॥

अन्वय—कपोलात् स्तनाभोगे पतन् कुटिलः अलकः मेरौ शशाङ्कबिम्बतः लम्बमानः उरगः इव भाति।

हिन्दीरूपान्तर—(नायिका के) कपोल से स्तनमण्डल (विशालस्तनों पर) पर गिरता हुआ कुटिल केश। मेरुपर्वत पर चन्द्रमण्डल से लटकता हुआ नाग सा प्रतीत होता है।

व्याख्या—किसी नायिका के घुंघराले बालों को देख कर कवि कल्पना करता है। यहाँ उसने नायिका के कुटिल अलक की उपमा नाग से प्रस्तुत की है कुटिल अलक उपमेय और नाग उपमान है। इव उपमावाचक शब्द है। तथा साधारण धर्म है 'कपोल से स्तनमण्डल पर गिरना' तथा 'चन्द्रमण्डल से मेरुपर्वत पर लटकना'। यहाँ कपोल और चन्द्रमण्डल में, तथा स्तनमण्डल और मेरुपर्वत में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव है क्योंकि वे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतिपादित किए गए हैं। तथा लटकने और गिरने में 'वस्तु प्रतिवस्तु' भाव है क्योंकि ये दोनों वस्तुतः एक होते हुए भी अलग-अलग

शब्दों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं। अतः साधारण धर्म यहाँ वस्तु प्रतिवस्तु भाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न है। इस प्रकार उपमा के चारों ही तत्त्वों का उपादान होने से यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है। परन्तु चूंकि 'चन्द्रमण्डल से मेरु पर्वत पर लटकने वाला नाग' जो यहाँ उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है वह लोकसिद्ध नहीं है बल्कि कविकल्पित है। अतः यहाँ 'कल्पितोपमा' है। (क) स्तनाभोगे—स्तनयोराभोगः स्तनाभोगः। तस्मिन् स्तनाभोगे। आभोग का अर्थ 'पूर्णता' होता है। स्तनों की पूर्णता अर्थात् प्रवृद्ध ऊँचे स्तनों पर। (ख) शशाङ्कविम्बतः—शशः अंके यस्य सः शशाङ्कः। चन्द्र इत्यर्थः। शशाङ्कस्यबिम्बम् शशाङ्कबिम्बम्। तस्मात् शशाङ्कबिम्बतः (तसिल्)। (ग) 'उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः। सर्प इत्यर्थः। इसमें 'अनुष्टुप्' छन्द प्रयुक्त हुआ है॥ १२९॥

यथा लतायाः स्तवकानतायाः
स्तनावनम्रे! नितरां समाऽसि।
तथा लता पल्लविनी सगर्वे
शोणाधरायाः सदृशी तवापि॥ १३०॥

अन्वयः—हे स्तनावनम्रे! यथा (त्वम्) स्तबकानतायाः लतायाः नितरां समा असि, तथा हे सगर्वे! पल्लविनी लता अपि शोणाधरायाः तव सदृशी (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ स्तनों के भार से झुकी हुई (सुन्दरी)। जैसे तू फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लता के अत्यन्त तुल्य है, उसी तरह ऐ अभिमानिनि! पल्लवों से युक्त लता भी लाल अधरोंवाली तेरे तुल्य है।

व्याख्या—नायक की नायिका से उक्ति है कि—ऐ प्रियतमे! 'स्तनों के बोझ से झुकी हुई तेरे समान फलों के गुच्छों से लदी हुई लता है' अतः तू इस बात का घमण्ड न कर कि तू ही लता का उपमान है, क्योंकि लता भी तेरा उपमान बनती है 'जब रक्त अधरों से युक्त तू पल्लव युक्त लता के समान कही जाती है।' यह वाक्यार्थ यहाँ यथा और तथा के द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली उपमा है जिसका उपमान नायिका (तू) और उपमेय लता है। वाचक शब्द यथा तथा है। जिसका समानधर्म दो उपमायें है—एक तो 'तू लता के समान है' यह और दूसरी 'लता तेरे सदृश है' यह। इन दोनों उपमाओं में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है। अतः प्रधान उपमा का साधारण धर्म बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न है। अतः पूर्णोपमा है। (क) स्तबकानतायाः—

आ (समन्तात्) नता आनता । स्तबकैः आनता स्तबकानता । 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तबकः' इत्यमरः । तस्याः स्तबकानतायाः (ख) स्तनावनम्रे—स्तनाभ्यामवनम्रा स्तनावनम्रा । तत्सम्बुद्धौ हे स्तनावनम्रे । (ग) पल्लविनी—पल्लवाः सन्त्यस्यामिति पल्लविनी (पल्लव + इनि + ङीप्) (घ) सगर्व्वे—गर्व्वेण सहिता सगर्व्वा । तत्सम्बुद्धौ सगर्व्वे । गर्वोऽभिमानोऽहंकारः' इत्यमरः' 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इति चामरः । (ङ) शोणाधरायाः—शोणः अधरः यस्याः सा शोणाधरा । तस्याः शोणाधरायाः । इस श्लोक मे प्रथम तीन चरणों में उपेन्द्रवज्रा तथा चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण विद्यमान होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है ॥ १३० ॥

इदं लताभिः स्तबकानताभिर्मनोहरं हन्त ! वनान्तरालम् ।
सदैव सेव्यं स्तनभारवत्यो न चेद् युवत्यो हृदयं हरेयुः ॥१३१॥

अन्वयः—हन्त ! चेत् स्तनभारवत्यः युवत्यः हृदयम् न हरेयुः (तदा) स्तबकानताभिः लताभिः मनोहरम् इदं वनान्तरालं सदा एव सेव्यं (स्यात्) ।

हिन्दीरूपान्तर—अहा ! यदि स्तनों के बोझ से युक्त तरुणियाँ मन को न चुरा लें तो फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लताओं के कारण मनोहारी यह अरण्य का मध्यभाग हमेशा ही सेवन करने योग्य हो जाय ।

व्याख्या—फूलों के गुच्छों से लदी हुई लताओं से युक्त वन प्रान्त को देख कर किसी नायक की यह युक्ति है । यहाँ पर उसे फूलों के गुच्छों से झुकी लताओं को देखकर स्तनों के भार से झुकी हुई तरुणियों की याद आ गई, इस प्रकार इस वाक्य की परिसमाप्ति युवतियों के स्मरण के चमत्कार में ही है । क्यों कि सादृश्यवश किसी वस्तु का स्मरण स्मरणालंकार होता है—'सदृशानुभवाद् वस्तु स्मृतिः स्मरणमुच्यते''—(साहित्यदर्पण) । परन्तु यहाँ पर स्मरणालंकार व्यंग्य है वाच्य नहीं । क्यों कि स्मरण को किसी शब्द के द्वारा नहीं कहा गया है हालाँकि स्तनों और फूलों के गुच्छों में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न साधारण धर्म के वाच्य रूप में होने पर सादृश्य सिद्ध है । अतः इस पद में हम 'स्मरणालंकार ध्वनि' ही स्वीकार करेंगे । (क) स्तबकानताभिः—आ समन्तात् नताः आनताः । स्तबकैः आनताः स्तबकानताः । ताभिः स्तबकानताभिः (ख) वनान्तरालम्—अन्तरा (मध्यं) लाति इत्यन्तरालम् (अन्तरा + ला + क) 'अभ्यन्तरं त्वन्तरालम्' इत्यमरः । वनस्य अन्तरालं वनान्तरालम् (ग) स्तनभारवत्यो—स्तनयोः भारः स्तनभारः । स्तनभारः अस्ति आसामिति स्तनभारवत्यः (स्तनभार + मतुप् + ङीप्) । इसमें कवि ने 'उपेन्द्रवज्रा' वृत्त का प्रयोग किया है । उसका लक्षण 'वृत्तरत्नाकर' में इस प्रकार किया गया है—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' ॥ १३१ ॥

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा ।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥ १३२ ॥

अन्वय—मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा सा प्रातः आननजसौरभलुब्धैः मधुपैः बोधिता अपि न बुबुधे ।

हिन्दीरूपान्तर—मेरे आने के कारण बढ़े हुए सन्तोषवाली और जागकर सारी रात बिता देने वाली वह प्रियतमा सवेरे मुख से उत्पन्न सुगन्ध के लोभी भौंरो द्वारा जगाई जा कर भी नहीं जागी ।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा के विषय में अपने मित्र से बता रहा है कि वह काफी दिनों बाद विदेश से वापस आया था उसके आने की खुशी में नायिका सारी रात जगती रही आपस में प्रेमालाप तथा सुरतादिक होते रहे । उस रात भर जगने और सुरत की थकान से प्रातःकाल उसे नींद आ गई । अब भँवरे भी गुञ्जार करने लगे हैं परन्तु उसके कानों में जू नहीं रेंगी । इस प्रकार यहाँ 'निद्रा' व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है । निद्रा का लक्षण है—

"चेतः सम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् परिश्रम, ग्लानि एवं मद आदि से उत्पन्न चित्त के सम्मीलन अर्थात् बाह्य विषयों से उसकी निवृत्ति को निद्रा कहते हैं । इसमें जँभाई लेना, आँख मीचना, उच्छ्वास भरना, अंगड़ाई आदि लेना पाया जाता है । प्रस्तुत श्लोक में रात भर जागने और सुरतादि का श्रम विभाव है, जगाये जाने पर भी न जागना अनुभाव है जिनसे नायिकागत 'निद्राव्यभिचारी' भाव ध्वनित होता है (क) मदागमनबृंहिततोषा—मम आगमनं मदागमनम् । मदागमनेन बृंहितः (बृंह वृद्धौ (भ्वा०) + क्त) तोषः यस्याः सा मदागमनबृंहिततोषा । (ख) गमिताखिलदोषा—अखिला दोषा अखिलदोषा । दोषा रात्रिः—'निशा च दोषा रजनी च यामिनी' इति हलायुधः । गमिता अखिलदोषा यया सा गमिताखिलदोषा (ग) आननजसौरभलुब्धैः—आननाज्जातमाननजम् । (आनन + जनी प्रादुर्भावे + ड) सुरभिः सुगन्धिः । तस्य भावः सौरभम् (सुरभि + अण्) आननजं सौरभमाननजसौरभम् । आननजसौरभस्य लुब्धाः (लुभ + क्त) आननजसौरभलुब्धाः । 'लुब्धोऽभिलाषुकः' इति हलायुधः । तैः आननजसौरभलुब्धैः । (घ) मधुपैः—मधु पिबतीति मधुपः (मधु + पा + क) भ्रमर इत्यर्थः । तैः मधुपैः । इसमें कवि ने स्वागता वृत्त का प्रयोग किया है । उसका लक्षण है—'स्वागता रनभगैर्गुरुणा च । (छन्दोमञ्जरी) ॥ १३२ ॥

अविचिन्त्यशक्तिविभवेन सुन्दरी ?
प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः ।
विधुभावमञ्चतितमान्तवानन-
न्नयने सरोजदलनिर्विशेषताम् ॥ १३३ ॥

अन्वयः—हे सुन्दरि ! अविचिन्त्यशक्तिविभवेन प्रथितस्य शम्बररिपोः प्रभावतः तव आननं विधुभावम् अञ्चतितमाम्, नयने सरोजदलनिर्विशेषताम् (अञ्चतस्तमाम्)।

हिन्दीरूपान्तर—हे सुन्दरी ! अचिन्तनीय शक्तिवैभव के कारण विख्यात शम्बरासुर के शत्रु कामदेव के प्रभाव से तुम्हारा मुख चन्द्रत्व को अच्छी तरह से प्राप्त कर रहा है, और आँखे कमलदल की समानता को (खूब प्राप्त कर रही हैं)।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने सुन्दरी के मुख के साथ चन्द्रमा का और आँखों के साथ कमलदल का तादात्म्य स्थापित किया है, अतः उभयत्र रूपकालङ्कार है। साथ ही दोनों एक दूसरे के प्रति सापेक्ष नहीं है अतः निरवय और माला रूप न होने के कारण केवल रूपक को प्रस्तुत करते हैं, तात्पर्य यह कि इस पद्य में निरवयव केवल रूपक अलंकार है। अन्य समानाधिकरण वाले रूपकों से अन्तर केवल इतना है कि यहाँ पर 'चन्द्र' और 'कमलदल' के अभेद रूप में 'चन्द्रत्व' और 'कमलदलनिर्विशेषत्व' को प्रस्तुत किया गया है जो कि द्वितीया विभक्ति के अर्थ में कर्म के विशेषण हैं। (क) अविचिन्त्यशक्तिविभवेन—न विचिन्त्यः अविचिन्त्यः। शक्तेर्विभवः शक्तिविभवः। विभवः ऐश्वर्यम्। 'विभवो रै मोक्षैश्वर्य्ये' इति मेदिनी। अविचिन्त्यः शक्तिविभवः अविचिन्त्यशक्तिविभवः। तेन अविचिन्त्यशक्तिविभवेन ('हेतुना) 'हेतौ' तृतीया। (ख) प्रथितस्य—प्रथते स्म इति प्रथितः 'प्रथ प्रख्याने' धातोः अकर्म्मकत्वात् कर्त्तरि क्त प्रत्ययः। तस्य प्रथितस्य। विश्रुतस्येत्यर्थं। 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमर। (ग) शम्बररिपोः—शम्बरस्य (दानवविशेषस्य) रिपुः शम्बररिपुः। तस्य शम्बररिपोः। 'शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः। असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः।' (महाभारत १।६५।२२) कामदेवस्येत्यर्थः। 'शम्बरारिर्मनसिजः' इत्यमरः। (घ) सरोजदलनिर्विशेषताम्—सरसि जातं सरोजम् तस्य दलं सरोजदलम्। निर्गतः विशेषः (वैशिष्ट्यं) यस्मात् तत् निर्विशेषं समानमित्यर्थः। सरोजदलस्य निर्विशेषं सरोजदलनिर्विशेषं तस्य भावः सरोजदलनिर्विशेषता। ताम् तथोक्ताम्। इसमें कवि ने मञ्जुभाषिणी वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी। (छन्दोमञ्जरी) ॥१३३॥

मीनवती नयनाभ्यां करचरणाभ्यां प्रफुल्लकमलवती।
शैवालिनी च केशैः सुरसेयं सुन्दरी सरसी ॥१३४॥

अन्वय—सुरसा इयं सुन्दरी सरसी नयनाभ्याम् मीनवती करचरणाभ्याम् प्रफुल्लकमलवती च केशैः शैवालिनी अस्ति।

हिन्दीरूपान्तर—शोभनीय जल (या अनुराग) वाली यह रमणी (रूप की) नदी है जो आँखों से मछलियों वाली, हाथों एवम् पैरों से विकसित कमलों वाली और बालों से सेवार वाली है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने सुन्दरी के साथ सरोवरिनी के तादात्म्य को प्रस्तुत कर रूपकालङ्कार की सृष्टि की है। उसी रूपक की सिद्धि के लिए कवि ने तीन अन्य रूपक भी प्रस्तुत किए हैं। ये सभी व्यधिकरण रूपक हैं। नेत्रों के साथ मछलियों का तादात्म्य और हाथों एवं पैरों के साथ खिले कमलों का तादात्म्य तथा केशों के साथ सेवार का तादात्म्य स्थापित किया गया है। इन सभी रूपकों के परस्पर सापेक्ष होने के कारण सावयव रूपक है। साथ ही समस्त उपमानों के शब्दतः उपात्त होने के कारण समस्तवस्तु विषय है। इस प्रकार इस पद्य में समस्त वस्तु विषय सावयव रूपक विद्यमान है। (क) मीनवती मीनौ स्तः अस्यामिति मीनवती। (मीन + मतुप् + ङीप्) 'मत्स्यः तिमिर-निमिषश्च मीनः' इति हलायुधः। (ख) करचरणाभ्याम्—करश्च चरणश्च करचरणे। ताभ्यां करचरणाभ्याम्। (ग) प्रफुल्लकमलवती—प्रकृष्टतया फुल्लं प्रफुल्लम्। प्रफुल्लं कमलं प्रफुलकमलम्। प्रफुल्लकमलानि सन्त्यस्याम् इति प्रफुल्ल-कमलिनी (कमल + मतुप् + ङीप्)। (घ) शैवालिनी—शैवालमस्त्यामिति शैवालिनी (शैवाल+इनि + ङीप्)। (ग) सुरसा—शोभनो हृद्यो रसः जलं यस्यां सा सुरसा (सरसी) तथा शोभनः रमणीयः रसः अनुरागः यस्यां सा सुरसा (सुन्दरी) 'रसो गन्धरसे जले शृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रवरागयोः' इति मेदिनी। (घ) सरसी—(सृगतौ + असुन् + ङीप्) 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः। इसमें कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया है॥ १३४॥

पान्थ ! मन्दमते ! किं वा सन्तापमनुविन्दसि।
पयोधरं समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुयाः॥ १३५॥

अन्वय हे मन्दमते पान्थ! किं वा सन्तापम् अनुविन्दसि? पयोधरं समाशास्व येन शान्तिम् अवाप्नुयाः।

हिन्दीरूपान्तर—अरे मन्दबुद्धि! राही! आखिर क्यों सन्तप्त हो रहा? अरे! पयोधर (बादल तथा रमणीस्तन) की आशाकर जिससे तुझे शान्ति मिल सके।

व्याख्या—यह किसी विप्रवासी पथिक के प्रति कही गई उक्ति है। यहाँ पर हमें सबसे पहले सन्तापशान्ति के कारण 'पयोधर' के बादल रूप अर्थ की प्रतीति होती है। परन्तु जब हम वक्ता द्वारा प्रयुक्त 'मन्दमते !' पद पर ध्यान देते हैं तो यह पता चलता है कि मन्द शब्द को मति के विशेषण रूप में इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि यह विरही अपने सन्ताप को दूर करने का कारण नहीं सोच पाता अतः मन्दबुद्धि है। ऐसा पता चलने पर तुरन्त सहृदय को पयोधर में रमणी के स्तन रूप उपमेय के तादूप्य की प्रतीति होती है। जहाँ उपमान में उपमेय के तादूप्य की प्रतीति होती है वहाँ परिणामालङ्कार की ध्वनि होती है क्योंकि परिणामालङ्कार वहीं होता है जहाँ कि उपमान उपमेय रूप से ही प्रस्तुत अर्थ का उपयोगी होता है—

"आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" (अलंकारसर्व्वस्व)

यह परिणामालंकार ध्वनि चूंकि 'पयोधर' पद के प्रयोग से आती है अतः शब्दशक्तिमूलक है। (क) 'पान्थोऽध्वगोऽध्वनीनः स्यादध्वन्य पथिकस्तथा' इति हलायुधः। (ख) मन्दमते—मन्दा मतिर्यस्य स मन्दमतिः। तत्सम्बुद्धौ हे मन्दमते। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः। यहाँ मन्द का अर्थ अपटु अथवा जड है। मतिः बुद्धिः। (ग) अनुविन्दसि—अनु + विद् + लट् (सिप्)। विद् धातु ज्ञान आदि कई अर्थों में आती है। उसका एक अर्थ प्राप्ति भी है। यहां वह प्राप्ति अर्थ में ही प्रयुक्त हुई है। 'सिद्धान्तकौमुदी' का कथन है—

'सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुकश्नमशेष्विदं क्रमात् ॥"

(घ) पयोधरम्—पयः दुग्धं धरतीति पयोधरः (धृ + अच)। अथवा धरतीति धरः। पयसः (दुग्धस्य) धरः पयोधरः। स्तनमित्यर्थः। तथा पयः जलं धरति धारयति वा पयोधरः मेघः। तम् पयोधरम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १३५ ॥

सम्पश्यतान्तामतिमात्रतन्वीं
शोभाभिराभासितसर्व्वलोकाम्।
सौदामिनी वा सितयामिनी वे-
त्येवञ्जनानां हृदि संशयोऽभूत् ॥ १३६ ॥

अन्वयः—शोभाभिराभासितसर्व्वलोकाम् अतिमात्रतन्वीम् ताम् सम्पश्यताम् जनानां हृदि 'वा सौदामिनी वा सितयामिनी ?' इति एवम् संशयः अभूत्।

हिन्दीरूपान्तर—सौन्दर्य से समस्त लोकों को प्रकाशित करनेवाली, अत्यधिक दुबली उस (सुन्दरी) को देखने वाले लोगों के मन में "क्या यह

बिजली है या कि उँजाली रात है ?" इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया।

व्याख्या—यहाँ पर किसी परम कृशाङ्गी एवम् अत्यन्त सुन्दरी रमणी के सौन्दर्य के वर्णन में कवि ने ससन्देहालंकार की सृष्टि की है। यहाँ पर कवि ने धर्मिणी कामिनी के दो धर्म बतायें है। एक 'अत्यन्तकृशता' और दूसरा समस्त लोकों को अपने सौन्दर्य से प्रकाशित करना'। साथ ही कवि ने संशय की दो कोटियाँ प्रस्तुत की है—एक बिजली और दूसरी उजाली रात। उक्त कामिनी के अनुगामी धर्मों में से पृथक् पृथक् पहला 'अत्यन्तकृशता' रूप धर्म बिजली के साथ घटित होता है, और दूसरा 'समस्त लोकों को अपने सौन्दर्य से प्रकाशित करना' रूप धर्म उजाली रात्रि के साथ घटित होता है। अतः यह 'उक्त पृथक् अनुगामी धर्म' वाले 'ससन्देह' अलंकार को प्रस्तुत करता है। (क) सम्पश्यताम्—सम्+दृश्+शतृ+आम्। (ख) अतिमात्रतन्वीम्—मात्रामल्पगतिक्रान्तम् अतिमात्रम्। अतिमात्रं तन्वी (अतिमात्रेण तन्वी वा) अतिमात्रतन्वी। तामतिमात्रतन्वीम्। अत्यधिककृशामित्यर्थः। (ग) आभासितसर्व्वलोकाम्—आ समन्ताद् भासिताः आभासिताः। सर्वे लोकाः सर्वलोकाः। आभासिताः सर्व्वलोकाः यया सा आभासितसर्व्वलोका। तामाभासितसर्व्वलोकाम्। (ग) सौदामिनी—विद्युदित्यर्थः। 'तडित् विद्युत् सौदामिनी' इति हलायुधः। (घ) सितयामिनी–सिता (शुक्ला) यामिनी (रात्रिः) सितयामिनी। उजाली रात। यामाः सन्त्यस्यामिति यामिनी (या+इनि+ङीप्) 'निशा च दोषा रजनी च यामिनी इति हलायुधः। इसमें कवि ने इन्द्रवज्रा वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)॥ १३६॥

सपल्लवा किन्नु विभाति वल्लरी
सफुल्लपद्मा किमियन्तु पद्मिनी।
समुल्लसत्पाणिपदां स्मितानना-
मितीक्षमाणैः समलम्भि संशयः॥ १३७॥

अन्वयः—समुल्लसत्पाणिपदां स्मिताननाम् ताम् ईक्षमाणैः 'किम् नु इयम् सपल्लवा वल्लरी नु किम् सफुल्लपद्मा पद्मिनी विभाति' इति संशयः समलम्भि।

हिन्दीरूपान्तर—अत्यधिक शोभायमान हाथों एवम् पैरों वाली, तथा मन्दहासयुक्त मुख वाली उस (सुन्दरी) को देखने वाले "क्या यह किसलयों से युक्त मञ्जरी या कि खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरिनी सुशोभित हो रही है ?' इस प्रकार के सन्देह में पड़ गए।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में भी कवि ने किसी रमणी का वर्णन करते हुए

ससन्देहालङ्कार को प्रस्तुत किया है। यहा पर धर्मी है रमणी और कोटियाँ हैं मञ्जरी और सरोवरिनी। रमणी के दो अनुगामी धर्म बताये गये हैं—एक तो अत्यधिक शोभायमान हाथों एवं पैरों वाली होना, और दूसरा—मन्दहास युक्त मुख वाली होना। इनमें से पहले धर्म से युक्त हाथ और पैर का प्रतिबिम्ब पल्लवों से युक्त मञ्जरी में बताया गया है और दूसरे धर्म से युक्त मुख का प्रतिबिम्ब खिले हुये कमलों में बतलाया गया है। अतः यहाँ पृथक् पृथक् बिम्ब-प्रतिबिम्बभावापन्न समानधर्म वाला ससन्देहालङ्कार है। (क) सपल्लवा—पल्लवैः सहिता सपल्लवा। 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः (ख) वल्लरी—मञ्जरीत्यर्थः। "'वल्लक्षेत्रे च मञ्जर्यां वल्लरी तु प्रकीर्त्तिता" इति विश्वप्रकाशः। (ग) सफुल्लपद्मा—फुल्लानि (विकसितानि) पद्मानि (कमलानि) फुल्लपद्मानि। फुल्लपद्मैः सहिता सफुल्लापद्मा। (ख) पद्मिनी—पद्मानि सन्त्यस्यामिति पद्मिनी। (पद्म + इनि + ङीप) सरसीत्यर्थः। 'पद्मिनी स्त्रीविशेषे स्यात् सरस्यामम्बुजेऽपि च' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) समुल्लसत्पाणिपदाम्—पाणिश्च पदञ्च पाणिपदे। सम्यक् उल्लसंती समुल्लसती। समुल्लसती पाणिपदे यस्याः सा समुल्लसत्पाणिपदा। तां समुल्लसत्पाणिपदाम्। (च) स्मिताननाम्—स्मितयुक्तमाननं यस्याः सा स्मितानना। तां स्मिताननाम्। इसमें कवि ने वंशस्थवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' (वृत्तरत्नाकर) ॥ १३७ ॥

नेत्राभिरामं रामाया वदनं वीक्ष्य तत्क्षणम्।
सरोजश्चन्द्रबिम्बं वेत्यखिलाः समशेरत ॥ १३८ ॥

अन्वयः—तत्क्षणम् अखिलाः रामायाः नेत्रभिरामं वदनं वीक्ष्य 'सरोजम् वा चन्द्रबिम्बम्' इति समशेरत।

हिन्दीरूपान्तर—उस समय सभी को रमणी का नयनाभिराम मुख देखकर 'यह कमल है अथवा चन्द्रमण्डल है' ऐसा संशय हो गया।

व्याख्या—यहाँ पर भी कवि ने रमणी के नयनाभिराम मुख का वर्णन करते हुए कमल एवं चन्द्रमण्डलविषयक द्रष्टाओं के संशय को प्रस्तुत किया है। यहाँ धर्मी है रमणी का मुख और कोटियाँ है 'कमल' तथा 'चन्द्रमण्डल'। यहाँ जो 'नयनाभिरामत्व' रमणी के मुख का अनुगामी धर्म है यही दोनों कोटियों कमल और चन्द्रमण्डल का भी अनुगामी धर्म है। इस लिए तीनों का अनुगामी धर्म समान ही है साथ ही शब्दों द्वारा प्रतिपादित भी किया गया है। अतः 'उक्त एक अनुगामी धर्मवाले सन्देहालंकार' को प्रस्तुत करता है (क) नेत्राभिरामम्—नेत्रयोः अभिरामं सुन्दरं नेत्राभिरामम्। द्वितीयैकवचनम्।

(ख) रामायाः—रमते रमयतीति वा रामा। (रम् + ण + टाप्) सुन्दरीत्यर्थः। तस्याः। रामायाः। (ग) वदनम्—मुखम्। 'वदनं वक्त्रं लपनं मुखम्' इति हलायुधः (घ) सरोजम्—सरसि जातं सरोजम् कमलमित्यर्थः। (ङ) चन्द्रबिम्बम्—चन्द्रस्य बिम्बं चन्द्रबिम्बम्। चन्द्रमण्डलमित्यर्थः। "बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" इत्यमरः। (च) अखिलाः—समस्ताः जनाः। 'कृत्स्नं समग्रं सकलं समस्तं सर्वं च विश्वं निखिलाखिले च' इति हलायुधः। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥ १३८ ॥

कनकद्रवकान्तिकान्तया मिलितं राममुदीक्ष्य कान्तया।
चपलायुतवारिदभ्रमान्ननृते चातकपोतकैर्वने ॥ १३९ ॥

अन्वयः—वने चातकपोतकैः कनकद्रवकान्तिकान्तया कान्तया मिलितं रामम् उदीक्ष्य चपलायुतवारिदभ्रमात् ननृते।

हिन्दीरूपान्तर—जंगल में पपीहों के बच्चे स्वर्ण रस की प्रभा के समान रमणीय प्रियतमा (सीता) से संयुक्त राम को देखकर, बिजली से संयुक्त बादल के भ्रम से नाचने लगे।

व्याख्या—भगवान् श्री रामचन्द्र जी के कोमल, कान्तिमय, श्यामल शरीर की रमणीयता का वर्णन करते हुए कवि कहता है, भगवान राम को देखकर पपीहों के बच्चे उन्हे बिजली से युक्त बादल समझ बैठे और मारे हर्ष के नाचने लगे। यहाँ विजली के सदृश सीता की स्वर्णकान्ति और मेघों की तरह श्यामल राम के शरीर को देखकर पपीहों को बिजली और बादल का भ्रम हो गया। और यह भ्रम चातकों के हर्ष को उत्पन्न करता है अतः यहाँ 'भ्रान्तिमान' अलंकार वाच्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। लक्षण है—"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः" (साहित्यदर्पण) अर्थात् सादृश्यवश दूसरी वस्तु में दूसरी वस्तु का कविप्रतिभा से उत्थापित निश्चय ज्ञान 'भ्रान्तिमान्' अलंकार होता है। (क) कनकद्रवकान्तिकान्तया—कनकस्य द्रवः कनकद्रवः। कनकद्रवस्य कान्तिः कनकद्रवकान्तिः। कनकद्रवकान्तिरिव कान्ता कनकद्रवकान्तिकान्ता। तया कनकद्रवकान्तिकान्तया। 'स्वर्णं सुवर्णं कनकम्' इत्यमरः। यहाँ कान्त का अर्थ सुन्दर या रमणीय है। 'कान्तोऽश्मनि गृहे चारौ' इति विश्वप्रकाशः। (ख) कान्तया—काम्यतेऽसाविति कान्ता (कम् + णिच् + कर्मणि क्त + टाप्) मनोहारिणी स्त्री विशेष को कान्ता कहते हैं। 'दयिताप्रतीपदर्शिन्युक्ता कान्ता' इति हलायुधः (च) चपलायुतवारिदभ्रमात्—चपलया युतः चपलायुतः। वारि ददातीति वारिदः (दा + क) मेघ इत्यर्थः। चपलायुतः वारिदः चपलायुतवारिदः। तस्य भ्रमः चपलायुतवारिदभ्रमः। तस्मात् चपलायुतवारिद-

भ्रमात्। चपला का अर्थ विद्युत् विजली है। 'चपला कमला विद्युत्पुंश्चली पिप्पलीषु च' इति विश्वप्रकाशः। 'जलधरस्तडित्वान् वारिदोंऽबुभृत्' इत्यमरः। (घ) चातकपोतकैः—पोतः एवं पोतकः शिशुरित्यर्थः (स्वार्थे कन्)। चातकानां पोतकाः चातकपोतकाः तैः चातकपोतकैः। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। चातक एक पक्षी विशेष है जिसके लिये 'पपीहा' शब्द प्रचलित है। उसके विषय में प्रसिद्धि है कि वह केवल स्वाती नक्षत्र के मेघों के जल का पान करता है। 'कान्तया'-कान्तया में पादान्त यमक है। इसमें कवि ने वैतालीय वृत्त का प्रयोग किया है—षड् विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तरा। न समाऽत्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्तौ रलौ गुरुः (छन्दोमञ्जरी)॥ १३९॥

वनितेति वदन्त्येताँल्लोकाः सर्व्वे वदन्तु ते।
यूनाम्परिणता सेयन्तपस्येपि मतम्मम॥ १४०॥

अन्वयः—सर्वे लोकाः एतां 'वनिता' इति वदन्ति, ते वदन्तु (किन्तु) इयं यूनाम् परिणता सा तपस्या इति मम मतम्।

हिन्दीरूपान्तर—सभी लोग इसको 'स्त्री' है ऐसा कहते हैं, वे कहें किन्तु 'यह युवकों की फलीभूत अनिर्वचनीय तपस्या है" ऐसा मेरा अभिमत है।

व्याख्या—यहाँ पर वस्तु एक है वह है वनिता। उसी का यहाँ पर दो भिन्न ज्ञाताओं द्वारा दो भिन्न प्रकार से ज्ञान कराया गया है। एक ज्ञाता के रूप में तो समस्त लोक को उपस्थित किया गया है कि सभी लोग इसे वनिता कहते हैं। अर्थात् उन्हें इसका वनिता रूप ज्ञात होता है। दूसरा ज्ञाता है स्वयं कवि या वक्ता जो इसे युवकों की परिणत तपस्या कहता है। अतः यहाँ उल्लेखालङ्कार है क्यों कि उल्लेख का लक्षण है—

"बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् जहाँ पर एक ही वस्तु का बहुत से ग्रहीताओं द्वारा बहुत तरह से उल्लेख किया जाता है वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। परन्तु यह उल्लेख यहाँ पर अपह्नुति से संकीर्ण है क्यों कि 'स्त्री' को ही 'तपस्या' के रूप में स्थापित किया गया है—"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः" (साहित्यदर्पण) अर्थात् जहाँ प्रकृति का निषेध करके अन्य की स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। (क) वनिता—'स्त्री योषिदबला ×× वनिता महिला तथा इत्यमरः। वनिता शब्द इस कोश के अनुसार सामान्य स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है। साथ ही अत्यधिक अनुरागिणी स्त्री को भी वनिता ही कहते हैं जैसा कि अमर कोश का कथन है—'वनिता जनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति'

(ख) परिणता—परिणमतिस्म इति परिणता (परि + नम् + क्त + टाप्) अर्थात् फलीभूता। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १४० ॥

स्मयमानाननान्तत्र तां विलोक्य विलासिनीम्।
चकोराश्चञ्चरीकाश्च मुदम्परतरां ययुः ॥ १४१ ॥

अन्वयः—तत्र स्मयमानाननाम् तां विलासिनीं विलोक्य चकोराः च चञ्चरीकाः च परतराम् मुदं ययुः।

हिन्दीरूपान्तर—उस समय मुस्कुराती हुई उस विलासिनी को देखकर चकोर तथा भँवरे अत्यधिक-आनन्द को प्राप्त हो गए।

व्याख्या—यहाँ पर नायिका के मुस्कुराते हुए मुख को देखकर चकोरों तथा भँवरों का अत्यधिक आनन्दित होना वाच्य रूप से वर्णित है। पर उससे यह बात ध्वनित होती है कि चकोरों ने उसके मुख को चन्द्रमा समझा क्योंकि चकोर चन्द्रमा के उदय पर ही प्रसन्न होते हैं और भँवरों ने उसे कमल समझा क्यों कि मधुपान करने के लिए कमल को देखकर ही उनका प्रसन्न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यहाँ चकोरों को चन्द्रमा के रूप में और भँवरों को कमल के रूप में भ्रम हुआ अतः भ्रान्तिमान अलङ्कार ध्वनित होता है। भ्रान्तिमान का लक्षण है—

"साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् सादृश्य के कारण अन्यवस्तु में अन्य वस्तु का कवि प्रतिभा से उत्थापित निश्चयात्मक ज्ञान 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार होता है। परन्तु इस भ्रान्तिमान् के साथ ही उल्लेखालङ्कार भी ध्वनित होता है। क्योंकि नायिका का मुख एक ही वस्तु है जिसके भिन्न भिन्न ग्रहीता हैं चकोर और भँवरे जिनको चन्द्रमा और कमल रूप में भिन्न-भिन्न भ्रान्तियाँ हुई हैं। अतः एक ही वस्तु की अनेक ग्रहीताओं द्वारा अनेक प्रकार के उल्लेख के रूप वाले उल्लेखालङ्कार की भी ध्वनि है। क्योंकि उल्लेख का लक्षण है—

"बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते"। (कुवलयानन्द)

इस प्रकार यहाँ वस्तु से व्यञ्जित भ्रान्तिमान् से संकीर्ण उल्लेखालंकार की ध्वनि है। (क) स्मयमानाननाम्—स्मयमानमाननं यस्याः सा स्मयमानानना (स्मिङ् ईषद्धसने + शानच् = स्मयमानम्) (ख) विलासिनीम्—विलासः अस्त्यस्यामिति विलासिनी (विलासः + इनि + ङीप्) स्त्रियों के अन्दर श्रृङ्गार भाव से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं को विलास कहते हैं—'स्त्रीणां विलासविब्वोकविभ्रमाललितन्तथा। हेलालीलेत्यमी हावाः क्रियाः श्रृङ्गारभावजाः'

(अमरकोश) । (ग) चञ्चरीकाः—चरति पुनः पुनरिति चञ्चरीकः 'पर्फरीकादयश्च' (उणादि ४६०) इति सूत्रेण 'चरगतिभक्षणयोः' इति धातोः ईकन् द्विर्वचनम् अभ्यासस्य च 'चरेर्नुच' इति नुमागमश्च । 'भ्रमरश्चञ्चरीकः स्याद्रोलम्बोमधुसूदनः' इति त्रिकाण्डशेषः । इसमें भी कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त प्रयुक्त किया है ॥ १४१ ॥

वदनकमलेन बाले । स्मितसुषमालेशमादधासि यदा ।
जगदिह तदैव जाने दशार्द्धबाणेन विजितमिति ॥१४२॥

अन्वयः—हे बाले । यदा वदनकमलेन स्मितसुषमालेशम् आदधासि तदा एव इह जगत् दशार्द्धबाणेन विजितम् (भवति) इति जाने ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ बाले ! जभी तू मुख कमल द्वारा मुस्कुराहट के थोड़े से ही सौन्दर्य को धारण करती है तभी यह संसार कामदेव द्वारा जीत लिया जाता है, ऐसा में समझता हूँ ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने कामदेव द्वारा संसार को जीत लेने की सम्भावना प्रतिपादित की है । यहाँ सम्भावना का विषय जगत् है और विषयी विजित होना है । सम्भावना को जन्म देने वाला 'स्मित सुषमालेश' इन दोनों का साधारणधर्म नहीं है । अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं माना जा सकता । यहाँ केवल सम्भावना मात्र है । जिससे 'कामिनी का अपनी मुस्कान से समस्त संसार को मोहित कर लेना ध्वनित होता है । 'वदनकमलेन' में धर्मवाचकलुप्ता उपमा है । (क) वदनकमलेन—वदनं कमलमिव वदनकमलम् । तस्मिन् वदनकमले । 'वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । (ख) स्मितसुषमालेशम्—(स्मिङ् ईषद्धसने + क्त = स्मितम्) स्मितस्य सुषमा स्मितसुषमा । 'सुषमा परमाशोभा' इत्यमरः । स्मितसुषमायाः लेशः स्मितसुषमालेशः । तं स्मितसुषमालेशम् । लेशः कणः । 'लवलेशकणाणवः' इत्यमरः । (ग) दशार्द्धबाणेन—दशस्यार्द्धं दशार्द्धं पञ्च इत्यर्थः । दशार्द्धं बाणाः (शराः) यस्य सः दशार्द्धबाणः । तेन दशार्द्धबाणेन । कामदेवेन इत्यर्थः । कामदेव के पाँच बाण माने गये है । वह भी फूलों के । 'अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका । नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।" साथ ही हलायुध कोश की टीका में एक इस प्रकार का श्लोक भी उद्धृत मिलता है—'सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा । स्तम्भनश्चेति कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः ।" इसमें कवि ने आर्या वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" ॥ १४२ ॥

कलिन्दजानीरभरेऽर्धमग्ना
बकाः प्रकामङ्कृतभूरिशब्दाः ।
ध्वान्तेन वैराद् विनिगीर्य्यमाणाः
क्रोशन्ति मन्ये शशिनः किशोराः ॥ १४३ ॥

अन्वयः—कलिन्दजानीरभरे अर्द्धमग्नाः प्रकामम् कृतभूरिशब्दाः बकाः वैराद् ध्वान्तेन विनिगीर्य्यमाणाः शशिनः किशोराः क्रोशन्ति (इति) मन्ये ।

हिन्दीरूपान्तर—यमुना के अगाध जल में आधे डूबे हुए खूब जोरों से आवाज करते हुए बगुले मानों शत्रुतावश अन्धकार द्वारा निगले जाते हुए चन्द्रमा के बच्चे चिल्ला रहे हैं ऐसा अनुमान करता हूँ ।

व्याख्या—यमुना का जल नील वर्ण है। बगुलों का रंग सफेद है। यमुना के जल में आधे डूबे हुए बगुले तैरते हुए जोर-जोर से आवाज कर रहे हैं। उन्हें देख कर कवि सम्भावना करता है कि ये बगुले मानों चन्द्रमा के बच्चे हैं जिन्हें अन्धकार (अपने वैर के कारण) निगले जा रहा है इसी लिए वे चिल्ला रहे हैं। यहाँ बगुलों की कोलाहल क्रिया में कवि ने चन्द्रमा के बच्चों के चिल्लाने की क्रिया की सम्भावना की है अतः यहाँ क्रिया स्वरूपोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा का लक्षण है—"अन्यधर्मसम्बन्धनिमित्तेनान्यस्यान्यतादात्म्यसम्भावनमुत्प्रेक्षा" (कुवलयानन्द) अर्थात् परस्पर भिन्न पदार्थों की एक दूसरे में रहने वाले धर्म के सम्बन्ध के कारण एक दूसरे के तादात्म्य की सम्भावना उत्प्रेक्षा होती है।" यह स्वरूपोत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा भेद से तीन प्रकार की होती है। जहाँ किसी वस्तु में दूसरी वस्तु के तादात्म्य की सम्भावना की जाती है वहाँ स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में कोलाहल क्रिया रूप वस्तु में चिल्लाने रूप क्रिया की सम्भावना की गई है। अतः यहाँ पर क्रिया स्वरूपोत्प्रेक्षा है। यहाँ कवि ने बगुलों और चन्द्रमा के बच्चों में तथा यमुना जल और अन्धकार में अभेद स्थापित कर यह उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अभेद सम्बन्ध से हुई है (क) कलिन्दजानीरभरे—कलिन्दे (तद्वांख्यपर्वते) जाता कलिन्दजा (जनी प्रादुर्भावे + ड + टाप्) यमुना इत्यर्थः 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना' इत्यमरः कलिन्दजायाः नीरं कलिन्दजानीरम् तस्य भरः कलिन्दजानीरभरः। 'भरोतिशयभारयोः' इति विश्व प्रकाशः। भर का यहाँ अतिशय अर्थ है अर्थात् अगाधजल में। तस्मिन् कलिन्दजानीरभरे। (ख) कृतभूरिशब्दाः—भूरिः शब्दः भूरिशब्दः भूरिः प्रचुरम्। शब्दो ध्वनिः "भूरि प्रभूतम् च पृथ्वी प्रचुरम्। इति हलायुधः 'शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वान-

रवस्वनाः' इत्यमरः। कृतः भूरिशब्दः यैस्ते कृतभूरिशब्दाः। (ग) ध्वान्तेन—अन्धकारेणेत्यर्थः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः। (घ) विनिगीर्यमाणाः—(वि + नि + गृ निगरणे + शानच् + जस्) अच्छी तरह निगले जाते हुये। उस श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा साथ ही तृतीय और चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है॥ १४३॥

परस्परासङ्गसुखान्नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः।
तयोरमृष्यन्नयमुन्नतिम्परामवैमि 'मध्यस्तनिमानमश्चति॥ १४४॥

अन्वय—परस्परासङ्गसुखात् नतभ्रुवः पयोधरौ पीनतरौ बभूवतुः। तयोः पराम् उन्नतिम् अमृष्यन् अयम् मध्यः तनिमानम् अञ्चति (इति) अवैमि।

हिन्दीरूपान्तर—परस्पर आसक्त होने के सुख के कारण झुकी हुई भौंहों वाली (नायिका) के दोनों स्तन अत्यधिक स्थूल हो गए। उन दोनों के परम उत्कर्ष को न सहन कर सकता हुआ यह मध्य (अर्थात् कटि प्रदेश) कृशता को प्राप्त करता है (ऐसा मैं) समझता हूँ।

व्याख्या—इस पद में कवि ने नायिका के प्रवृद्ध स्तनों को एवम् क्षीण कटि को देख कर हेतूत्प्रेक्षा प्रस्तुत किया है। जहाँ पर जो हेतु नहीं होता किन्तु उसकी हेतु रूप में सम्भावना की जाती है वहाँ हेतूत्प्रेक्षा होती है। पूर्वार्द्ध में स्तनों के स्थूल होने के हेतुरूप में कवि ने यह उत्प्रेक्षा कि मानों परस्पर आसक्ति के सुख रूप गुण के कारण वे स्थूल हो गए। अतः हेतूत्प्रेक्षा हुई। तथा उत्तरार्द्ध में कटि के पतली होने के हेतु की उत्प्रेक्षा किया कि मानो वह उन दोनों स्तनों के परमोत्कर्ष को न सहन कर सकने के, कारण पतली हो गई। अतः यह पर सहन रूप गुण के अभाव की हेतु रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। अतः यहाँ पर गुणाभाव हेतूत्प्रेक्षा है (क) परस्परासङ्गसुखान्—परस्परम् शब्द कर्म व्यतिहारेसर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' वार्तिक के अनुसार पर शब्द को द्वित्व होने पर विकल्प से समासवद्भाव न होने के कारण 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्य' वार्तिक से सुप के सु आदेश हो जाने पर निष्पन्न होता है। कर्मव्यतिहार का अर्थ है क्रियाओं का विनिमय। परस्परस्य आसङ्गः परस्परासङ्गः। तस्य सुखं परस्परासङ्गसुखम्। तस्मात् परस्परासङ्गसुखात्। यहाँ हेतु अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है। (ख) तनिमानम्—तनोः भावः तनिमा तनु शब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इति पाक्षिकः इमनिच् प्रत्ययः। तम् तनिमानम्। कृशतामित्यर्थः। (ग) अमृष्यन्—मृष् सहने च +

---

१. "तनिमानमेति" इति पाठान्तरम्।

शतृ = मृष्यन् । न मृष्यन् अमृष्यन् । असहमान इत्यर्थः (घ) मध्यः—कटि-भाग इत्यर्थः । इसमें कवि ने वंशस्थवृत्त का प्रयोग किया है लक्षण है जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ । (वृत्तरत्नाकर) ।। १४४ ।।

जनमोहकरन्तवालि ! मन्ये
चिकुराकारमिदङ्घनान्धकारम् ।
वदनेन्दुरुचामिहाप्रचारा-
दिव तन्वङ्गि नितान्तकान्तिकान्तम् ।। १४५ ।।

अन्वयः—हे तन्वङ्गि ! आलि ! जनमोहकरम् नितान्तकान्तिकान्तम् तव इदम् चिकुराकारम् इह वदनेन्दुरुचाम् अप्रचारादिव घनान्धकारम् मन्ये ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृशाङ्गी ! सखी ! लोगों में मोह पैदा कर देने वाला, अत्यधिक कान्ति में रमणीय तुम्हारा यह केश स्वरूप यहाँ पर मानो मुखचन्द्र की कान्ति के न पड़ने से घना अन्धकार है ऐसा समझती हूँ ।

व्याख्या—कोई सखी नायिका से कहती है कि तुम्हारे इस केशपाश को मैं घना अन्धकार समझती हूँ और वह इस लिए कि इस पर तुम्हारे मुखचन्द्र की कान्ति नहीं पड़ती अतः अन्धकार है । अब यहाँ पूर्वार्द्ध में तो कवि ने स्वरूपोत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है क्योंकि केशपाश (द्रव्य) में अन्धकार की सम्भावना की गई है । अतः द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा है । तथा उत्तरार्द्ध में उस अन्धकार की उत्प्रेक्षा के हेतु रूप में मुखचन्द्र की कान्ति की प्रचार रूप क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः क्रियाभाव हेतूत्प्रेक्षा है । साथ ही 'वदनेन्दुरुचाम्' में 'वदनमेव इन्दुः' इस प्रकार रूपकालङ्कार प्रस्तुव किया गया । इस तरह इन तीनों का परस्पर सङ्कर यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत किया है । (क) जनमोहक-रम्—करोतीति करः (कृ + अच्) । जनानां मोहः जनमोहः । जनमोहस्य करः जनमोहकरः । तम् जनमोहकरम् । (ख) 'वयस्याली सखी स्मृता' इति हलायुधः । (ग) चिकुराकारम्—चिकुरस्याकारः चिकुराकारः । 'केशाः शिरसिजमूर्धजक-चचिकुरशिरोरुहाः' इति हलायुधः । आकार का अर्थ यहाँ स्वरूप है 'आकारावि-ङ्गिताकृती' इत्यमरः । (घ) घनान्धकारम्—घनः अन्धकारः घनांधकारः । घनः सान्द्र इत्यर्थः । प्रगाढ अंधकार ! 'घनं सान्द्रे दृढे दार्ढ्ये विस्तारे लोह-मुद्गरे' इति विश्वप्रकाशः । तं घनान्धकारम् । (ङ) वदनेन्दुरुचाम्—वदन-मेवेन्दुः वदनेन्दुः । वदनेन्दोः रुचः वदनेन्दुरुचः । मुखचन्द्रप्रभाः । 'स्युः प्रभा-रुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । तासां वदनेन्दुरुचाम् । (च) नितान्तकान्तिकान्तम्—कान्त्या कान्तं कान्तिकान्तम् । 'कान्तोऽश्मनि गृहे

चारौ' इति 'विश्वप्रकाशः। यहां कान्त का अर्थ चारु शोभन है। नितान्तं कान्तिकान्तम् नितान्तकान्तिकान्तम्। 'कामम् प्रकामं पर्याप्तं नितान्तं भृशमुच्यते' इति हलायुधः। इसमे कवि ने 'कालभारिणी' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १४५ ॥

दिवानिशं वारिणि कण्ठदघ्ने दिवाकराराधनमाचरन्ती ।
वक्षोजतायै किमु पक्ष्मलाक्ष्यास्तपश्चरत्यम्बुजपङ्क्तिरेषा ॥ १४६ ॥

अन्वयः—दिवानिशम् कण्ठदघ्ने वारिणि दिवाकराराधनम् आचरन्ती एषा अम्बुजपङ्क्तिः किमु पक्ष्मलाक्ष्याः वक्षोजतायै तपः चरति ।

हिन्दीरूपान्तर—दिन रात कण्ठपर्यन्त जल में सूर्य की आराधना करती हुई यह कमलों की कतार क्या सघन पलकों से युक्त नेत्रों वाली नायिका के स्तनत्व के लिए तपस्या कर रही है ?

व्याख्या—कवि दिन रात कण्ठ पर्यन्त जल में कमलों के देखते हुए यह कल्पना करता है कि ये कमल भगवान् सूर्य की आराधना करते हुए तपस्या कर रहे हैं। परन्तु यह तपस्या किस लिए है, इस फल की यहाँ कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानों नायिका के स्तनत्व के लिए उनकी तपस्या है कि वे भी नायिका के स्तन बन जाँय। इस प्रकार चूँकि यहाँ 'स्तनत्व' जाति है जिसे कि कवि ने फल रूप में उत्प्रेक्षित किया है, अतः इस पद्य में 'जाति फलोत्प्रेक्षा' अलङ्कार स्वीकार किया जायगा। (क) दिवानिशम्—दिवा च निशा च दिवानिशम्। अहोरात्रः इत्यर्थः। दिन रात। (ख) कण्ठदघ्ने—कण्ठः प्रमाणमस्येति कण्ठदघ्नम्। कण्ठशब्दात् 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३७) इति दघ्नच् प्रत्ययः। तस्मिन् कण्ठदघ्ने। कण्ठप्रमाणे जले इत्यर्थः। (ग) दिवाकराराधनम्—दिवा दिनं करोतीति दिवाकरः। (दिवा + कृ + ट) 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्कारानन्तादि बहुनान्दी किलिपिलिब्रिबलिभक्तिकर्तृ चित्रक्षेत्रसङ्ख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु' (३।२।२१) इति सूत्रेण टप्रत्ययः। दिवाकरः सूर्यः। 'सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकरः' इत्यमरः। दिवाकरस्य आराधनं दिवाकराराधनम्। (घ) वक्षोजतायै—वक्षसि जातं वक्षोजम्। वक्षोजस्य भावः वक्षोजता। तस्यै वक्षोजतायै। (घ) पक्ष्मलाक्ष्याः पक्ष्मले (पक्ष्म + लच्) अक्षिणी यस्याः सा पक्ष्मलाक्षी। तस्याः पक्ष्मलाक्ष्याः। (ङ) अम्बुजपंक्तिः—अम्बुनि जातम् अम्बुजम्। अम्बुजानां पङ्क्तिः अम्बुजपंक्तिः। इस श्लोक में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने से 'उपजाति' वृत्त है ॥ १४६ ॥

वियोगवह्निकुण्डेऽस्मिन् हृदये ते वियोगिनि ।
प्रियसङ्गसुखायेव मुक्ताहारस्तपस्यति ॥ १४७ ॥

अन्वयः—हे वियोगिनि ! (अयम्) मुक्ताहारः वियोगवह्नि कुण्डे ते अस्मिन् हृदये प्रियसङ्गसुखाय इव तपस्यति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ विरहिणी ! (यह) यह मोतियों का हार विरहाग्नि के कुण्डभूत तुम्हारे इस हृदय में मानो प्रियतम के सम्मिलन सुख के लिए तपस्या कर रहा है ।

व्याख्या—यहाँ कोई सखी विरहिणी नायिका के वक्षः स्थल पर लटकते हुए हार को देखकर कहती है कि यह हार तपस्या कर रहा है क्योंकि विरहिणी का हृदय तो प्रियविरह की अग्नि का कुण्डभूत है उस कुण्ड में बराबर पड़े रहना घोर तपस्या नहीं तो और क्या है । परन्तु यह तपस्या किस लिए कर रहा है इस फल की उत्प्रेक्षा की गई कि मानो प्रियतम के समागम से उत्पन्न सुख के लिये तपस्या कर रहा है । यहाँ प्रियसङ्ग सुख एक गुण है अतः यहाँ 'गुणफलोत्प्रेक्षा' मानी जायगी । साथ ही हृदय पर कुण्ड का आरोप किया गया है जिसकी सिद्धि के लिए वियोग पर वह्नि का आरोप किया गया है परन्तु मुक्ताहार पर तपस्वी का आरोप अर्थतः आक्षिप्त करना पड़ता है अतः यहाँ एकदेशविवर्ति सावयवरूपक भी माना जायगा । (क) वियोगवह्निकुण्डे—वियोगः एव वह्निः वियोग वह्निः । 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः' इत्यमरः । तस्य कुण्ड वियोगवह्नि-कुण्डम् । तस्मिन् वियोगवह्निकुण्डे । (ख) प्रियसङ्गसुखायेव—प्रियस्य सङ्गः प्रियसङ्गः । प्रियसङ्गस्य सुखं प्रियसङ्गसुखम् । तस्मै प्रियसङ्गसुखाय । तदिव प्रियसङ्गसुखायेव । 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासः । इव शब्दोऽत्र उत्प्रेक्षावाचकः । (ग) मुक्ताहारः—मुक्तानिर्मितः हारः मुक्ताहारः अथवा मुक्तानां हारः मुक्ताहारः । मौक्तिकमाला इत्यर्थः । (घ) वियोगिनी—वियो-गोऽस्त्यस्या इति वियोगिनी । (वियोग+इनि + ङीप्) । इसमें 'अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया गया है ।

निधिं लावण्यानान्तव खलु मुखन्निर्मितवतो
महामोहम्मन्ये सरसिरुहसूनोरुपचितम् ।
उपेत्य त्वां यस्माद् विधुमयमकस्मादिह कृती
कलाहीनन्दीनं विकल इव राजानमकरोत् ॥१४८॥

अन्वयः—लावण्यानाम् निधिम् तव मुखम् निर्म्मितवता सरसिरुहसूनोः

उपचितम् महामोहम् मन्ये यस्मात् अयम् कृती त्वाम् उपेक्ष्य इह विकल इव कलाहीनम् दीनम् विधुम् राजानम् अकरोत् ।

हिन्दीरूपान्तर—सौन्दर्यों के निधिभूत तुम्हारे मुख को बनाने वाले कमल सुत (ब्रह्मा) का बढ़ा हुआ महान् अज्ञान समझता हूँ जो इस कुशल ने तुम्हारी उपेक्षा करके इस संसार में घबड़ाये हुए की तरह कलाओं से हीन एवं दीन चन्द्रमा को राजा बना दिया ।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा की चाटुकारिता करते हुए कहता है कि इस ब्रह्मा को भी अच्छी मूर्खता सूझी है कि लावण्यनिधि तुम्हारे मुख की उपेक्षा कर पगले की तरह कलाहीन एवं दीन चन्द्रमा को राजा बना दिया । यहाँ ब्रह्मा के अन्दर 'मोह' रूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गई है । जिसे सिद्ध करने के लिए उत्तरार्द्ध में 'विधि' के समानाधिकरण्य रूप में 'विकल इव' (घबड़ा कर बिना विचारे काम करनेवाला) पद लाया गया है जो कि मोह धर्म को परिपुष्ट करता है । इस उत्प्रेक्षा का मूल 'राजा' शब्द है । राजा केवल नृप का वाचक ही नहीं बल्कि चन्द्रमा का पर्याय भी है—"राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे" (अमरकोश) । 'विकल इव' में उपमा है । यह उत्प्रेक्षा और उपमा 'व्यतिरेकालङ्कारध्वनि' को प्रस्तुत करते हैं क्योंकि इससे ध्वनित होता है कि 'तुम्हारा मुख चन्द्रमा से अधिक बढ़ चढ़कर है' और व्यतिरेक का यही लक्षण है—

"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् उपमान से उपमेय की अधिकता ही व्यतिरेकालङ्कार होती है । यहाँ वह व्यंग्य होने के कारण ध्वनि रूप है । (क) सरसिरुहसूनोः—सरसि रोहतीति सरसिरुहम् । कमलम् । तस्य सूनुः सरसिरुहसूनुः । 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः । ब्रह्मा इत्यर्थः । 'ब्रह्मा स्रष्टा परमेष्ठी धाता पद्मभूः ।' इति हलायुधः । तस्य सरसिरुहसूनोः । (ख)कलाहीनम्—कलाभिः हीनं कलाहीनम् । 'दीनो दरिद्रः' इत्यमरः । (ग) महामोहम्—महांश्चासौ मोहश्च महामोहः । तम् महामोहम् । इसमें कवि ने 'शिखरिणी' वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है— 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १४८ ॥

स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुर्बहिरुपागतम् ।
मनोऽनुरागि ते तन्वि ! मन्ये वल्लभमीक्षितुम् ॥१४९॥

अन्वयः—हे तन्वि ! स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः ते अनुरागि मनः वल्लभम् ईक्षितुम् बहिः उपागतम् मन्ये ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृशाङ्गी ! स्तनों के मध्य में स्थित मोतियों के शरीर

वाले तुम्हारे अनुरागी चित्त को प्रियतम को देखने के लिए बाहर आ गया समझता हूँ।

व्याख्या -- सखी विरहिणी नायिका से कह रही है कि यह तुम्हारे स्तनों के बीच में विद्यमान मोती नहीं है बल्कि तुम्हारा अनुरागी मन है जो कि बाहर आ गया है। इसलिए यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है। अपह्नुति का लक्षण है—

"प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः (साहित्यदर्पण)

अर्थात् प्रकृतिका निषेध कर दूसरे की स्थापना करना अपह्नुति है। यह अपह्नुति दो प्रकार की होती है एक जहाँ निषेध करके आरोप किया जाता है तथा दूसरी जहाँ निषेध किया जाता है। यहाँ दूसरे प्रकार की अपह्नुति है क्यों कि माणिक्य का निषेध करके मन का आरोप नहीं किया गया बल्कि मन का आरोप करके माणिक्य का अपह्नव किया गया है। यह अपह्नव इस पद्य में प्रस्तुत की गई फलोत्प्रेक्षा का साधक है। क्यों कि जब मन बाहर आ गया तो प्रश्न उठता है कि वह बाहर किस लिए आया? इसी फल के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की कि मानों प्रियतम को देखने के लिए बाहर आ गया है? देखना क्रिया है। अतः यहाँ प्रधानतः 'क्रियाफलोत्प्रेक्षा' अलङ्कार है जिसका साधक 'अपह्नुति' अलङ्कार है। (क) स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः—स्तनयोरन्तः (अभ्यन्तरम्) स्तनान्तः। तत्र गतं स्तनान्तर्गतम्। स्तनान्तर्गतं माणिक्यं स्तनान्तर्गतमाणिक्यम् स्तनान्तर्गतमाणिक्यमेव वपुः यस्य तत् स्तनान्तर्गतमाणिक्यवपुः। 'गात्रं वपुः संहननं शरीरम्' इत्यमरः। (ख) उपागतम्—(उप+ आ + गम् + क्त) (ग) अनुरागि—अनुरागः अस्ति अस्मिन्निति अनुरागि। (अनुराग + इनि)। (ङ) वल्लभम्—प्रियतममित्यर्थः 'वल्लभो दयितेऽध्यक्षे सल्लक्षणतुरङ्गमे। इति मेदिनी। इसमें भी अनुष्टुप् वृत्त है ॥ १४९ ॥

जगदन्तरममृतमयैरंशुभिरापूरयन् नितराम्।
उदयति वदनव्याजात् किमु राजा हरिणशावनयनायाः ॥१५०॥

अन्वयः—हरिणशावनयनायाः वदनव्याजात् जगदन्तरम् अमृतमयैः अंशुभिः नितराम् आपूरयन् किम् राजा उदयति।

हिन्दीरूपान्तर—मृगशावकनैनी के मुख के बहाने समस्त जगतीतल को सुधामयी किरणों से अच्छी तरह परिपूर्ण करता हुआ क्या चन्द्रमा उदित हो रहा है।

व्याख्या—नायक की उक्ति है। यहाँ कवि ने मृगशावकनैनी नायिका के मुख में चन्द्रमा के अभेद की सम्भावना की है, अतः स्वरूपोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है नायिका का मुख जिसका कवि ने 'कैतवापह्नुति' के द्वारा

अपह्नव कर दिया है। इस अपह्नव के कारण मुख में चन्द्रमा के अभेद की सम्भावना रूपी उत्प्रेक्षा और भी अधिक परिपुष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त हरिणशावनयनायाः' पद में धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा भी है। (क) जगदन्तरम्—जगतःअन्तरं जगदन्तरम्। द्वितीयैकवचनम् अन्तरमवकाशः। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये, इति मेदिनी। (ख) अंशुभिः—किरणैः। 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः (ग) वदनव्याजात्—वदनं मुखम्। वदनस्य व्याजः वदनव्याजः। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इति चामरः। तस्मात् वदनव्याजात् (घ) राजा—चन्द्र इत्यर्थः। 'राजा परिवृढे भूपे क्षत्रिये शशलाञ्छने' इति नानार्थसंग्रहः (ङ) हरिणशावनयनायाः—हरिणस्य शावः हरिणशावः। 'शिशुः शावो डिम्भश्च' इति हलायुधः। हरिणशावस्य नयने इव नयने यस्या सा हरिणशावनयना। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इति भाष्यवार्त्तिकेन समासः उपमानपदलोपश्च। अत्र धर्मवाचकोपानलुप्ता उपमा। तस्याः हरिण शावनयनायाः। इसमें कवि ने 'उद्गीति' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्याशकलद्वितये विपरीते पुनरिहोद्गीतिः' (छन्दोमञ्जरी)॥१५०॥

तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिकाः कमलविद्रुमचम्पककोरकाः।
यदि मिलन्ति कदापि तदाननङ्खलु तदा कलया तुलयामहे॥१५१॥

अन्वयः—यदि कदाऽपि तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिकाः कमलविद्रुमचम्पककोरकाः मिलन्ति तदा खलु तदाननम् कलया तु-यामहे।

हिन्दीरूपान्तर—अगर कभी अन्धकार, शरत्कालीन चन्द्रमा, चाँदनी, कमल, प्रवाल और चम्पक की कलियाँ (परस्पर) मिले तो कहीं उससे मुख की थोड़ी सी तुलना कर सकूँ।

व्याख्या—यहां कोई कवि नायिका के मुख की तुलना करने के लिये अन्धकार तथा शरत्कालीन चन्द्रमा आदि के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना कर रहा है कि अगर ये सारी चीजें परस्पर मिलें तो कुछ हदतक नायिका के मुख की तुलना उनसे की जा सकती है। इस प्रकार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना किये जाने के कारण सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार है—

"सम्बन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम्।" (कुवलयानन्द)।

साथ ही सम्भावना अलङ्कार भी है क्योंकि 'यदि अन्धकार और शरत्कालीन चन्द्रमा आदि परस्पर मिलते तो नायिका के मुख की उनसे तुलना करता' इस प्रकार का तर्क उपस्थित किया गया है—

"सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये।" (कुवलयानन्द)।

इन अतिशयोक्तियों के द्वारा 'नायिका का केशकलाप अन्धकार के समान'

'उसका मुख शरत्कालीन चन्द्रमा के समान', 'उसके मुख का लावण्य चन्द्रिका के समान', 'उसकी आँखें कमल के समान' उसका अधर प्रवाल के समान' और 'उसके दाँत चम्पक पुष्प के समान हैं' इस प्रकार की उपमायें ध्वनित होती हैं। (क) तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिका—शरदि भवः शारदः 'शरत्' शब्दात् 'सन्धि वेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' (४।३।१६) इत्यण् प्रत्ययः। शारदश्चासौ चन्दिरश्च शारदचन्दिरः। चन्दन्ति हृष्यन्ति लोका अनेनेति चन्दिरः। चन्द्रमा इत्यर्थः। 'चदि आह्लादे' धातोः 'इषि मदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दितिमिमिहिमुहिमुचिरुचिरुधिबन्धिशुषिभ्यः किरच्' (उणादि ५१) इति किरच् प्रत्ययः। 'चन्दिरोऽनेकपे चन्द्रे' इति मेदिनी। तिमिरञ्च शारदचन्दिरश्च चन्द्रिका चेत्येतेषामितरेतरयोगः तिमिरशारदचन्दिरचन्द्रिकाः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः। इति 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इति चामरः। (ख) कमल-विद्रुम-चम्पक-कोरकाः—चम्पकस्य कोरकः चम्पककोरकः। 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः। कमलञ्च विद्रुमश्च चम्पककोरकश्चेत्येतेषामितरेतरयोगः कमलविद्रुमचम्पककोरकाः। 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः। मूगे को विद्रुम कहते हैं। (ग) कलया—अंशमात्रेण। 'कला स्यान्मूलवित्तवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके' इति विश्वप्रकाशः। इसमें कवि ने द्रुतविलम्बित वृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' (छन्दोमञ्जरी)॥ १५१॥

प्रिये! विषादञ्जहिहीति वाचम्प्रिये सरागं वदति प्रियायाः।
वारामुदारा विजगाल धारा विलोचनाभ्याम्मनसश्च मानः॥१५२॥

अन्वयः—प्रिये सरागम् "प्रिये! विषादम् जहि हि" इति वाचं वदति प्रियायाः विलोचनाभ्याम् वाराम् उदारा धारा, च मनसः मानः विजगाल।

हिन्दीरूपान्तर—प्रियतम के प्रेमपूर्वक "हे प्रियतमे! विषाद का परित्याग कर दो" ऐसी वाणी बोलने पर प्रियतमा की आँखों से जल की विशाल धारा और हृदय से मान निकल भागा।

व्याख्या—कवि ने यहाँ पर किसी मानिनी नायिका के वृत्तान्त को प्रस्तुत किया है। क्यों कि प्रियतम के 'प्रियतमे! विषाद छोड़ दो' इतना ही कह देने पर वह रोने लगी और मान का परित्याग कर दिया, इससे उस नायिका का 'मुग्धात्व' सिद्ध होता है क्यों कि 'मानमृदु' वही होती है। लक्षण है—

"प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥ (साहित्यदर्पण)

यहाँ पर 'जलधारा' और 'मान' का 'निकल भागना' (विजगाल) रूप एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है। मानवती नायिका का वर्णन होने के कारण दोनों ही प्रस्तुत है। अतः 'तुल्ययोगिता' अलङ्कार है। लक्षण है—

"पदार्थानाम्प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् केवल प्रस्तुत अथवा केवल अप्रस्तुत पदार्थों का जहाँ एक ही धर्म के साथ सम्बन्ध वर्णित किया जाता है वहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। (क) सरागम्—रागेण सहितं यथा स्यात्तथा सरागम्। (क्रियाविशेषणमेतत्) रागोऽनुरक्तिः। 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति विश्वप्रकाशः। आदि में आया हुआ 'प्रिये' प्रियतमा के लिए किया गया सम्बोधन है। दूसरे प्रिये में तथा वदति में 'यस्या च भावेन भावलक्षणम्' से सप्तमी विभक्ति हुई है। (ख) वाराम्—जलानामित्यर्थः। (वार्+आम्) 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः। (ग) उदारा—महतीत्यर्थः (उदार+टाप्)। 'उदारो दातृमहतोः' इति विश्वप्रकाशः। इस श्लोक के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण 'उपजाति' वृत्त है ॥ १५२ ॥

राज्याभिषेकमाज्ञाय शम्बरासुरवैरिणः।
सुधाभिर्जगतिमध्यल्लिम्पतीव सुधाकरः ॥ १५३ ॥

अन्वयः—शम्बरासुरवैरिणः राज्याभिषेकम् आज्ञाय सुधाकरः जगतीमध्यम्, सुधाभिः लिम्पति इव।

हिन्दीरूपान्तर—शम्बरासुर के शत्रु कामदेव के राज्याभिषेक को जानकर चन्द्रमा भूमण्डल को मानों सुधा (चूने) से पोत रहा है।

व्याख्या—चन्द्रमा की फैली हुई चांदनी को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो चन्द्रमा समस्त जगतीतल को सुधा से पोत रहा है। इस प्रकार यहाँ कवि ने 'पोतने' रूप क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा की है अतः 'क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। और चूंकि यहाँ कवि ने सफेद चांदनी और सुधा में अभेद स्थापित करके उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की है अतः यह अभेद सम्बन्ध से की गई उत्प्रेक्षा है। (क) राज्याभिषेकम्—राज्ये राज्याय वा अभिषेकः राज्याभिषेकः (ख) शम्बरासुरवैरिणः—शम्बरः असुरः शम्बरासुरः। वैरमस्त्यस्येति वैरी (वैर+इनि) शत्रुरित्यर्थः। शम्बरासुरस्य वैरी शम्बरासुरवैरी तस्य शम्बरासुरवैरिणः। कामदेवस्येत्यर्थः। 'कामः पञ्चशरः

स्मरः शम्बरारिः' इत्यमरकोशः। (ग) सुधाभिः—सुधा का अर्थ अमृत के साथ साथ लेप (चूना आदि) भी होता है। विश्वप्रकाश का कथन है—'सुधाऽमृते स्नुहीमूर्वालेपगांगेष्टिकासु च'। यहाँ चूंकि सुधाकर (चन्द्रमा) द्वारा लेप की उत्प्रेक्षा की गई है। अतः सुधा का अर्थ अमृत ही लिया जायगा। (घ) जगतीमध्यम्—जगत्याः मध्यः जगतीमध्यः। तं जगतीमध्यम्। 'भूर्भूमिर्वसुधा जगती रसा' इति हलायुधः। (ङ) सुधाकरः—सुधायुक्ताः कराः (रश्मयः) यस्य सः सुधाकरः। 'करो वर्षोपले पाणौ शुण्डाप्रत्ययरश्मिषु'। 'चन्द्रः××विधुः सुधांशुः' इत्यमरः। लिम्पतीव में प्रयुक्त इव उत्प्रेक्षावाचक है। इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १५३ ॥

आननम्मृगशावाक्ष्या वीक्ष्य लोलालकावृतम्।
भ्रमद्भ्रमरसम्भारं स्मरामि सरसीरुहम् ॥ १५४ ॥

अन्वय—मृगशावाक्ष्याः लोलालकावृतम् आननं वीक्ष्य भ्रमद्भ्रमरसम्भारं सरसीरुहं स्मरामि।

हिन्दीरूपान्तर—मृगशावकनैनी के चञ्चल अलकों से आच्छादित मुख को देखकर मैं मँडराते हुये भौंरों वाले कमल को याद कर रहा हूँ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने स्मरणालङ्कार प्रस्तुत किया है। नायक को नायिका की चञ्चल अलकों से घिरे हुए उसके मुख को देखकर मंडराते भौंरों से युक्त कमल की याद आ रही है। कमल के सदृश तो नायिका का मुख है और मंडराते भँवरों के सदृश उसकी चञ्चल अलकें हैं। अतः सदृश वस्तु के दर्शन से वस्त्वन्तर का नायक द्वारा स्मरण दिखाये जाने से स्मरणालङ्कार है। रुद्रट ने स्मरण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥" (काव्यालंकार)

अर्थात् बोद्धा जहाँ पर किसी विशेष वस्तु को देखकर उसके सदृश कालान्तर में अनुभव की गई दूसरी वस्तु की याद करता है तो स्मरणालङ्कार होता है। यदि इस पद्य का अन्वय 'भ्रमद्भ्रमरसम्भारं सरसीरुहं वीक्ष्य मृगशावाक्ष्याः लोलालकावृतम् आननम् स्मरामि' कर दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं। वहाँ भी स्मरणालङ्कार ही रहेगा। क्योंकि वहाँ कमल को देखकर नायिका के मुख का स्मरण होगा। (क) मृगशावाक्ष्याः—मृगस्य शावः (शिशुः) मृगशावः। मृगशावस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा मृगशावाक्षी। यहाँ धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' भाष्यवार्तिक से समास तथा उपमान-

वाचक पद का लोप है। (ख) लोलालकावृतम्—लोलाः अलकाः लोलालकाः। लोलालकैः आवृतं लोलालकावृतम्। 'लोलं चपलं चटुलं प्रचलं×× चञ्चलं च कथयन्ति' इति हलायुधः। 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः। इत्यमरः। (ग) भ्रमद्-भ्रमरसम्भारम्—भ्रमन्तः भ्रमराः भ्रमद्भ्रमराः। भ्रमद्भ्रमराणां सम्भारः यस्मिन् तत् भ्रमद् भ्रमरसम्भारम्। (घ) सरसीरुहम्—सरस्यां रोहतीति सरसीरुहम्। कमलमित्यर्थः। इसमें भी कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ १५४॥

यान्ती गुरुजनैः साकं स्मयमानननाम्बुजा।
तिर्य्यग्ग्रीवं यदद्राक्षीत् तन्निष्पत्राकरोज्जगत्॥ १५५॥

अन्वयः—गुरुजनैः साकं यान्ती स्मयमानाननाम्बुजा यत् तिर्य्यग्ग्रीवम् अद्राक्षीत् तत् जगत् निष्पत्राकरोत्।

हिन्दीरूपान्तर—गुरुजनों के साथ जाती हुई मुस्कुराते हुए मुखकमल वाली नायिका ने जो तिरछी गर्दन करके देखा तो संसार को तीर से वेध दिया अर्थात् संसार को अत्यधिक पीड़ित कर दिया।

व्याख्या—किसी नायक का नायिका के विषय में अपने मित्र से यह कथन है। यहाँ कवि ने निदर्शना अलङ्कार प्रस्तुत किया है। नायिका ने जो तिरछी गर्दन करके देखा तो जगत् को तीर से वेध दिया यह वाक्य ठीक से अन्वित नहीं होता। देखने और तीर से वेधने का वाक्य सम्बन्ध क्या है? अतः इनका पर्यवसान बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में होता है कि जिस तरह तीर से बिंधने पर पीडा होती है उसी तरह नायिका के देखने से संसार पीडित हो उठा। अतः निदर्शना है। 'निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' (काव्य-प्रकाश)। (क) यान्ती ('या प्रापणे' (अदादि०) + शतृ + नुम + ङीप्) गच्छन्तीत्यर्थः। क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी का कथन है—'प्रापणमिह गतिः।' (ख) गुरुजनैः—गुरवः महान्त श्रेष्ठाः जनाः गुरुजनाः। तैः गुरुजनैः। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) इति 'सह' इत्यस्य सहार्थग्रहणात् 'साकमि'त्यस्य योगे तृतीया। (ग) स्मयमानाननाम्बुजा—आननमम्बुजमिवाननाम्बुजम्। मुखकमलमित्यर्थः। (स्मिङ् ईषद्धसने + शानच = स्मयमानम्) स्मयमान-माननाम्बुजं यस्याः सा स्मयमानाननाम्बुजा। (घ) तिर्य्यग्ग्रीवम्—तिर्य्यञ्चती ग्रीवा यस्मिन् तद्यथास्यात्तथा तिर्य्यग्ग्रीवम्। क्रियाविशेषणम्। गर्दन तिरछी करके। (ङ) निष्पत्राकरोत्—सपुङ्खस्य शरस्यापरपार्श्वेन निर्गमनान्निष्पत्र-मकरोदित्यर्थः 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' (५।४।६१) इति डाच्प्रत्ययः। अर्थात् समस्त संसार को बाणों से वेध दिया। इसमें अनुष्टुप् वृत्त प्रयुक्त हुआ है॥१५५॥

मृणालमन्दानिलचन्दनानामुशीरशैवालकुशेशयानाम् ।
वियोगदूरीकृतचेतनानां विनैव शैत्यम्भवति प्रतीतिः ॥१५६॥

अन्वयः—वियोगदूरीकृतचेतनानाम् मृणालमन्दानिलचन्दनानाम् उशीरशैवालकुशेशयानां शैत्यं विना एव प्रतीतिः भवति ।

हिन्दीरूपान्तरम्—(प्रिय) वियोग के द्वारा चैतन्यहीन कर दिये गये लोगों को मृणाल, मन्द पवन, चन्दन, खश, सिवार और कमल का शीतलता से हीन ही ज्ञान होता है ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने वियोगियों की प्रतीति रूप क्रिया का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है, क्योंकि विरहियों को मृणाल आदि में शीतलता की प्रतीति नहीं होती ऐसा माना गया है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार है । यह पद्य रसगङ्गाधर में विनोक्ति अलङ्कार के प्रसङ्ग में उद्धृत हैं । वहाँ 'वियोग दूरीकृतचेतनानाम्' के स्थान पर 'वियोगदूरीकृतचेतनायाः' पाठ मिलता है । पण्डितराज ने इसे अलङ्कारभाष्यकार के विनोक्ति के लक्षण के अनुसार कि 'नित्य सम्बन्धवालों के असम्बन्ध कथन को विनोक्ति कहते हैं' उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है । यहाँ मृणाल आदि का शैत्य के साथ नित्य सम्बन्ध होने पर भी उसका अभाव वर्णित किया गया है अतः विनोक्ति है । (क) मृणालमन्दानिलचन्दनानाम्—मन्दः अनिलः मन्दानिलः । 'वायुर्मरुदनिलः' इति हलायुधः । मृणालञ्च मन्दानिलश्च चन्दनञ्च मृणालमन्दानिलचन्दनानि । तेषां मृणालमन्दानिलचन्दनानाम् । 'मृणालं स्याद्बिसम्' इति च हलायुधः । (ख) उशीरशैवालकुशेशयानाम्—उशीरञ्च शैवालञ्च कुशेशयञ्च उशीरशैवालकुशेशयानि । तेषामुशीरशैवालकुशेशयानाम् । उशीर गांडर की जड़ अर्थात् खश को कहते हैं 'उशीरं वीरणीमूलम्' इति हलायुधः । कुशेशय कमल को कहते हैं—'कुशेशयं तामरसं सरोरुहम् विसप्रसूनं कमलम्' इति हलायुधः । (ग) वियोगदूरीकृतचेतनानाम्—अदूरा दूरा कृता इति दूरीकृता । अभूततद्भावे च्विः । वियोगेन (प्रियविरहेणेत्यर्थः) दूरीकृता वियोगदूरीकृता । तथाभूता चेतना येषान्तानि वियोगदूरीकृतचेतनानि । तेषां वियोगदूरीकृतचेतनानाम् । स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषामित्यर्थः । (घ) शैत्यम्—शीतस्य भावः शैत्यम् । भावे ष्यञ् । शीतलतामित्यर्थः । 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२।३।३२) इति सूत्रेण पाक्षिकी द्वितीया विभक्तिः । (ङ) प्रतीतिः—ज्ञानम् । इसमें कवि ने उपेन्द्रवज्रावृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" (वृत्तरत्नाकर) ॥ १५६ ॥

विबोधयन् करस्पर्शैः पद्मिनीम्मुद्रिताननाम् ।
परिपूर्णोऽनुरागेण प्रातर्जयति भास्करः ॥ १५७ ॥

अन्वयः—प्रातः मुद्रिताननाम् पद्मिनीं करस्पर्शैः विबोधयम् अनुरागेण परिपूर्णः भास्करः जयति ।

हिन्दीरूपान्तर—प्रातःकाल मुद्रित मुख वाली (अनखिली तथा ढके हुए मुख वाली) पद्मिनी (कमलिनी तथा नायिका विशेष) को करस्पर्श के द्वारा (किरणों के स्पर्श से तथा हाथ के स्पर्श से) जगाता हुआ (विकसित करता हुआ) अनुराग (लालिमा) से परिपूर्ण सूर्य (नायक) सर्वोत्कर्ष से युक्त है ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि ने 'समासोक्ति' अलङ्कार प्रस्तुत किया है । मम्मट ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—"परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।" और वृत्ति में कहते हैं—"प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात् न विशेषस्य सामर्थ्यादपि यत् अप्रकृतार्थस्याभिधानं सा समासेन सङ्क्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः" (काव्यप्रकाश) अर्थात् प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य द्वारा जहाँ पर श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से न कि विशेष्य की सामर्थ्य से भी, अप्रस्तुत अर्थ का कथन किया जाता है वहाँ समास अर्थात् संक्षेप से दो अर्थों का कथन होने के कारण 'समासोक्ति' अलङ्कार होता है । प्रस्तुत पद्य में कवि ने प्रस्तुत रूप से सूर्य और पद्मिनी का वर्णन किया है परन्तु उसने जो उसके विशेषण (१) 'करस्पर्शैः विबोधयन्' (अर्थात् किरणों के स्पर्श से विकसित करते हुए तथा हाथ के स्पर्श से जगाते हुए) (२) मुद्रिताननाम्' (अर्थात् अनखिली तथा ढके हुए मुख वाली) तथा (३) अनुरागेण परिपूर्णः (अर्थात् प्रेम से परिपूर्ण और लालिमा से परिपूर्ण) दिए हैं वे श्लिष्ट होने के कारण (सूर्य) नायक और (पद्मिनी) नायिका के व्यवहार का कथन सिद्ध करते है जो कि अप्रस्तुत है । अतः समासोक्ति है । (क) विबोधयन्—(वि + बुधिद् अवबोधने + णिच् + शतृ) (ख) करस्पर्शैः—कराणां (करस्य वा) स्पर्श करस्पर्शः । तैः करस्पर्शैः नायक पक्ष में कर का अर्थ हाथ और सूर्य पक्ष में कर का अर्थ किरण होगा । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । पद्मिनी का अर्थ कमलिनी है । वैसे पद्मिनी नायिका भी होती है । पद्मिनी स्त्री विशेषे स्यात् सरस्यामम्बुजेऽपि च' इति विश्वप्रकाशः । परन्तु जैसा कि समासोक्ति के लक्षण में कहा गया है कि केवल विशेषण ही श्लिष्ट होने पर समासोक्ति होती है विशेष्य को भी श्लिष्ट मानलें तो नायिका के व्यवहार की प्रतीति समसोक्ति नहीं प्रस्तुत कर सकेगी उस दशा में समासोक्ति केवल नायक के व्यवहार के

प्रतीत होने पर स्वीकार की जायगी । (ग) मुद्रितराननाम्—मुद्रितमाननं यस्याः सा मुद्रितानना । तां मुद्रिताननाम्' कमलिनी के पक्ष में आनन का प्रयोग लाक्षणिक है । मुद्रित आनन से तात्पर्य उसके मुकुलित होने से है । (घ) 'आदित्य सविता सहस्रकिरः प्रपातनो भास्करः × × सूर्य इति हलायुधः । इसमें कवि ने 'अनुष्टुप्' वृत्त का प्रयोग किया है ।। १५७ ।।

आनम्य वल्गुवचनैर्विनिवारितेऽपि
रोषात् प्रयातुमुदिते मयि दूरदेशम् ।
बाला कराङ्गुलिनिदेशवशंवदेन
क्रीडाविडालशिशुनाऽऽशु रुरोध मार्गम् ।। १५८ ।।

अन्वयः—आनम्य वल्गुवचनैः विनिवारिते अपि रोषात् मयि दूरदेशम् प्रयातुम् उदिते बाला आशु कराङ्गुनिदेशवशंवदेन क्रीडाविडालशिशुना मार्गं रुरोध ।

हिन्दीरूपान्तर—नम्र होकर मधुर वचनों द्वारा रोके जाने पर भी क्रोध के कारण मेरे दूर देश को जाने के लिए तैयार हो जाने पर प्रियतमा ने शीघ्र ही हाथ की अँगुलियों की आज्ञा के वशीभूत क्रीडावाले विडाल के बच्चे के द्वारा रास्ता रोक दिया ।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपने मित्र से उक्ति है । किसी समय वह क्रोधवश परदेश जाने के लिए तैयार हुआ नायिका ने बड़ी मिन्नतें कीं मगर जनाब का गुस्सा किसी तरह कम न हुआ और जब जाने के लिए अड़ियल टट्टू की तरह अपनी बात पर अड़े ही रहे तो उसने बिल्ली के बच्चे द्वारा जो कि उस के इशारे पर नाचता था झटसे रास्ता कटवा दिया । जनाब की शेखी गायब हो गई और चुपचाप लौट पड़े । इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत तो है श्री मान् नायक महोदय का परदेश जाने का इरादा छोड़ देना परन्तु कवि ने उसे साफ शब्दों में न कह कर उसके कारण भूत अप्रस्तुत 'बिल्ली के बच्चे पर मार्ग रोध' का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत कार्य भूत 'नायक की प्रवास गमन से निवृत्ति' प्रतीत होता है । अतः अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य की प्रतीति होने से यहाँ कारण निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है । लक्षण है—"क्वचिद् विशेषः सामान्यात् सामान्यं वा विशेषतः । कार्यान्निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात् समम् ।। अस्तुततात्तञ्चेद् गम्यते पञ्चधा ततः । अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्—।।" (साहित्यदर्पण) (क) आनम्य—आ + नम् + ल्यप् । (ख) वल्गुवचनैः—वल्गूनि (मनोज्ञानि) वचनानि वल्गुवचनानि । तैः वल्गुवचनैः 'वल्गु छागे मनोज्ञे च'

इति विश्वप्रकाशः। (ग) कराङ्गुलिनिदेशवशंवदेन—करस्याङ्गुल्यः कराङ्गुल्यः। कराङ्गुलीनां निदेशः कराङ्गुलिनिदेशः। 'अववादस्तु निर्देशो निदेशः शासनं च सः। शिष्टिश्चाज्ञा च। इत्यमरः। कराङ्गुलिनिदेशस्य वशंवदः (वश+मुम्+वद्+खच्) कराङ्गुलिनिदेशवशंवदः। तेन करांगुलिनिदेशवशंवदेन। (घ) क्रीडाविडालशिशुना—क्रीडायै विडालः क्रीडाविडालः। तस्य शिशुः क्रीडाविडालशिशुः। तेन क्रीड़ाविडालशिशुना। इसमें कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त का प्रयोग किया है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)॥ १५८॥

अभूदप्रत्यूहः कुसुमशरकोदण्डमहिमा
विलीनो लोकानां सह नयनतापोऽपि तिमिरैः।
तवास्मिन् पीयूषङ्किरति परितस्तन्वि! वदने
कुतो हेतोः श्वेतो विधुरयमुदेति प्रतिदिनम् ॥१५९॥

अन्वयः—हे तन्वि! (यदा) तव अस्मिन् वदने परितः पीयूषम् किरति कुसुमशरकोदण्डमहिमा अप्रत्यूहः अभूत्, तिमिरैः सह लोकानाम् नयनतापः अपि विलीनः (अभूत्) (तर्हि) अयम् श्वेतः विधुः कुतः हेतोः प्रतिदिनम् उदेति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृशाङ्गी! (जब) तुम्हारे इस मुख के चारों ओर अमृत बिखेरने पर कामदेव के धनुष् का माहात्म्य निर्विघ्न हो गया और अन्धकार के साथ साथ मनुष्यों की आँखों का सन्ताप भी नष्ट हो गया (तो फिर) यह सफेद चन्द्रमा किस कारण से प्रतिदिन उदित होता है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने उपमेय भूत नायिका के मुख के विद्यमान रहने पर उपमानभूत चन्द्रमा को निरर्थक प्रतिपादित किया है। क्योंकि चन्द्रमा अमृत बिखेरता है, कामदेव की सहायता करता है, लोगों के सन्ताप को मिटाता है, अन्धकार का विनाश करता है परन्तु इन सभी कामों को जब नायिका का मुख ही कर देता है तो फिर चन्द्रमा किस लिए? उसका नित्य उदित होना बेकार है। अतः यहाँ पर कुवलयानन्दकार द्वारा स्वीकृत पञ्चम प्रतीप है। लक्षण है—"प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते।" "उपमेयस्यैवोपमानप्रयोजनधूर्वहत्वेनोपमानकैमर्थ्यमुपमानप्रातिलोम्यात् पञ्चमम्प्रतीपम्।" (कुवलयानन्द) परन्तु वामन आदि आचार्यों के मत से यहाँ आक्षेपः अलङ्कार है, क्योंकि वामन का लक्षण है—"उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः।" (काव्यालङ्कारसूत्र ४।३।२७) उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेध उपमानाक्षेपः, तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायामाक्षेपः" (वृत्ति)। (क) अप्रत्यूहः—प्रत्यूहनं प्रत्यूहः। (प्रति+ऊह्+घञ्)

'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः इति हलायुधः। न विद्यते प्रत्यूहः यस्मिन् सः अप्रत्यूहः। निर्विघ्नः इत्यर्थः। (ख) कुसुमशरकोदण्डमहिमा—कुसुमानि शराः यस्य सः कुसुमशरः। कामदेव इत्यर्थः। कुसुमशरस्य कोदण्डः कुसुमशरकोदण्डः। 'अस्त्रं धनुरिष्वासम् कोदण्डम्' इति हलायुधः। तस्य महिमा कुसुमशरकोदण्ड-महिमा। (ग) 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। इसमें कवि ने 'शिखरिणी' वृत्त का प्रयोग किया है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी)॥ १५९॥

विनैव शस्त्रं हृदयानि यूनां विवेकभाजामपि दारयन्त्यः।
अनल्पमायामयवल्गुलीला जयन्ति नीलाब्जदलायताक्ष्याः॥१६०॥

अन्वयः—शस्त्रं विना एव विवेकभाजाम् अपि यूनां हृदयम् दारयन्त्यः नीलाब्जदलायताक्ष्याः अनल्पमायामयवल्गुलीलाः जयन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—हथियार के बिना ही विवेकशील भी युवकों के हृदय को विदीर्ण करती हुई नीलकमलदल के सदृश विशाल नेत्रों वाली नायिका की तमाम मायामयी मधुर लीलायें सर्वोत्कर्ष से युक्त हैं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने नायिका की मधुर लीलाओं को विवेकशील भी युवकों के हृदय को विदीर्ण करने वाली बताया है। परन्तु विदारण किसी शस्त्रादि के द्वारा ही सम्भव होता है। जबकि यहाँ लीलाओं के पास कोई शस्त्र नहीं। वे विना शस्त्र के विदारण करने में समर्थ हैं। इस प्रकार यहाँ विना कारण के ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अतः विभावना अलङ्कार है। उसका लक्षण—

"विभावना विनाऽपि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् यदि विना कारण के कार्य की उत्पत्ति बताई जाय तो वहाँ विभावना अलंकार होता है। साथ ही हृदय विदीर्ण तो किया नहीं जाता है अतः यहाँ 'उपचारवक्रता' है। उससे हृदय का पीडित होना स्पष्ट होता है। (क) विवेक-भाजाम्—विवेकं भजते इति विवेकभाक्। (विवेक + भज् + ण्वि 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति सूत्रेण)। तेषां विवेकभाजाम्। विचारशीलानामित्यर्थः। 'विवेकः स्याज्जलद्रोण्यां विचारेऽपि रहस्यपि' इति विश्वप्रकाशः। (ख) दारयन्त्यः—'दृविदारणे (चुरादि०) + शतृ + जस्)। (ग) नीलाब्जदला-यताक्ष्याः—नीलमब्जं नीलाब्जम्। तस्य दलं नीलाब्जदलम्। तदिव आयतं नीलाब्जदलायतम्। नीलाब्जदलायते अक्षिणी यस्याः सा नीलाब्जदलायताक्षी। तस्याः नीलाब्जदलायताक्ष्याः। 'पत्रम् पलाशं छदनं दलम्' इत्यमरः। (घ) अनल्पमायामयवल्गुलीलाः—अनल्पाः मायामय्यः वल्गवश्च लीलाः अनल्प-

मायामयवल्गुलीलाः । (माया+मयट्+ङीप्+जस् = मायामय्यः । वल्गवः मनोज्ञाः । 'वल्गु छागे मनोज्ञे च' इति विश्वप्रकाशः । लीला केलयः विलासा: वा । 'लीलां विदुः केलिविलासखेलाश्रृङ्गारभावप्रभवक्रियासु' इति विश्वप्रकाशः । (ल) नीलाब्जदलायताक्ष्याः—अप्सुजातमब्जम् । नीलमब्जं नीलाब्जम् । तस्य दले नीलाब्जदले ते इव आयते अक्षिणी यस्याः सा नीलाब्जदलायताक्षी । तस्याः नीलाब्जदलायताक्ष्याः । 'पत्रम् पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्यमरः । 'दीर्घमायतम्' इति हलायुधः । (च) जयन्ति—सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते इत्यर्थः । इसमें कवि ने उपेन्द्रवज्रा वृत्त उपनिबद्ध किया है लक्षण है—

'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । (वृत्तरत्नाकर) ॥ १६० ॥

यदवधि विलासभवनं यौवनमुदियाय चन्द्रवदनायाः ।
दहनं विनैव तदवधि यूनां हृदयानि दह्यन्ते ॥ १६१ ॥

अन्वयः—यदवधि चन्द्रवदनायाः विलासभवनं यौवनम् उदियाय तदवधि यूनां हृदयानि दहनं विना एव दह्यन्ते ।

हिन्दीरूपान्तर—जिस समय से चन्द्रमुखी की विलासस्थली जवानी आई है उसी समय से जवानों के हृदय आग के विना ही जलाये जा रहे हैं ।

व्याख्या—किसी तरुणी का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जब से वह युवती हुई तभी से उसे प्राप्त करने के लिये युवक छटपटाने लगे । यहाँ युवकों के हृदय का जलना विना आग के ही दिखाया गया है । इस प्रकार विना हेतु के ही कार्य की उत्पत्ति वर्णित होने से यहाँ 'विभावना' अलङ्कार है । लक्षण है—

"विभावना विना हेतुं कार्य्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् जहाँ हेतु के विना कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया रहता है वहाँ विभावना अलङ्कार होता है । यह दो प्रकार का होता है—१. उक्तनिमित्ता जहाँ निमित्त को बता दिया जाता है । २. अनुक्तनिमित्ता—जिसमें निमित्त नहीं बताया होता । प्रस्तुत पद्य में नायिका के यौवन को हेतु रूप में कह दिया गया है । अतः उक्त निमित्ता विभावना है । (क) विलासभवनम्—विलासानां भवनं विलासभवनम् । 'हेलाविलासबिब्बोकलीलाललितविभ्रमाः, स्त्रीणां श्रृङ्गारचेष्टाः स्युर्हाव-पर्यायवाचकाः' इति हलायुधः । विलास का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—'यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादि कर्म्मणाम् । विशेषस्तुविलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।' अर्थात् प्रिय वस्तु के दर्शन आदि के कारण चलने, ठहरने, बैठने आदि में तथा मुख और नेत्र आदि के व्यापारों में जो विलक्षणता

दिखाई पड़ती है उसे विलास कहते हैं। (ख) चन्द्रवदनायाः—चन्द्र इव वदनं (मुखं) यस्याः सा चन्द्रवदना। तस्याः चन्द्रवदनायाः। (ग) दहनम्—दहतीति दहनः ('दह्भस्मीकरणे + ल्युट्') 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः × दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः। तम्। 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२।३।३२) इति सूत्रेण विना योगे पाक्षिकी द्वितीया विभक्तिः। इसमें कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" ॥ १६१ ॥

न मिश्रयति लोचने सहसितञ्च सम्भाषते
कथासु तव किञ्च सा विरचयत्यरालभ्रुवम्।
विपक्षसुदृशः कथामिति निवेदयन्त्या पुरः
प्रियस्य शिथिलीकृतः स्वविषयेऽनुरागग्रहः ॥१६२॥

अन्वय—"सा लोचने न मिश्रयति, सहसितम् न सम्भाषते किञ्च तव कथासु भ्रुवम् अरालाम् विरचयति" इति प्रियस्य पुरः विपक्षसुदृशः कथां निवेदयन्त्या स्वविषये अनुरागग्रहः शिथिलीकृतः।

हिन्दीरूपान्तर—"वह आँखें नहीं मिलाती, हँसते हुए नहीं बोलती, साथ ही तुम्हारी बातों पर (या तुमसे सम्बन्धित कथाओं में) भौंह टेढ़ी कर लेती है" इस प्रकार प्रियतम के आगे सपत्नी सुनयना की कथा को बताती हुई (नायिका) ने अपने विषय में अनुराग के बन्धन को ढीला कर दिया।

व्याख्या—कोई प्रौढ़ नायिका अपनी सपत्नी नायिका से नायक को विरक्त करने की कोशिश में लगी थी। नायक से उसकी निन्दा कर रही थी कि तुम बेकार ही उस पर मरते हो जब कि वह न तो तुम्हें चाहती ही है क्योंकि तुम्हारे विषय में अगर कोई बात चली तो झट उसकी भौंहे टेढ़ी हो जाती हैं; गुस्सा करने लगती है और न उसको प्रेम करने का कोई ढङ्ग ही आता है निरीबुद्धू है क्योंकि न आँखें मिलाती है न हंसते हुए बात करती है इत्यादि। इस तरह वह चाहती तो थी और कोशिश भी कर रही थी कि नायक उसकी सपत्नी से विरक्त हो पर नायक ने इसकी चाल समझ ली और सपत्नी से विरक्त होने की बात तो दूर रही वह इसीसे विरक्त हो गया। अतः यहाँ विषम अलङ्कार है। लक्षण है "अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ किसी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न करें परन्तु वह सिद्धि तो मिले ही नहीं बल्कि अनिष्ट अर्थ की भी प्राप्ति हो जाय तो वहाँ विषमालङ्कार होता है। (क) मिश्रयति—'मिश्र सम्पर्के' (चुरादि०) + लट् (तिप्) । (ख) सहसितम्—(हस् + क्त = हसितम्) हसितेन सहितं

सहसितम् । (ग) अरालाम्—(अराल + टाप् + अम्) 'अरालं कुटिलम्' इति हलायुधः । (घ) विपक्षसुदृशः—विरुद्धः पक्षः यस्याः सा विपक्षा (वि + पक्ष + टाप्) । शोभने दृशौ यस्याः सा सुदृक् । विपक्षा चासौ सुदृक् च विपक्षसुदृक् । सपत्नीत्यर्थः । तस्या विपक्षसुदृशः । (ङ) शिथिलीकृतः—अशिथिलः शिथिलः कृतः इति शिथिलीकृतः (अभूततद्भावे च्विः) । (च) अनुरागग्रहः—अनुरागस्य ग्रह = (निर्बन्धः) अनुरागग्रहः । 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वप्रकाशः । इसमें कवि ने 'पृथ्वीवृत्त' उपनिबद्ध किया है । उसका लक्षण है—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी ग्रहः'' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १६२ ॥

वडवानलकालकूटवन्मकरव्यालगणैः सहैधितः ।
रजनीरमणो भवेन्नृणान्न कथम्प्राणवियोगकारणम् ?॥ १६३॥

अन्वयः—वडवानलकालकूटवन्मकरव्यालगणैः सह एधितः रजनीरमणः नृणाम् प्राणवियोगकारणम् कथम् न भवेत् ।

हिन्दीरूपान्तर—वडवाग्नि और विष से युक्त घड़ियालों और सर्पों के साथ बढ़ा हुआ निशापति (चन्द्रमा) मनुष्यों के प्राणविच्छेद का कारण (भला) कैसे न बने ?

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने समालङ्कार प्रस्तुत किया है । समालङ्कार का लक्षण है—

'सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ।' (कुवलयानन्द)

अर्थात् जहाँ पर कारण और कार्य का सारूप्य वर्णित होता है वहाँ भी समालङ्कार होता है । यहाँ कारण है चन्द्रमा का वडवानलऽकालकूट आदि के साथ परिवर्धन और उस कारण के अनुरूप ही कार्य भी है लोगों का प्राणहरण । जैसे विषादिक प्राणहरण कर लेते हैं वैसे ही उनके साथ बढ़ा हुआ चन्द्रमा भी करता है । अतः कारण और कार्य का सारूप्य होने से यहाँ समालङ्कार है । (क) वडवानलकालकूटवन्मकरव्यालगणैः—वडवानलश्च कालकूटश्च वडवानलकालकूटौ । 'कालकूटो हलाहलः' इति हलायुधः । कालकूट विषका एक भेद है । तौ अस्तः येषु ते वडवानलकालकूटवन्तः (मतुप्) । मकराश्च व्यालाश्च मकरव्यालाः । तेषाः गणाः मकरव्यालगणाः । वडवानलकालकूटवन्तः मकरव्यालगणाः वडवानलकालकूटवन्मकरव्यालगणाः । तैः तथोक्तैः । मकर घड़ियाल को और व्याल सर्प को कहते हैं । (ख) रजनीरमणः—रजन्याः रमणः रजनीरमणः । चन्द्र इत्यर्थः । (ग) प्राणवियोगकारणम्—प्राणानां वियोगः प्राणवियोगः । तस्य तस्मिन् वा कारणं प्राणवियोगकारणम् ।

इसमें कवि ने सुन्दरीवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा लगौ यदि सुन्दरी तदा' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १६३ ॥

लभ्येत पुण्यैर्गृहिणी मनोज्ञा
तया सुपुत्राः परितः पवित्राः ।
स्फीतं यशस्तैः समुदेति नित्य-
न्तेनास्य नित्यः खलुः नाकलोकः ॥ १६४ ॥

अन्वय—पुण्यैः मनोज्ञा गृहिणी लभ्येत तया पवित्राः सुपुत्राः, तैः नित्यम् परितः स्फीतं यशः समुदेति तेन खलु अस्य नित्यः नाकलोकः ।

हिन्दीरूपान्तर—बहुत पुण्य से सुन्दर गृहिणी प्राप्त होती है, उससे पवित्र सुपुत्र (मिलते हैं), उनसे हमेशा चारों ओर विमल कीर्ति उदित होती है और उससे इस (व्यक्ति) को स्थायी स्वर्गलोक (मिलता है) ।

व्याख्या—यहां कवि ने मनोज्ञ गृहिणी की प्राप्ति का हेतु पुण्यों को बताया फिर गृहिणी को सुपुत्रों का हेतु बताया, तदनन्तर सुपुत्रों को यश का हेतु बताया फिर यश को नित्य स्वगलोक का हेतु बताया इस प्रकार पहले-पहले के अर्थ को बाद-बाद के अर्थ के कारणों में प्रस्तुत किया गया है । अतः 'कारण-माला' अलङ्कार है । लक्षण है—

"यथोत्तरञ्चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् ॥" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् जहाँ पूर्व-पूर्व अर्थ को उत्तर-उत्तर अर्थ के कारण रूप में प्रस्तुत किया जाता है वहाँ 'कारणमाला' अलङ्कार होता है । (क) गृहिणी—गृहमस्त्यस्या इति गृहिणी (गृह + इनि + ङीप्) । 'पत्नी जाया च गृहिणी' इति हलायुधः । 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के चतुर्थ अङ्क में पति के घर जाती हुई शकुन्तला को उपदेश देते हुए महर्षि कण्व के मुख से कालिदास ने क्या ही रमणीय ढङ्ग से गृहिणी के स्वरूप को प्रस्तुत किया है—

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठम्भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥"

मनोज्ञा मनोहारिणी । 'नित्यमजस्रञ्च शश्वत्' इति हलायुधः । स्वर्गनाक-त्रिदिवत्रिदिशालयाः' इत्यमरः । इस श्लोक के प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थचरण में इन्द्रवज्रा एवं द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा का लक्षण विद्यमान होने के कारण उपजातिवृत्त है ॥ १६४ ॥

प्रभुरपि याचितुकामो भजते वामोरु ! लाघवं सहसा ।
यदहन्त्वयाऽधरार्थी सपदि विमुख्या निराशतान्नीतः ॥१६५॥

अन्वयः—हे वामोरु ! प्रभुः अपि याचितुकामः (सन्) सहसा लाघवम् भजते; यत् सपदि विमुख्या त्वया अधरार्थी अहम् निराशताम् नीतः ।

हिन्दीरूपान्तर—हे सुन्दर जङ्घाओं वाली (प्रियतमे) ! सामर्थ्यवान् भी (मनुष्य) याचना का इच्छुक होकर सहसा लघुता को पहुँच जाता है, जैसे कि अभी (अपने प्रति) पराङ्मुख तुम्हारे द्वारा अधर (चुम्बन) का प्रार्थी मैं निराश कर दिया गया (लाघव को प्राप्त हो गया हूँ) ।

व्याख्या—कोई नायक जो, कि अपनी प्रियतमा का चुम्बन करना चाहता था परन्तु प्रियतमा ने निषेध कर दिया तो, अपमानित होकर नायिका से कहता है कि 'अत्यन्त समर्थ पुरुष भी याचना का इच्छुक बनने पर सहसा लघुता को प्राप्त कर लेता है' यह एक सामान्य बात है उसका समर्थन उसने एक विशेष, अपने और अपनी प्रियतमा के, वृत्तान्त के द्वारा किया, जैसे कि अभी चुम्बन की प्रार्थना करने पर तुम्हारे द्वारा मैं निराश कर दिया गया हुआ मैं लघुता को प्राप्त हो गया हूँ' इस प्रकार यहाँ विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । लक्षण है—

"सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥" (काव्यप्रकाश)

अर्थात् जहाँ साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के कारण सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है । यहाँ साधर्म्य के द्वारा समर्थन किया गया है । (क) प्रभुः—प्रभवतीति प्रभुः (प्र + भू + डु) "विप्रसम्भ्यो ड्वसञ्ज्ञायाम्" (३।२।१८०) इति सूत्रेण । सामार्थ्यवानित्यर्थः (ख) वामोरु—वामे ऊरू यस्याः सा वामोरुः । तत्सम्बुद्धौ हे वामोरु । 'चारु सुषमं वागं शुभम्' इति हलायुधः । वाम का अर्थ सुन्दर है । सुन्दर जंघाओं वाली । (ग) अधरार्थी—अर्थयते इति अर्थी । याचकः इत्यर्थः । अधरस्य अधराय वा अर्थी अधरार्थी । (घ) निराशताम्—निर्गता आशा यस्मात् स निराशः । निराशस्य भावो निराशता । (निराश + तत्) तां निराशताम् । इसमें कवि ने 'गीति' वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—"आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम् ।" (छन्दोमञ्जरी) ॥ १६५ ॥

जलकुम्भमुम्भितरसं सपदि सरस्याः समानयन्त्यास्ते ।
तटकुञ्जगूढसुतरम्भगवानेको मनोभवो वेद ॥ १६६ ॥

अन्वयः—सपदि सरस्याः उम्भितरसम् जलकुम्भं समानयन्त्याः ते तटकुञ्ज-गूढसुरतम् एकः भगवान् मनोभवः वेदः।

हिन्दीरूपान्तर—जल्दी में ही तालाब से जल से परिपूर्ण जल के घड़े को ले आने वाली तुम्हारे किनारे के कुञ्ज में किए गये गुप्त सम्भोग को अकेले भगवान् कामदेव (ही) जानते हैं।

व्याख्या—तालाब के किनारे कुञ्ज में उपपति के साथ सम्भोग करके आने वाली नायिका, जिसने कि अपने सिर पर जल भरा घड़ा रख लिया है, उसको देख कर किसी पड़ोसिन या कि उसकी सहेली की उक्ति है। यहाँ पर उपपति द्वारा किए गये सम्भोग को नायिका ने जल भरे घड़े को लाने से छिपाया है। क्योंकि दोनों के लक्षण समान होते हैं। जल का घड़ाभर कर लाने में भी लम्बी लम्बी सांसों का आना, पसीने का हो जाना शरीर में कंपकपी होना सम्भव है। और सम्भोग के कारण भी पसीने का होना, रोमाञ्च होना, लम्बी लम्बीं सांसों का आना पाया जाता है। अतः समान लक्षण वाली वस्तु के द्वारा किसी वस्तु को छिपाने से यहाँ मीलित अलंकार है। लक्षण है—

"मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित् तुल्यलक्षणा।" (साहित्यदर्पण)

(क) जलकुम्भम्—जलस्य जलाय वा कुम्भः जलकुम्भः 'कुम्भः स्यात् कुम्भकर्णस्य सुते वेश्यासुते घटे' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ कुम्भ का अर्थ घट अर्थात् घड़ा है। तं जलकुम्भम्। (ख) उम्भितरसम्—(उम्भपूरणे (तुदा०) + क्त = उम्भितः) उम्भितः रसः (जलम्) यस्मिन् सः उम्भितरसः। तम् उम्भितरसम्। (ग) सपदि—शीघ्रमेव। 'स्नाग् झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः। (घ) तटकुञ्जगूढसुरतम्—तटे कुञ्जः तटकुञ्जः। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। लता इत्यादि से घिरे हुए मध्यभाग को कुञ्ज कहते हैं। गूढं (गुप्तं) सुरतं (मैथुनम्) गूढसुरतम्। तटकुञ्जगूढसुरतम्। मनोभवः कामदेवः। इसमें कवि ने 'गीति' वृत्त का प्रयोग किया है—"आर्या प्रथमार्धसमं यस्या अपरार्धमाह तां गीतिम्।" (छन्दोमञ्जरी)॥ १६६॥

त्वमिव पथिकः प्रियो मे विटपिस्तोमेषु गमयति क्लेशान्।
किमितोऽन्यत् कुशलम्मे सम्प्रति यत् पान्थ! जीवामि?॥१६७॥

अन्वयः—हे पान्थ! त्वमिव मे पथिक प्रियः विटपिस्तोमेषु क्लेशान् गमयति, सम्प्रति यत् (अहम्) जीवामि इतः अन्यत् मे किम् कुशलम् (अस्ति)?

हिन्दीरूपान्तर—अरे बटोही! तुम्हारी ही तरह मेरा राही प्रियतम वृक्षों के बीच कष्ट सह रहा है, इस समय जो मैं जी रही हूँ इसके अलावा मेरा क्या कुशल है?

व्याख्या—यह किसी विरहिणी नायिका का किसी पथिक को दिया गया उत्तर है। इस उत्तर से इस बात का अनुमान हो जाता है कि पथिक ने उससे उसका कुशल मंगल पूछा था। नहीं तो वह कोई पागल तो थी नहीं कि अपने आप राहचलतू लोगों से अपने कुशलमंगल का 'एलान' करती फिरती। अतः उत्तर से प्रश्न का अनुमान लगा लिए जाने से यहां उत्तरालङ्कार है। लक्षण है—

"उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि।" (साहित्यदर्पण)

अर्थात् यदि उत्तर से प्रश्न का अनुमान कर लिया जाय तो उत्तरालङ्कार होता है। परन्तु 'कुवलयानन्द' में उत्तर का लक्षण यह दिया गया है—"किञ्चिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम्।" अगर हम इस लक्षण को भी मान लें तो भी उत्तरालकार मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि नायिका के उत्तर से यह अभिप्राय स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि 'अरे बटोही! जैसे तुम प्रियतमा के विरह में व्याकुल हो, काम तुम्हें सता रहा है वैसे ही मैं भी प्रियतम के विरह में व्याकुल हूँ, मुझे भी काम कष्ट दे रहा है। अतः क्या ही अच्छा हो कि हम और तुम एक दूसरे का कष्ट दूर कर दें' इत्यादि। (क) विटपिस्तोमेषु—विटपाः (पल्लवाः शाखादयश्च वा) सन्ति अस्येति विटपी। (विटप + इन्)। वृक्षः इत्यर्थः। 'विटपः पल्लवे शृङ्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः' इति विश्वप्रकाशः। विटपिनां स्तोमः (समूहः) विटपिस्तोमः। 'स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे' इत्यमरः। तेषु विटपिस्तोमेषु। (ख) सम्प्रति—इदानीम्। इस समय। 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतन्तथा' इत्यमरः। इसमें कवि ने आर्यावृत्त का प्रयोग किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥"

तुलामनालोक्य निजामखर्व-
ङ्गौराङ्गि गर्वन्न कदाऽपि कुर्य्याः।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो
लताः कियत्यो गहनान्तरेषु॥ १६८॥

अन्वयः—हे गौराङ्गि! निजाम् तुलाम् अनालोक्य कदाऽपि अखर्वम् गर्वम् न कुर्य्याः (यतः) गहनान्तरेषु नानाफलभारवत्यः कियत्यः लताः लसन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ गौराङ्गी! अपनी समता को न देखकर कभी भी बड़ा घमण्ड न करना (क्योंकि) जङ्गलों के बीच तमाम फलों के बोझ से लदी हुई कितनी ही लतायें सुशोभित हो रहीं हैं।

व्याख्या—यह किसी नायक का नायिका से कथन है। उसका कहना है कि अपनी तुलना न देखकर कभी घमण्ड न कर। क्योंकि जङ्गलों में तमाम फलों के बोझ से लदी हुई न जाने कितनी लतायें सुशोभित हो रही हैं। इससे यह ध्वनित होता है तेरे सदृश अनेक लतायें हैं इस प्रकार यहाँ प्रतीपालङ्कार की ध्वनि मानी जा सकती है। प्रतीप का लक्षण है—'अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत्। अलं गर्वेण ते वक्त्र! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः।' (कुवलयानन्द)। (क) अखर्वम्—अत्यधिकमित्यर्थ। खर्व का अर्थ ह्रस्व होता है अतः अखर्व का अर्थ बहुत बड़ा हुआ। 'ह्रस्वखर्वाविमौ शब्दावेकार्थौ वामनार्थयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ख) गौराङ्गि—गौराणि अङ्गानि यस्याः सा गौराङ्गी। तत्सम्बुद्धौ हे गौराङ्गि। (ग) गर्वम्—अहङ्कारम्। (घ) नानाफलभारवत्यः—नाना अनेकानि फलानि नानाफलानि। तेषां भारः। स अस्ति आसु इति नानाफलभारवत्यः। (मतुप्+ङीप) आशय यह कि तेरे पास तो कुचरूपी दो ही फल हैं जब कि लताओं के पास अनेक फल है। (ङ) गहनान्तरेषु—गहनानामन्तरं गहनान्तरम्। तेषु गहनान्तरेषु। 'गहनं विपिनं वनम्' इत्यमरः। जंगलों के बीच। इस पद्य के प्रथम, तृतीय और चतुर्थचरण में उपेन्द्रवज्रा तथा द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटित होने के कारण उपजाति वृत्त है॥ १६८॥

> इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा
> परिफुल्लन्नयनाम्बुजद्वयन्ते।
> जलदालिमयञ्जगद् वितन्वन्
> कलितः क्वापि किमालि! नीलमेघः ॥१६९॥

अन्वयः—हे आलि! इयम् ते मुखस्य शोभा उल्लसिता, नयनाम्बुजद्वयम् परिफुल्लम्, किम् क्व अपि जगत् जलदालिमयं वितन्वन् नीलमेघः कलितः?

हिन्दीरूपान्तर—हे सखी! यह तुम्हारे मुख का सौन्दर्य उल्लसित हो उठा है' दोनों नयनकमल खिल उठे हैं, कहीं संसार को मेघमालामय बनाते हुए नीलमेघ (कृष्ण) को देख लिया है क्या?

व्याख्या—कोई नायिका अपनी सखी से पूछ रही है कि तुमने कहीं कृष्ण को देखा है क्या? क्यों कि तुम्हारा मुख बहुत ही शोभायमान हो रहा है, नयन कमल विकसित है। यहाँ पर नायिका कृष्ण-दर्शन का अनुमान कर रही है जिसके लिए हेतु हैं नयनकमलों का खिल उठना मुख का प्रसन्न हो जाना। अतः यहाँ अनुमानालङ्कार है। लक्षण है—

"अनुमानन्तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।" (साहित्यदर्पण) अर्थात् हेतु के द्वारा हेतुमान् के चमत्कार पूर्वक ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यहां कवि प्रौढोक्ति से हेतु और हेतुमान की सिद्धि होने से चमत्कार है। अतः अनुमानालङ्कार है। साथ ही 'नीलमेघ' रूप विषयी के द्वारा 'कृष्ण' रूप विषय का निगरण कर 'कृष्ण' और नीलमेघ में अभेद स्थापित किया गया है। अतः 'नीलमेघ' पदमें 'रूपकातिशयोक्ति' अलङ्कार है—"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः।" (कुवलयानन्द)। साथ ही 'नयनाम्बुजद्वयम्' तथा 'जलदालिमयम्' में रूपक भी है। (क) उल्लसिता—उत् + लस् + क्त + टाप्। (ख) नयनाम्बुजद्वयम्—अम्बुनि जातानि अम्बुजानि । कमलानि । नयनान्येवाम्बुजानि नयनाम्बुजानि । तेषां द्वयं नयनाम्बुजद्वयम् । (ग) जलदालिमयम्—जलं ददातीति जलदः । (जल + दा + क) मेघः तेषाम् आलयः जलदालयः । तत्प्रचुरं जलदालिमयम् (जलदालि + मयट्)। इसमें कविने कालभारिणीवृत्त उपनिबद्ध किया है—'विषमे ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १६९ ॥

आसायं सलिलान्तः सवितारमुपास्य सादरन्तपसा ।
अधुनाऽब्जेन मनाक् तव मानिनि ! तुलना मुखस्यापि॥ १७० ॥

अन्वयः—हे मानिनि ! आसायं सलिलान्तः सादरम् तपसा सवितारम् उपास्य अधुना अब्जेन तव मुखस्य मनाक् तुलना आपि ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मानिनी ! शाम से लेकर जल के भीतर आदर के साथ तपस्या द्वारा भगवान् सूर्य की उपासना करके अभी कमल ने तुम्हारे मुख की थोड़ी समानता पायी है।

व्याख्या—कोई नायक अपनी मानिनी प्रियतमा से चाटुकारिता करते हुए कह रहा है कि इस कमल ने रात भर जल में सूर्य भगवान् की उपासना की कि किसी तरह उसे तेरे मुख की समानता मिल जाय फिर भी उसे तेरे मुख की पूरी समानता नहीं मिली कुछ समानता मिल पाई है। यहाँ नायिका का मुख प्रसिद्ध उपमेय है और कमल प्रसिद्ध उपमान है परन्तु यहाँ नायिका के मुख को उपमान रूप से प्रस्तुत किया गया है अतः 'प्रतीपालङ्कार' है। लक्षण है—

"प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।" (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ उपमान की उपमेय रूप में कल्पना की जाय वहाँ प्रतीप अलंकार होता है। (क) आसायम्—सायं पर्यन्तमित्यर्थः । 'आंमर्यादाऽभिविध्योः' (२।१।१३) इति पाक्षिकः अव्ययीभावसमासः । (ख) सलिलान्तः—सलिलस्यान्तः मध्ये सलिलान्तः । 'सलिलं जलम्' इत्यमरः । (ग) सवितारम्—सूर्यम् । 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः । (घ) सादरम्—आदरेण

सहितं यथा स्यात्तथा सादरम् (ङ) 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतन्तथा' इत्यमरः । इस समय अब । (च) मनाक्—जरा सा थोड़ी । 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः । (छ) मानिनि—मानः अस्त्यस्या इति मानिनी (मान + इनि + ङीप्) । तत्सम्बुद्धौ हे मानिनि । इसमें कवि ने आर्या वृत्त प्रयुक्त किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥ १६० ॥

अयि ! मन्दस्मितमधुरं वदनन्तन्वङ्गि । यदि मनाक् कुरुषे ।
अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥१७१॥

अन्वयः—अयि तन्वङ्गि ! यदि वदनम् मनाक् मन्दस्मितमधुरम् कुरुषे (तदा) हन्त ! अधुना एव राकारमणस्य साम्राज्यं शमितम् कलय ।

हिन्दीरूपान्तर—अरी कृशाङ्गी ! अगर (तुम अपने) मुख को जरा सा मन्द मुस्कान से मधुर बना दो तो अहा ! अभी ही राकापति (चन्द्रमा) के साम्राज्य को जीता हुआ समझो ।

व्याख्या—कोई नायक अपनी प्रियतमा से मुस्काने के लिए निवेदन कर रहा है । यहाँ कवि ने 'सम्भावना' नामक अलङ्कार प्रस्तुत किया है । सम्भावना का लक्षण है—

"सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।" (कुवलयानन्द)

अर्थात् जहाँ पर 'यदि ऐसा हो जाय तो ऐसा हो जाय' इस प्रकार का तर्क किया जाता है वहाँ सम्भावना अलङ्कार होता है । यहाँ नायक ने यह तर्क किया कि 'अगर तुम मुस्करा दो तो अभी ही चन्द्रमा का साम्राज्य तुम्हारे मुख द्वारा जीत लिया जाय' अतः सम्भावना अलङ्कार है । (क) मन्दस्मितमधुरम्—मन्दं स्मितं मन्दस्मितम् । तेन मधुरं मनोहरं मन्दस्मितमधुरम् । (ख) 'वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । (ग) तन्वङ्गि—तनूनि अङ्गानि यस्याः सा तन्वङ्गी । तत्सम्बुद्धौ हे तन्वङ्गि । 'कृशं क्षीणं पेलवं तनु' इति हलायुधः । (घ) राकारमणस्य—राकायाः रमणः राकारमणः । चन्द्रः । तस्य राकारमणस्य । 'राका सम्पूर्णे पूर्णमासी च' इति हलायुधः । (ङ) हन्त—यहाँ हर्ष सूचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः । इसमें कवि ने गीतिवृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १७१ ॥

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवालपन्त्छनैः किमपि ।
कोकनदयँस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीवः ॥ १७२ ॥

अन्वयः—मधुरतरं स्मयमानः क्षीबः स्वस्मिन् एव शनैः किमपि आलपन् त्रिलोकीम् कोकनदयन् आलम्बनशून्यम् ईक्षते।

हिन्दीरूपान्तर—अत्यन्त मधुर ढङ्ग में मुस्कुराता हुआ उन्मत्त (व्यक्ति) अपने आप ही धीरे-धीरे कुछ बड़-बड़ाता हुआ, त्रैलोक्य को रक्तकमल समझता हुआ आश्रय हीन देखता है।

व्याख्या—यहाँ कवि शराबी अथवा किसी भी नशीली वस्तु का पान कर उन्मत्त हुए व्यक्ति का वर्णन कर रहा है। यहाँ यद्यपि कवि ने 'मद' भाव की व्यञ्जना कराने का प्रयास किया है क्योंकि मदिरा आदि का पीना विभाव है, मधुर ढंग से मुस्कराना अपने आप ही कुछ धीरे-धीरे बड़ बड़ाना और त्रैलोक्य कमल की तरह आश्रय हीन देखना अनुभाव हैं जिनके द्वारा 'मद' व्यक्त होता है। परन्तु चूंकि उसने 'क्षीबः' शब्द का प्रयोग कर दिया है जिससे कि 'मद' की वाच्यता की बू आती है, अतः स्पष्ट रूप से उसे हम ध्वनि नहीं स्वीकार कर सकते हैं। इस लिए यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार ही प्रधान रूप से स्थित मानना उचित है। स्वभावोक्ति का लक्षण है—

"सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।" (अलङ्कारसर्वस्व)

अर्थात् 'वस्तु के सूक्ष्म (कवित्वमात्रगम्य) स्वभाव का यथातथ्य वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार होता है। (क) मधुरतरम्—अतिशयेन मधुरं मनोहरं यथा स्यात्तथा मधुरतरम्। (मधुर+तरप्) क्रियाविशेषणम्। (ख) स्मयमानः—स्मिङ् ईषद्धसने+शानच। मुस्कुराते हुए। (ग) शनैः—मन्दं मन्दम्। धीरे धीरे। 'अद्रुते शनैः' इत्यमरः। (घ) किमपि—अस्पष्टम्। (ङ) कोकनदयन्—कोकनदमिवाचरन् कोकनदयन्। रक्त कमल सा समझता हुआ। 'रक्तं कोकनदं प्रोक्तम्। (च) त्रिलोकीम्—त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी। तां त्रिलोकीम्। (छ) आलम्बनशून्यम्—आलम्बनेन शून्यं यथा स्यात्तथा आलम्बनशून्यम्। क्रियाविशेषणम्। (ज) 'क्षीबो मत्तः' इति हलायुधः। इसमें गीतिवृत्त है—आर्या प्रथमार्द्धसम यस्या, अपरार्द्धमाह तां गीतिम् (छन्दोमञ्जरी)॥ १७२॥

मधुरसान्मधुरं हि तवाधरन्तरुणि! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुजम्प-प-पतामि ह-हा! भ-भ-भूतले॥

अन्वयः—हे तरुणि! मधुरसात् हि मधुरम् तव अधरम् मद्वदने विनिवेशय, करेण मम कराम्बुजम् गृहाण, ह हा! (अहम्) भ-भ भूतले प-प पतामि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ तरुणी! मधुरस से भी मधुर अपने अधर को मेरे

मुँह पर रख, और हाथ से मेरा कर कमल पकड़, अरे रे! (मैं) ज-ज-जमीन पर ग-ग-गिरा पड़ रहा हूँ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने विशुद्ध मद भाव ध्वनि को प्रस्तुत किया है। यहाँ पर भी मदिरा आदि का पीना विभाव है, असम्बद्ध प्रलाप करना, जैसे नायिका के कर की कमल से उपमान देकर अपने ही कर की कमल से उपमा देना, तथा अधिक प-प ह-ह, भ-भ आदि वर्णों का उच्चारण करना अनुभाव है जिनसे मद्यगत मद भाव अभिव्यक्त होता है। मद का लक्षण है—

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति॥ (साहित्य दर्पण)

अर्थात् नशीली वस्तु के सेवन से पैदा होने वाली, बेहोशी और आनन्द के मिश्रण वाली अवस्था 'मद' कहलाती है। इस मद से उत्तम प्रकृति वाले लोग सोते हैं, मध्यम प्रकृति वाले हँसते और गाते हैं तथा अधम प्रकृति वाले कड़वी बातें (गाली आदि) बकते हैं और रोते हैं।" इस पद्य में मध्यम प्रकृतिगत मद है। यह मद भाव ध्वनि स्वभावोक्ति अलङ्कार से परिपुष्ट की गई है। (क) मद्वदने—मम वदनं मद्वदनम्। तस्मिन् मद्वदने। मम मुखे इत्यर्थः। (ख) कराम्बुजम्—करोऽम्बुजमिव, कर एवाम्बुजं वा कराम्बुजम्। उपमा-रूपकयोः सन्देहसङ्करः। द्वितीयैकवचनम् इसमें कवि ने द्रुतविलम्बित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" (छन्दो मञ्जरी)॥ १७३॥

शतेनोपायानाङ्कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयिताम् पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामाङ्गीश्चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह! सुकृती राजरमणीम्॥१७४॥

अन्वयः—अहह! उपायानां शतेन कथमपि सौधशिखरम् गतः सुकृती रहसि सुधाफेनस्वच्छे पुष्पशयने शयिताम् क्षामाङ्गीम् चकितनयनां स्मेरवदनां राजरमणीं विबोध्य सनिःश्वासं श्लिष्यति।

हिन्दीरूपान्तर—अहा! सैकड़ों उपायों से किसी तरह राज महल की चोटी पर पहुँचा हुआ पुण्यात्मा एकान्त में अमृत के फेन की तरह स्वच्छ फूलों की सेज पर सोयी हुई, क्षीण अङ्गों वाली, चकित नेत्रों वाली एवं हँसमुख राजपत्नी को जगाकर निःश्वासों के साथ आलिङ्गन करता है।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने किसी पुरुष के राजपत्नी विषयक रतिभाव को प्रस्तुत किया है। यहाँ राजपत्नी आलम्बन विभाव है, एकान्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। सैकड़ों उपायों से किसी प्रकार राजमहल की चोटी पर पहुँचना, निःश्वास भरना, आलिङ्गन करना आदि अनुभाव हैं, शंका आदि सञ्चारी भाव हैं! जिनके द्वारा रति का परिपोष होता है। पर वह श्रृङ्गार रस नहीं हो पाती वल्कि श्रृङ्गाराभास ही बनकर रह जाती है। क्यों कि रस अथवा भाव अनौचित्य से प्रवृत्त होने पर आभास हो जाते हैं—'अनौचित्यप्रवृत्तत्वे आभासो रसभावयोः" (साहित्य दर्पण) यहाँ यद्यपि रति उभयनिष्ठ है जो कि नायिका के स्मेरवदना' से स्पष्ट है। क्यों कि अन्तःपुर में नायक के पहले अचानक पहुँचने पर तो वह 'चकितनयना' हुई, किन्तु जब पहचान लिया तो 'स्मेरवदना' हो उठो। अतः रति नायिकानिष्ठ भी है। नायकनिष्ठ तो उसके इतने सारे प्रयासों से स्पष्ट ही है। परन्तु 'राजपत्नी' की ही रति अनुचित है क्यों कि शास्त्रीय नियम है कि श्रृङ्गार में परस्त्री और अननुरागिणी वेश्या को नायिका नहीं होना चाहिए—

"परोढां वर्ज्जयित्वा तु वेश्याञ्चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायिकाः॥"

तथा

'उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायाञ्च।
वहुनायकविषयाणां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्य्यगादिगते।
श्रृङ्गारेऽनौचित्यम् × × —" (साहित्यदर्पण)

अतः यहाँ अनौचित्य होने के कारण श्रृङ्गार रस ध्वनि न होकर श्रृङ्गाराभासध्वनि है। (क) सौधशिखरम्—सौधस्य शिखरं सौधशिरम्। द्वितीयैकवचनम्। 'सौधोऽस्त्री राजसदनम्' इति 'कूटोऽस्त्री शिखरं श्रृङ्गम्" इति चामरः (ख) सुधाफेनस्वच्छे—सुधायाः फेनः सुधाफेनः सुधाफेन इव स्वच्छं सुधाफेनस्वच्छम्। तस्मिन् सुधाफेनस्वच्छे। 'अमृतं त्रिदशाहारः सुधा पीयूषमुच्यते' इति हलायुधः। (ग) रहसि—निर्जने एकान्ते इत्यर्थः। 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः इत्यमरः। तस्मिन् रहसि। (घ) क्षामाङ्गीम्—क्षामाण्यङ्गानि यस्य सा क्षामाङ्गी तां क्षामाङ्गीम्। 'क्षामं' शातं कृशं क्षीणम् पेलवं तलिनम् तनु इति हलायुधः। (ङ) चकितनयनाम्—चकिते नयने यस्याः सा चकितनयना। तां चकितनयनाम्। (चक् भ्रान्तौ + क्त चकितम्) 'दरितश्चकितो भीतस्त्रस्तः' इति हलायुधः यहाँ 'चकितनयना' पद के द्वारा नायिकागत त्रास की अभिव्यक्ति होती है। कोई पर पुरुष अचानक अन्तःपुर में कैसे आ गया इस भय से उसकी आंखें चकित हो गई। (च) स्मेरवदनाम्—स्मेरः

ईषद्धासः। 'स्मिङ् ईषद्धसने + र 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' (३। २।१६७) इति सूत्रेण स्मेरयुक्तं वदनं यस्याः सा स्मेरवदना। तां स्मेरवदनाम्। 'स्मेरवदनाम्' पद से नायिकागत हर्ष की अभिव्यक्ति होती है क्यों न हो उसका प्रियतम जो अपने प्राणों की बाजी लगा कर उसके पास पहुँचा है। (छ) राजरमणीम्—राज्ञ रमणी राजरमणी। तां राजरमणीम्। रमतेऽस्यामिति रमणी (रम् + ल्युट + ङीप्) राचस्त्री। इसमें कवि ने 'शिखरिणी' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभाला गः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ १७४ ॥

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति सम्मुखम्।
आवर्त्तन्ते विवर्त्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ॥ १७५ ॥

अन्वयः—सरसीषु मधुव्रताः परितः गत्वा मञ्जु गुञ्जन्ति, सम्मुखम् धावन्ति आवर्त्तन्ते विवर्त्तन्ते।

हिन्दीरूपान्तर—तालाबों में भँवरे चारों ओर जाकर मधुर गुञ्जार करते हैं, सामने दौड़ते हैं, लौट पड़ते हैं और चक्कर लगाते हैं।

व्याख्या—यह नायककी नायिका से उक्ति है। यहाँ कवि ने जिन वस्तुओं को प्रस्तुत किया है—जैसे 'भौंरें मधुर गुञ्जार कर रहे हैं' 'सामने दौड़ते हैं' आदि, वे सभी लोक सिद्ध होने के कारण स्वतः सम्भवी है कविकल्पित नहीं। उन वस्तुओं से यह बात ध्वनित होती है कि 'कमल अब जल्दी ही निकलने वाले हैं अतः शरद् ऋतु बिल्कुल समीप है"। इस प्रकार यह स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु ध्वनि का उदाहरण है। वस्तुध्वनि के साथ ही यहाँ हम अनुमानालंकार की ध्वनि भी स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि पण्डितराज के अनुसार "जहाँ साध्य का भी ग्रहण नहीं किया जाता केवल लिङ्ग मात्र के ग्रहण से लिङ्गी की प्रतीति होती है वहाँ ध्वन्यमान अनुमानालंकार होता है—

"साध्यस्याप्यनुपादाने यत्रागूर्यमाणं साध्यम्।
तत्र ध्वन्यमानम् (अनुमानम्) ॥" (रसगङ्गाधर)

उक्त श्लोक में 'शारदागमन' रूप साध्य का भ्रमरों के गुञ्जार आदि से अनुमान ध्वनित होता है। (क) मञ्जु—यथा स्यात्तथा। क्रियाविशेषणम्। 'मधुरं मञ्जु प्रियं मञ्जुलम्' इति हलायुधः। (ख) 'परितः सर्वतो विष्वक्' इति च हलायुधः। (ग) सरसीषु—सरोवरेषु। 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः। (घ) मधुव्रताः—मधु मधुसञ्चयः व्रतं व्रतमिव सततानुशीलनीयं येषान्ते मधुव्रताः। भ्रमराः। 'मधुकरमधुपमधुव्रतशिलीमुखभ्रमरभृङ्गपुष्पलिहः' इति हलायुधः। इसमें अनुष्टुप् वृत्त है।

यथा यथा तामरसेक्षणा मया
पुनःसरागन्नितरान्निषेविता ।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृष्य मामेकरसञ्चकार सा ॥ १७६ ॥

अन्वयः—यथा यथा मया पुनः तामरसेक्षणा सरागम् नितराम् निषेविता तथा तथा सा तत्त्वकथेव माम् सर्व्वतः विकृष्य एकरसम् चकार ।

हिन्दीरूपान्तर—जैसे जैसे मैंने बार बार कमलनयनी का प्रेमपूर्वक अच्छी तरह सेवन किया वैसे वैसे ही उसने तत्त्वकथा की तरह मुझे सब ओर से खींच कर एकरस बना दिया ।

व्याख्या—यह किसी नायक की अपने मित्र से उक्ति है । उसका कथन है कि जैसे जैसे उसने अपनी प्रियतमा का प्रेमपूर्वक सेवन किया वैसे वैसे उसके प्रति ही उसका अनुराग दृढ़ होता गया । किसी अन्य स्त्री की ओर ताकने की उसकी इच्छा जाती रही । इसके लिये उसने उपमान प्रस्तुत किया 'तत्त्वकथा' को । अर्थात् जिस तरह से 'तत्त्वकथा' का बराबर सेवन करने से मनुष्य को जब तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उसे तत्त्व के अलावा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता उसी तरह उसका अपनी प्रियतमा मात्र में अनुराग सुदृढ़ हो गया । अतः उपमा अलंकार है । (क) तामरसेक्षणा—तामरसे इव ईक्षणे यस्याः सा तामरसेक्षणा । कमलनयनेत्यर्थः 'तामरसं सरोरुहं विसप्रसूनं कमलम्' इति हलायुधः । 'नयनं नेत्रमीक्षणम्' इत्यमरः । (ख) सरागम्—रागेण, (अनुरागेण) सहितं यथा स्यात्तथा सरागम् । (क्रियाविशेषणमेतत्) (ग) नितराम्—अतिशयेनेत्यर्थः । (घ) तत्त्वकथेव—तस्य भावः तत्त्वम् । तस्य कथा तत्त्वकथा ब्रह्मकथेत्यर्थः । सेव तत्त्वकथेव । 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' । (ङ) एकरसम्—एकस्यां रसः (रागः, प्रेम) यस्य सः एकरसः । तमेकरसम् । 'रसो गन्धरसे स्वादे चित्तादौ विषरागयोः' इति विश्वप्रकाशः । इसमें कवि ने वंशस्थ वृत्त उपनिबद्ध किया है—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' (वृत्तरत्नाकर) ॥ १७६ ॥

हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते ।
सेवितं सर्व्वसम्पद्भिरपि तद्भवनं वनम् ॥ १७७ ॥

अन्वयः—यत्र हरिणी प्रेक्षणा गृहिणी न विलोक्यते, तद् भवनं सर्व्वसम्पद्भिः सेवितम् अपि वनम् (अस्ति) ।

हिन्दीरूपान्तर—जहाँ पर मृगी के नेत्रों के सदृश नेत्रों वाली पत्नी नहीं दिखाई पड़ती, वह घर समस्त सम्पत्तियों द्वारा सेवित होते हुए भी जङ्गल (है)।

व्याख्या—यहाँ पर कवि उत्तरार्द्ध में समस्तसम्पत्तियों से सेवित भी घर को जंगल बताया। उसके हेतु रूप में पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ को प्रस्तुत किया कि उस घर में चूंकि मृग के नेत्रों के सदृश नेत्रों वाली गृहिणी नहीं है। अतः वन है। इसलिए यहाँ पर वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार है। उसका लक्षण है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' (साहित्यदर्पण)। साथ ही हरिणीप्रेक्षणा में धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा भी है। (क) हरिणीप्रेक्षणा प्रकृष्टमीक्षणं प्रेक्षणम्। हरिण्याः प्रेक्षणे यस्याः सा हरिणीप्रेक्षणा। 'सप्तम्युपमान-पूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति वार्त्तिकेन समासः उपमानवाचकप्रेक्षणपदलो-पश्च। (ख) गृहिणी—गृहं गृहकार्यं साध्यतयाऽस्त्यस्या इति गृहिणी। गृह + इनि + ङीप्। गृहकर्म्मकुशला पत्नीत्यर्थः। (ग) सर्व्वसम्पद्भिः—सर्व्वाः सम्पदः सर्व्वसम्पदः। ताभिः सर्वसम्पद्भिः। (घ) भवनम्—गृहम्। 'आवासावसथं गृहञ्च भवनम्' इति हलायुधः। शकुन्तला को पति के गृह भेजते समय कालिदास ने कण्व के मुख से गृहिणी के स्वरूप का बड़ा सुन्दर चित्रण कराया है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्त्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

इसमें अनुष्टुप् वृत्तप्रयुक्त है।

लोलालकावलिचलन्नयनारविन्द—
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः।
सायाहनि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः॥ १७८॥

अन्वयः—सायाहनि प्रणयिनः भवनं व्रजन्त्याः लोलालकावलिचलन्नयनार-विन्दलीलावशंवदितलोकविलोचनायाः अङ्गनायाः गतिः कस्य चेतः न हरते।

हिन्दीरूपान्तर—सायंकाल प्रियतम के घर जाती हुई, चञ्चलकेशसमूह एवम् चञ्चल नेत्रकमलों के विलास से लोगों के नेत्रों को वश में कर लेने वाली रमणी की चाल किसके हृदय को नहीं हर लेती।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने कोई विशेष अलङ्कार तो प्रस्तुत नहीं किया है। जहाँ तक रस का प्रश्न है शृंगार की प्रतीति मानी जा सकती है, किन्तु कवि की पूर्वार्द्ध की रचना में प्रयुक्त लम्बा समास दोष को उद्भावित करता है। क्यों कि मधुर रसों में दीर्घ समास वर्जित हैं और फिर शृङ्गार जैसा रस जिसके लिए आनन्दवर्द्धन का कथन है—'शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। नयनारविन्द में उपमालंकार है। (क) लोलालकावलिचलन्नयनारविन्द-लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः—लोलाः अलकाः लोलालकाः। तेषामवलिः लोलालकावलिः। नयने अरविन्द इव नयनारविन्दे। चलंती नयनारविन्दे चल-न्नयनारविन्दे। लोलालकावलिश्च चलन्नयनारविन्दे च लोलालकावलिचलन्न-यनारविन्दानि। तेषां लीलाः लोलालकावलिचलन्नयनारविन्दलीलाः। लोकानां जनानां विलोचनानि लोकविलोचनानि। लोलालकावलिचलन्नयनारविन्दलीलाभिः वशंवदितानि (वशीकृतानि) लोकविलोचनानि यया सा लोलालकावलिचलन्न-यनारविन्दलीलावशंवदितलोकविलोचना। तस्याः तथोक्तायाः। 'अलकाश्चूर्णकु-न्तलाः' इत्यमरः। (ख) सायाह्नि—सायंकाले इत्यर्थः। (ग) प्रणयिनः—प्रणयो अस्येति प्रणयी। (प्रणय + इनि) तस्य प्रणयिनः। प्रियतमस्येत्यर्थः। (घ) व्रजन्त्याः—गच्छन्त्याः। व्रजगतौ (भ्वादि) + शतृ + ङीप् + ङस)। (ङ) गतिः—(गम् + क्तिन्) गमनमित्यर्थः, (च) अङ्गनायाः—प्रशस्ता-न्यङ्गान्यस्या इति अङ्गना। तस्याः अङ्गनायाः। सुन्दर्या इत्यर्थः। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त उपनिबद्ध किया है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौगः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १७८ ॥

दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि
सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः।
वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बम्
दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥ १७९ ॥

अन्वयः—विदुषां वरेण्यः वेधाः एणविलोचनायाः दन्तांशुकान्तम् अरविन्द-रमापहारि सान्द्रामृतं वदनं विधाय पुनरुक्तमिव इन्दुबिम्बम् कथम् न दूरीकरोति ?

हिन्दीरूपान्तर—विद्वानों में श्रेष्ठ ब्रह्मा मृगनैनी के दाँतों की किरणों से रमणीय, कमलों की लक्ष्मी का अपहरण करने वाले सघन अमृत वाले मुख को बनाकर पुनरुक्त की तरह प्रतीत होने वाले चन्द्रमण्डल को क्यों नहीं दूर कर देता ?

व्याख्या—यहां नायिका विषयक नायकगत रतिभाव व्यञ्जित होने के कारण सम्भोग शृङ्गार रस अभिव्यक्त हो रहा है। कवि ने नायिका के मुख

के प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमण्डल को पुनरुक्त कह कर हीन सिद्ध किया है अतः उपमा . से उपमेय का आधिक्य प्रतिपादित होने के कारण यहाँ व्यतिरेकालङ्कार है—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः"—(काव्यप्रकाश)। साथ ही 'एणविलोचनायाः' पद में 'एणस्य विलोचने इव विलोचने यस्याः' इस अर्थ में 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य' इस भाष्यवार्त्तिक से समास और उत्तरपद का लोप हुआ है। अतः यहाँ धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा है। (क) दन्तांशु-कान्तम्—दन्तानामंशवः किरणाः दन्तांशवः। तैः कान्तं रमणीयं दन्तांशु-कान्तम्। (ख) अरविन्दरमापहारि—अरविन्दानां रमा लक्ष्मीः अरविन्द-रमा। तामपहरतीति अरविन्दरमापहारि। 'राजीवमरविन्दञ्च पद्मं पङ्कजमिष्यते' इति हलायुधः। (ग) सान्द्रामृतम्—सान्द्रं सघनममृतं यस्मिन् तत् सान्द्रा-मृतम्। द्वितीयैकवचनम्। (घ) एणविलोचनायाः—एणस्य मृगस्य विलोचने नयने इव विलोचने यस्यास्तस्या एणविलोचनायाः। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य-बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति वार्तिकेन समास उपमानवाचकपदलोपश्च। धर्मवाचकोपमानलुप्तोपमा। (ङ) वेधाः—ब्रह्मेत्यर्थः। 'वेधा विधिः विरिञ्चः' इति हलायुधः। (च) इन्दुबिम्बम्—इन्दोः चन्द्रमसः बिम्बः इन्दुबिम्बः। तमिन्दुबिम्बम्। 'चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः इत्यमरः। 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलम् त्रिषु' इति चामरः। (छ) दूरीकरोति—अदूरं दूरं करोतीति दूरीकरोति' अभूततद्भावे च्विः। (ज) वरेण्यः—श्रेष्ठः (वृ + एण्यः) 'वरेण्यं वरं श्रेष्ठम्' इति हलायुधः। इसमें भी कवि ने वसन्ततिलकवृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में देखें ॥ १७९ ॥

सानुकम्पाः सानुरागाश्चतुराः शीलशीतलाः।
हरन्ति हृदयं हन्त! कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः ॥ १८० ॥

अन्वयः—हन्त! कान्तायाः सानुकम्पाः सानुरागाः चतुराः शीलशीतलाः स्वान्तवृत्तयः हृदयं हरन्ति।

हिन्दीरूपान्तर—अहा! प्रियतमा की कृपालु, अनुरागी, चालाक और स्वभावतः शीतल मनोवृत्तियाँ (मेरे) हृदय को हर लेती हैं।

व्याख्या—कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है। यहाँ नायक का नायिका विषयक रति भाव व्यञ्जित होता है। नायिका आलम्बन है उसकी कृपालु अनुरागी आदि चित्तवृत्तियाँ उद्दीपन हैं, नायिकाका प्रफुल्लित होना आदि अनुभाव हैं तथा हर्षादिक व्यभिचारी भाव हैं जिनसे संयोग सम्भोग शृङ्गार की निष्पत्ति होती है। परन्तु यहाँ कवि ने इतना अधिक विसर्गों का प्रयोग कर दिया है कि रचना में शिथिलता आ गई है और वह शृङ्गार के प्रतिकूल हो गई है।

अतः 'प्रतिकूल वर्णता दोष' है। (क) सानुकम्पाः—अनुकम्पया सहिताः सानुकम्पाः। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः। (ख) सानुरागाः—अनुरागेण सहिताः सानुरागाः। (ग) शीलशीतला—शीलतः शीतलाः शीलशीतलाः। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ शील का अर्थ स्वभाव है। स्वभावतः शीतल। (घ) हन्त—हर्ष के सूचक रूप में प्रयुक्त हुआ है—'हन्त हर्षेऽनुकम्पायाम्' इत्यमरः। (ङ) कान्तायाः—काम्यतेऽसाविति कान्ता। कम्+णिच्+कर्म्मणि क्त+टाप्। सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्रीत्यर्थः। तस्याः कान्तायाः। (ङ) स्वान्तवृत्तयः—स्वान्तस्य मनसः वृत्तयः स्वान्तवृत्तयः। 'चेतश्चित्तं मनः स्वान्तं हृदयं मानसं समम्' इति हलायुधः। इसमें अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध है॥ १८०॥

अलका⌣फणिशावतुल्यशीला
नयनान्ता⌣परिपुङ्खितेषु लीलाः।
चपलोपमिता खलु स्वयं या
बत लोके सुखसाधनङ्कथं सा॥ १८१॥

अन्वयः—(यस्याः) अलकाः फणिशावतुल्यशीलाः नयनान्ताः परिपुङ्खितेषुलीलाः, या स्वयम् खलु चपलोपमिता, बत, सा लोके सुखसाधनम् कथम् (भवितुमर्हति)।

हिन्दीरूपान्तर—(जिसकी) जुल्फें सपोंले के सदृश स्वभाव वाली हैं, (और) नयनों के किनारे पुंख से युक्त बाणों की लीला के सदृश लीला वाले हैं (और) जो खुद ही बिजली के समान है, हाय! वह (नायिका) संसार में सुख का साधन कैसे (हो सकती है।)

व्याख्या—यह किसी विरक्त पुरुष की विलासीजन के प्रति कही उक्ति है। कवि ने अलकोंकी उपमा सपोलों से, नयन प्रान्तों की उपमा पुंख युक्त बाणों से, और स्वयं नायिका की उपमा बिजली से प्रस्तुत की है। ये तीनों ही उपमान नायिका को दुःखदायी ही सिद्ध करती हैं इसी लिये कवि कहता है जो संसार स्त्री को सुख का साधन कहता है वह मिथ्या है, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। अतः मनुष्य को स्त्री आदि के चक्कर में नहीं फँसना चाहिए। इस प्रकार यहाँ कवि ने 'शान्त' रस की अभिव्यक्त कराई है परन्तु जो रचना कवि ने प्रस्तुत की है वह शान्त रस के अनुकूल नहीं क्यों कि इसमें दो/दो उपध्मानीय प्रयुक्त हैं, एक 'अलका⌣फणि०' आदि में और दूसरा 'नयनान्ता⌣परि इत्यादि में। उपध्मानीय का लक्षण है—"अ⌣पः, अ⌣फः, इति पफाभ्यां प्रागर्द्धविसर्ग-

सदृश उपध्मानीयः" (लघुसिद्धान्तकौमुदी) अर्थात् 'प' और 'फ' के पहले जो अर्द्ध विसर्ग के समान (⌣⌢) चिह्न आता है उसे उपध्मानीय कहते हैं। उक्त स्थलों पर 'अलकाः + फणि०' तथा नयनान्ताः + परि०' इस स्थिति में "कुप्वोः⌣क⌢पौ च" (८।३।३७) इस सूत्र से विसर्ग के स्थान पर विकल्प से उपध्मानीय हो गया है यह वैरस्य का उत्पादक है (क) फणिशावतुल्यशीलाः—फणः अस्त्यस्येति फणी (फण + इनि) सर्पः। तस्य शावः शिशुः फणिशावः। तुल्यं शीलं येषान्ते तुल्यशीलाः। फणिशावस्य तुल्यशीलाः फणिशावतुल्यशीलाः। (ख) नयनान्ताः—नयनानामन्ताः प्रान्तभागाः नयनान्ताः (ग) परिपुङ्खितेषुलीलाः—परितः पुङ्खितः परिपुङ्खितः। तथाभूतः इषुः परिपुङ्खितेषुः। तस्य लीला इव लीला येषान्ते परिपुङ्खितेषुलीलाः। "सप्तम्युपमान पूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च" इति वार्तिकेन समासः उपमानवाचक लीलापदलोपश्च। बाण के जितने भाग में पङ्ख लगे रहते हैं उसे पुंख कहते है। (घ) चपलोपमिता—चपलया उपमिता चपलोपमिता। 'तडित्सौदामिनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि'। (ङ) बत—खेदे। इसमें कालभारिणी वृत्त है। 'विषमें ससजा यदा गुरु चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १८१ ॥

वदने तव यत्र माधुरी सा
हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत्।
अधुना हरिणाक्षि ! हा ! कथं वा
गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ॥ १८२ ॥

अन्वय—हे हरिणाक्षि ! यत्र तव वदने सा माधुरी च कोमले हृदि पूर्णा करुणा अभूत्, अधुना हा (तत्रैव) गुणानाम् अन्या एव गतिः कथं वा विलोक्यते ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मृगनैनी ! जहाँ तुम्हारे मुख में वह (पूर्वानुभूत, मधुरिमा और कोमल हृदय में पूर्ण दया थी, आज हा (वहीं पर) गुणों की दूसरी ही दशा कैसे दिखाई पड़ती है।

व्याख्या—किसी नायक की प्रियतमा जो हमेशा अपने प्रियतम से मीठी बातें किया करती थी उस पर हमेशा कृपालु रहा करती थी किसी अपराधवश उससे रुष्ट हो गई। नायक के द्वारा विनती करने पर भी जब उसका वाक्पारुष्य कम न हुआ और उसका दिल नहीं पसीजा, तब उससे नायक का यह कथन है। (क) हरिणाक्षि—हरिणस्याक्षिणीवाक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी। मृगनयनी-

त्यर्थः । 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इति भाष्यवार्त्तिकेन समासः उपमानवाचकाक्षिपदलोपश्च । यहाँ धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। तत्सम्बुद्धौ हे हरिणाक्षि । (ख) वदने—मुखे । रसगङ्गाधर में 'वचने' पाठ मिलता है वह वदने की अपेक्षा समीचीनतर है। (ग) माधुरी—मधुरस्येयं माधुरी । (मधुर + अण् + ङीप्) मधुरिमेत्यर्थः । (घ) हृदि—हृदये । (ङ) गतिः- दशेत्यर्थः । 'गतिर्मार्गे दशायाञ्च' इति विश्वप्रकाशः । (च) अधुना—इस समय । 'सा माधुरी' के 'सा' पद से मधुरता का आतिशय्य किंवा उसकी अनिर्वचनीयता वा अनुभवैकगम्यता द्योतित होती है । इसमें भी कवि ने काल-भारिणी वृत्त उपनिबद्ध किया है । लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥ १८२ ॥

विलसत्याननन्तस्या नासाग्रस्थितमौक्तिकम् ।
आलक्षितबुधाश्लेषं राकेन्दोरिव मण्डलम् ॥ १८३ ॥

इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी-
विलासे शृङ्गारो नाम द्वितीयो विलासः

अन्वयः—तस्याः नासाग्रस्थितमौक्तिकम् आननं राकेन्दोः आलक्षितबुधा-श्लेषम् मण्डलम् इव विलसति ।

हिन्दीरूपान्तर—उस (नायिका) का नासिका के अग्रभाग में विद्यमान मुक्ता वाला मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा के दिखाई पड़ते हुए बुध के आश्लेष वाले मण्डल की तरह सुशोभित होता है ।

व्याख्या—कवि किसी नायिका का वर्णन करते हुए कहता है कि उस नायिका का मुख चन्द्रमा के मण्डल के समान है। यहाँ नायिका का मुख उपमेय, चन्द्रमण्डल उपमान और इव उपमावाचक शब्द है । इन दोनों के साधारण धर्म है 'नासिका के अग्रभाग में विद्यमान मौक्तिक' और 'बुध का आश्लेष' । इन दोनों में परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है, क्योंकि दोनों ही (मौक्तिक और बुध) परस्पर भिन्न है परन्तु उनमें अभेद स्थापित किया गया है । इस प्रकार उपमा के चारों ही तत्वों के उपात्त होने के कारण यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है । जो मण्डल के साथ इव के समस्त न होने के कारण वाक्यगा और सादृश्य की शीघ्र ही प्रतीति हो जाने के कारण श्रौती है । (क) नासाग्रस्थितमौक्तिकम्—नासायाः अग्रं नासाग्रम् । तत्र स्थितं नासाग्रस्थितम् । नासाग्रस्थितं मौक्तिकं यस्मिन् तत् नासाग्रस्थितमौक्तिकम् ।

(ख) आलक्षितबुधाश्लेषः—आङ् समन्तात् लक्षितः आलक्षितः। बुधस्य आश्लेषः बुधाश्लेषः। आलक्षितः बुधाश्लेषः यस्मिन् तत् आलक्षितबुधाश्लेषम्। (ग) राकेन्दोः—राकायाः (पूर्णिमायाः) इन्दुः चन्द्रः राकेन्दुः। तस्य राकेन्दोः। 'राका सम्पूर्णे पूर्णमासी च' इति हलायुधः। 'चन्द्र इन्दुः कुमुद-बान्धवः' इत्यमरः। (घ) मण्डलम्—बिम्बः। 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ १८३॥

इस प्रकार श्रीपण्डितराज जगन्नाथ विरचित भामिनीविलास के द्वितीय शृङ्गारविलास का हिन्दीरूपान्तर तथा व्याख्या सम्पूर्ण।

तृतीयः करुणविलासः

देवे पराग्वदनशालिनि हन्त ! जाते
याते च सम्प्रति दिवम्प्रति बन्धुरत्ने ।
कस्मै मनः ! कथयितासि निजामवस्थाम् ?
कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम् ॥ १ ॥

अन्वयः—हन्त ! मनः । सम्प्रति देवे पराग्वदनशालिनि जाते च बन्धुरत्ने दिवम् प्रति याते निजाम् अवस्थाम् कस्मै कथयितासि कः शीतलैः वचनैः तव आधिं शमयिता ।

हिन्दीरूपान्तर—हाय ! रे मन ! इस समय भाग्य के पराङ्मुखता से सुशोभित होने पर और उत्तम बन्धुओं के स्वर्ग चले जाने पर तू अपनी हालत किससे कहेगा (और) कौन ठण्डी बातों से मानसिक पीड़ा को शान्त करेगा ।

व्याख्या—कोई विरही नायक जिसकी प्रियतमा का स्वर्गवास हो गया है, उसकी विरह व्यथा से सन्तप्त हो अपने मन को सम्बोधित करके कह रहा है इनमें कवि ने करुण रस की निष्पत्ति कराई है । नायिका आलम्बन विभाव है । दैवकी निन्दा तथा रोदनादिक जिनका अनुमान ऊपर से किया जा सकता है अनुभाव है, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनके संयोग से नायक गत शोक स्थायिभाव अभिव्यक्त होता है । करुण रस का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार दिया गया है—

"इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥"

इस विलास के प्रायः सभी श्लोकों में कवि ने करुण रस ही उपनिबद्ध किया है। इसीलिये इस विलास का नाम 'करुण विलास' रखा गया है । कुछ विद्वानों

का अभिमत है कि ये रचनायें पंडितराज ने अपनी प्रियतमा की मृत्यु के अनन्तर उसकी विरह व्यथा से पीड़ित होकर लिखा था। हो सकता है परन्तु ऐसी बात अनिवार्य नहीं क्योंकि कोई कवि समस्त रचनायें अपने व्यक्तिगत जीवन से ही प्रभावित होकर नहीं लिखता। और फिर पण्डितराज जैसा कवि तथा आचार्य जो इस बात को ललकार कर कहें कि मैंने इस ग्रन्थ में सारे उदाहरण स्वयं निर्मित करके प्रस्तुत किया है—"निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपम्" इत्यादि (रसगङ्गाधर) तो यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है कि करुण, वीभत्स, भयानक, रौद्र आदि समस्त रसों को अभिव्यक्त करने वाली रचनायें उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के आधार पर लिखी है। हाँ इस विलास की कुछ रचनाओं से इस बात के सम्बल अवश्य प्राप्त होते हैं। जैसे पद्य संख्या ६ 'निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा' आदि तथा पद्य संख्या १० 'काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे' इत्यादि के द्वारा। वैसे चूंकि कवि की ये फुटकल रचनायें हैं अतः सबको बैठकर उसने एक साथ लिखा यह मानने में कोई सङ्गति नहीं है। अस्तु। (क) दैवे—दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यम् स्त्री नियतिर्विधिः इत्यमरः। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) इति सप्तमी। (ख) पराग्वदनशालिनि—परा अञ्चतीति पराक् (परा + अञ्च + क्विप्) पराक् वदनम् पराग्वदनम्। तेन शालते इति पराग्वदनशाली तस्मिन् पराग्वदनशालिनि। अर्थात् पराङ्मुख हो जाने पर। (ग) हन्त—विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायाम् वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। (घ) दिवम—स्वर्गम्। 'अभितः परितः समया निकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन प्रतियोगे द्वितीया। (ङ) बन्धुषु 'रत्नं बन्धुरत्नम् बान्धव जने इत्यर्थः। तस्मिन बन्धुरत्ने। रत्नस्वजाति श्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः। (च) कस्मै—इत्यत्र 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इति वार्तिकबलेन 'चतुर्थी सम्प्रदाने'। (२।३।१३) इति सूत्रेण चतुर्थी। जब बन्धुरत्न ही नहीं रहा तो अपनी हालत किससे बतायेगा। क्योंकि अपनी दुःखावस्था इतने ही लोगों से बताकर दुःखी व्यक्ति सुखी होता है—"सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्ये प्रियासु योषित्सु करुणा-शालिनि भूपे निवेद्य दुःखं सुखी भवति।" इति। (छ) आधिम्—मानसिक पीडा को आधि कहते हैं—'आधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। कथयितासि और शमयिता 'अनद्यतन भविष्य' अर्थ में 'लुट्' लकार के क्रमशः कथ् और शम् धातुओं के मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष एकवचन के रूप है। इस श्लोक में उत्तरार्द्ध में प्रतिपादित किये गये वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी स्वीकार कर सकते हैं। इसमें कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः (छन्दोमञ्जरी)॥ १॥

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा पुरेव
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसाऽवलोकैः[१] ।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले !
हा ! लेशतोऽपि न कथं शिशिरी करोति ॥ २ ॥

अन्वयः—हा ! बाले !! पुरेव सहसा अद्य कथम् माम् सविनयम् प्रत्युद्गता स्मरस्य सचिवैः स्मेरैः, सरसावलोकैः च मञ्जुरचनैः वचनैः लेशतः अपि न शिशिरीकरोषि ?

हिन्दीरूपान्तर—हाय ! प्रियतमे !! पहले की तरह अचानक आज मुझे किस कारण से विनयपूर्वक मिल करके कामदेव की सहायक मुस्कुराहटों, रसभरी निगाहों और मनोहर रचना वाले वचनों से जरा सा भी ठण्डक नहीं पहुँचा रही हो ?

व्याख्या—इस पद्य में भी कवि ने करुण रस की निष्पत्ति कराई है। नायिका आलम्बन विभाव है। पूर्वकाल की स्मृति उद्दीपन है। अनुमानित किए जाने वाले निःश्वासादि अनुभाव हैं। विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं जिनके संयोग से नायक गत शोक स्थायिभाव परिपुष्ट हो करुण रस की सृष्टि करता है। साथ ही उक्त ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में नायकगत नायिका-विषयक रति भी परिपुष्ट होती है, परन्तु वह नायकगत रति नायकगतशोक को और भी पुष्ट करती है, अतः उसके अङ्गरूप में विद्यमान है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार के करुण के अंग रूप में प्रयुक्त होने से परस्पर कोई विरोध नहीं माना जायगा। ऐसे स्थलों के विषय में ध्वन्यालोककार का यह कथन अवधेय है—

"अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित्करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गार-वस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायेत। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभावभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं शोका-वेशमुपजनयन्ति। यथा—"अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः। नाभ्यूरुजघन-स्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।" "इत्यादौ" (ध्वन्यालोक पृष्ठ ३७६–३७७) ॥

(क) प्रत्युद्गता—(प्रति + उत् + गम् + क्त + टाप्) (ख) सविनयम्—विनयेन सहितं यथा यस्यात्तथा सविनयम्। क्रियाविशेषणमेतत् (ग) सहसा—अकस्मादित्यर्थः। 'अतर्कितं तु सहसा' इत्यमरः। (घ) पुरेव—इत्यर्थोपमा। इवेन सह समासश्च। (ङ) स्मेरैः—मृदुहासयुक्तैरित्यर्थः। (च) स्मरस्य—कामदेवस्येत्यर्थः। 'कामः पञ्चशरः स्मरः' इत्यमरः। (छ) सचिवैः—सहाय-

१. "सहसाऽवलोकैः" इति पाठान्तरम्।

केरित्यर्थः। 'सचिवः सहाये मन्त्रिणि स्मृतः' इति विश्वप्रकाशः। (ज) सरसा वलोकैः—अवलोकनमवलोकः। (अव + लुक् + घञ्)। रसेन सहितः सरसः। रागपूर्णः इत्यर्थः। रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः इति विश्व-प्रकाशः। सरसाः अवलोकाः सरसावलोकाः। तैः सरसावलोकैः। रागभरी निगाहों से। (झ) मञ्जुरचनैः—मञ्जु (मनोरमम्) रचनं (रचना) येषां तानि मञ्जु रचनानि तैः मञ्जुरचनैः। 'कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञम् मञ्जु मञ्जुलम्' इत्यमरः। (ञ) बाले—'बालेति गीयते नारी यावत् षोडशवत्सरम्' (नागरसर्व्वस्व) तत्सम्बुद्धौ बाले। (ट) शिशिरी करोषि—अशिशिरं शिशिरम् करोषि इति शिशिरी करोषि। 'अभूतभावे च्विः) शीतली करोषि इत्यर्थः शिशिरः स्याद् ऋतोर्भेदे तुषारे शीतलेऽन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण पहले श्लोक की व्याख्या में देखें॥ २॥

> सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाताः
> विद्याऽपि खेदकलिता विमुखी बभूव।
> सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
> नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥ ३ ॥

अन्वयः—सर्वे अपि विषयाः विस्मृतिपथम् प्रयाताः, खेदकलिता विद्या अपि विमुखी बभूव, केवलं हरिणशावकलोचना सा अधिदेवतेव मे हृदयात् न एव अपयाति।

हिन्दीरूपान्तर—सारे के सारे भोग्यपदार्थ (विषय) भूल गए, परिश्रम पूर्वक प्राप्त की गई विद्या भी पराङ्मुख हो गई, केवल मृगशावकनैनी वह (प्रियतमा) अधिष्ठात्री देवी की तरह मेरे हृदय से नहीं ही दूर होती।

व्याख्या—यह पद्य रसगङ्गाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'भावाभास' ध्वनि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि यह गुरुकुल में विद्याध्ययन करते समय अपने गुरु की कन्या के सौन्दर्य से मुग्ध हुए व्यक्ति की उसे स्मरण करते हुए विदेश में रहते समय की उक्ति है। यहाँ पर नायिका का विषयों और विद्या की अपेक्षा उत्कर्ष बताया गया है अतः व्यतिरेक है। क्योंकि विषयों ने और विद्या ने तो उसे छोड़ दिया परन्तु उस मृगशावक-लोचना ने उसे नहीं छोड़ा। साथ ही कभी भी साथ न छोड़ने के कारण कवि ने जो उसकी उपमा अधिदेवता से प्रस्तुत की वह भी अतिरेक के साथ उस नायक के स्मृति भाव को परिपुष्ट करती है। इस प्रकार यह भाव अनौचित्य प्रवृत्त होने के कारण भाव ध्वनि को न प्रस्तुत कर भावाभास ध्वनि को प्रस्तुत

करता है। परन्तु यदि इसे उस मृगशावकनयनी के पति की ही उक्ति मानी जाय तो भाव ध्वनि ही होगी। मैंने जो बात प्रथम श्लोक की व्याख्या में प्रतिपादित किया था कि यह पण्डितराज की अपनी प्रियतमा की मृत्यु के अनन्तर बनाये गए श्लोको का संकलन नहीं है, वह रसगङ्गाधरकार की इस व्याख्या से स्वयं और भी परिपुष्ट हो जाता है। रसगङ्गाधरकार के शब्दों में उक्त विवेचन इस प्रकार है—गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्यान्यस्य वा कस्यचिदतिप्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरगतस्येयमुक्तिः। अथ च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां स्रक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां विद्यायां च कृतघ्नत्वमस्याश्च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकश्च स्मृतिमेव पुष्णातीति सैव प्रधानम्। एवं त्यागाभावगतसार्वदिकत्वं व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमापि। एष चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः। यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिस्तदा भावध्वनिरेव। (क) विस्मृतिपथम्—वि + स्मृ + क्तिन् = विस्मृतिः। विस्मरणमित्यर्थः। विस्मृतेः पथः विस्मृतिपथः। तं विस्मृतिपथम् (ख) विषयाः—भोग्य वस्तुओं को विषय कहते हैं। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च। गोचरे च प्रबन्धाद्ये यस्य ज्ञातस्तु तत्र च।" इति विश्वप्रकाशः (ग) खेदकलिता—खेदेन कलिता खेदकलिता। खेदः परिश्रमः। कलिता प्राप्ता अभ्यस्ता वा। (घ) विमुखीबभूव—वि (विरुद्धं विपरीतं वा) मुखं यस्याः सा विमुखा। अविमुखा विमुखा बभूवेति विमुखी बभूव। 'अभूततद्भावे च्विः' (ङ) हरिणशावकलोचना—हरिणस्य शावकः हरिणशावकः। मृगशिशुरित्यर्थः। हरिणशावकस्य लोचने इव लोचने यस्याः सा हरिणशावकलोचना। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' इति समासः उपमानभूतलोचनपदलोपश्च। यहाँ धर्मवाचकोपमानलुप्ता उपमा है। 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' इत्यमरः। इस श्लोक में भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण पहले के श्लोक की व्याख्या में देखे॥ ३॥

निर्वाणमङ्गलपदन्त्वरया विशन्त्या
मुक्ता दयावति! दयाऽपि किल त्वयाऽसौ?
यन्मान्न भामिनि! निभालयसि प्रभात—
नीलारविन्दमदभञ्जकरैः कटाक्षैः॥ ४॥

अन्वयः—हे दयावति! भामिनि! त्वरया निर्वाणमङ्गलपदं विशन्त्या त्वया किल असौ दया अपि मुक्ता? यत् माम् प्रभातनीलारविन्दमदभञ्जकरैः कटाक्षैः न निभालयसि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृपालु! प्रियतमे! शीघ्रता के साथ मोक्षरूप

कल्याण स्थान में प्रवेश करते हुए तुमने क्या इस कृपा को भी छोड़ दिया जो मुझे प्रातः कालीन नीलकमल के घमण्ड को चूर कर देने वाले (अपने) कटाक्षों से नहीं देख रही हो।

व्याख्या—यहाँ पर भी पूर्वश्लोकों की भाँति करुण रस की अभिव्यञ्जना कराई गई है। (क) निर्व्वाणमङ्गलपदम्—मङ्गलस्य (कल्याणस्य) पदं (स्थानम्) मङ्गलपदम्। 'कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः। 'पद' शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः। पादतच्चिह्नयोः स्थानत्राणयोरङ्कवस्तुनोः।" इति विश्वप्रकाशः। निर्वाणं (कैवल्यं, मुक्तिः) एव मङ्गलपदं निर्वाणमङ्गलपदम्। 'कैवल्यं निर्वाणं निश्श्रेयसममृतमक्षरं ब्रह्म' इति हलायुधः। (ख) त्वरया—सम्भ्रमेणेत्यर्थः। वेग पूर्वक, जल्दी से। 'सम्भ्रमस्त्वरा' इत्यमरः। (ग) विशन्त्या—विश + शतृ + ङीप्) (घ) मुक्ता—मुच् + क्त + टाप्। (ङ) दयावति—दया अस्ति अस्या इति दयावती। (दया + मतुप् + ङीप्) 'तपस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) 'कृपादयाऽनुकम्पा स्याद्' इत्यमरः। तत्सम्बुद्धौ हे दयावति। (च) दयाऽपि दया भी छोड़ दिया : 'अपि' से यह ध्वनित होता है कि तुमने हमें ही नहीं छोड़ा बल्कि इतनी क्रुद्ध हो गई हो कि मेरे ऊपर की जाने वाली अपनी कृपा को भी छोड़ दिया। (छ) किल—यहाँ सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'वार्त्ता सम्भावनयोः किल' इत्यमरः। (ज) भामिनि—अमरकोश के अनुसार अत्यधिक क्रुद्ध होने वाली स्त्री को भामिनी कहते है 'कोपना सैव भामिनी' इस सम्बोधन से यह उत्प्रेक्षा ध्वनित होती हैं कि कहीं अत्यन्त क्रुद्ध होकर तो तुम अन्तर्धान नहीं हो गई जैसा कि अच्युतराय ने संकेत किया है—"भो भामिनि! एतेन 'कोपना सैव भामिनी' इति 'कोशात् किं कोपवशादन्तर्धानमापन्नासीत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते।" (झ) निभालयसि—अवलोकयसीत्यर्थः। (ञ) प्रभातनीलारविन्दमदभङ्गकरैः—नीलमरविन्दं नीलारविन्दम्। प्रभातकालिकं नीलारविन्दम् प्रभातनीलारविन्दम्। प्रभातनीलारविन्दस्य मदः प्रभातनीलारविन्दमदः। तस्य भङ्गः प्रभातनीलारविन्दमदभङ्गः। करोतीति करः (कृ + अच्) प्रभातनीलारविन्दमदभङ्गस्य करः प्रभातनीलारविन्दमदभङ्गकरः। तैः तथाक्तैः। प्रातःकालिक नीले कमल के गर्व को चूर कर देने वाले। 'मदोरेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ट) कटाक्षैः—कटं गण्डम् अक्षति व्याप्नोतीति कटाक्षः 'कट + अक्षुव्याप्तौ + अण्) तैः कटाक्षैः। अपाङ्गदर्शनैरित्यर्थः। तिरछा देखने को कटाक्ष कहते हैं। इस प्रकार आँख की पुतली बिल्कुल किनारे आ जाती है कपोलों तक। इसी लिये उसे कटाक्ष कहा जाता है। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त उप-

निबद्ध किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४ ॥

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करम्मे
याऽढरूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि! द्याम्
आरोहसीति? हृदयं शतधा प्रयाति ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे विलासिनि! या (त्वम्) विवाहे पदस्खलनभीतिवशात् मे करम् धृत्वा शिलाशकलं रूढवती असि, सा (त्वम्) अद्य मां विहाय द्याम् कथम् आरोहसि इति (विचिन्त्य) हृदयं शतधा प्रयाति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ विलासवती! जो तुम विवाह के समय पैर डगमगा जाने के भयवश मेरा हाथ पकड़ कर शिलाखण्ड पर चढ़ी थी, वही तुम आज मुझे छोड़कर स्वर्ग पर कैसे चढ़ी जा रही हो, यह (सोचकर) हृदय सौ टुकड़े हुआ जा रहा है।

व्याख्या—यहाँ पर भी नायकगत शोक स्थायिभाव की अभिव्यक्ति होने से करुणरस है। वह करुणरस 'स्मृति' व्यभिचारी भाव से अत्यधिक परिपोष को प्राप्त कर रहा है। (क) धृत्वा—(धृङ् अवस्थाने + क्त्वा)। (ख) पदस्खलनभीतिवशात्—पदस्य स्खलनं पदस्खलनम्। तस्माद् भीतिः पदस्खलनभीतिः। तद्वशात् पदस्खलनभीतिवशात्। पैर डगमगा जाने के भयवश। (ग) शिलाशकलम्—शिलायाः शकलं (खण्डं) शिलाशकलम्। 'शिलोपलाश्मपाषाणग्रावाणः प्रस्तरो दृषत्'' इति हलायुधः। 'भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्धः' इत्यमरः। विवाह के समय ऐसा नियम है कि दूल्हन को पाषाणखण्ड पर चढ़ाया जाता है। वधू उस समय वर का हाथ पकड़ कर उस पर चढ़ती है। उस क्रिया का सम्पादन इस मन्त्र द्वारा होता है—'आतिष्ठेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। प्रमृणीहि दुरस्यून् सहस्व पृतना यतः। (घ) विलासिनि—विलासः अस्त्यस्यामिति विलासिनी (विलास + इनि + ङीप्) तत्सम्बुद्धौ हे विलासिनि। स्त्रियों के श्रृङ्गारभाव से उत्पन्न होने वाली क्रियाविशेष को विलास कहते हैं। विलास का लक्षण साहित्यदर्पण के अनुसार है—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्म्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना' ॥

अर्थात् अभीष्ट के दर्शन आदि से चलने, रुकने, बैठने आदि की तथा मुख, नेत्र आदि के व्यापारों की विशेषता को विलास कहते हैं। स्त्री का सर्वस्व पति ही होता है। पति को छोड़कर वह स्वर्ग चली जा रही हैं और है विला-

सिनी। आखिर उसके विलासों का क्या होगा ? जब उसका इष्टतम प्रियतम ही नहीं वहाँ मिल सकेगा। इसीलिए नायक आश्चर्य के साथ कहता है कि कैसे तुम स्वर्ग को चली जा रही हो ? ये सारी बातें विलासिनि सम्बोधन पद से ध्वनित होती है। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥ ५ ॥

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालङ्कृतिः श्रवणमङ्गलवर्णराजिः।
सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति ॥ ६ ॥

अन्वयः—निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा सालङ्कृतिः श्रवणमङ्गलवर्णराजिः मनोऽभिरामा सा रामा मामकीनकवितेव कदापि मम हृदयात् न अपयाति।

हिन्दीरूपान्तर—(अनाचार आदि) दोषों से रहित, (दया आदि) गुणों से संवलित, शृङ्गार आदि विलासों से परिपूर्ण, आभूषणों से विभूषित, श्रवण सुखद वचनोंवाली, मनोहारिणी वह प्रियतमा, (श्रुतिकटु आदि) दोषों से हीन, (माधुर्य्यादि) गुणों से समन्वित (उपमादि) अलङ्कारों से संवलित श्रवणसुखद वर्णोंवाली मनोहारिणी मेरी कविता की तरह कभी भी हृदय से दूर नहीं होती।

व्याख्या—यहाँ पर कवि अपनी प्रियतमा की उपमा अपनी कविता से रहा है। यहाँ कवि ने 'निर्दूषणा', 'गुणवती' आदि जो विशेषण प्रस्तुत किये हैं वे श्लिष्ट। कविता और कामिनी दोनों के पक्षों में उनके अर्थ भिन्न हैं। (क) निर्दूषणा—निर्गतं दूषणं (दोषः) यस्याः सा निर्दूषणा। कविता के पक्ष में दोष का आशय 'श्रुति कटु' आदि दोषों से है जो रसापकर्षक होते हैं। दोष का लक्षण मम्मट ने दिया है—'मुख्यार्थहतिर्दोषः। रसश्च मुख्यः। तदाश्रयाद् वाच्यः।" इत्यादि। साहित्यदर्पण में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—'रसापकर्षका दोषाः। ते पुनः पञ्चधा मताः। परे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्।" कामिनी के पक्ष में वर्णसङ्कर, अनाचार आदि दोषों से आशय है। चाणक्य की उक्ति है—'अदाता वंशदोषेण कर्मदोषाद्दरिद्रता। उन्मादो मातृदोषेण पितृदोषेण मूर्खता।' आदि। कवि की प्रियतमा इन सभी दोषों से रहित थी। (ख) गुणवती—गुणाः सन्त्यस्यामिति गुणवती (गुण + मतुप् + ङीप्) कविता के पक्ष में गुणों से आशय माधुर्य प्रसादादि गुणों से है। गुणों का लक्षण काव्यप्रकाश में इस प्रकार

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयोः गुणाः।' मम्मट आदि आचार्यों ने गुणों को रस का धर्म माना है। शब्द और अर्थ का नहीं। इन्होंने माधुर्य प्रसाद और ओजस् केवल तीन गुणों की सत्ता स्वीकार की है। वामन ने दस शब्द के तथा दस अर्थ के गुण माने हैं। इसी तरह भरत और दण्डी ने भी दस-दस गुण स्वीकार किया है। कामिनी के पक्ष में गुणों का आशय शोल, दया, सदाचार आदि से है। (ग) रसभाव-पूर्णा—रसाश्च भावाश्चेत्येतेषामितरेतरयोगः रसभावाः। तैः पूर्णा रसभावपूर्णाः। यह समास तो कविता के पक्ष में होगा। रस का तात्पर्य शृङ्गारादि रसों से, भाव का तात्पर्य देवादिविषयक रति आदि से है। रस का लक्षण भरत के अनुसार है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। रस अधिकांश आचार्यों ने नव ही स्वीकार किये हैं उसका परिगणन साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसा, शान्तस्तथा मतः ।

भाव का लक्षण मम्मट के अनुसार है—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ।

भावः प्रोक्तः। तथा विश्वनाथ के अनुसार है—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥'

कामिनी पक्ष में समास होगा—रसश्च भावश्चेत्यनयोरितरेतरयोगः रसभावौ ताभ्यां पूर्णा रसभावपूर्णा। इस पक्ष में रस का अर्थ राग, प्रेम या अनुराग है। 'विश्वप्रकाश का कथन है—

'रसो गन्धरसे स्वादे चित्तादौ विषरागयोः ।
शृङ्गारादौ द्रवे वीर्यें देहधातौ च पारदे ॥'

और भाव से आशय है यौवन में सत्त्व से उत्पन्न होनेवाले अङ्गज अलङ्कार विशेष से। जैसा साहित्यदर्पण में प्रतिपादित किया गया है—'यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसङ्ख्यकाः। अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः।' भाव का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया।'

(घ) सालङ्कृतिः—अलङ्कृतिभिः सहिता सालंकृतिः। अलंकृतिः अलङ्कारः। कविता पक्ष में अलंकार से आशय उपमा, अनुप्रास आदि से है। अलंकारों का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार दिया है—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

(साहित्यदर्पण)

कामिनी के पक्ष में अलङ्कारों से आशय केयूर-श्रवण, कुण्डल आदि आभूषणों से है—जैसा विश्वप्रकाश का कथन है—'अलङ्कारस्तूरमादौ हारकेयूरकादिपु ।" अथवा कामिनी के पक्ष में नायिका के यौवन में सात्विक भावों से उत्पन्न होनेवाले २८ अलङ्कारों का अर्थ भी लिया जा सकता है। उन अलङ्कारों की गणना साहित्यदर्पण में इस प्रकार को गई है—

"यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसङ्ख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यञ्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्य्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥
लीलाविलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥
विहृतं नयनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसङ्ख्यकाः ॥"

(ङ) श्रवणमङ्गलवर्णराजिः—वर्णानां राजिः वर्णराजिः । श्रवणे मङ्गला (सुखदा) इति श्रवणमङ्गला । श्रवणमङ्गलाः वर्णराजयः यस्यां सा श्रवणमङ्गल-वर्णराजिः (कविता) कविता पक्ष में वर्ण का आशय क, ख, ग आदि अक्षरों से है। जिसमें वर्णों की पंक्ति श्रुति कटु नहीं है। बल्कि श्रवणरमणीय है। श्रवणमङ्गला वर्णराजय यस्याः सा श्रवणमङ्गलवर्णराजिः (रामा)। कामिनी पक्ष में वर्णों का आशय वचनों से है कथन से है, अर्थात् जिसके वचन श्रवण सुखद थे। वर्ण का कोश है 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ रूपयशोऽक्षरे' विलेपने कथायाञ्च" इति विश्वप्रकाशः। (च) मामकीनकवितेव—ममेयं मामकीना । (अस्मद् + खञ् + टाप्) 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम् खञ्च" (४।३।१) इति सूत्रेण तत 'तवकममकावेकवचने' (४।३।३) इति ममकादेशे आदिवृद्धौ खस्य ईनादेशे 'आयनेयीनीयियः फ, ढ, ख, छ, घां प्रत्ययादीनाम्' इति सूत्रेण ततस्टापि मामकीना। मामकीना कविता मामकीनकविता। सेव मामकीनकवितेव। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च'। (छ) मनोऽ-भिरामा—मनोहारिणीत्यर्थः। इसमें कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजाजगौगः (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६ ॥

चिन्ता शशाम सकलाऽपि सरोरुहाणा-
मिन्दोश्च बिम्बमसमां सुषमामयासीत् ।
अभ्युद्गतः कलकलः किल कोकिलानाम्
प्राणप्रिये ! यदवधि त्वमितो गताऽसि ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे प्राणप्रिये ! त्वम् यदवधि इतः गता असि (तदवधि) सरोरुहाणां सकला अपि चिन्ता शशाम, च इन्दोः बिम्बम् असमां सुषमाम् अयासीत् किल कोकिलानाम् कलकलः अपि उद्गतः ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ प्राणप्यारी ! तू जब से यहाँ से चली गई है (तब से) कमलों की सारी चिन्ता शान्त हो गई है, तथा चन्द्रमण्डल अतुलनीय सौन्दर्य को प्राप्त हो गया है साथ ही कोकिलों का कलरव भी उत्पन्न हो गया है ।

व्याख्या—नायक अपनी दिवङ्गता प्रियतमा को सम्बोधित करके कह रहा है । यहाँ कवि ने कमलों की चिन्ता शान्त होने की बात कही है जिससे यह ध्वनित होता है कि नायिका के नेत्र कमलों के सदृश थे । अतः उन्हें हमेशा अपने प्रतिद्वन्द्वी के मौजूद होने के कारण चिन्ता थी । अब जब से वह स्वर्ग चली गई, अब उन कमलों का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा अतः वे चिन्ता-निर्मुक्त हो गए । इस प्रकार हेतु के व्यङ्ग्य रूप में प्रतीत होने से यहाँ काव्य-लिङ्ग ध्वनि है । इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय चरण में भी काव्यलिङ्ग ध्वनि ही है । चन्द्रबिम्ब अतुलनीय शोभा को प्राप्त हो गया अर्थात् नायिका का मुख ही चन्द्रबिम्ब की तुलना के योग्य था । जब तक वह यहाँ थी चन्द्रमण्डल को अतुलनीय शोभा नहीं प्राप्त थी । परन्तु अब उसके चले जाने पर कोई ऐसी सुन्दरी है ही नहीं जिसका मुख चन्द्रमा के बिम्ब से तुलना करने योग्य हो । कोकिलों का कलकल अब खूब उत्पन्न हो गया है इससे यह ध्वनित होता है कि नायिका की आवाज कोकिलों की आवाज़ से कहीं अधिक मधुर थी । उसकी आवाज़ के आगे कोकिलों का साहस नहीं था कि वे भी कलकल करते । परन्तु अब उन्हीं की आवाज़ सर्वाधिक मधुर है अतः वे भी कलकल करने लगे हैं । इस प्रकार इन तीनों चरणों में काव्यलिङ्ग ध्वनि के साथ-साथ हम प्रथम और द्वितीय चरण में व्यतिरेकालङ्कार की भी ध्वनि स्वीकार कर सकते हैं । (क) चिन्ता—चिन्तनम् । चिन्ता के विषय में किसी की उक्ति हैं—'चिताचिन्ताद्वयोर्मध्ये चिन्ता नाम गरीयसी । चिता दहति निर्जीवं चिन्ता हि जीवितन्तथा ।' (ख) सकला—समस्ता । 'सकलं समस्तम् सर्वञ्च' इति हलायुधः । (ग) शशाम—शान्तिंगतेत्यर्थः । (घ) सरोरुहाणाम्—सरसि रोहतीति सरोरुहम् । तेषां सरोरुहाणाम् । (सरस् + रुह + क्विप् + आम्) 'सरोरुहं बिसप्रसूनं

कमलम्' इति हलायुधः । (ङ) इन्दोः—चन्द्रस्य । 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः इन्दुः कुमुदबान्धवः' इत्यमरः । (च) बिम्बम्—मण्डलम् । 'बिम्बोऽस्त्रीमण्डलं त्रिपु' इत्यमरः । (छ) असमाम्—न विद्यते समा यस्याः सा असमा । तां असमाम् । अतुलामित्यर्थः । (ज) सुषमाम्—परमां शोभाम् । 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः । (झ) कलकलः—'कोलाहलः कलकलः' इत्यमरः । (ञ) प्राणप्रिये—प्राणेभ्यः प्रिया प्राणप्रिया । तत्सम्बुद्धौ हे प्राणप्रिये इसमें भी कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण पहले दिया जा चुका है ।। ७ ।।

[1]सौदामिनीविलसितप्रतिमानकाण्डे
दत्त्वा कियन्त्यपि दिनानि महेन्द्रभोगान् ।
मन्त्रोज्झितस्य नृपतेरिव राज्यलक्ष्मी-
र्भाग्यच्युतस्य करतो मम निर्गताऽसि ।। ८ ।।

अन्वयः—कियन्ति अपि दिनानि सौदामिनीविलसितप्रतिमान् महेन्द्रभोगान् दत्त्वा मन्त्रोज्झितस्य नृपतेः राज्यलक्ष्मीः इव अकाण्डे भाग्यच्युतस्य मम करतः निर्गता असि ।

हिन्दीरूपान्तर—कुछ ही दिनों तक विद्युद्विलास के सदृश महेन्द्र के सुख प्रदान कर मन्त्र (शक्ति) से हीन राजा की राज्यश्री के समान असमय में मुझ भाग्यहीन के हाथ से निकल गई हो ।

व्याख्या—विरही नायक अपनी दिवङ्गता प्रियतमा से कह रहा है । इस श्लोक में (प्रिये !) यह सम्बोधन अपनी ओर से जोड़ना पड़ेगा । यहाँ कवि ने अपनी प्रियतमा की उपमा राज्य लक्ष्मी से दी है । (क) सौदामिनीविलसितप्रतिमान्—सौदामिन्याः विलसितं सौदामिनीविलसितम् । 'तडिद्विद्युत् सौदामिन्यचिराशुः' इति हलायुधः । तस्य प्रतिमः (तुल्यः) सौदामिनीविलसितप्रतिमः । तान् सौदामिनीविलसितप्रतिमान् । अर्थात् जिस प्रकार विद्युद्विलास क्षणिक होता, कुछ देर चमकी, प्रकाश हुआ फिर समाप्त और पुनः अन्धकार उसी प्रकार प्रियतमा द्वारा दिये गए नायक के सुख भी क्षणिक थे । कुछ ही दिनों तक उसे मिले फिर समाप्त हो गए । (ख) अकाण्डे—न (उचितः) काण्डः अकाण्डः । तस्मिन् अकाण्डे । अनवसरे इत्यर्थः । 'काण्डं नाले तरुस्कन्धे बाणेऽवसरनीरयोः' इति विश्वप्रकाशः । (ग) महेन्द्रभोगान्—महानिन्द्रः महेन्द्रः । महेन्द्रयोग्या भोगाः महेन्द्रभोगाः । तान् महेन्द्रभोगान् । महेन्द्र के योग्य सुखों को । (घ) मन्त्रोज्झितस्य—'मन्त्रेण उज्झितः (वर्जितः)

१. सौदामिनीविलसितप्रतिमान् इति पाठान्तरम् ।

मन्त्रोज्झितः । तस्य मन्त्रोज्झितस्य । मन्त्र राजा की एक प्रकार की शक्ति होती । इसका अर्थ गुप्तवाद होता है । मन्त्र के विषय में मत्स्यपुराण में इस प्रकार कहा गया हैं—'बहुभिर्मन्त्रयेत् कामं राजा मन्त्रं पृथक् पृथक् । मन्त्रिणामपि नो कुर्यान्मन्त्री मन्त्रप्रकाशनम् । न कचित्कस्य विश्वासो भवतीह सदा नृणाम् । निश्चयश्च सदा मन्त्रे कार्य एकेन सूरिणा' । इत्यादि । मन्त्र के लिए कोश है— 'मन्त्रो वेदप्रभेदे स्याद् देवादीनाञ्च साधने । गुप्तवादे च' इति विश्वप्रकाशः । 'त्यक्तमुत्सृष्टमुज्झितमिति' हलायुधः । (ङ) राज्यलक्ष्मीः—राज्यस्य लक्ष्मी राज्यलक्ष्मीः । 'लक्ष्मीः श्रीशिवसम्पत्तिपद्माशोभाप्रियङ्गुषु' इति विश्वप्रकाशः । लक्ष्मी का यहां पर आशय सम्पत्ति से है । (च) भाग्यच्युतस्य—भाग्यात् च्युतः भाग्यच्युतः । तस्य भाग्यच्युतस्य । 'दैवम् दिष्टम् भागधेयं भाग्यम्' इत्यमरः । (छ) करतः—पञ्चम्यर्थे तसिल् । इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ ८ ॥

केनापि मे विलसितेन समुद्गतस्य
कोपस्य किन्नु करभोरु ! वशंवदाऽभूः ?
यन्मां विहाय सहसैव पतिव्रताऽपि
याताऽसि ? मुक्तरमणीसदनं [1]विदूरम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे करभोरु ! किम् नु (त्वम्) मे केन अपि विलसितेन समुद्गतस्य कोपस्य वशंवदा अभूः यत् सहसा एव मां विहाय पतिव्रता अपि विदूरम् मुक्तरमणीसदनं याता असि ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ करभोरु ! कहीं तुम मेरी किसी (अज्ञात एवम् अवाञ्छनीय) चेष्टा से उत्पन्न हुए क्रोध की वशंवद तो नहीं हो गईं जो अचानक ही मुझे छोड़कर पतिव्रता होते हुए भी सुदूर मुक्त रमणियों के निवास स्थान को चली गईं हो ।

व्याख्या—इस पद्य में भी विरही नायक अपनी मृत प्रियतमा को संबोधित करके कह रहा । पहले की भाँति यहाँ भी करुण रस अभिव्यक्त होता है । नायक उत्प्रेक्षा करता है कि कहीं उसने कोई ऐसा कार्य तो नहीं कर डाला जिससे बुरा मानकर उसकी प्रियतमा उससे दूर चली गई । (क) विलसितेन—वि + 'लस' श्लेषणक्रीडनयोः (भ्वादि०) + क्त = विलसितम् । चेष्टितमित्यर्थः । तेन विलसितेन । अर्थात् किसी क्रीडा विशेष अथवा चेष्टा विशेष से । (ख) समुद्गतस्य—सम् + उद् + गम् + क्त = समुद्गतः तस्य समुद्गतस्य । समुत्पन्नस्येत्यर्थः (ग) कोपस्य—कुप्यते इति कोपः (कुप् + भावे घञ्) ।

१. 'मुक्तिरमणीसदनम्' इति पाठान्तरम् ।

तस्य कोपस्य। 'कोपः क्रोधस्तथाऽमर्षः' इति हलायुधः। (ख) करभोरु—करभाविव ऊरू यस्याः सा करभोरुः। तत्सम्बुद्धौ हे करभोरु (ग) वशंवदा—(वश + सुम + वद् + खच् + टाप्) वशीभूता इत्यर्थः। (घ) सहसा—अकस्मादित्यर्थः। 'अतर्किते तु सहसा' इत्यमरः। (ङ) पतिव्रता अपि—पतिः (पतिशुश्रूषेत्यर्थः) एव व्रतं यस्याः सा पतिव्रता। 'पतिव्रता सुचरित्रा सती साध्वी' इति हलायुधः। पतिव्रता के विषय में कहा गया है—'आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रेषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता।" तथा 'साध्वीनामेव नारीणामग्निप्रपतनादृते। नान्यो धर्मो हि विज्ञेया मृते भर्त्तरि कर्हिचित्'। और 'साध्वी स्त्री मातृतुल्या च सर्वथा हितकारिणी। असाध्वी वैरितुल्या च शश्वत् सन्तापदायिका।" इत्यादि। 'अपि से यह आशय ध्वनित होता है कि यदि कोई असाध्वी स्त्री अपने पति को छोड़ कर चली जाती तो कोई बात नहीं लेकिन तूने जो साध्वी, पतिव्रता होते हुये भी मुझे त्याग दिया यह अत्यन्त अनुचित और अशोभन है। (च) मुक्तरमणीसदनम्—मुक्तानां मुक्तदेहानां रमण्यः मुक्तरमण्यः। तासां सदनं मुक्तरमणीसदनम्। यहाँ मुक्तों से आशय देवों से है। और उनकी रमणियां हैं अप्सरायें जो स्वर्ग में निवास करती हैं'। किसी भी पतिव्रता स्त्री का दूसरे के घर विना पति की आज्ञा के जाना उचित नहीं परन्तु नायक की प्रियतमा पतिव्रता होते हुए भी विना पति की आज्ञा लिए परगृह चली गई इसी लिए वह सोचता है कि सम्भवतः उसने कोई ऐसी चेष्टा की जिससे वह क्रुद्ध हो बिना पूंछे उसे छोड़ चली गई। कहीं कहीं पाठ 'मुक्तिरमणीसदनम्' मिलता है। उसकी व्याख्या लोगों ने इस प्रकार की है 'मुक्तिः एव रमणीसदनम्। सदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः। 'मुक्तिः कैवल्य निर्वाण श्रेयोनिःश्रेयसामृतम्। मोक्षोऽपवर्गः' इति चामरः। (छ) विदूरम्—वि-विशेषेण दूरं विदूरम् द्वितीयैकवचनम्। जो बहुत दूर हैं जहाँ आसानी से पहुँचना असम्भव है। इसमें भी कवि ने वसन्त तिलक वृत्त ही प्रयुक्त किया है॥ ९॥

काव्यात्मना मनसि पर्यणमन् पुरा मे
पीयूषसारसरसास्तव ये विलासाः।
तानन्तरेणरमणी रमणीयशीला[1]
चेतोहरा सुकविता भविता कथन्नः? ॥ १० ॥

अन्वयः—पुरा तव पीयूषसारसरसाः ये विलासाः मे मनसि काव्यात्मना

---

१. 'रमणीरमणीयशीले' इति पाठान्तरम्।

पर्य्यणमन्, तान् अन्तरेण नः रमणी रमणीयशीला चेतोहरा सुकविता कथं भविता ?

हिन्दीरूपान्तर—पहले तुम्हारे अमृत तत्त्व की तरह सरस जो विलास मेरे हृदय में काव्य रूप से परिणत हो जाते थे, उनके विना हमारी कामिनियों के कमनीय स्वभाव वाली मनोहारिणी सुन्दर कविता भला कैसे होगी ?

व्याख्या—यह किसी कवि की अपनी दिवङ्गता प्रियतमा को सम्बोधित करके कही गई उक्ति है। उसकी प्रियतमा के विलास उसकी रमणीय कविता के आधार थे। इस प्रकार यहाँ भी कवि गत शोक की अभिव्यक्ति होने से करुण रस की परिपुष्टि हुई है। (क) काव्यात्मना—काव्यास्यात्मा काव्यात्मा तेन काव्यात्मना। काव्यस्वरूपेणेत्यर्थः। यहाँ हम आत्मा का अर्थ स्वभाव या स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। और यदि चाहें तो बुद्धि अर्थ भी ले सकते हैं अर्थात् काव्यबुद्धि रूप से जो परिणत हो जाते थे। कोश है—'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः। (ख) पर्य्यणमन्—परिणताः आसन्नित्यर्थः। (ग) पीयूषसारसदृशाः—पीयूषस्य सारः पीयूषसारः। तस्य सदृशाः पीयूषसारसदृशाः। अमृत तत्त्व के सदृश। 'वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्' इत्यमरः। (घ) विलासाः—स्त्रियों की यौवन में श्रृङ्गार भाव से उत्पन्न होने वाली क्रिया विशेष को विलास कहते हैं। इन्हें विश्वनाथ आदि ने अलंकार माना है। विलास का लक्षण है—'यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्। विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना। (साहित्य-दर्पण)। (ङ) तान् अन्तरेण—तान् में 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' (२।३।४) सूत्र से द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अन्तरेण का अर्थ यहाँ विना है। अर्थात् उन विलासों के अभाव में। 'पृथग्विनाऽन्तरेणर्त्तेहिरुङ्नाना च वर्जने' इत्यमरः। (च) रमणीरमणीयशीला—रमणीयं शीलम् रमणीयशीलम् रमणीनां रमणीयशीलम् रमणी रमणीयशीलम् रमणीरमणीयशीलं यस्या सा रमणी रमणीयशीला 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते इत्यमरः। रमते 'चित्तम्' अस्यामिति रमणी (रम् + ल्युट् + ङीप्) उत्कृष्टस्त्रीत्यर्थः अर्थात् जिसमें रमणियों की मनोहारी स्वभाव का वर्णन विद्यमान रहता है ऐसी मेरी कविता तुम्हारे विलासों के विना कैसे हो अर्थात् तुम्हारे विलासों को देखकर मैं रमणियों के रमणीय स्वभाव को अच्छी तरह प्रस्तुत कर पाता था। पर अब कैसे करूँगा। कुछ पुस्तकों में 'रमणी रमणीयशीले' ऐसा सम्बोधनान्त पाठ मिलता है। उस पाठ की व्याख्या करते हुये अच्युतराय ने लिखा है—'रमणीनां सुन्दरीणां मध्ये रमणीयं पातिव्रत्या-दिगुणैर्लोकोत्तरं शीलं चारुचरितं यस्याः सा तथोक्ता। तत्सम्बुद्धावित्यर्थः। एतेन

भावान्तरोद्भावनशंका प्रस्तुता ।' (छ) चेतोहरा—हरतीति हरा (हृ+अच्+टाप्) चेतसः हरा चेतोहरा' मनोहारिणी इत्यर्थः । 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।'इत्यमरः । (ज) सुकविता—सु शोभना कविता सुकविता । रमणीयं काव्यमित्यर्थः । इसमें भी कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १० ॥

> या तावकीनमधुरस्मितकान्तिकान्ते
>
> भूमण्डले विफलतां कविषु व्यतानीत् ।
>
> सा कातराक्षि ! सहसा त्वयि यातवत्यां
>
> राकाऽधुना वहति वैभवमिन्दिरायाः ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे कातराक्षि ! या तावकीनमधुरस्मितकान्तिकान्ते भूमण्डले कविषु विफलतां व्यतानीत् सा राका अधुना सहसा त्वयि यातवत्याम् इन्दिरायाः वैभवं वहति ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ अधीर नयनों वाली ! (प्रियतमे !) जो (पूर्णिमा) तुम्हारी मधुर मुसकान की शोभा से मनोहर भूमण्डल पर कवियों के बीच असफल हो गयी थी वही पूर्णिमा इस समय अचानक तुम्हारे चले जाने पर लक्ष्मी के ऐश्वर्य को धारण कर रही है ।

व्याख्या—यहाँ कोई नायक अपनी स्वर्गवासिनी प्रियतमा को सम्बोधित करके कह रहा है । कवि ने यहाँ व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि प्रस्तुत की है । आशय यह कि कान्ता की मधुर मुस्कान राका से अधिक उत्कर्ष शालिनी थी । तभी तो उसके आगे राका निष्फल थी । इस प्रकार उपमान से उपमेय का आधिक्य द्योतित होने के कारण यहाँ व्यतिरेकालङ्कार की ध्वनि मानी जायगी । 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश) । (क) तावकीनमधुरस्मितकान्तिकान्ते—तवेदं तावकीनम् । (युष्मद्+खञ्) 'युष्मदस्मदोन्यतरस्यां खञ्च' (४।३।१) इत्यनेन पाक्षिके खञ् प्रत्यये कृते 'तवकममकावेकवचने' (४।३।२) इति तवकादेशे आदि वृद्धौ खस्येनादेशे एतद्रूपसिद्धिः । मधुरं स्मितं मधुरस्मितं । तावकीनं मधुरस्मितं तावकीनमधुरस्मितम् । तस्य कान्तिः तावकीनमधुरस्मितकान्तिः । तया कान्तं तावकीनमधुरस्मितकान्तिकान्तम् । 'हृद्यं हारि मनोहरं च रुचिरं कान्तं परं सुन्दरम्' इति हलायुधः । तस्मिन् तावकीनमधुरस्मितकान्तिकान्ते । तुम्हारी मञ्जु मुस्कान की छवि से मनोहर । 'मधुरं मञ्जु प्रियम्' इति च हलायुधः । (ख) भूमण्डले—भुवः पृथिव्याः मण्डलं भूमण्डलम् । तस्मिन् भूमण्डले । भू प्रदेश पर । 'स्यान्मण्डलं द्वादशराजके च देशे च बिम्बे च कदम्बके च' इति विश्वप्रकाशः । (ग)

विफलताम्—विगतं फलं यस्मात् तद् विफलम्। विफलस्य भावः विफलता। ताम् विफलताम्। प्रयोजनहीनतामित्यर्थः। (घ) कातराक्षि—कातरे अक्षिणी यस्याः सा कातराक्षी। तत्सम्बुद्धौ हे कातराक्षि। चकितनयने इत्यर्थः। 'दरितश्चकितोभीतस्त्रस्तो भीरुश्च कातरः' इति हलायुधः। (ङ) त्वयि यातवत्याम्—इत्यत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सूत्रेण सप्तमी। (च) राका—राका उस पूर्णिमा को कहते हैं जिसमें चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओंसे पूर्ण रहता है—'पूर्णे राका निशाकरे' इत्यमरः' (छ) इन्दिरायाः—लक्ष्म्याः। 'लक्ष्मीः श्रीः कमला पद्मा × × इन्दिरा स्मृता' इति हलायुधः। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः'' (छन्दोमञ्जरी)॥ ११॥

मन्दस्मितेन सुधया परिषिच्य या माम्
नेत्रोत्पलैर्विकसितैरनिशं समीजे।
सा नित्यमङ्गलमयो गृहदेवता मे
कामेश्वरी हृदयतो दयिता न याति॥ १२॥

अन्वयः—या मन्दस्मितेन सुधया परिषिच्य विकसितैः नेत्रोत्पलैः अनिशम् माम् समीजे, सा नित्यमङ्गलमयी कामेश्वरी गृहदेवता मे दयिता हृदयतः न याति।

हिन्दीरूपान्तर—जिसने मन्द मुस्कान रूप अमृत से अच्छी तरह नहला कर प्रफुल्ल नयनकमलों से निरन्तर मुझे पूजा था वह सदैव कल्याणस्वरूपिणी, अभिलाषों को पूर्ण करने वाली, गृहदेवी मेरी प्रियतमा हृदय से नहीं हटती।

व्याख्या—विरही नायक अपनी दिवङ्गता का स्मरण करते हुए कह रहा है। यहाँ कवि ने स्मरण भाव ध्वनि को प्रस्तुत किया है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की पूजा पहले स्नान कराके तदनन्तर पुष्प आदिक चढ़ा कर करता है उसी प्रकार नायिका अपने प्रियतम की पूजा करने में उसे पहले मन्दमुस्कान रूप सुधा से नहला कर तब नेत्र रूपी कमलों को उस पर चढ़ाती थी। उसी की याद कवि को आ रही है। (क) मन्दस्मितेन—मन्दं स्मितं मन्दस्मितम्। तेन मन्दस्मितेन। अर्थात् मन्द मुस्कान रूप सुधा से। (ख) सुधया—'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। तया। (ग) परिषिच्य—परि + षिच् क्षरणे + ल्यप्। स्नपयित्वेत्यर्थः। (घ) नेत्रोत्पलैः—नेत्राण्येव उत्पलानि नेत्रोत्पलानि। तैः नेत्रोत्पलैः। रूपक। स्यादिन्दीवरमुत्पलम्' इति हलायुधः। (ङ) अनिशम्—न विद्यते निशा (रात्रिः) यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा अनिशम्। क्रियाविशेषणम्। निशा का अर्थ रात्रि होता है। रात्रि से उपचारतः व्यापार-

राहित्य परिलक्षित होता है। अर्थात् जिसमें व्यापारराहित्य नहीं है। जो हमेशा लगातार मेरी पूजा किया करती थी। (च) नित्यमङ्गलमयी—मङ्गल + मयट् + ङीप् = मङ्गलमयी। नित्यं मङ्गलमयी नित्यमङ्गलमयी। निरन्तरमङ्गलस्वरूपिणीत्यर्थः। 'कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः। (छ) गृहदेवता—देवः एव देवता। स्वार्थे देव शब्दात् तल् प्रत्ययः। गृहस्य देवता गृहदेवता। गृहस्य अधिष्ठात्री देवीत्यर्थः। यहाँ रूपक है। (ज) कामेश्वरी—कामानामीश्वरी कामेश्वरी। अभिलाषपूरयित्रीत्यर्थः। (झ) हृदयतः—हृदय + तसिल् (पञ्चम्यर्थे) हृदयादित्यर्थः। (ञ) दयिता—दयित् + टाप् प्रियेत्यर्थः। 'दयितं वल्लभं प्रियमित्यर्थः। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पहले वाले श्लोक की व्याख्या में देखें॥ १२॥

भूमौ स्थिता रमण ! नाथ ! मनोहरेति
सम्बोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम्।
स्वर्गङ्गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि ! तम् धरणिधूलिषु मामिदानीम्॥ १३॥

अन्वयः—हे एणशावाक्षि ! भूमौ स्थिता (त्वम्) यम् 'रमण ! नाथ ! मनोहर ! इति सम्बोधनैः द्याम् अधिरोपितवती असि, इदानीं स्वर्गम् गता त्वम् तम् माम् धरणिधूलिषु कथमिव क्षिपसि ?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मृगशावकनैनी ! धरती पर रहते हुए तुमने जिसे 'ऐ प्रियतम ! हे स्वामिन् ! अरे चितचोर ! इत्यादि सम्बोधनों के द्वारा स्वर्ग पर चढ़ा दिया था, अब स्वर्ग पहुँच कर तुम उसी मुझको धरती की धूलियों में भला कैसे फेंक रही हो ?

व्याख्या—यहाँ पर भी विरही नायकगत दिवङ्गता प्रियतमा विषयक शोक के साथ ही साथ स्मृति भाव भी ध्वनित होता है। यह स्मृति करुण को परिपुष्ट करती है। (क) रमण—रमते रमयति वा रमणः (रम + ल्युट्) पति स्वामीत्यर्थः। तत्सम्बुद्धौ हे रमण। (ख) मनोहरः—हरतीति हर (हृ + अच्) मनसः हरः मनोहरः। चित्त को चुरा लेने वाला। तत्सम्बुद्धौ हे मनोहर। द्याम्—स्वर्गम्। (ग) एणशावाक्षि—एणस्य शावः एणशावः एणशावस्य अक्षिणीव अक्षिणी यस्याः सा एणशावाक्षी। 'सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः' इति समासः उपमानवाचकोत्तरपदलोपश्च। तत्सम्बुद्धौ हे एणशावाक्षि। 'एणः कुरङ्गो हरिणो मृगः स्याद्' इति हलायुधः। (घ) धरणिधूलिषु—धरण्याः धूलयः धरणिधूलयः। तासु धरणिधूलिषु। 'धरा धरित्री धरणिः' इति 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इति चामरः। यहां

कवि ने अत्यधिक अनौचित्य को द्योतित कराया है। क्योंकि जब तो जमीन पर रहती थी अपने प्रियतम को स्वर्ग पहुँचा दिया था। अर्थात् स्वर्गीय सुख दिए थे। परन्तु अब जब कि खुद स्वर्ग पहुँच गई तो उसे पृथ्वी की धूलियों में ढकेल दिया। इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त उपनिबद्ध किया है ॥१३॥

लावण्यमुज्ज्वलमपास्ततुलञ्च शीलम्
लोकोत्तरं विनयमर्थमयं नयञ्च।
एतान् गुणानशरणानथ माञ्च हित्वा
हा! हन्त!! सुन्दरि! कथन्त्रिदिवङ्गताऽसि? ॥१४॥

अन्वयः—हे सुन्दरि! उज्ज्वलम् लावण्यम्, च अपास्ततुलं शीलम्, लोकोत्तरं विनयम्, च अर्थमयम् नयम्, एतान् अशरणान् गुणान् अथ च मां हित्वा हा! हन्त!! त्रिदिवम् कथम् गता असि?

हिन्दीरूपान्तर—ऐ सुन्दरी! प्रकाशमान् लावण्य, और अनुपम शील अलौकिक नम्रता, तथा अर्थगर्भित नीति, इन सभी बेसहारा गुणों और साथ ही मुझे भी छोड़कर हाय! अफसोस!! तुम स्वर्ग कैसे चली गई हो?

व्याख्या—यहाँ भी विरही नायकगत शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि होने के कारण पूर्ववत् करुण रस की अभिव्यक्ति होती है। (क) लावण्यम्—सौन्दर्यविशेषमित्यर्थः। लावण्य का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते'। तथा सहृदयलीला में राजानल रुय्यक ने लावण्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया है—'तरङ्गिद्रवस्वभावाप्यायिनेत्रपेयव्यापिस्निग्धमधुर इव पीतिमोत्कर्षैकसार इव पूर्णेन्दुवदाह्लादको धर्मः संस्थानमुग्धिमव्यङ्ग्यो लावण्यम्। (ख) उज्ज्वलम्—उच्चैर्ज्वलति प्रकाशते इति उज्ज्वलम् (उत्+ज्वल्+अच्) प्रकाशमानमित्यर्थः। (ग) अपास्ततुलम्—अपास्ता (निरस्ता) तुला (सादृश्यं) यस्य तत् अपास्ततुलम्। निरुपममित्यर्थ। (घ) शीलम्—सद्वृत्तम् स्वभावं, सदाचारं वा। 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) लोकोत्तरम्—लोकादुत्तरं लोकोत्तरम्! अलौकिकमित्यर्थः। 'उत्तरं प्रतिवाक्ये स्यादूर्ध्वोदीच्योत्तमेऽन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। (च) अर्थमयम्—(अर्थ+मयट्, अर्थ परिपूर्ण। (छ) नयम्—नीतिम्। 'नयो नीतौ द्यूतभेदे' इति विश्वप्रकाशः। (ज) अशरणान्—न विद्यते शरणं येषान्ते अशरणाः। तान् अशरणान्। 'शरणमगारं निवसनम्' इति हलायुधः। अर्थात् इन गुणों की एक मात्र निवास स्थान तुम्हीं थीं। जब से तुम चली गई हो ये बेचारे बेघरबार हो गये हैं। अब कहाँ रहे। इनका कोई आश्रय नहीं है। साथ ही तुमने मुझे भी

अशरण कर दिया यह च से ध्वनित होता है। तुम्हारे विना अब घर काटने दौड़ता है। घर के होते हुए भी मैं बेघर हूँ। हाँ हन्त इति खेदे' (झ) त्रिदिवम्—स्वर्गम्। इसमें भी कवि ने वसन्त तिलक वृत्त का प्रयोग किया है।

कान्त्या सुवर्णवरया परया च शुद्ध्या
नित्यं स्विकाः खलु शिखाः परितः क्षिपन्तीम्।
चेतोहरामपि कुशेशयलोचने! त्वाम्
जानामि कोपकलुषो दहनो ददाह ॥ १५ ॥

अन्वयः—हे कुशेशयलोचने! सुवर्णवरया कान्त्या च परया शुद्धया नित्यम् खलु परितः स्विकाः शिखाः क्षिपन्तीम्, चेतोहराम् अपि त्वाम् कोपकलुषः दहनः ददाह इति जानामि।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कमलाक्षी! सोने से उत्कृष्ट प्रभा के द्वारा तथा सर्वाधिक शुद्धता के द्वारा हमेशा निश्चित रूप से चारों ओर से अपनी लपटों को अभिभूत करती हुई, मनोहारिणी भी तुमको क्रोध के कारण ईर्ष्यालु अग्नि ने भस्म कर दिया, ऐसा मैं समझता हूँ।

व्याख्या—विरही नायक अपनी मृत प्रियतमा को सम्बोधित करते हुए उत्प्रेक्षा प्रस्तुत करता है। उसकी प्रियतमा सोने से भी उत्कृष्ट कान्ति वाली थी तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्र वाली थी। उसकी शुद्धि और कान्ति के कारण ईर्ष्या से उसकी प्रियतमा को अग्नि ने जला दिया। ऐसी नायक की उत्प्रेक्षा है। (क) कान्त्या—'कमु कान्तौ' अथवा 'कन दीप्तौ' धातु से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर कान्ति शब्द निष्पन्न होता है। (ख) सुवर्णवरया—सुवर्णादपि वरा सुवर्णवरा। तया सुवर्णवरया। सोने से भी श्रेष्ठ, उत्कृष्ट। 'वरोजामातृषिङ्गयोः श्रेष्ठेन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। (ग) परया—उत्तमया। परः स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वप्रकाशः। (घ) स्विकाः—स्वस्य इमाः स्विकाः (स्व+ठक्+टाप्) आत्मीयाः इत्यर्थः। द्वितीयाबहुवचनम्। ङ) शिखाः—ज्वालाः। 'शिखा शिफायां चूडायां ज्वालायामग्रमात्रके' इति विश्वप्रकाशः। (घ) क्षिपन्तीम्—(क्षिप्+शतृ+ङीप्+अम्) अभिभवन्तीम् इति जीवानन्दः। (छ) चेतोहराम्—हरतीति हरा (हृ+अच्+टाप्) चेतसः हरा चेतोहरा। ताम् चेतोहराम्। मनोहारिणीमित्यर्थः। 'अपि' की ध्वनि है कि यदि मनोहारिणी न होती उसे जला देता तो कोई बात नहीं थी पर वह इतना क्रूर ठहरा कि मनोहारिणी भी तुमको भस्म कर दिया। अग्नि की क्रूरता का अतिशय द्योतित होता है। (ज) कुशेशयलोचने—कुशे जले शेते इति कुशेशयम्

(कुश + शीङ् + अच्) अलुक्समासः । 'कुशं जले' इति विश्वप्रकाशः । कमलमित्यर्थः । 'कमलं शतपत्रं कुशेशयं' कुशेशेय इव लोचने यस्या सा कुशेशयलोचना उपमा । तत्सम्बुद्धौ हे कुशेशयलोचने । (झ) जानामि—यहाँ उत्प्रेक्षावाचक के रूप में आया है । सम्भावयामि, उत्प्रेक्षेत्यर्थः। (ञ) कोपकलुषः—कोपेन कलुषः कोपकलुषः । 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निः दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः । इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १५ ॥

कर्पूरवर्त्तिरिव लोचनतापहन्त्री
फुल्लाम्बुजस्रगिव कण्ठसुखैकहेतुः ।
चेतश्चमत्कृतिपदङ्कवितेव रम्या
नम्या नरीभिरमरीव हि सा विरेजे ॥ १६ ॥

अन्वयः—कर्पूरवर्तिरिव लोचनतापहन्त्री, फुलाम्बुजस्रगिव कण्ठसुखैकहेतुः, रम्या कवितेव चेतश्चमत्कृतिपदम्, नरीभिः नम्या अमरीव सा विरेजे हि ।

हिन्दीरूपान्तर—कपूर से बने हुए आँजन की तरह नेत्रों के सन्ताप को हर लेने वाली, खिले हुए कमल की बनी माला के समान गले को आनन्द पहुँचाने का एकमात्र साधन, मनोहारिणी कविता की तरह हृदयाह्लाद की स्थली, मानुषियों द्वारा वन्दनीय देवाङ्गना की तरह वह प्रियतमा सुशोभित होती थी ।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने मालोपमा द्वारा विरही नायकगत नायिका विषयक स्मृति भाव ध्वनि को प्रस्तुत किया है । मालोपमा का लक्षण साहित्य-दर्पण में इस प्रकार दिया गया है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते' अर्थात् जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान वर्णित हों वहाँ मालोपमा अलङ्कार होता है । यहाँ 'सा' अर्थात् प्रियतमा रूप एक ही उपमेय की कर्पूरवर्ति, फुल्लाम्बुजस्रक्, कविता और अमरी रूप अनेक उपमानों से उपमा प्रस्तुत किया है । (क) कर्पूरवर्त्तिरिव—कर्पूरनिर्मिता वर्त्तिः कर्पूरवर्त्तिः । सेव कर्पूरवर्त्तिरिव । वर्त्तिः नयनाञ्जनम् । 'वर्त्तिभेषजनिर्माणनयनाञ्जनलेखयोः' इति विश्वप्रकाशः । कपूर से बने हुए नेत्राञ्जन की तरह । (ख) लोचनतापहन्त्री—लोचनयोः तापः लोचनतापः । हन्ति नाशयति इति हन्त्री (हन् + तृच (कर्तरि) + ङीप्) । लोचनतापस्य हन्त्री लोचनतापहन्त्री । नेत्रों के सन्ताप को नष्ट करने वाली । (ग) फुल्लाम्बुजस्रगिव—फुल्लमम्बुजं फुल्लाम्बुजम् । अम्बुनि जातमम्बुजम् । कमलमित्यर्थः । फुल्लं विकसितम् । फुल्लाम्बुजानां स्रक फुल्लाम्बुजस्रक् । सेव फुल्लाम्बुजस्रगिव । 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि' इत्यमरः । विकसित कमलों की माला की तरह । (घ) कण्ठसुखैकहेतुः—

एकः अद्वितीयः, हेतुः एव हेतुः । कण्ठस्य सुखं कण्ठसुखम् । कण्ठसुखस्य एक हेतुः कण्ठसुखैकहेतुः । कण्ठसुख प्रदान करने की अद्वितीय हेतुभूता । (ङ) चेतश्चमत्कृतिपदम्—चेतसः चमत्कृतिः चेतश्चमत्कृतिः ! चमत्कृतिः लोकोत्तराह्लादः । तस्य पदं (स्थानं) चेतश्चमत्कृतिपदम् । लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने वाली । (च) रम्या—रन्तुं योग्या रम्या । रमणीयेत्यर्थः । (रम् + यत् + टाप्) । (छ) नम्या—नमितुं योग्या नम्या । (नम् + यत् + टाप्) । (ज) नरीभिः—नरजातिस्त्रीभिः इत्यर्थः । नरशब्दात् 'जातेरस्त्री विषयादयोपधात्' (४।१।६३) इति सूत्रेण जातौ वाच्यायां ङीष् प्रत्ययः । एवमेव (अमरी) इत्यत्रापि अमरशब्दात् अनेनैव सूत्रेण ङीष् प्रत्ययः । अमरी का अर्थ देवाङ्गना से है । अर्थात् देवजातीय अङ्गना । यहाँ सर्वत्र उपमान वाचक शब्दों के साथ इवका' 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक से समास और विभक्ति का अलोप हुआ है । इसमें भी कवि ने 'वसन्ततिलक' वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १६ ॥

स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि ! पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम् ।
सा सम्प्रति प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीनं
प्राप्तुङ्कथङ्कथय हन्त ! परम्पुमांसम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे भामिनि ! कथय, या (त्वम्) स्वप्नान्तरे अपि पत्युः अन्यम् कञ्चन खलु साभिलाषम् न दृष्टवती असि, हन्त ! सा (त्वम्) सम्प्रति गुणैः विहीनम् परम् पुमांसम् प्राप्तुम् कथम् प्रचलिता असि !

हिन्दीरूपान्तर—ऐ प्रियतमे ! बताओ तो कि जिस तुमने सपने में भी पति से भिन्न किसी दूसरे (पुरुष) की ओर निश्चित ही तृष्णा के साथ नहीं देखा था, अफसोस ! वही तुमने इस समय गुणों से हीन (सत्त्व, रजस्, एवम् तमस् गुणों से हीन) पर पुरुष को (परब्रह्म को) प्राप्त करने के लिए कैसे चल पड़ी हो ?

व्याख्या—कवि ने यहाँ पर श्लेषोत्थापित विरोधाभास अलङ्कार प्रस्तुत किया है । विरोधाभास का लक्षण है—

'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते' (कुवलयानन्द)

अर्थात् जहाँ विरोध वास्तविक न हो बल्कि केवल विरोध का आभासमात्र हो बाद में उसका परिहार हो जाय वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है । जिसने कभी स्वप्न में भी अपने पति से भिन्न किसी भी (अच्छे से अच्छे रूपवान्, गुणवान) पुरुष की ओर साभिलाष दृष्टिपात नहीं किया वही पतिव्रता आज

परपुरुष के पास चल पड़ी, वह भी परपुरुष कैसा गुणों से हीन। इस प्रकार यहाँ पतिव्रता होते हुए भी निर्गुण परपुरुष के पास जाने को तैयार हो जाना विरोध को प्रस्तुत करता है। किन्तु जब हम गुणों से तात्पर्य सत्त्व, रजस् और तमस् का ग्रहण कर उन गुणों से ही निर्गुण गुणातीत ब्रह्म, का अर्थ लेते हैं तो उसका परिहार हो जाता है। अमरकोश का कथन है—'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः'। तथा 'पुरुष' का अर्थ 'आत्मा' भी होता है 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यमरः। इस प्रकार 'परम्पुरुषम्' का अर्थ परमात्मानम्। होगा। 'पर शब्द का कोश है—'परः स्यादुत्तमानात्मवैरि दूरेषु केवले। परमव्यर्यमिच्छन्ति' इति विश्वप्रकाशः। विरोधपक्ष में यदि हम पर का अर्थ केवल 'दूसरा' न कर 'शत्रु' करे तो और भी चमत्कार आ जायगा। क्योंकि जिसने पहले किसी दूसरे व्यक्ति की ओर देखा नहीं था वहीं आज शत्रु व्यक्ति के पास जा रही है इससे और भी विरोध की पुष्टि होती है (क) स्वप्नान्तरे—स्वप्नस्य अन्तरं स्वप्नान्तरम्। तस्मिन् स्वप्नान्तरे। स्वप्नमध्ये इत्यर्थः। 'अन्तरमवकाशविधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये। छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च' इत्यमरः। (ख) खलु—निश्चयेन। (ग) भामिनि—इस सम्बोधन के आधार पर अच्युतराय ने यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार की ध्वनि स्वीकार किया है—'कोपना सैव भामिनी' इत्यमरात् किं कोपविशेषपारवश्यादेवैवम् कृतवत्यसीत्युत्प्रेक्षा ध्वन्यते।' (घ) साभिलाषम्—अभिलाषेन सहितम् यथा स्यात्तथा साभिलाषम्। क्रिया विशेषणमेतत्। 'तृष्णाभिलाषो लिप्साशा' इति हलायुधः। हन्त, खेदे। इसमें भी कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त ही उपनिबद्ध किया है॥ १७॥

रीतिं गिरामममृतवृष्टिकिरां[1] त्वदीयाम्
तां चाकृतिं कविवरैरभिनन्दनीयाम्।
लोकोत्तरामथ कृतिं करुणारसार्द्रां[2]
स्तोतुं न कस्य समुदेति मनःप्रसादः॥ १८॥

अन्वयः—अमृतवृष्टिकिराम् त्वदीयाम् गिरां रीतिम्, च कविवरैः अभिनन्दनीयाम् ताम् आकृतिम्, अथ करुणारसार्द्रां लोकोत्तराम् कृतिं स्तोतुम् कस्य मनः प्रसादः न समुदेति॥

हिन्दीरूपान्तर—अमृत बरसाने वाले तुम्हारे वचनविन्यास की और श्रेष्ठ कवियों द्वारा प्रशंसनीय उस (अनिर्वचनीय) स्वरूप की, साथ ही करुण रस

१. 'अमृतवृष्टिकरीम्' इति पाठान्तरम्।
२. 'कृतिञ्च सुधारसार्द्राम्' इति पाठान्तरम्।

से ओतप्रोत तुम्हारी अलौकिक कृति की प्रशंसा करने के लिए किसका चित्त प्रसन्न नहीं हो जाता ?

व्याख्या—किसी सुन्दर काव्य की प्रशंसा करते हुए किसी व्यक्ति की यह उक्ति है। अथवा किसी नायक की नायिका विषयक उक्ति स्वीकार की जा सकती है परन्तु वह नायिका काव्यरचना आदि में निपुण रही होगी ऐसा मानना पड़ेगा। खैर, कुछ भी प्रसङ्ग माने। (क) रीतिम्—विशिष्टपदरचनामित्यर्थः। जैसा कि रीति का लक्षण करते हुए वामन ने कहा है—'विशिष्टा पदरचना रीतिः।' (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति १।२।७) (ख) गिराम्—वाचां वचनानामित्यर्थः। 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः। (ग) अमृतवृष्टिकिराम्—अमृतस्य वृष्टिः अमृतवृष्टिः। तां किरति वर्षतीति अमृतवृष्टिकिरा। तां तथोक्ताम् सुधावर्षिणीमित्यर्थः—इति जीवानन्दः। (ग) त्वदीयाम्—तवेयं त्वदीया युष्मद् शब्दात् छ प्रत्यसे ततः 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) इति सूत्रे 'युष्म' इत्यस्य 'त्व' इत्यादेशे छस्य चेयादेशे टापि तत्सिद्धिः। तां त्वदीयाम्। (घ) कविवरैः—कविषु वराः श्रेष्ठाः कविवराः। तैः कविवरैः। श्रेष्ठकविभिरित्यर्थः। 'वरोऽभीष्टे देवतादेर्वरो जामातृषिङ्गयोः। श्रेष्ठेऽन्यवत् परिवृतौ' इति विश्वप्रकाशः। (ङ) अभिनन्दनीयाम्—अभिनन्दितुं योग्या अभिनन्दनीया। (अभि+नन्द्+अनीयर+टाप्) तामभिनन्दनीयाम्। अभिनन्दन करने योग्य प्रशंसनीय। (च) लोकोत्तराम्—लोकादुत्तरा लोकोत्तरा। तां लोकोत्तराम्। अलौकिक। कृतिं रचनाम्। (छ) करुणारसार्द्राम्—करुणायाः रसः करुणारसः। तेन आर्द्रा करुणारसार्द्रा। तां करुणारसार्द्राम्। (ज) मनः प्रसाद—मनसः प्रसादः मनः प्रसादः। प्रसादः प्रसन्नता। स्तुति करने के लिये किसका मन प्रसन्न नहीं हो जाता है, अर्थात् सभी का मन स्तुति करना चाहता है। यहाँ सभी स्तुति करना चाहते हैं। इस बात को इसी ढंग से न कह कर 'स्तुति करने के लिए किसका मन प्रसन्न नहीं हो जाता इस ढङ्ग से कहा गया है। अतः पर्यायोक्त अलङ्कार है। इसमें कवि ने 'वसन्त तिलक' वृत्त का प्रयोग किया है॥ १८॥

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती
शयने सम्प्रति या विलोकिताऽसीत्।
अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी
गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि॥ १९॥

इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथविरचिते भामिनी-
विलासे करुणो नाम तृतीयो विलासः

अन्वयः—सम्प्रति शयने दयितस्य गुणान् अनुस्मरन्ती विलोकिता आसीत् हन्त ! अधुना सा खलु कृशाङ्गी भाषिता अपि गिरम् न अङ्गीकुरुते ।

हिन्दीरूपान्तर—अभी अभी शय्या पर जो प्रियतम के गुणों की याद करती हुई देखी गई थी, हाय ! इस समय वही दुर्बल अङ्गों वाली (प्रियतमा) पूछने पर भी बात नहीं करती ।

व्याख्या—यह नायिका की किसी सखी की दूसरी सखी से उक्ति है । नायिका थोड़ी देर पहले जीवितावस्था में अपने प्रियतम के गुणों को याद कर रही थी । परन्तु अब जब कि प्रियतम आ गया और उसको बुला रहा है तो भी बात नहीं कर रही है । इस प्रकार यहाँ नायिका की मूर्च्छितावस्था का वर्णन किया गया है । यह अवस्था मरण के पहले की अवस्था होती है । यहाँ पण्डितराज ने 'मरण' व्यभिचारी भाव की ध्वनि स्वीकार किया है । उनके अनुसार 'रोगादि के कारण पैदा होने वाली मरण के पूर्व की मूर्च्छा रूप अवस्था को 'मरण' कहते हैं—

'रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।" (रसगङ्गाधर)

यहाँ प्रियतम का विरह विभाव है, नायिका का बोलना बन्द हो जाना अनुभाव है जिससे 'मरण' व्यभिचारी भाव ध्वनित होता है । इस भाव की व्यञ्जना कराने में 'हन्त !' पद अत्यन्त उपकारक है । 'सम्प्रति दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती' में प्रयुक्त 'सम्प्रति' पद से तथा 'स्मरन्ती' के 'शतृ' प्रत्यय से यह ध्वनित होता है कि नायिका मरणावस्था पर्यन्त प्रियतम के गुणों का स्मरण करती रही उसे भूली नहीं । इससे विप्रलम्भ श्रृङ्गार अथवा करुण रस के स्थायी भाव शोक की परिपुष्टि होती है । (क) 'दयितं वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः । (ख) अनुस्मरन्ती—अनु + स्मृ + शतृ + ङीष् । (ग) शयने—'पर्यङ्कः शयनं शय्या तल्पञ्च तलिनं स्मृतम्' इति हलायुधः । तस्मिन् शयने । (घ) सम्प्रति—अभी अभी । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । (ङ) कृशाङ्गी—कृशानि अङ्गानि यस्याः सा कृशाङ्गी । 'कृशं क्षीणं पेलवं तलिनं तनु' इति हलायुधः । क्षीण अङ्गों वाली । इसमें कवि ने 'कालभारिणी वृत्त' का प्रयोग किया है । लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु कालभारिणीयम् ।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीपण्डितराजजगन्नाथविरचित भामिनीविलास
के तृतीय करुण विलास का हिन्दीरूपान्तर
तथा व्याख्या सम्पूर्ण ।

चतुर्थः शान्तविलासः

विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानल-
प्रसृत्वरशिखावलीविकलितम् मदीयम् मनः ।
अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे
मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदञ्चकोरायताम् ॥ १ ॥

अन्वयः—विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावलीविकलितम् मदीयम् इदम् मनः अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरम् चकोरायताम् ।

हिन्दीरूपान्तर—विषय रूपी विशाल अरण्यमण्डल में लगी हुई दावाग्नि की फैलती हुई लपटों से व्याकुल मेरा यह मन परिपूर्ण सौन्दर्य से सम्पन्न, समस्त मधुरिमा के आगार, कृष्ण के मुखचन्द्र के विषय में चिरकाल तक चकोर बना रहे ।

व्याख्या—यहाँ कविगत भगवद्विषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति प्रधान रूप से होती है । उसको प्रस्तुत करने में कवि ने यहाँ अनेक अलङ्कारों को प्रस्तुत किया है । उनका विवेचन इस प्रकार है । (क) विशालविषयाटवीवलय-लग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावलोविकलितम्—विषयः एव अटवीविषयाटवी । रूपक अलंकार । 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः । तस्या वलयं विषयाटवीवलयम् । विशालं विषयाटवीवलयम् विशालविषयाटवीवलयम् । तस्मिन् लग्नः विशालविषयाटवीवलयलग्नः तथा भूतः दावानलः विशालविषया-टवीवलयलग्नदावानलः । प्रसृत्वराः (प्र + सृ + क्वरप् 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप् ३।२।१६३) इति सूत्रेण । (प्रसरन्त्यः) शिखाः (ज्वालाः) प्रसृत्वरशिखाः । तासामवल्यः प्रसृत्वरशिखावल्यः । विशालविषयाटवीवलयलग्नदावालस्य प्रसृत्वर-शिखावल्यः विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावल्यः । ताभिः विकलितं विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावलीविकलितम् । अर्थात् विषय रूप जंगल के विशाल प्रदेश में लगी हुई दावाग्नि की फैलती हुई ज्वालाओं के समूहों से व्याकुल हो गया हुआ । 'शिखा शिफायां चूडायां ज्वाला-यामग्रमात्रके' इति विश्वप्रकाशः । (ख) मदीयम्—मम इदं मदीयम् । 'अस्मद्' शब्दात् छ प्रत्यये 'प्रत्ययोत्तर पदयोश्च' (७।२।९८) इति सूत्रेण 'अस्म'

इत्यस्य 'म' इत्यादेशे छस्य चेयादेशे तत्सिद्धिः। (ग) अमन्दमिलदिन्दिरे— न मन्दम् अमन्दम्। अमन्दं यथा स्यात्तथा मिलन्ती इन्दिरा यस्मिन् तत् अमन्दः मिलिदिन्दिरम्। 'लक्ष्मीः श्रीः कमला पद्मा × × शब्दशैरिन्दिरा स्मृता' इति हलायुधः। यहाँ कवि ने अमन्द पद से भगवान् के मुख का चन्द्रमा से व्यतिरेक प्रतिपादित किया है। (घ) निखिलमाधुरीमन्दिरे—निखिलाः माधुर्यः निखिलमाधुर्यः। तासां मन्दिरं निखिलमाधुरीमन्दिरम्। तस्मिन् निखिलमाधुरीमन्दिरे। समस्त मधुरिमाओं के आगार-स्वरूप। (ङ) मुकुन्दमुखचन्दिरे— मुकुन्दस्य मुखम् मुकुन्दमुखं मुकुन्दमुखमेव चन्दिरः मुकुन्दमुखचन्दिरः। तस्मिन् मुकुन्दमुखचन्दिरे। रूपक अलङ्कार। 'मुकुन्दः पुण्डरीकाक्षे रत्नभेदे च पारदे' इति 'चन्दिरोऽनेकपे चन्द्रे' इति च विश्वप्रकाशः। यहाँ मुकुन्द का अर्थ भगवान् विष्णु (कृष्ण) तथा चन्दिर का अर्थ चन्द्रमा है। चिरम्—अर्थात् चिरकाल तक थोड़ी देर के लिए नहीं इससे प्रेम की दृढ़ता व्यञ्जित होती है। (च) चकोरायताम्— चकोर इव आचरतु इत्यर्थः। यह 'कर्तुं क्यङ् सलोपश्च' से चकोर शब्द से क्यङ् प्रत्यय करके नाम धातु बनाने पर 'लोट्' लकार का रूप है। यहाँ धर्मलुप्ता उपमा है। इस पद्य में कवि ने 'पृथ्वी' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है— 'जसौ जसयला वसु ग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः (छन्दोमञ्जरी) ॥ १ ॥

अये ! जलधिनन्दिनीनयनीरजालम्बन !
ज्वलज्ज्वलनजित्वरमरत्वराभङ्गुरम् ।
प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वङ्कषैः
जगत्त्रितयरोचनैः शिशिरयाशु माँल्लोचनैः ॥ २ ॥

अन्वयः—अये जलधिनन्दिनीनयनीरजालम्बन ! प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वङ्कषैः जगत्त्रितयरोचनैः लोचनैः ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्ज्वरभरत्वराभङ्गुरम् माम् आशु शिशिरय।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ समुद्र सुता (लक्ष्मी) के नयन कमलों के आलम्बन (कृष्ण) प्रातःकालीन कमलों की बढ़ती हुई गुरुता के घमण्ड का सर्वस्व छीन लेने वाले त्रिभुवन को आनन्दित करने वाले नेत्रों के द्वारा जलती हुई अग्नि को भी जीत लेनेवाले सन्ताप समूह के वेग से विनष्ट होते हुए मुझको शीघ्र शीतलता प्रदान करो।

व्याख्या—यहाँ भी प्रधानतया कविगत भगवद्विषयक रतिभाव ध्वनित होता है। (क) जलधिनन्दिनीनयनीरजालम्बन—जलधेः नन्दिनी जलधिनन्दिनी

जलधिनन्दिन्याः नयने जलधिनन्दिनीनयने। त एव नीरजे जलधिनन्दिनीनयननीरजे। रूपक। तयोरालम्बनः जलधिनन्दिनीनयननीरजालम्बनः। तत्सम्बुद्धौ जलधिनन्दिनीनयननीरजालम्बन। यह समस्त पद भगवान् विष्णु के वाचक रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है। कवि सन्तप्त है। वह भगवान् से अपने को शीतलता प्रदान करने की याचना कर रहा है। यहां उसने जिन पदों का प्रयोग किया है वे शीतलता प्रदान करने की अतुल शक्ति का प्रतिपादन करते हैं। जलधि अर्थात् जलानि धीयन्तेऽस्मिन् इति जलधिः। जल का जो आगार है। जल का गुण है शीतलता। 'शीतस्पर्शवत्यः आपः' (तर्कसंग्रह)। उस जलधि की नन्दिनी। जल ही से उत्पन्न होने के कारण वह और भी शीतल होगी। और उसके नेत्र कमल और भी शीतल होंगे। उन नेत्र कमलों का भी जो आश्रय वह तो अत्यधिक शीतल होगा ही। यहाँ 'नन्दिनी' पद से अच्युतराय ने लक्ष्मी की 'पितृवंशोद्धारकता' की ध्वनि मानी है—'नन्दयति स्वयं वरेण भगवदेकपरायणतयाऽऽनन्दयतीति यथा। न तु कन्यकामात्रेत्यर्थः एतेन तस्याम् पितृवंशोद्धारकत्वं ध्वन्यते।" (ख) ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरभरत्वराभङ्गुरम्—ज्वलतीति ज्वलनः। अग्निः। (ज्वल्+युच्) जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपत पदः' (३।२।१५०) इति सूत्रेण। ज्वलन् ज्वलनः ज्वलज्ज्वलनः। तस्य जित्वरः ज्वलज्ज्वलनजित्वरः। जित्वरः जेता (जि+क्वरप्) इण्नशजिसर्त्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) इति सूत्रेण। तथाभूतः ज्वरः ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरः। तस्य भरः। अतिशयः। ज्वलज्ज्वलनजित्वरज्वरभरः। तस्य त्वरा ज्वलज्ज्वलनजित्वरभरत्वरा। तया भङ्गुरः तं ज्वलज्ज्वलनजित्वरभरत्वराभङ्गुरम् अर्थात् प्रज्वलित होते हुए अग्नि को भी जीत लेने वाले ज्वर के भार के वेग से विनष्ट होते हुये मुझको। इससे कवि की अत्यन्त कारुण्यास्पदता द्योतित होती है। 'पावकः अर्चिष्मान् ज्वलनः' इति हलायुधः। अथातिशयो भरः इत्यमरः। 'भज्यते स्वयमेवेति भङ्गुरः स्वयं भञ्जनशील इत्यर्थः। 'भञ्ज+भञ्जभासमिदो घुरच्' (३।२।६१) इति घुरच् प्रत्ययः। 'चजोः कुघिण्यतोः (७।३।५२) इति कुत्वम्। (ग) प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्वङ्कषैः—जले जातानि जलजानि। प्रभाते भवानि जलजानि प्रभातजलजानि। उन्नमन् (प्रवृद्धिं गच्छन्) गरिमा उन्नमद्गरिमा। प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वः। तस्य सर्वङ्कशः प्रभातजलजोन्नमद्गरिमगर्वसर्व्वङ्कषाः तैः। सर्वं कषन्ति (हरन्ति) इति सर्वङ्कषाः अर्थात् प्रातःकालिक कमलों के बढ़ते हुये गर्व का सब कुछ छीन लेने वाले। इस विशेषण से भगवान् के लोचनों का अत्यधिक शैत्य स्पष्ट है। यहाँ नेत्र के उपमानभूत कमलों का अनादर किया गया है। अतः प्रतीप अलंकार है। (घ) जगत्त्रितयरोचनैः—

जगतां त्रितयम् जगत्त्रितयम् । तस्मै रोचन्ते इति जगत्त्रितयरोचनानि तैः जगात्त्रितयरोचनैः । तीनों लोकों को मनोहर लगने वाले । यहां सभी नेत्रों के विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त किये गये हैं जैसा कि उसकी व्याख्या में हमने स्पष्ट किया है । अतः यहाँ परिकर अलंकार भी है । लक्षण है—'अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे (कुवलयानन्द) । इसमें भी कवि ने पृथ्वी वृत्त का प्रयोग किया है ।

लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याखया में दिया जा चुका है ।। २ ।।

स्मृताऽपि तरुणातपङ्करुणया हरन्ती नृणा—
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ।। ३ ।।

अन्वयः—स्मृता अपि करुणया नृणाम् तरुणातपं हरन्ती अभङ्गुरतनुत्विषां विद्युतां शतैः वलयिता कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी काऽपि कादम्बिनी मदीयमतिचुम्बिनी भवतु ।

हिन्दीरूपान्तर—याद किए जाने पर भी कृपापूर्वक मनुष्यों के प्रवृद्ध संताप को नष्ट करती हुई, चिरस्थायिनी शरीर प्रभा वाली, सैकड़ों बिजलियों से परिवेष्टित, कलिन्द-पर्वत की दुहिता यमुना के तट पर स्थित देववृक्षों का आलम्ब करने वाली कोई लोकोत्तर मेघमाला मेरी बुद्धि का स्पर्श करने वाली बने ।

व्याख्या—यहाँ भी प्रधान रूप से कविगत भगवद्विषयक रति भाव ध्वनि प्रस्तुत की गई है । साथ ही यहाँ कादम्बिनी रूप उपमान द्वारा उपमेय भूत कृष्ण का निगरण करा के अध्यवसान के प्रस्तुत किये जाने के कारण रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार भी है । लक्षण है—'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः' (कुवलयानन्द) । इस अतिशयोक्ति के साथ ही साथ व्यतिरेकालङ्कार भी प्रस्तुत किया गया है जो इस प्रकार हैं । (क) स्मृताऽपि—साधारण कादम्बिनी तो जब तक ऊपर छा नहीं उठती तब तक तरुणातप की बात तो दूर रही साधारण आतप भी दूर नहीं होता परन्तु प्रकृत 'कृष्ण' रूप कादम्बिनी ऐसी है कि केवल स्मरण मात्र से भी भीषण सन्ताप को शान्त कर देती है । अतः व्यतिरेक हुआ । लक्षण है—'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश) (ख) तरुणापम्—तरुणः आतपः तरुणातपः । तं तरुणातपम् । अर्थात् भीषण गर्मीको । (ग) अभङ्गुरतनुत्विषाम्—तनोः त्विषः

(कान्तयः) तनुत्विषः । न भङ्गुराः (भञ्जनशीलाः) इत्यभङ्गुराः । अभङ्गुराः तनुत्विषः यासां ता अभङ्गुरतनुत्विषः । तासाम् अभङ्गुररतनुत्विषाम् । विनष्ट न होने वाली शरीर कान्ति वाली । यहाँ भी व्यतिरेक है । क्योंकि सामान्य बिजलियों की शरीर कान्ति क्षणभङ्गुर होती है । क्षण भर तो प्रकाशित रही नहीं समाप्त । परन्तु जो गोपी रूप बिजलियां है उनकी शरीर कान्ति भङ्गुर नहीं है । अतः व्यतिरेक हुआ । (घ) वलयिता—परिवेष्टिता इत्यर्थः । (ङ) कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी—कलिन्दगिरेः नन्दिनी कलिन्दगिरिनन्दिनी तस्याः तटं कलिन्दगिरिनन्दिनीतटम् । सुराणाम् द्रुमाः सुरद्रुमाः । देववृक्षा इत्यर्थः । कलिन्दगिरिनन्दिनीतटे सुरद्रुमा कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमाः । तानालम्बते इति कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी । कलिन्दपर्वत की कन्या यमुना के तट पर स्थित देववृक्षों का सहारा लेने वाली । (च) मदीयमतिचुम्बिनी—ममेयं मदीया (अस्मद् + छ + टाप्) मदीया मतिः मदीयमतिः । तां चुम्बति इति मदीयमतिचुम्बिनी । यहाँ चुम्बन का लाक्षणिक प्रयोग है । (छ) काऽपि यह उस मेघमाला की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करता है । इससे उसका असाधारणत्व द्योतित होता है । (ज) कादम्ब + इनि + ङी' 'चलन्नवाभ्रमाला च बुधैः कादम्बिनी स्मृता' इति हलायुधः चञ्चल और नवीन मेघमाला । श्री जीवानन्द और अच्युतराय ने पता नहीं कैसे यहाँ पर रूपक अलङ्कार का निर्देश किया है । इसमें भी 'पृथ्वी' वृत्त प्रयुक्त है । लक्षण श्लोक संख्या १ की व्याख्या में देखे ॥ ३ ॥

कलिन्दनगनन्दिनीतटवनान्तरम्भासयन्
सदा पथि गतागतश्रमभरं हरन् प्राणिनाम् ।
लतावलिशतावृतो मधुरया रुचा सम्भृतो
ममाशु हरतु श्रमानतितरान्तमालद्रुमः ॥ ४ ॥

अन्वयः—कलिन्दनगनन्दिनीतटवनान्तरम् भासयन् पथि सदा प्राणिनाम् गतागतश्रमभरं हरन् लतावलिशतावृतो मधुरया रुचा सम्भृतः तमालद्रुमः आशु मम श्रमान् अतितरां हरतु ।

हिन्दीरूपान्तर—कलिन्दपर्वत की कन्या यमुना के तट पर स्थित वनों के अन्तराल को प्रकाशित करता हुआ, मार्ग में हमेशा प्राणियों के गमनागमन की थकावटों को मिटाता हुआ, सैकड़ों लताओं से घिरा हुआ, तथा रमणीय कान्ति से संयुक्त तमालवृक्ष शीघ्र ही मेरे कष्टों को अच्छी तरह मिटा दे ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि का भगवद्विषय रतिभाव तो व्यञ्जित होता ही है। अतः भाव ध्वनि है ही। साथ ही कवि ने यहाँ सावयव रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। यहाँ कृष्ण रूप उपमेय का तमालवृक्ष रूप उपमान के द्वारा निगरण करके अध्यवसान प्रस्तुत किया गया है। अतः रूपकातिशियोक्ति है। लक्षण है—

"रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्य्याध्यवसानतः ।" (कुवलयानन्द)

परन्तु इस अतिशयोक्ति को सिद्ध करने के लिए 'जीवों के नानायोनियों में सञ्चरण का' 'मार्ग से आने जाने के द्वारा' निगरण कर अध्यवसान प्रस्तुत किया गया है साथ ही 'गोपियों' का 'लताओं' द्वारा निगरण करके अध्यवसान प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ सावयवा रूपकातिशयोक्ति है। जिस प्रकार तमालवृक्ष मार्ग में आने जाने वाले लोगों की थकावट दूर करता है वैसे भगवान् कृष्ण नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेने के श्रम को दूर करते हैं अर्थात् मोक्ष प्रदान करते हैं। तमालवृक्ष जैसे लताओं से घिरा हुआ है वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान् १६ हजार गोपियों से घिरे हुए हैं। (क) कलिन्दनगनन्दिनीतटवनान्तरम्—कलिन्दनगस्य नन्दिनी कलिनन्दनगनन्दिनी। तस्याः तटं कलिन्दनगनन्दिनीतटम्। तत्र (स्थितं) वनं कलिन्दनगनन्दिनीतटवनम्। तस्य अनन्तरं कलिन्दनगनन्दिनीतटवनान्तरम् (द्वितीयैकवचनम्) 'अन्तरन्तु परीधाने भेदे रन्ध्रावकाशयोः' इति विश्वप्रकाशः। यहाँ अन्तर से आशय अवकाश अर्थात् मध्यभाग से है। शैलवृक्षौ नगावगौ इत्यमरः। यहाँ नग का अर्थ पर्वत है। कलिन्द पर्वत की पुत्री यमुना के तट पर स्थित वन के मध्यभाग को प्रकाशित करते हुए प्रकाशित करने के द्वारा व्यतिरेक प्रस्तुत किया गया है। (ख) गतागतश्रमभरम्—गतञ्च आगतञ्च इत्यनयोः समाहारः गतागतम्। गमनागम इत्यर्थः। तस्मिन् तेन वा श्रमः गतागतश्रमः। तस्य भरः गतागतश्रमभरः। तं गतागतश्रमभरम्। (ग) प्राणिनाम्—प्राणाः सन्त्येषामिति प्राणिनः। (प्राण + इनि) तेषां प्राणिनाम्। (घ) लतावलिशतावृत—लतानामवलिः लतावलिः। तासां शतानि लतावलिशतानि तैः आवृतः लतावलिशतावृतः। सैकड़ों लताओं के समूहों से घिरा हुआ। (ङ) रुचा—कान्त्या। 'प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। (च) तमालद्रुमः—तमालस्य द्रुमः तमालद्रुमः। 'वृक्षो महीरुहः शाखी × × पलाशी द्रुमागमाः।' इत्यमरः। आशु के द्वारा परम औत्सुक्य व्यक्त होता है। इस श्लोक में भी कवि ने 'पृथ्वी' वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण पहले दिया जा चुका है ॥ ४ ॥

जगज्जालञ्ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलय-
ञ्जनानां सन्तापन्त्रिविधमपि सद्यः प्रशमयन् ।
श्रितो वृन्दारण्यन्नतनिखिलवृन्दारकवृतो
मम स्वान्तध्वान्तन्तिरयतु नवीनो जलधरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—ज्योत्स्नामयनवसुधाभिः जगज्जालम् जटिलयन् जनानाम् त्रिविधम् अपि सन्तापं सद्यः प्रशमयन् वृन्दारण्यं श्रितः नतनिखिलवृन्दारकवृतः नवीनः जलधरः मम स्वान्तध्वान्तम् तिरयतु ।

हिन्दीरूपान्तर—चन्द्रिकामय नूतन अमृत से त्रिभुवनों को परिपूर्ण करता हुआ लोगों के तीनों ही प्रकार के सन्ताप को तुरन्त शान्त करता हुआ वृन्दावन में रहने वाला प्रणाम करते हुए समस्त देवताओं से घिरा हुआ, अपूर्व मेघ हमारे मानस अन्धकार को मिटा दे ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में भी कवि की भगवद् विषयक रति के ध्वनित होने के कारण भावध्वनि ही है। साथ ही रूपकातिशयोक्ति अलंकार भी है। यहाँ भगवान् कृष्ण रूप विषय का नवीन जलधर रूप विषयी के द्वारा निगरण करके अध्यवसान को प्रस्तुत किया गया गया है। (क) जगज्जालम्—जगतां जालं जगज्जालम्। (द्वितीयैकवचनम्) भुवनसमूहमित्यर्थः । जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः' इति विश्वप्रकाशः। (ख) ज्योत्स्नामयनवसुधाभिः—नवाः सुधाः नवसुधाः ज्योत्स्नामय्यः नवसुधाः ज्योत्स्नामयनवसुधाः ताभिः ज्योत्स्नामयनवसुधाभिः। 'चन्द्रिका कौमुदी ज्योत्स्ना' इति 'पीयूषममृतं सुधा' इति चामरः। इस वाक्य के द्वारा साधारण जलधर से व्यतिरेक प्रदर्शित किया गया है। (ग) त्रिविधमपि सन्तापं प्रशमयन्—तीनों प्रकार का सन्ताप शान्त करते हुए। सन्ताप तीन प्रकार का माना गया है—आधिदैविक (२) आधिभौतिक और (३) आध्यात्मिक। इस प्रकार भी यहाँ पर व्यतिरेक प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि साधारण मेघ में त्रिविध ताप को शान्त करने की क्षमता कहाँ होती है ? और यह नवीन जलधर केवल शान्त नहीं करता बल्कि अच्छी तरह (प्रकृष्टतया) शान्त करता है। यह प्र उपसर्ग से द्योतित होता है। साथ ही उस सन्ताप के शान्त करने में कुछ समय भी नहीं लगता। 'सद्यः' तुरन्त शान्त कर देता है। (घ) निखिलवृन्दारकवृतः—निखिलाः वृन्दारकाः निखिलवृन्दारकाः। आदित्यास्त्रिदशाः सुराः सुमनसः स्वर्गौकसो देवता गीर्वाणा ऋभवोऽमराश्च मरुतो वृन्दारका निर्जराः।'' इति हलायुधः। तैः वृतः निखिलवृन्दारकवृतः। समस्त देवताओं से घिरा हुआ। (ङ) स्वान्तध्वान्तम्—स्वान्तस्य ध्वान्तम् स्वान्तध्वान्तम्। (द्वितीयैकवचनम्) 'चित्तन्तु चेतो हृदयं

स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'सन्तमसं ध्वान्तमन्धकारञ्च' इति हलायुधः हृदय के अन्धकार को अर्थात् अज्ञान को। नवीनः—अर्थात् अपूर्व, जैसा जलधर पहले कभी नहीं देखा गया। इसमें कवि ने 'शिखरिणी' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ५ ॥

ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्तेः ।
प्रावृषेण्य इव वारिधरो मे वेदनां हरतु वृष्णिवरेण्यः ॥ ६ ॥

अन्वयः—प्रावृषेण्यः वारिधरः इव वृष्णिवरेण्यः ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्तेः मे वेदनां हरतु।

हिन्दीरूपान्तर—वर्षाकालीन जलधर की तरह यदुवंशियों के श्रेष्ठ कृष्ण ग्रीष्मकालीन सूर्य मण्डल की भयंकर ज्वालाओं के समान संसार द्वारा सन्तप्त किए गए शरीर वाले मेरी पीड़ा को नष्ट करें।

व्याख्या—यहाँ भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे सन्तापजन्य दुःख को नष्ट करें। यहाँ श्रीकृष्ण की उपमा शरत्कालीन जलधर से दी गई है। कृष्ण उपमेय, मेघ उपमान, इव उपमा वाचक शब्द और 'वेदना नष्ट करना' साधारण धर्म है। इन चारों का ही उपादान होने से पूर्णोपमा अलंकार है। साथ ही इव शब्द के साक्षात् सादृश्य का वाचक होने से तुरन्त सादृश्य का बोध हो जाने से श्रौती है। और चूँकि इव शब्द समस्त नहीं है अतः वाक्यगत है। इस प्रकार यहाँ वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमा है। (क) ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्ते—चण्डाः कराः यस्य सः चण्डकरः। सूर्य इत्यर्थः। कर का अर्थ यहाँ किरण है। 'करो वर्षोपले पाणौ शुण्डाप्रत्यय रश्मिषु' इति विश्वप्रकाशः। ग्रीष्मकालिकः चण्डकरः ग्रीष्मचण्डकरः। तस्य मण्डलं ग्रीष्मचण्डकरमण्डलम्। भीष्माः ज्वालाः भीष्मज्वालाः। ग्रीष्मचण्डकरमण्डलस्य भीष्मज्वालाः ग्रीष्मचण्डकरभीष्मज्वालाः। ताः इव संसरणं ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणम्। तेन तापिता ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापिता। तथाभूता मूर्त्तिः यस्य सः ग्रीष्मचण्डकरमण्डलभीष्मज्वालसंसरणतापितमूर्त्तिः। अर्थात् ग्रीष्मकाल के सूर्य मण्डल की भयंकर ज्वालाओं के सदृश जो यह संसार है उसके द्वारा सन्तप्त शरीर वाले। संसरणं संसारः। 'कायोदेहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। (ख) प्रावृषेण्यः—प्रवर्षतीति प्रावृट् (प्र + वृषु + क्विप्) वृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (६।३।११६) इति पूर्वपददीर्घः। प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः (प्रावृष् + एण्यः) 'प्रावृष् एण्यः' (४।३।१७) इति सूत्रेण स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः। वर्षाकालीन

(ग) वारिधरः—धरतीति धरः । (धृ + अच्) वारिणः धरः । मेघ इत्यर्थः ।
(घ) वेदनाम्—पीडामित्यर्थः 'वेदना दुःखमर्त्तिः पीडा व्यथा' इति हलायुधः ।
(ङ) वृष्णिवरेण्यः—(वृ + एण्य + वरेण्यः) वृष्णिषु (यादवेषु) वरेण्यः (श्रेष्ठः प्रधानो वा) वृष्णिवरेण्यः । कृष्ण इत्यर्थः । 'वृष्णिस्तु यादवे मेषे' इति विश्वप्रकाशः । 'वरेण्यं वरं श्रेष्ठम्' इति हलायुधः इसमें कवि ने 'स्वागता' वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'स्वागता रनभगैर्गुरुणा च' इति (छन्दोमञ्जरी) ॥ ६ ॥

अपारे संसारे विषमविषयारण्यसरणौ
मम भ्रामम्भ्रामं विगलितविरामञ्जडमतेः ।
परिश्रान्तस्यायन्तरणितनयातीरनिलयः[1]
समन्तात् सन्तापं हरिनवतमालस्तिरयतु ॥ ७ ॥

अन्वयः—तरणितनयातीरनिलयः अयं हरिनवतमालः विषमविषयारण्यसरणौ अपारे संसारे विगलितविरामम् भ्रामम् भ्रामम् परिश्रान्तस्य जडमतेः मम सन्तापं समन्तात् तिरयतु ।

हिन्दीरूपान्तर—सूर्यकन्या यमुना के तट का निवासी यह कृष्ण रूप नवीन तमालवृक्ष, भयङ्कर विषय रूपी जंगल के मार्गभूत अपार संसार में बिना किसी रुके हुए बार-बार घूम करके थक गये हुए एवं जडबुद्धि मेरे सन्ताप को एकदम नष्ट कर दे ।

व्याख्या—यहाँ भगवद्भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवान विष्णु (या कृष्ण) उसके सन्ताप को सब ओर से नष्ट कर दें । यहाँ कवि ने हरि पर 'तमाल' का आरोप किया है । हरि उपमेय और तमाल उपमान है । जिस प्रकार तमालवृक्ष अपनी छाया में आये हुये पथिकों का सन्ताप दूर करता है उसी प्रकार हरि संसार के सन्ताप को नष्ट करते हैं इसीलिये कवि ने उपमान रूप में तमालवृक्ष को प्रस्तुत किया है । परन्तु यहाँ यह तमालवृक्ष उपमेय भूत हरि के रूप से ही प्रस्तुत संसार के सन्ताप निवारण में उपयोगी हो पाता है क्योंकि संसार का सन्ताप निवारण हरि द्वारा ही सम्भव है तमाल द्वारा नहीं । अतः यहाँ परिणामालङ्कार है । परिणाम का लक्षण है—

"विषयात्मतयाऽऽरोप्ये प्रकृतार्थेपयोगिनि ।
परिणामो भवेत् तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ॥" (साहित्यदर्पण)

---

१. क्वचित् "तरणितनयातीरनिलये" इत्यपि पठितमासीत्, यथा श्रीमज्जीवानन्देनाभ्यधायि 'यत् "तरणितनयातीरनिलये" इत्यपपाठः इति ।'

अर्थात् जहां पर आरोप्य (उपमान) विषय (उपमेय) के रूप में ही प्रस्तुत अर्थ में उपयोगी होता है वहां परिणामालङ्कार होता है। यह समानाधिकरण्य और वैयाधिकरण्य से प्रयुक्त होने के कारण तुल्याधिकरणक और अतुल्याधिकरणक भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ पर तुल्याधिकरणक परिणाम है। यहाँ भगवद् विषयक रति भाव व्यंग्य है। (क) अपारे—न पारं विद्यते यस्य स अपारः। तस्मिन् अपारे। अर्थात् यह संसार रूपी जंगल इतना बड़ा है कि उसके ओर छोर का पता ही नहीं है। (ख) विषमविषयारण्यसरणौ—विषय एव अरण्यं विषयारण्यम्। रूपक। विषयारण्यस्य सरणिः विषयारण्यसरणिः विषमा विषयारण्यस्यसरणिः विषमविषयारण्यसरणिः। तस्मिन् विषयारण्यसरणौ। 'अयनवर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवीसृतिः सरणिः पद्धतिः इत्यमरः। (ग) भ्रामम्भ्रामम्—भ्रम+णमुल् 'आम्भीक्ष्ण्ये णमुल् च' (६।४।२२) इति सूत्रेण। नित्यवीप्सयोः। (८।१।४) इति द्विर्वचनम्। अर्थात् भ्रमित्वा भ्रमित्वा घूम-घूम कर। (घ) विगलितविरामम्—विशेषेण गलितम् विगलितं विगलितः विरामः यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा विगलितविरामम्। (क्रियाविशेषणम्) विना किसी रुकावट के निरन्तर। (ङ) जडमतेः—जडा (मन्दा) मतिः (बुद्धिः) यस्य स जडमतिः। तस्य जडमतेः। (च) परिश्रान्तस्य—परितः श्रान्तः परिश्रान्तः। तस्य परिश्रान्तस्य। अच्छी तरह थके हुये। (छ) तरणितनयातीरनिलयः—तरणेस्तनया तरणितनया। तस्यास्तीरं तरणितनयातीरम्। तदेव निलयं यस्य सः तरणितनयातीरनिलयः। 'आदित्यः सविता सह सुकिरणः××तिग्मांशुस्तरणिस्तथा××सूर्यः इति 'दुहिता तनया पुत्री' इति च हलायुधः। 'गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः। अर्थात् सूर्यसुता का तट ही जिसका निवासस्थान है। (ज) हरिनवतमालः—नवः तमालः नवतमालः। हरिरेव नवतमालः हरिनवतमालः। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ७ ॥

आलिङ्गितो जलधिकन्यकया सलीलम्
लग्नः प्रियङ्गुलतयेव तरुस्तमालः।
देहावसानसमये हृदये मदीये
देवश्चकास्तु भगवानरविन्दनाभः ॥ ८ ॥

अन्वयः—प्रियङ्गुलतया लग्नः तमालः तरुः इव जलधिकन्यया सलीलम् आलिङ्गितः देवः भगवान् अरविन्दनाभः देहावसानसमये मदीये हृदये चकास्तु।

हिन्दीरूपान्तर—प्रियङ्गु लता से लिपटे हुए तमाल वृक्ष की तरह समुद्र-सुता लक्ष्मी से विलासपूर्वक आलिङ्गित एवं प्रकाशमान भगवान् कमलनाभ श्रीविष्णु शरीरनाश के समय मेरे हृदय में विराजमान होंवे।

व्याख्या—यहाँ पर मुख्य रूप से वक्ता का विष्णुगत रतिभाव व्यङ्ग्य है। उसे कवि ने बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से उपमालङ्कार द्वारा परिपुष्ट किया है। उसने भगवान विष्णु की उपमा तमालवृक्ष से दिया है। उपमेय विष्णु हैं और उपमान तमालवृक्ष है तथा उपमा का वाचक शब्द 'इव' है। पर समान धर्म के विषय में विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि वह समान धर्म यहाँ वस्तु प्रतिवस्तु भाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्न है। क्योंकि समान धर्म है 'जलधिकन्यया आलिङ्गितः तथा प्रियङ्गुलतया लग्नः' इनमें आलिङ्गित और लग्न दोनों एक रूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रतिपादित किए गए हैं अतः उनमें वस्तु प्रति वस्तु भाव है तथा जलधिकन्या और प्रियङ्गुलता परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप से प्रस्तुत किए गये हैं अतः उनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव है, इसी लिए साधारण धर्म वस्तु प्रति वस्तु भाव से मिश्रित बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न है। (क) जलधिकन्यकया—जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति जलधिः। समुद्रः। कन्यका (स्वार्थेकन्) जलधेः कन्यका जलधिकन्यका तया जलाधिकन्यकया। लक्ष्म्या इत्यर्थः। (ख) सलीलम्—लीलया सहितं यथा स्यात् तथा सलीलम् (क्रियाविशेषणम्) सविलासमित्यर्थः। (ग) प्रियङ्गुलतयेव—'प्रियङ्गोः लता प्रियङ्गुलता तया प्रियङ्गुलतया। तयेव प्रियङ्गुलतयेव। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च'। (घ) देहावसानसमये—देहस्यावसानम् देहावसानम्। मरणमित्यर्थः। तस्य समयः देहावसनसमयः। तस्मिन् देहावसानसमये। मरणकालेत्यर्थः। (ङ) मदीये—ममायं मदीयः (अस्मद्+छ) तस्मिन् मदीये। (च) भगवान्—भगोऽस्त्यस्येति भगवान् (भग्+मतुप्) भग का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। अर्थात् जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य संयुक्त है। (छ) अरविन्दनाभः—अरविन्दो नाभौ यस्य स अरविन्दनाभः। इत्यत्र (अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः)' (५।४।७५) इति समासादच् प्रत्ययः। यथोक्तं सिद्धान्तकौमुद्याम्' 'अच्' इति योगविभागादन्यत्रापि—पद्मनाभः।' विष्णुरित्यर्थः) इसमें कवि ने 'वसन्ततिलक' 'वृत्त' का प्रयोग किया है—लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः' (छन्दोमञ्जरी)॥ ८॥

नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा ।
तिरयत्वाशु सन्तापं काऽपि कादम्बिनी मम ॥ ६ ॥

अन्वयः—नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा काऽपि कादम्बिनी मम सन्तापम् आशु तिरयतु ।

हिन्दीरूपान्तर—नेत्रों के आनन्द समुदाय को खूब बढ़ाने में समर्थ कोई लोकोत्तर मेघमाला मेरे सन्ताप को शीघ्र ही नष्ट कर दे ।

व्याख्या—इस पद्य में भी कविगत भगवद्विषयक रतिभाव के ध्वनित होने से 'भावध्वनि' तो है ही। साथ ही रूपकातिशयोक्ति भी है। क्योंकि कृष्ण की मूर्ति रूप विषय का 'मेघमाला' रूप विषयी के द्वारा निगरण करके अध्यवसान प्रस्तुत किया गया है। यह अतिशयोक्ति किसी अवयव के न होने के कारण निरवयव है। (क) नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा—नयनानामानन्दः नयनानन्दः। नयनानन्दस्य सन्दोहः नयनानन्दसन्दोहः। तस्य तुन्दिलीकरणम् नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलकरणम्। अतुन्दिलः तुन्दिलः क्रियतेऽनेनेति तुन्दिलीकरणम्। अभूततद्भावे च्विःकरणे ल्युट् च् तस्मिन् क्षमा नयनानन्दसन्दोहतुन्दिलीकरणक्षमा। 'समूहो निवहव्यूहसन्दोहविसरव्रजाः' इत्यमरः। तुन्दिल का अर्थ होता है बढ़ी हुई तोंद या नाभि वाला। यहाँ तुन्द शब्द से 'तुन्दादिभ्य इलच्च' (५।२।११७) से इलच् प्रत्यय है। इसका यहाँ पर लाक्षणिक प्रयोग है। जिसका अर्थ है बढ़ाने में प्रवृद्ध कराने में। उसका अतिशय व्यंग्य है। अर्थात् अत्यधिक आनन्द को प्रदान करती है। 'क्षमं' शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। क्षमा समर्था इत्यर्थः। नयनों के आनन्द समूह को अत्यधिक प्रवृद्ध करने में समर्थ। (ख) आशु—शीघ्रम्। 'शीघ्रं त्वरितं लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्। सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च' इत्यमरः। इससे कवि का औत्सुक्यातिशय द्योतित होता है। (ग) काऽपि—अर्थात् अनिर्वचनीया, लोकोत्तरा। इस पद में उस मेघमाला की उत्कृष्टता का अतिशय द्योतित होता है। (घ) कादम्बिनी—कादम्बाः कलहंसाः सन्त्यस्यामिति कादम्बिनी (कादम्ब + इनि + ङीप्) 'चलन्नवाभ्रमाला च बुधैः कादम्बिनी स्मृता' इति हलायुधः। चञ्चल नवीन मेघों की पंक्ति। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग किया है ॥ ९ ॥

वाचा निर्म्मलया सुधामधुरया यान्नाथ शिक्षामदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्मराम्यहमम्भावावृतो निस्त्रपः ।
इत्यागश्शतशालिनम्पुनरपि स्वीयेषु माम्बिभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते ! मत्तो न मत्तः परः ॥१०॥

अन्वयः—हे नाथ ! निर्म्मलया सुधा मधुरया वाचा यां शिक्षाम् अदाः ताम् अहम्भावावृतः निस्त्रपः अहं स्वप्ने अपि न संस्मरामि, हे यदुपते ! इति आगश्शतशालिनम् अपि माम् पुनः स्वीयेपु बिभ्रतः त्वत्तः परः दयानिधिः न अस्ति मत्तः परः मत्तः न (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ प्रभो ! अत्यन्त स्वच्छ और अमृत से भी मीठी वाणी द्वारा जिस शिक्षा को आपने दिया था, उसे अहम्भाव से घिरा हुआ निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं याद करता हूँ। हे यदुराज कृष्ण ! इस प्रकार के सैकड़ों अपराधों से युक्त भी मुझे फिर भी स्वजनों में धारण करते हुए आप से बढ़कर दूसरा दयानिधि नहीं है और मुझ से बढ़कर दूसरा प्रमादी नहीं है।

व्याख्या—यहाँ पर कविगत भगवद्विषयक रति भाव ही मुख्यतः व्यङ्ग्य है। उसे प्रस्तुत करने में कवि ने 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार प्रस्तुत किया है। 'भगवन् आप से बढ़कर दयानिधि कोई नहीं है' इसका हेतु दिया सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर, और शिक्षा को न मानने पर भी जो आप मुझे अपना समझते हैं। साथ ही 'मुझसे बढ़कर कोई उन्मत्त नहीं है' इसका हेतु दिया 'कि आप की अमृतमयी शिक्षा को मैं निर्लज्ज अहंभावावृत होकर स्वप्न में भी स्मरण नहीं करता'। इस तरह यहाँ वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग है। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' (साहित्यदर्पण)। (क) निर्म्मलया—निर्गतानि मलानि (प्रमादादिदोषाः) यस्या सा निर्म्मलया। (ख) सुधामधुरया—'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः। सुधेव मधुरा सुधामधुरा (उपमा)। तया सुधामधुरया। (ग) अहम्भावावृतः—अहम्भावेन (देहादिषु अहमिति ज्ञानेन, अलङ्कारेणेत्यर्थः) आवृतः (आच्छादितः) इति अहम्भावावृतः (घ) निस्त्रपः—निर्गता त्रपा (लज्जा) यस्मात् सः निस्त्रपः। निर्लज्ज इत्यर्थः। मन्दाक्ष ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा इत्यमरः। (ङ) आगश्शतशालिनम्—आगसां शतानि आगश्शतानि। 'आगोऽपराधो मन्युश्च' इत्यमरः। तैः शालते इति आगश्शतशाली (णिनिः) तमागश्शतशालिम्। सैकड़ों अपराधों से युक्त (च) स्वीयेपु—स्वस्य इमे स्वीयाः। (स्व+छ) तेषु स्वीयेषु आत्मीयेषु (छ) त्वत्तः—मत्तः इत्युभयत्र 'पञ्चम्यास्तसिल् (५।३ ७) इति तसिल् प्रत्ययः त्वदपेक्षया मदपेक्षयेत्यर्थः। (ज) दयानिधिः—दयायाः निधिः दयानिधिः। 'निधिर्ना शेवधिः' इत्यमरः। दया के कोश हैं आप। मत्तः मदोद्धतः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है—'सूर्य्याश्वैर्यदिभः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी ॥ १० ॥

पातालं व्रज याहि वा सुरपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परान्तर तथाऽप्याशा न शान्तास्तव ।
आधिव्याधिपराहतो यदि सदा क्षेमन्निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे ! शून्यैः किमन्यैः श्रमैः ॥११॥

अन्वयः—पातालं व्रज, वा सुरपुरीं याहि, मेरोः शिरः आरोह, पारावार-परम्पराम् तर, तथाऽपि तव आशाः न शान्ताः (अतः) रे (प्राणिन्) आधि-व्याधिपराहतः यदि सदा निजम् क्षेमं वाञ्छसि (तर्हि) श्रीकृष्ण इति रसायनं रसय, अन्यैः शून्यैः श्रमैः किम् ?

हिन्दीरूपान्तर—रसातल को जा अथवा स्वर्ग चला जा, सुमेरु पर्वत की चोटी पर चढ़ जा, या तमाम समुद्रों को पार कर जा, फिर भी तेरी कामनायें नहीं शान्त होगी (इसलिए) ऐ चित्त । आधिव्याधियों से परेशान कर दिया गया तू यदि हमेशा अपना कल्याण चाहता है (तो) "श्रीकृष्ण" इस रसायन का स्वाद ले, दूसरे निष्फल परिश्रमों से क्या लाभ ?

व्याख्या—यहाँ कविगत कृष्णविषयक रति भाव प्रधानतया ध्वनित होता है । यहाँ कवि ने कृष्ण पर रसायन कर आरोप का रूपकालङ्कार को प्रस्तुत किया है । (क) पातालम्—'अचलं नितलं चैव वितलं च गभस्तिमत् । तलं सुतलपाताले पातालानि तु सप्त वै' इति शब्दरत्नावली । लोक विशेष है । (ख) सुरपुरीम्—सुराणां देवानां पुरी नगरीति सुरपुरी । तां सुरपुरीम् । स्वर्गमित्यर्थः । 'स्वः स्वर्गं सुरसद्म' इति हलायुधः । "मनोनुकूलाः प्रमदा रूपवत्यः स्वलङ्कृताः । वासः प्रासादपृष्ठेषु स्वर्गः स्याच्छुभकर्म्मणः ।' (गरुडपुराणम्) "मनः प्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः । नरकस्वर्गसञ्ज्ञेवै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः ।" (ब्रह्म-पुराणम्) । (ग) पारावारपरम्पराम्—पारावाराणाम् परम्परा पारावार-परम्पराम् । 'पारावारस्तोयनिधिरर्णवजलराशिसागरसमुद्राः' इति हलायुधः । यहाँ परम्परा का अर्थ परिपाटी है । अनन्त सागरों को पार कर जा है । 'परम्परा परीपाट्यां सन्तानेऽपिवधे क्वचित्' इति विश्वप्रकाशः । (घ) आधिव्याधि-पराहतः—आधयश्च व्याधयश्च अधिव्याधयः तैः पराहतः आधिव्याधिपराहतः । मानसिक व्यथा को आधि और शारीरिक रोगों को व्याधि कहते है । 'आधिस्तु मानसी पीडा इति 'रोगो रुग् व्याधिः' इति च हलायुधः । 'द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा । परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वम् नोपलभ्यते ।' (महा-भारतम्) । (ङ) कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः । (च) रसायनम्—रसायनं विडङ्गे स्यात् राजव्याधिजितौषधे' इति विश्वप्रकाशः । रसय—आस्वादय ।

इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें ॥ ११ ॥

गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता वताहमपि सीदन्।
भवमरुगर्त्ते करुणामूर्त्ते! न च सर्व्वथोपेक्ष्यः ॥१२॥

अन्वयः—हे करुणामूर्त्ते! गणिकाजामिलमुख्यान् अवता भवता बत! मरुगर्त्ते सीदन् अहम् अपि सर्वथा च उपेक्ष्यः न।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ कृपामूर्ति! गणिका एवम् अजामिल प्रमुख (पतितों) की रक्षा करते हुए आप के द्वारा हाय! संसार रूपी रेगिस्तानी गड्ढे में पीडित होता हुआ मैं भी सर्वथा त्याज्य नहीं ही हूँ।

व्याख्या—इसमें कवि का भगवद् विषयक रति भाव निर्वेद को पुष्ट करते हुए शान्त रस को प्रस्तुत करता है। यहाँ भव (संसार) पर मरुगर्त का आरोप किया गया है। अतः रूपकालङ्कार है। (क) गणिकाजामिलमुख्यान्—गणिका च अजामिलश्च गणिकाऽजामिलौ। तौ मुख्यौ येषु ते गणिकाजामिल-मुखयाः। तान् गणिकाऽजामिलमुख्यान्। गणिका और अजामिल जिनमें प्रमुख हैं ऐसे अनेक अधम व्यक्तियों की रक्षा करने वाले आप हैं। (ख) अवता—रक्षता! ('अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छा-दीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु' (भ्वादि) इति धातोः शतृ प्रत्ययस्ततः टा विभक्तौ एतपद्रूम्।) (ग) बत—का यहाँ खेद अर्थ में प्रयोग हुआ है—'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत' इत्यमरः। (घ) भवमरुगर्ते—मरौ गर्तः मरुगर्तः। भव एव मरुगर्त्तः भवमरुगर्तः। तस्मिन् भवमरुगर्ते। संसार रूप मरुस्थल के गढ्ढे में। (ङ) करुणामूर्ते—करुणायाः मूर्तिः करुणामूर्तिः। तत्सम्बुद्धौ, हे करुणामूर्ते। (च) सर्वथा—(सर्व+थाल्) सर्वप्रकारेण इत्यर्थः। उपेक्षितुं योग्यः उपेक्ष्यः। इसमें कवि ने आर्या वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या'' ॥ १२ ॥

विदित्वेदन्दृश्यं विषमरिपुदुष्टन्नयनयोः
विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
'विधूयान्तर्ध्वान्तम्मधुरमधुरायाश्चितिकदा
निमग्नः स्याङ्कस्याञ्चन नवनभस्याम्बुदरुचौ ॥ १३ ॥

---

१. "विधूतान्तर्ध्वान्तः" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—नयनयोः दृश्यं इदम् विषमरिपुदुष्टं विदित्वा अथ अन्तर्मुद्रां विधाय सपदि विषयान् विद्राव्य, अन्तर्ध्वान्तं विधूय कदा मधुरमधुरायाम् नवनभस्याम्बुदरुचौ कस्याञ्चन चिति निमग्नः स्याम् ।

हिन्दीरूपान्तर—आँखों द्वारा दिखाई पड़ने लायक इस (जगत्) को भयङ्कर शत्रुओं द्वारा दूषित समझकर, तदनन्तर समाधि लगाकर, तुरन्त विषयों को दूर कर, आन्तरिक अन्धकार को मिटा कर मैं कब अत्यन्त मनोहर, भादों के नवीन मेघ की कान्ति के सदृश कान्ति वाले किसी अनिर्वचनीय चिद्रूप परमात्मा में निमग्न हो सकूँगा ।

यहाँ कविगत ब्रह्मविषयक रतिभाव व्यञ्जित होता है । औत्सुक्य उसे परिपुष्ट करता है । दृश्य से यहाँ पर अभिप्राय जगत् से तथा जगत् की वस्तुओं से हैं । (क) विषमरिपुदुष्टम्—विषमाः रिपवः विषमरिपवः । दारुणशत्रवः कामक्रोधमोहादयः इति भावः । तैः दुष्टं (दूषितम्) विषमरिपुदुष्टम् । (ख) अन्तर्मुद्राम्—अन्तः अन्तःकरणे मुद्रा अन्तर्मुद्रा तामन्तर्मुद्रा । समाधिमित्यर्थः (ग) विद्राव्य—दूरी कृत्य, परित्यज्येत्यर्थः । (घ) विषयान्—भोग्यवस्तूनि । (ङ) अन्तर्ध्वान्तम्—अन्तः अन्तकरणस्यध्वान्तं अन्तर्ध्वान्तम् । मानसान्धकारम् मोहरूपमित्यर्थः 'ध्वान्तमन्धकारञ्च' इति हलायुधः (च) मधुरमधुरायाम्—मधुरादपि मधुरा मधुरमधुरा । तस्यां मधुरमधुरायाम् । अतीवमनोहारिण्यामित्यर्थः । (छ) चिति—चित् संज्ञकपरमात्मनि । (ज) कस्याञ्चन—अनिर्वचनीयायामित्यर्थः । (झ) (ङ) नवनभस्याम्बुदरुचौ—अम्बुदः मेघः । नभस्यकालिकः अम्बुदः नभस्याम्बुदः । भाद्रपदमासीयः मेघः । 'स्युर्नभस्यः प्रौष्ठपद भाद्रभाद्रपदाः समाः इत्यमरः । नवः नभस्याम्बुदः नवनभस्याम्बुदः तस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः सा नवनभस्याम्बुदरुचिः । तस्यां नवनभस्याम्बुदरुचौ । या सप्तम्युपमानपूर्वस्य बहुव्रीहिरुत्तरपद लोपश्च धर्मवाचकोपमान लुप्तोपमा इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है लक्षण है—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ १३ ॥

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतन्निपीतम्पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः ।
सत्यम्ब्रूहि मदीयजीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयम्मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे मदीयजीव ! भूयः भवे भ्राम्यता भवता कतिधा मृद्वीका रसिता, सिता समशिता, स्फीतम् पयः निपीतम् , स्वः यातेन सुधा अपि अधायि,

रम्भाधरः खण्डितः, (तथाऽपि) सत्यम् ब्रूहि, क्वचित् कृष्ण इति अक्षरयोः अयम् मधुरिमोद्गारः लक्षितः ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मेरे जीव ! बार बार संसार में भ्रमण करते हुए तुमने कितनी ही दफे द्राक्षा का स्वाद लिया, और शक्कर खूब खाया, पर्याप्त दूध पिया, स्वर्ग जाने पर अमृत भी पिया, रम्भा का अधर भी काटा (फिर भी) सच सच बताओं कि कहीं "कृष्ण" इन दो अक्षरों की मधुरता का यह उद्गार दिखायी पड़ा ?

व्याख्या—यहाँ पर वक्ता का कृष्ण विषयक रतिभाव ध्वनित होता है। वक्ता ने योगसिद्धि के द्वारा पूर्वजन्म की बातें जान लिया है। तभी जीव से ऐसा प्रश्न कर रहा है। (क) मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः। (ख)रसिता—आस्वादिता। ('रस आस्वादनस्नेहनयोः' (चुरादि) क्त + टाप् = रसिता) (ग) 'शर्करा सिता'इत्यमरः। (घ) समशिता—अच्छी तरह खाया। सम्यक् अशिता समशिता। सम् + 'अश भोजने' (चुरादि०) + क्त + टाप्) (ङ) पयः दुग्धम्। 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः। स्फीतम् को हम पयः के विशेषण रूप में ग्रहण करें तो स्फीत का अर्थ प्रभूत होगा। जैसा जीवानन्द ने लिया है 'स्फीतम् प्रभूतम् पयः दुग्धम् निपीतम् निःशेषेण पीतम्।' और चाहे 'स्फीतं यथा स्यात्तथा निपीतम्' क्रियाविशेषण के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। (च) रम्भाधरः—रम्भा अप्सरो विशेषः। तस्याः अधरः रम्भाधरः। (छ) मदीयजीव—ममायं मदीयः। (अस्मद् + छ)। मदीयः जीवः मदीयजीवः। तत्सम्बुद्धौ मदीयजीव। (ज) भूयः—पुनः पुनः इत्यर्थः। (झ) भवे—संसारे। भवः संसार सम्प्राप्तिश्रेयःशङ्करजन्मसु इति विश्वप्रकाशः। (ञ) मधुरिमोद्गारः—मधुरस्य भावः मधुरिमा। मधुर + इमनिच्, तस्य उद्गारः मधुरिमोद्गारः। माधुर्य्यातिशयः इत्यर्थः। इसमें कवि ने 'शार्दूल-विक्रीडित' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्य्याश्वैर्यदिमः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

वज्रम् पापमहीभृताम् भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधं
मिथ्याज्ञाननिशाविशालतमसस्तिग्मांशुबिम्बोदयः ।
[1]स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहामुरुतरज्वालाजटालः शिखी
द्वारन्निर्वृतिसद्मनो विजयते कृष्णेति वर्णद्वयम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—पापमहीभृतां वज्रम्, भवगदोद्रेकस्य सिद्धौषधम्, मिथ्याज्ञान-निशाविशालतमसः तिग्मांशुबिम्बोदयः स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहाम् उरुतरज्वाला-

१. "क्रूरक्लेशमहीरुहाम्" इति पाठान्तरम् ।

जटालः शिखी, निर्वृतिसद्मनः द्वारम्, कृष्ण इति वर्णद्वयम् विजयते।

हिन्दीरूपान्तर—पाप रूपी पहाड़ों के लिए वज्रस्वरूप, संसार रूपी प्रबल रोग के लिए अचूक औषधिरूप, मिथ्याज्ञान रूपी रात्रि के घोर अन्धकार के लिए सूर्य मण्डल के प्रकाशस्वरूप, बढ़ते हुए क्लेश रूप वृक्ष के लिए अत्यन्त विशाल लपटों वाली जटाओं द्वारा अग्नि स्वरूप, तथा मुक्ति रूप गृह के द्वार स्वरूप "कृष्ण" ये दो अक्षर सर्वोत्कर्ष से युक्त हैं।

व्याख्या—यहाँ भी वक्तृगत कृष्णविषयक रतिभाव ध्वनित होता है। कवि ने यहाँ उपमेय भूत 'कृष्ण रूप वर्णद्वय' पर वज्र, सिद्धौषध इत्यादि अनेकों उपमानों का आरोप किया है। अतः मालारूपक अलङ्कार है। (क) पापमहीभृताम्—पापान्येव महीभृतः पापमहीभृतः। तेषां पापमहीभृताम्। महीं (पृथिवीम्) बिभर्त्ति धरतीति महीभृत् (मही + भृ + क्विप्) ('ह्रस्वस्य पिति-कृति तुक्' (६।१।६१) इति तुगागमश्च) पर्वतः इत्यर्थः। 'भूभृन्नरेन्द्रे शैले च' इति विश्वप्रकाशः। (ख) भवगदोद्रेकस्य—गदस्य उद्रेकः गदोद्रेकः। रोग-प्राबल्यमित्यर्थः। 'रोगो रुक् व्याधिराकल्यं गदः' इति हलायुधः। भवः (संसारः) एव गदोद्रेकः भवगदोद्रेकः। तस्य भवगदोद्रेकस्य। (ग) सिद्धौषधम्—सिद्धम् औषधं सिद्धौषधम्। अचूक दवा। (घ) मिथ्याज्ञाननिशा-विशालतमसः—मिथ्याज्ञानमेव निशा रात्रिः मिथ्याज्ञाननिशा। विशालं तमः विशालतमः। मिथ्याज्ञाननिशायाः विशालतमः मिथ्याज्ञानविशालतमः। तस्य मिथ्याज्ञानविशालतमसः। मिथ्याज्ञान रूपी रात्रि के घोर अन्धकार के लिए। (ङ) तिग्मांशुबिम्बोदयः—तिग्मास्तीक्ष्णा अंशवः किरणाः यस्य स तिग्मांशुः सूर्यः। 'तिग्मांशुस्तरणिस्तथा × × सूर्यः' इति हलायुधः। तस्य बिम्बः तिग्मांशु-बिम्बः 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु'। इत्यमरः तस्य उदयः तिग्मांशुबिम्बोदयः। (च) स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहाम्—मह्यां रोहन्तीति महीरुहः वृक्षाः स्फूर्जन्तः (प्रसरन्तः) क्लेशाः स्फूर्जत्क्लेशाः ते एव महीरुहः स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहः। स्फूर्जत्क्लेशमहीरुहाम्। क्लेशों से यहां आशय आधिदैविक, अधिभौतिक और आध्यात्मिक तापों से हैं। (छ) उरुतरज्वालाजटालः—उरुतराः अतिविशालाः ज्वालाः उरुतरा ज्वालाः ताभिः जटालः (जटा + लच्) जटायुक्त इत्यर्थः उरुतरज्वालाजटालः। बड़ी-बड़ी लपटों के कारण जटाओं वाला। (ज) शिखी—शिखाः ज्वालाः सन्त्यस्येति शिखी (शिखा + इनि) इति हलायुधः। (झ) निर्वृतिसद्मनः—निर्वृतिः (मुक्तिः) एव सद्म तस्य निर्वृतिसद्मनः। 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। इस श्लोक में भी कवि ने शार्दूल विक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखें॥ १५॥

रे चेतः ! कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दङ्कोऽपि गवान्नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयन्नेष्यति ॥ १६ ॥

अन्वयः—रे चेतः ! इदं ते हितम् कथयामि (यत्) त्वया वृन्दावने गवां वृन्दम् चारयन् नवाम्बुदनिभः कोऽपि बन्धुः न कार्य्यः (यतः) एष त्वाम् अभितः सौन्दर्य्यामृतम् उद्गिरद्भिः मन्दस्मितैः सम्मोह्य तव वल्लभान् विषयान् आशु क्षयम् नेष्यति।

हिन्दीरूपान्तर—रे हृदय ! तेरे लिये यह कल्याण की बात कहता हूँ कि तू (भूलकर भी) वृन्दावन में गायों को चराते हुए नवीन जलधर के समान (आकृति वाले) किसी को बान्धव न बनाना (क्योंकि) यह तुझको चारों ओर से सौन्दर्य सुधा को उगलती हुई मधुर मुस्कानों से अच्छी तरह मोहित करके तेरे प्रिय विषयों को शीघ्र ही नष्ट कर डालेगा।

व्याख्या—इस पद्य में भी वक्तृगत कृष्ण विषयक रतिभाव प्राधान्येन ध्वनित होता है। उसे प्रस्तुत करते हुए कवि ने यहाँ आक्षेपालङ्कार प्रस्तुत किया है। आक्षेप का लक्षण है—'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये निषेधाभास आक्षेपः' (साहित्यदर्पण) अर्थात् विवक्षित वस्तु की कुछ विशेषता प्रतिपादित करने के लिए जहाँ निषेध सा किया जाता है, वस्तुतः निषेध नहीं होता, वहाँ आक्षेपालङ्कार होता है। यहाँ वक्ता को अभिप्रेत है कृष्ण से मैत्री करवाना। परन्तु उसका वह निषेध कर रहा है इससे इस बात की प्रतीति होती है कि विषयों से मुक्त होने के लिये अवश्य कृष्ण से मैत्री कर। अतः आक्षेप है। (क) हितम्—मंगलम्, पथ्यम्। 'हितं धृते गते पथ्ये' इति विश्वप्रकाशः। (ख) कोऽपि—अनिर्वचनीयः इत्यर्थः। वाणी, और मन का अगोचर ब्रह्मस्वरूप। (ग) नवाम्बुदनिभः—अम्बूनि ददातीति अम्बुदः। मेघः। नवः अम्बुदः नवाम्बुदः। तन्निभः नवाम्बुदनिभः। नूतनमेघतुल्यः। उपमालङ्कारः। आचार्य दण्डी ने सादृश्यवाचक शब्दों में 'निभ' शब्द की भी गणना किया है—'इववत् वा यथा शब्दाः समाननिभसन्निभाः। × × × सादृश्यसूचकाः (काव्यादर्श २।५७-६५) (घ) बन्धुः—स्नेहेन मनो बध्नातीति बन्धुः मित्र-मित्यर्थः (बन्ध् बन्धने + उ)। (ङ) सौन्दर्यामृतम्—सौन्दर्यमेवामृतम् सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम् सुन्दर + ष्यन् द्वितीयैकवचनम् 'पीयूषममृतम् सुधा' इत्यमरः। (च) मन्दस्मितैः—मन्दानि स्मितानि मन्दस्मितानि। तैः मन्द मुस्कानों से। सम्मोह्य—अच्छी तरह मोहित करके। (छ) वल्लभान्—

प्रियान् । 'हृद्यं दयितम् वल्लभं प्रियम्' इत्यमरः । (ज) आशु—शीघ्रमेव ! जरा भी देर नहीं लगेगी । तुरन्त सर्वनाश हो जायगा । इस पद्य में भी कवि ने (शार्दूलविक्रीडिति) वृत्त का प्रयोग किया है ॥ १६ ॥

अव्याख्येयां वितरति परां प्रीतिमन्तर्निमग्ना
कण्ठे लग्ना हरति नितरां याऽऽन्तरध्वान्तजालम् ।
तान्द्राक्षाद्यैरपि बहुमतां माधुरीमुद्गिरन्तीम्
कृष्णेत्याख्यां कथय रसने ! यद्यसि त्वं रसज्ञा ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे रसने ! यदि त्वम् रसज्ञा असि (तर्हि) या अन्तः निमग्ना अव्याख्येयाम् पराम् प्रीतिं वितरति, कण्ठे लग्ना नितराम् आन्तरध्वान्तजालं हरति, द्राक्षाद्यैः अपि बहुमताम् माधुरीम् उद्गिरन्तीम् "कृष्ण" इति ताम् आख्याम् कथय ।

हिन्दीरूपान्तर—अरे जीभ ! यदि तू सचमुच रसास्वाद में निपुण है, तो जो हृदय में पैठकर अनिर्वचनीय एवं उत्कृष्ट आनन्द को प्रदान करती है, तथा गले में लिपटकर अच्छी तरह से आन्तरिक अन्धकार के समूह का नाश कर देती है, उस द्राक्षा आदि के द्वारा भी बहुत सम्मानित माधुर्य्य को उगलती हुई "कृष्ण" इस संज्ञा का उच्चारण कर ।

व्याख्या—इस श्लोक में वक्तृगत कृष्णविषयक रतिभाव ध्वनि प्रस्तुत की गई है । कृष्णनाम की मधुरता को कवि ने सर्वातिशायी रूप में प्रस्तुत किया है । (क) अव्याख्येयाम्–व्याख्यातुं योग्या व्याख्येया । न व्याख्येया अव्याख्येया । ताम् अव्याख्येयाम् । अनिर्वचनीयामित्यर्थः । (वि + आङ + ख्या प्रकथने + अनीयर + टाप् = व्याख्येया) । (ख) पराम्—उत्कृष्टाम् । प्रीतिम्—आनन्दम् । (ग) आन्तरध्वान्तजालम्—आन्तरं ध्वान्तम् आन्तरध्वान्तम् । अन्तरे (हृदये) भवमान्तरम् । मानसाज्ञानमित्यर्थः । तस्य जालं समूहः आन्तरध्वान्तजालम् । द्वितीयैकवचनम् । 'ध्वान्तमन्धकारञ्च तिमिरम्' इति हलायुधः । 'जालं गवाक्ष आनाये क्षारके दन्तवृन्दयोः' इति विश्वप्रकाशः (घ) आख्याम्—आङ् + ख्या + अङ् + टाप् = आख्या । 'आख्या सञ्ज्ञाऽभिधाऽऽज्ञानं नामधेयञ्च नाम च' इति हलायुधः । (ङ) रसने—(रस् + युच् + टाप् = रसना) 'रसना जिह्वा' इति हलायुधः । तत्सम्बुद्धौ हे रसने । (च) रसज्ञा—रसं जानातीति रसज्ञा । (रस + ज्ञा + क + टाप्) यदि तू सचमुच रस का ज्ञान रखती है । रस का यहाँ पर आस्वाद अर्थ है—'रसो गन्धरसे स्वादे ग्चित्तादौ विषरागयोः' इति विश्वप्रकाशः । जिह्वा का पर्यायवाची एक शब्द

रसज्ञा भी है इसी लिए कवि ने ऐसा कटाक्ष किया है—'रसज्ञा रसना जिह्वा' इत्यमरः। इसमें कवि ने मन्दाक्रान्ता वृत्त उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगोर्मो भनो तौ ग युग्मम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ १७ ॥

सन्त्येवास्मिञ्जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषाम्मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखन्नीरदं स्मारयद्भि-
श्चित्तारूढम्भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम् ॥१८॥

अन्वयः—अस्मिन् जगति रम्यरूपाः बहवः पक्षिणः सन्ति एव तु तेषाम् मध्ये चातकेषु मम महती वासना (अस्ति) अध्यक्षैः निजसखम् नीरदं स्मारयद्भिः यैः अथ कृष्णाभिधानम् किमपि ब्रह्म चित्तारूढम् भवति।

हिन्दीरूपान्तर—इस संसार में मनोहर स्वरूप वाले बहुत से पक्षी रहते ही हैं, किन्तु उनके बीच पपीहों के विषय में मेरी बहुत बड़ी वासना है; क्योंकि दिखाई पड़ने पर अपने मित्र मेघ की याद दिलाते हुए जिनके द्वारा बाद में "कृष्ण" इस नाम का कोई अनिर्वचनीय ब्रह्म हृदय में आरूढ हो जाता है।

व्याख्या—यहाँ पर प्रधान रूप से कविगत कृष्णविषयक रति ध्वनित होती है। देवविषयक होने के कारण यहाँ भाव ध्वनि स्वीकार की जायगी। "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः—" (काव्यप्रकाश) तथा उसके अङ्गरूप में स्मरण से उत्पन्न स्मरणालङ्कार भी है। यहाँ कवि ने चातक को देखा तो उसे चातक से सम्बन्धित मेघ का स्मरण हुआ और मेघ के स्मरण से उस मेघ के सदृश कृष्ण का स्मरण हुआ। अतः एक स्मरण दूसरे स्मरण का हेतु है परन्तु वे दोनों ही कृष्ण विषयक रतिभाव के अङ्ग रूप में आये हैं। यही वैशिष्ट्य है। स्मरण का लक्षण है—

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः।" (रसगङ्गाधर)

अर्थात् "सादृश्य के ज्ञान द्वारा उद्बुद्ध संस्कार के फल स्वरूप होने वाले स्मरण को स्मरणालङ्कार कहा जाता है।" (क) रम्यरूपाः—रम्यं (रमणीयं) रूपं येषान्ते रम्यरूपाः। सुन्दर स्वरूप वाले। (ख) वासना—'संस्कारो वासना स्मृता' इति हलायुधः। (ग) अध्यक्षैः—अक्षमिन्द्रियमधिगताः अध्यक्षाः। प्रादिसमासः। तैः अध्यक्षैः। इन्द्रिय का विषय बने हुए अर्थात् दिखाई पड़ने वाले। (घ) नीरदम्—नीरं ददातीति नीरदः। मेघः। तं नीरदम्। (ङ) चित्तारूढम्—चित्ते आरूढं चित्तारूढम्। हृदय में आरूढ़ हो जाता है। (च) किमपि—अनिर्वचनीयम्। जो वाणी द्वारा गोचर होने

वाला नहीं है। केवल अनुभवैकगम्य है। ब्रह्म—ज्ञानस्वरूपः। कृष्णाभिधानम्—कृष्णः अभिधानं यस्य तत् कृष्णाभिधानम्। इसमें कवि ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्'। (छन्दोमञ्जरी) ॥ १८ ॥

विष्वद्रीच्या भुवनमभितो[1] भासते यस्य भासा
सर्वेषामप्यहमितिविदाङ्गाढमालम्बनं[2] यः।
तम् पृच्छन्ति[3] स्वहृदयतलावेदिनो विष्णुमन्या-
न्न्याय्योऽयं शिव ! शिव !! नृणाङ्केन वा वर्णनीयः ? ॥१९॥

अन्वयः—यस्य विष्वद्रीच्या भासा भुवनम् अभितः भासते यः 'अहम्' विदां सर्व्वेषाम् अपि गूढम् आलम्बनम् (अस्ति) स्वहृदयतलावेदिनः तम्, विष्णुम् अन्यान् पृच्छन्ति। शिव ! शिव !! नृणाम् अयम् अन्याय्यः केन वा वर्णनीयः।

हिन्दीरूपान्तर—जिसकी विश्वव्यापिनी प्रभा से त्रिभुवन सर्वतः प्रकाशित होता है और जो "मैं" इस प्रकार (के अहम्भाव को) समझने वाले सभी (प्राणियों) का प्रच्छन्न आश्रय है, अपने अन्तस्तल को न जानने वाले उस विष्णु को दूसरों से पूछते हैं शिव ! शिव !! मनुष्यों के इस अनौचित्य का भला कौन वर्णन करे ?

यहाँ कवि ने विचित्र अलङ्कार प्रस्तुत किया है। विचित्र का लक्षण है—'विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतः फलेच्छया' (कुवलयान्द) अर्थात् किसी भी फल की इच्छा से उनके लिए किया गया प्रयत्न यदि विपरीत हो तो 'विचित्र' अलङ्कार होता है। यहाँ जीव रूप से समस्त जगत् के प्रत्यक्ष सिद्ध परमेश्वर के ज्ञान के लिए दूसरों से पूछने का प्रयत्न विपरीत है। क्यों कि उसे तो खुद जानने की कोशिश करने पर जाना जा सकता है। दूसरों से पूछने से नहीं। अतः विचित्र अलङ्कार है। (क) विष्वद्रीच्या—विष्वक् समन्तात् अञ्चतीति विष्वद्रीची। 'विष्वग्देवयाश्च टेरद्र्यादेशः। तया विष्वद्रीच्या। सर्वव्यापिन्येत्यर्थः। (ख) भुवनमित्यत्र—'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति वार्तिकेन द्वितीया। (ग) भासा—दीप्त्या। भासते इति भाः 'भासृदीप्तौ + 'भ्राजभासधुर्विधुताघिद्युजु ग्रावस्तुवः क्विप्' (३।२।१७७) इति सूत्रेण क्विप्। 'रुचि-रुग्

१. "भुवनमखिलम्" इति पाठान्तरम्।
२. "प्रत्ययालम्बनं यः" इति पाठान्तरम्।
३. "स्वहृदयमतो वेदिनो" इति "स्वहृदयमनावेदिनो" इति च पाठान्तरे।

दीधिति दीप्ति-द्युति-प्रभा-भा-विभा-भासः, इति हलायुधः। (घ) स्वहृदयतलावेदिनः—स्वस्य हृदयम् स्वहृदयम्। स्वहृदयस्य तलं स्वहृदयतलम् स्वहृदयस्वरूप मित्यर्थः। तलं स्वरूपाधरयोः खड्गमुष्टिचपेटयोः' इति विश्वप्रकाशः। न वेदिनः अवेदिनः। अज्ञानिन इत्यर्थः। स्वहृदयतलस्यावेदिनः स्वहृदयतलावेदिनः (ङ) अन्याय्यः—न्यायादनपेतः न्याय्यः, उचित इत्यर्थः। न्याय शब्दात् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' (४।४।९२) इति सूत्रेण यत्प्रत्ययः। न न्याय्यः अन्याय्यः। अनुचित इत्यर्थः। (च) वर्णनीयः—वर्णयितुं योग्यः वर्णनीयः। 'वर्ण' वर्णने (चुरादि) अनीयर। अर्थात् कोई भी इसका वर्णन नहीं करेगा। इसमें भी कवि ने मन्दाक्रान्ता वृत्त का प्रयोग किया है लक्षण इसके पूर्वश्लोक की व्याख्या में देखे ॥ १९ ॥

सेवायां यदि साभिलाषमसि रे! लक्ष्मीपतिः सेव्यताम्
चिन्तायामसि सस्पृहं यदि तदा चक्रायुधश्चिन्त्यताम्।
आलापं यदि वाञ्छसि[1] स्मररिपोर्गाथा तदाऽऽलप्यताम्।
स्वापं वाञ्छसि चेन्निरर्गलसुखे चेतस्तदा[2] सुप्यताम् ॥ २० ॥

अन्वयः—रे चेतः! यदि सेवायां साभिलाषम् असि (तदा) लक्ष्मीपतिः सेव्यताम्; यदि चिन्तायां सस्पृहम् असि तदा चक्रायुधः चिन्त्यताम्, यदि आलापं वाञ्छसि तदा स्मररिपोः गाथा आलप्यताम्; चेत् स्वापं वाञ्छसि तदा निरर्गलसुखे सुप्यताम्।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ (मेरे) मन! यदि सेवा में अभिलाषयुक्त है (तो) लक्ष्मीपति विष्णु की सेवा कर, यदि चिन्तन में साभिलाष है तो चक्रायुध पुरुषोत्तम की चिन्ता कर, यदि व्याख्यान देना चाहता है। तो कामशत्रु शङ्कर की कथा का व्याख्यान करो और यदि सोना चाहता है तो अप्रतिबन्ध आनन्द (रूप ब्रह्म) में सो जा।

व्याख्या—यहाँ वक्ता की भगवद्विषयक रति के अभिव्यक्ति होने के कारण भावध्वनि है। कविने इसमें परिसङ्ख्या अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। परिसङ्ख्या का लक्षण है—'प्रश्नादप्रश्नतो वाऽपि कथिताद् वस्तुनो भवेत्। तादृगन्य व्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा। परिसङ्ख्या (साहित्यदर्पण) अर्थात् प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के ही जहाँ कही हुई वस्तु से भिन्न वस्तु की शब्द के द्वारा अथवा अर्थसिद्ध व्यावृत्ति होती है वहाँ परिसङ्ख्या अलंकार होता है। प्रस्तुत

---

१. "काङ्क्षसि" इति पाठान्तरम्।
२. "सखे" इति पाठान्तरम्।

श्लोक में अप्रश्नपूर्विका आर्थी परिसङ्ख्या है। 'लक्ष्मीपति की सेवा कर, अर्थात् दूसरों की नहीं' इस प्रकार यहाँ चारों चरणों में परिसङ्ख्या का स्वरूप है। (क) साभिलाषम्—अभिलाषेन सहितं साभिलाषम्। 'तृष्णाभिलाषो लिप्साशा' इति हलायुधः। (ख) लक्ष्मीपतिः—लक्ष्म्याः (श्रियः) पतिः भर्ता लक्ष्मीपतिः। विष्णुरित्यर्थः। 'विष्णुः कृष्णः केशवो मञ्जुकेशी श्रीवत्साङ्कः श्रीपतिः पीतवासाः' इति हलायुधः। (ग) सस्पृहम्—स्पृहया सहितं सस्पृहम्. 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड्वाञ्छा लिप्सामनोरथः' इत्यमरः। (घ) चक्रायुधः—चक्रंक्षु दर्शनम् आयुधः यस्य सः चक्रायुधः विष्णुरित्यर्थः। विष्णुर्नारायणः कृष्णः × × चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः। (ङ) स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः तमालापम्। वार्ता। (च) स्मरारिपोः—स्मरस्य रिपुः स्मररिपुः कामशत्रुः शिवः इत्यर्थः तस्य स्मररिपोः वस्तुतः यहाँ पर 'स्मररिपोः' पाठ के कारण (प्रक्रम भङ्ग) दोष उपस्थित हो गया है। क्यों कि ऊपर से लक्ष्मीपति, चक्रायुध आदि के द्वारा विष्णु की स्तुति का क्रम चल रहा था जो यहाँ भङ्ग हो जाता है। रसगङ्गाधर में 'आलापं यदि काङ्क्षसे मधुरिपोर्गाथा तदालप्यताम्' यह पाठ मिलता है वही उचिततम प्रतीत होता है। परन्तु भामिनीविलास, के लगभग सभी मुद्रित संस्करणों मे 'स्मररिपोः' पाठ ही मिलता है हाँ, अच्युतराय ने इस दोष को हरिहर का ऐक्य स्थापित करते हुये मिटाने का प्रयास किया है पर वे सफल कहाँ तक हुये हैं सहृदय ही विचार करें। उनकी व्याख्या इस प्रकार हैं—'अत्र स्मररिपुपदेन वक्तुरभेदभक्तत्वं व्यज्यते। अतः एवोक्तम्मदीयायामद्वैतसुधायाम्। कृष्णम् पश्यन्तु मां केचित् केचिद्वानीललोहितम्। रज्जुसर्पवदेतेन कूटस्थस्य न मे क्षतिः॥ इति। कृष्णभक्तिचन्द्रिकायामपि–'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवदभाति। कलयति कश्चित् मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्। इति।" परन्तु अच्युतराय का यह समर्थन समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि पंडित राज जगन्नाथ तो निश्चित ही वैष्णव थे। जैसा कि इसी विलास के सभी श्लोकों से स्पष्ट है। फिर शंकर की स्तुति किसी प्रसङ्गवश उन्होंने कर दिया हो बात दूसरी है परन्तु शंकर के विषय में उनकी कोई कृति उपलब्ध नहीं। जब कि विष्णु के विषय में इस भामिनीविलास के अतिरिक्त उन्होंने 'करुणा लहरी' की रचना की है। लगता तो यह है कि उन्हें कृष्ण और उनके संसर्ग में आने वाली वस्तुओं के प्रति अधिक श्रद्धा थी। इसी लिये उन्होंने लक्ष्मी लहरी और अमृत लहरी और यमुना वर्णन भी लिखा। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पीयूषलहरी अथवा 'गङ्गा लहरी' भी लिखा है। पर शिव विषयक कुछ भी नहीं लिखा। अस्तु सहृदयाः प्रमाणमत्र। (छ) निरर्गलसुखे—निर्गता अर्गला यस्मात् तत् निरर्गलम्। निरर्गलं सुखं यस्मिन् तत् निरर्गलसुखम् तस्मिन् निरर्गलसुखे। परमा

त्मनि इत्यर्थः इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त उपनिबन्ध किया है। लक्षण है "सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सतत गाः शार्दूलविक्रीडितम्" (छन्दोमञ्जरी) ॥२०॥

[1]भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषो
बलादुन्मूल्य द्राङ् निगडमविवेकव्यतिकरम्।
विशुद्धेऽस्मिन्नात्माऽमृतसरसि नैराश्यशिशिरे
[2]विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजालाः सुकृतिनः॥ २१ ॥

अन्वयः—भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषः सुकृतिनः द्राक् अविवेकव्यतिकरम् निगडम् उन्मूल्य विशुद्धे नैराश्यशिशिरे अस्मिन् आत्मामृतसरसि दूरीकृत कलुषजालाः (सन्तः) विगाहन्ते।

हिन्दीरूपान्तर—संसार रूपी ग्रीष्मकालीन तेज धूप के समुदाय से सन्तप्त शरीर वाले पुण्यात्मा बल पूर्वक तत्काल ही अविवेक सम्पर्क रूपी वेड़ी को उखाड़ कर (तोड़कर) अत्यन्त निर्मल एवं निराशा के कारण शीतल इस आत्मा रूप अमृत सरोवर में समस्त पापों को नष्ट करते हुए स्नान कर रहे हैं।

व्याख्या—इस पद्य में कवि ने एक देश विवर्ती सावयव रूपक प्रस्तुत किया है इसमें संसार के साथ ग्रीष्म काल की तेज धूप का, अविवेक व्यतिकर के साथ वेड़ी (निगड) का और आत्मा के साथ अमृत सरोवर का तादात्म्य स्थापित किया गया है। ये सभी रूपक एक दूसरे की सिद्धि के लिए परस्पर सापेक्ष भाव रखते हैं। परन्तु सुकृतिनः के साथ गज का तादात्म्य स्थापित किया गया है वह शब्दतः उपात्त नहीं है। समस्त रूपकों की सिद्धि के लिए हमें उसका अर्थतः आक्षेप करना पड़ता है और चूंकि वह सम्पूर्ण रूपक के एकदेश में विद्यमान है, अतः यहाँ पर एकदेश विवर्ती सावयव रूपक माना जायगा।

(क) भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषः—प्रौढः आतपः प्रौढातपः ग्रीष्मकालिकः प्रौढातपः ग्रीष्मप्रौढातपः। भव एव ग्रीष्म प्रौढातपः भवग्रीष्मप्रौढातपः। तस्य निवहः भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहः। तेन सन्तप्तं (सम्यक् तप्तम्) भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तम्। तथा भूतं वपुः येषान्ते भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषः। 'भवश्च संसारे' इति हलायुधः। सूर्य के प्रकाश अर्थात् धूप को आतप कहते हैं 'प्रकाशोद्योत आतपः' इत्यमरः। 'समूहो निवहव्यूह सन्दोहविसरव्रजाः' इति चामरः। गात्रं वपुः संहननं शरीरम्' इति चाप्यमरः। जिनके शरीर संसार रूप ग्रीष्म कालिक प्रवृद्धधूप के समुदाय से सन्तप्त है।

---

१. "नवग्रीष्म०" इति पाठान्तरम्।
२. "विहङ्गास्ते" इति पाठान्तरम्।

(ख) द्राक्—शीघ्र ही । 'स्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय द्राङ्मङ्क्षुसपदि द्रुते' इत्यमरः । (ग) निगडम्—'अथ शृङ्खले अन्दुको निगडोऽस्त्री' इत्यमरः । (घ) अविवेकव्यतिकरम्—न विवेकोऽविवेकः अविवेकस्य व्यतिकरः अविवेकव्यतिकरः । तमविवेकव्यतिकरम् । अज्ञानसम्पर्कमित्यर्थः । व्यतिकर का अर्थ व्यतिषङ्ग अर्थात् सम्पर्क और व्यसन होता है जैसा विश्वप्रकाश का कथन है 'व्यतिकरः समाख्यातो व्यसनव्यतिसङ्गयोः । यहाँ यदि हम व्यसन अर्थ भी ग्रहण करे तो कोई गड़बड़ी नहीं होगी । (ङ) आत्मामृतसरसि—आत्मा एवामृतम् आत्मामृतम् । तस्य सरः आत्मामृतसरः । तस्मिन् आत्मामृतसरसि । आत्मारूपी अमृत के सरोवर में । (च) नैराश्यशिशिरे—निर्गता आशा यस्मात् तन्नैराश्यम् । तस्य भावः नैराश्यम् । तेन शिशिरं नैराश्यशिशिरम्, तस्मिन् नैराश्यशिशिरे । जहां मनुष्य को किसी भी प्रकार की तृष्णा आशा नहीं रह जाती । अतः वहाँ शीतलता रहती है । जब तक मनुष्य आशाओं में पड़ा रहता है तभी तक तो उसका सन्ताप रहता है आशामुक्त हुए कि सन्तापमुक्त हुए । (छ) विगाहन्ते—विशेषेण विलोडनम् कुर्वन्ति । गाहू विलोडने । जी भर के अवगाहन करते हैं । (ज) दूरीकृतकलुषजालाः—कलुषानां जालम् कलुषजालम् । पापसमूहमित्यर्थः । जालं गवाक्ष अनाये क्षारके दन्त वृन्दयोः' इति हलायुधः । दूरीकृतं कलुषजालं यैस्ते दूरीकृतकलुषजालाः । (ज) सुकृतिनः—सुकृत (सु कृ + क्त) अस्त्येषामिति सुकृतिनः (सुकृत + इनि) धर्मात्मानः पुण्यात्मानः इत्यर्थः । 'धर्मः पुण्यं वृषः श्रेयः सुकृतञ्च समं स्मृतम्' इति हलायुधः । इसमें कवि ने शिखरिणी' वृत्त का प्रयोग किया है । रसैरुद्रैश्छिन्ना यमन सभलागः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ २१ ॥

बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कुर्वते कर्म्मपाशान्
अन्तः शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्ताम्भजन्ति ।
तीर्थे मज्जन्त्यशुभजलधेः पारमारोढुकामाः
सर्वम्प्रामादिकमिह भवे भ्रान्तिभाजान्नराणाम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—इह भवे भ्रान्तिभाजाम् नराणाम् सर्वम् प्रामादिकम् (एवास्ति यतः) बन्धोन्मुक्त्यै खलु मखमुखान् कर्मपाशान् कुर्वते अन्तः शान्त्यै मुनिशतमतानल्पचिन्ताम् भजन्ति; अशुभजलधेः पारम् आरोढुकामाः तीर्थे मज्जन्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—इस संसार में भ्रम में पड़े हुए मनुष्यों का सब कुछ प्रमादजन्य ही होता है क्यों कि बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए यज्ञ प्रमुख

१. "भवभ्रान्तिभाजाम्" इति पाठान्तरम् ।

कर्म्मपाशों को बनाते हैं, अन्तः करण की शान्ति के लिए सैकड़ो मुनियों द्वारा अभिमत तमाम (शास्त्रीय) चिन्तन करते हैं, (साथ ही) अमङ्गल रूप समुद्र के पार जाने की इच्छा से तीर्थों में गोते लगाते हैं।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने विचित्र अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। विचित्र का लक्षण है—'विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतफलेच्छया' (कुवलयानन्द)। यहां प्रथम चरण में बन्धनों से छूटने के लिए कर्म पाशों की रचना करना इष्ट के विपरीत प्रयत्न करना है। यह रूपकानुप्राणित है, क्योंकि यज्ञादिक पर कर्मपाश का आरोप किया गया है। दूसरे चरण में अन्तः करण की शान्ति के लिए चिन्ता करना विपरीत प्रयत्न है। इसी तरह समुद्र को पार करने की इच्छा से तीर्थों में गोता लगाना विपरीत प्रयत्न है। अतः सर्वत्र विचित्र अलङ्कार है। साथ ही चतुर्थ चरण के कहे गए वाक्यार्थ के प्रति प्रथम तीन चरणों के वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। लक्षण है–'हेतोर्वाक्य-पदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' (साहित्यदर्पण)। (क) बन्धोन्मुक्त्यै—बन्धेभ्यः उन्मुक्तिः बन्धोन्मुक्तिः। तस्यै बन्धोन्मुक्त्यै। बन्धनों से उन्मुक्त होने के लिये (ख) मखमुखान्—मखो यज्ञः एव मुखं येषान्ते मखमुखाः। तान् मख-मुखान्। अर्थात् यज्ञादि जिनमें प्रमुख हैं। (ग) कर्म्मपाशान्—कर्माणि एव पाशाः कर्मपाशाः। तान् कर्मपाशान्। (घ) अन्तःशान्त्यै—अन्तः करणस्य शान्तिः अन्तःशान्तिः। तस्यै अन्तः शान्त्यै (ङ) मुनिशतमतामल्प-चिन्ताम्—मुनीनाम् शतं मुनिशतं तेन मता मुनिशतमता। न अल्पा अनल्पा। मुनिशतमता चासावनल्पा च मुनिशतमतानल्पा। तथाभूता चिन्तामुनिशत-मतानल्पचिन्ता। ताम् तथोक्ताम्। (च) अशुभजलधेः—जलानि धीयन्ते-ऽस्मिन्निति जलधिः। समुद्रः अशुभमेव जलधिः अशुभजलधिः। तस्य अशुभ-जलधेः। न शुभमशुभम्। अमङ्गलम्। 'शिवं शुभं भविकम् भावुकं श्रेयो भव्यं भद्रञ्च मङ्गलम्' इति हलायुधः। (छ) प्रामादिकम्—प्रमादानुरूपमित्यर्थः प्रमाद + ठक्। इसमें कवि ने मन्दाकान्ता वृत्त उपनिबद्ध किया है—'मन्दा-क्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनो तौ गयुग्मम् (छन्दोमञ्जरी)॥ २२॥

प्रथमञ्चुम्बितचरणा जङ्घाजानूरुनाभिहृदयानि।
'आलिङ्ग्य भावना मे खेलतु विष्णोर्मुखाब्जशोभायाम्॥२३॥

अन्वयः—मे भावना प्रथमम् चुम्बितचरणा, जङ्घाजानूरुनाभिहृदयानि आलिङ्ग्य विष्णोः मुखाब्जशोभायाम् खेलतु।

१. "आश्लिष्य" इति पाठान्तरम्।

हिन्दीरूपान्तर—मेरी भावना पहले चरणों का स्पर्श करके तदनन्तर जङ्घा, जानु, ऊरु, नाभि और हृदय का आलिङ्गन करके विष्णु के मुखकमल की सुन्दरता में क्रीड़ा करे।

व्याख्या—यहाँ पर वक्ता का कृष्ण विषयक रति भाव प्राधान्येन ध्वनित होता है। यहाँ कवि ने 'भावना' के क्रमशः चरण, जङ्घा जानु, ऊरु, नाभि, हृदय तथा मुख में खेलने की बात कही है अतः पर्यायालङ्कार है। पर्याय का लक्षण है—'पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः' (कुवलयानन्द)। कुछ टीकाकारों ने यहाँ समासोक्ति अलङ्कार बताया है। उसका कारण भावना के स्त्रीलिङ्ग होने को स्वीकार किया है। जैसे कोई नायिका प्रियतम के चरणों को प्रणाम कर तदन्तर धीरे-धीरे मुखतक पहुँचती है उसी तरह भावना का भी स्वरूप दिखाया गया है। समासोक्ति का लक्षण है—"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।" (साहित्यदर्पण) (क) चुम्बित-चरणा—चुम्बितौ स्पृष्टौ चरणौ यया सा चुम्बितचरणा। (ख) जङ्घाजानूरु-नाभिहृदयानि—जङ्घा च जानुश्च ऊरुश्च नाभिश्च हृदयञ्च इत्येतेषामितरेतर-योगः जङ्घाजानूरुनाभिहृदयानि। (द्वितीया बहुवचनम्) 'जङ्घा तु प्रसृता' इति जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियाम्' इति 'सक्थिक्लीबे पुमानूरुः" इति चामरः। जङ्घा पिण्डली को कहते हैं, जानु घुटनों को कहते हैं तथा ऊरु जाँघ को कहते हैं। (ग) मुखाब्जशोभायाम्—मुखमब्जमिव मुखाब्जम्। (रूपको-पमयोः सन्देहसङ्करः)। अप्सु जातमब्जम्। कमलम्। मुखमेव अब्जं मुखाब्जम्। तस्य शोभा मुखाब्जशोभा तस्यां मुखाब्जशोभायाम्। 'शोभा विभूषा स्याद-भिख्या सुषमा समाः' इति हलायुधः। इसमें कवि ने गीतिवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह ता गीतिम्' (छन्दो-मञ्जरी)॥ २३॥

मलयानिलकालकूटयोः रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम भूयात् परमात्मनिश्चितिः[1]॥२४॥

अन्वयः—मम परमात्मनिश्चितिः मलयानिलकालकूटयोः रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः श्वपचात्मभुवोः निरन्तरा भूयात्।

हिन्दीरूपान्तर—मेरा परमात्मज्ञान मलयपवन और विष में, सुन्दरी के केश और सर्प की केंचुल में, चाण्डाल और ब्रह्मा में समान रूप से होवे।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने वक्तृगत औत्सुक्य के द्वारा शान्तरस की अभिव्यक्ति कराई है। यहाँ पर सम्पूर्ण जगत् आलम्बन है। सभी व्यक्तियों तथा

१. "परमात्मनि स्थितिः" इति पाठान्तरम्।

वस्तुओं में समानता की प्रतीति का होना अनुभाव तथा मति आदि सञ्चारी भाव हैं जिनके द्वारा वक्तृगत 'निर्वेद' स्थायि भाव परिपुष्ट होता है। परन्तु वह शान्तरस यहाँ वक्ता के 'परमात्मविषयक रति भाव' के आगे गौण हो गया है। अतः यहाँ भावध्वनि की प्रधानता है। शान्त की नहीं। यदि 'भूयात्' के स्थानपर 'जाता' पाठ होता जैसा कि रसगङ्गाधर में मिलता है तब तो शान्त-रस प्रधान होता। परन्तु यहाँ 'भूयात्' अर्थात् परमात्मा का निश्चय होवे सब-को परमात्मा समझू' ऐसा प्रयोग होने के कारण परमात्मविषयकरति भाव ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ यद्यपि जिस क्रम से मलयानिल रूप उत्तम तथा कालकूट रूप अधम, रमणीकुन्तल रूप उत्तम भोगि भोग रूप अधम का निरूपण प्रारम्भ किया गया था उसका श्वपच रूप अधम और आत्मभू रूप उत्तम में भङ्ग हो जाने से 'प्रक्रम भङ्ग' दोष उपस्थित होता है। परन्तु यहाँ ब्रह्म रूप होने पर उत्तम और अधम में समदर्शिता को प्रस्तुत करने के लिए ऐसा क्रमभङ्ग प्रस्तुत किया गया है अतः यह दोष न होकर गुण है। ऐसा पण्डित-राज का अभिमत है। (क) मलयानिलकालकूटयोः—मलयादागतः अनिलः मलयानिलः। मलयानिलश्च कालकूटश्च मलयानिलकालकूटे। तयोः मलयानिल-कालकूटयोः। 'कालकूटो हलाहलः' इति 'वायुर्मरुदनिलः' इति च हलायुधः। (ख) रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः—रमण्याः कुन्तलः रमणीकुन्तलः। भोगिनः भोगः भोगिभोगः। रमणीकुन्तलश्चभोगिभोगश्च रमणीकुन्तलभोगिनौ। तयोः रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः। केशों के बन्धविशेष को कुन्तल कहते है। हलायुध का कथन है 'तद्बन्धविशेषाः स्युर्वेणीधम्मिलकुन्तलकवयं' 'अहे शरीरं भोगभूः इति च हलायुधः। 'भोगः अस्त्यस्येति भोगी सर्पः (भोग + इनि) 'उरगः पन्नगो भोगी' इत्यमरः। (ग) श्वपचात्मभुवो—श्वपचश्चात्मभूश्च श्वपचात्मभुवौ। तयोः श्वपचात्मभुवोः। आत्मभू ब्रह्मा तथा विष्णु दोनों को कहते हैं। 'आत्मभू वेधसि स्मरे' इति विश्वप्रकाशः। तथा 'आत्मभूः पुण्डरीकाक्षः' इति हला-युधः। (घ) परमात्मनिश्चितिः—परमात्मनः परब्रह्मणः निश्चितिः निश्चयः ज्ञानमित्यर्थः परमात्मनिश्चितिः' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म इति श्रुतेः। इसमें कवि ने 'सुन्दरी' वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'अयुजोर्यदि सौ जगौ युजोः सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी सदा' (छन्दोमञ्जरी) ॥ २४ ॥

निखिलञ्जगदेव नश्वरम्पुनरस्मिन्नितराङ्कलेवरम् ।
अथ तस्य कृते कियानयङ्क्रियते हन्त ! जनैः परिश्रमः ॥२५॥

अन्वयः—निखिलम् जगत् एव नश्वरम्, अस्मिन् पुनः कलेवरम् अति-तराम्, अथ तस्य कृते हन्त ! जनैः अयम् कियान् परिश्रमः क्रियते।

हिन्दीरूपान्तर—सारा का सारा संसार विनाशशील है, इसमें फिर यह शरीर तो और भी अधिक (विनाशशील है) फिर भी उसके लिए अफसोस ! लोग यह कितना परिश्रम करते हैं।

व्याख्या—यहाँ पर वक्तृगत मतिव्यभिचारी भाव व्यञ्जित कराया गया है। रसगङ्गाधर के अनुसार—शास्त्रादिक के विवेचन से किए गए किसी वस्तु के निर्णय को मति कहते हैं। इसमें निर्भय होकर उस कार्य को करना और सन्देह का विनष्ट हो जाना इत्यादि अनुभाव होते हैं—"शास्त्रादिविचारजन्य-मर्थनिर्धारणम्मतिः । अत्र निःशङ्क तदर्थानुष्ठानसंशयोच्छेदादयोऽनुभावाः ।" इति। प्रस्तुत श्लोक में 'शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्' इत्यादि शास्त्रों की पर्यालोचना विभाव है और 'हन्त' पद से प्रतीत होनेवाली निन्दा तृष्णा की शून्यता आदि अनुभव है जिनसे वक्तृगत मति व्यभिचारी भावध्वनित है। यही तुरंत प्रतीतिपथ में आने के कारण प्रधान हैं। शान्तरस नहीं। (क) निखिलम्—'सकलं समस्तं सर्वञ्च विश्वं निखिलाखिले च' इति हलायुधः। नश्वरं विनाशशीलम् ।(ख) कलेवरम्—'शरीरं कलेवरम्' इति हलायुधः। (ग) हन्त—का यहाँ के खेद के रूप में प्रयोग किया गया है—'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। इसमें भी कवि ने सुन्दरीवृत्त का प्रयोग किया है। उसका लक्षण है—'अयुजोर्यदिसौ जगौ युजोः सभरा ल्गौ यदि सुन्दरी तदा।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ २५ ॥

प्रतिपलमखिलाँल्लोकान् मृत्युमुखं[1] विशतोऽपि निरीक्ष्येह।
हा! हन्त!![2] किमिति चित्तं विरमति नाद्यापि विषयेभ्यः ॥२६॥

अन्वयः—हा ! हन्त !! इह प्रतिपलम् अखिलान् लोकान् मृत्युमुखं विशतः निरीक्ष्य अपि चित्तम् अद्य अपि विषयेभ्यः किमिति न विरमति।

हिन्दीरूपान्तर—हाय ! अफसोस !! इस संसार में पल पल पर समस्त लोगों को काल के गाल में घुसते हुए देखकर भी हृदय आज भी विषयों से आखिर क्यों नहीं हट जाता।

व्याख्या—यहाँ पर कवि ने विशेषोक्ति अलङ्कार प्रस्तुत किया है। जिससे 'शान्तरस' की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पल-पल समस्त लोगों को कालकवलित होते देखना इस बात का हेतु है कि लोगों का चित्त विषयों से विरक्त होकर ब्रह्मपरायण हो। परन्तु इस हेतु के विद्यमान रहने पर भी यहाँ इसके फल का

---

१. "प्रविशतो निरीक्ष्यापि" इति पाठान्तरम्।
२. "किन्नु" इति पाठान्तरम्।

अभाव प्रदर्शित किया गया है। अर्थात् चित्त फिर भी विषयों से मुँह नहीं मोड़ता। अतः विशेषोक्ति है। विशेषोक्ति का लक्षण है—

'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा।' (साहित्यदर्पण)

अर्थात् हेतु के विद्यमान रहने पर भी फल का न होना विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। यह निमित्त के उक्त और अनुक्त होने के कारण 'उक्तनिमित्ता', 'अनुक्तनिमिता' भेद से दो प्रकार की होती है। प्रकृत श्लोक में निमित्त के अनुक्त होने के कारण अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति है। (क) प्रतिपलम्—पलं पलं प्रतिप्रतिपलम्। 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्धयर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु' (२.१६) वीप्सायां यथार्थे समासः। यथोक्तम्भट्टोजिदीक्षितेन—'योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः।' इति। अखिलान् समस्तान्। (ख) लोकान्—जनान् 'लोकस्तु भुवने जने' इति विश्वप्रकाशः। (ग) मृत्युमुखम्—मृत्योः मुखं मृत्युमुखम्। द्वितीयैकवचनम्। हा, हन्त इति अतिशयखेदे पदद्वयम्। 'चेतश्चित्तं मनः स्वान्तं हृदयं' इति हलायुधः। (घ) विषयेभ्यः—इन्द्रियार्थेभ्यः। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च इति विश्वप्रकाशः। इसमें कवि ने 'आर्या' वृत्त उपनिषद्ध किया है। लक्षण है--यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥२६॥

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मी-
रुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो
मम तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात् ॥ २७ ॥

अन्वयः—राज्यलक्ष्मीः सपदि विलयम् एतु, अथवा उपरि कृपाणधाराः पतन्तु, (वा) कृतान्तः शिरः अपहरतुतराम् तु मम मतिः धर्मात् मनाक् न अपैतु।

हिन्दीरूपान्तर—राज्यलक्ष्मी तत्क्षण विनष्ट हो जावे अथवा ऊपर तलवार की धारें गिरें' या कि यमराज सिर को एकदम काट डाले लेकिन (फिर भी) मेरी बुद्धि धर्म से जरा भी विचलित न होवे।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य में कवि ने धर्ममार्ग पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति का वर्णन किया है। यहाँ पर धर्म आलम्बन है, तथा "न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः' इत्यादि शास्त्र वाक्यों की पर्यालोचना उद्दीपन, ऊपर कृपाण धारा आदि के गिरने को स्वीकार करना अनुभाव है, मेरी बुद्धि जरा भी धर्म से विचलित न हो' इस प्रकार की धृति सञ्चारी भाव है

जिनके द्वारा नायकगत उत्साह अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार यहाँ धर्मवीर रस ध्वनि है । वीररस का निरूपण साहित्यदर्पण में इस प्रकार किया गया है —

"उत्तमप्रकृतिर्वीरे उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तयोद्दीपनरूपिणः ॥
अनुभावास्तु तत्र स्युःसहायान्वेषणादयः ।
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥"

(क) सपदि—शीघ्रमेव । (ख) विलयम्—विनाशम् । (ग) राज्य-लक्ष्मीः—राज्यस्य लक्ष्मीः राज्यलक्ष्मीः । (घ) कृपाणधाराः—कृपाणस्य धारा कृपाणधाराः । 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत् , इत्यमरः, (ङ) अपहरतु तराम्—अतिशयेन अपहरतु इत्यर्थः । (च) कृतान्तः—यमः । कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड्यमः' इत्यमरः । (छ) मनाक्—जरा सा भी । 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः । (ज) धर्मः-धरति लोकानिति, अथवा ध्रियते पुण्यात्मभिरिति धर्मः (धृ + मन्) 'अर्तिस्तुसुहुसृ धृक्षिक्षुभामावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उणादि १३७) इति सूत्रेण । धर्म ही तो एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को पशु से भिन्न करता है । जैसा कहा गया है—आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् । धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ इसमे कवि ने पुष्पिताग्रा वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है'अयुजिनयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।' (छन्दोमञ्जरी) ॥ २७ ॥

'अपि वहलदहनजालम्मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरन्धमतु ।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रन्न किञ्चिदपभाषे[2] ॥ २८ ॥

अन्वयः—अपि मे रिपुः मूर्ध्नि निरन्तरम् बहलदहनजालम् धमतु वा असिधाराम् पातयतु (तथापि) अहम् अणुमात्रम् किंचित् न अपभाषे ।

हिन्दीरूपान्तर—भले ही मेरा दुश्मन मेरे सर पर हमेशा प्रचण्ड अग्नि-समुदाय जलावे अथवा तलवार की धार गिरावे (फिर भी) मैं जरा सा भी कुछ भी कटु भाषण न करूँ ।

---

१. "अपि बहुलज्वलमूर्द्धनि रिपुरेव निरन्तरम्भ्रमतु" इति पाठान्तरम् ।
२. किञ्चिदपि भाषे" इति पाठान्तरम् ।

व्याख्या—यह किसी धैर्यशाली एवं क्षमाशील व्यक्ति की उक्ति है, उसका कहना है कि शत्रु चाहे हमारा कितना भी अपकार करे परन्तु मेरा कुछ भी बिगड़ने का नहीं मैं उनका अपकार किसी हालत में भी करना तो दूर रहा करने की बात भी नहीं करूँगा। इस कथन से उस व्यक्ति के तत्त्वज्ञान का पता चलता है यही यहाँ पर विभाव है जिसे साथ ही शत्रु के द्वारा अपकार किए जाने पर कुछ भी अपकार न करने की वार्ता भी न करना अनुभाव है जिनके द्वारा 'धृति भाव' व्यञ्जित होता है। अतः यहाँ भावध्वनि है धृति का लक्षण है—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः।
सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिमादिकृत् ॥ (साहित्यदर्पण)

अर्थात् तत्त्वज्ञान तथा इष्ट प्राप्ति आदि के कारण यह विवेचन तो मैंने प्राचीन आचार्यों के अनुसार किया। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार यहाँ धृतिभाव ध्वनि मानना समीचीन नहीं वे यहाँ वीररसध्वनि मानने के आग्रही है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत वीर रस के चार प्रकारों—(१) दान वीर (२) दया वीर (३) धर्म वीर और (४) युद्ध वीर के अतिरिक्त भी क्षमा वीर, पाण्डित्य वीर, बल वीर सत्य, वीर आदि भेद स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार प्रस्तुत पद्य में क्षमा वीर रस ध्वनि है। और यदि उस दृष्टि से हम यहाँ विवेचन करें तो शत्रु आलम्बन, आग की वृष्टि आदि को सहन कर लेना अनुभाव तथा कुछ भी अपभाषण न करना रूप धृति संचारी भाव होंगे। जो कि नायकगत उत्साह को परिपुष्ट करते हैं। (क) बहलदहनजालम्—दहनस्य जालं दहनजालम्। बहलं दहनजालं बहलदहनजालम्। प्रचण्डाग्निसमूहमित्यर्थः। रिपुः शत्रुः। (ख) मूर्ध्नि-शिरसि—'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्द्धानामस्तकोऽस्त्रियाम्। इत्यमरः। (ग) धमतु—जलावे। 'ध्मा' शब्दाग्निसंयोगयोः' धातोः लोट लकारे रूपम्। (घ) निरन्तरम्—निरनास्ति अन्तरं यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा निरन्तरम् (क्रिया विशेषणमेतत्) हमेशा। (ङ) असिधाराम्—असेः खड्गस्य धारा असिधारा। तामसिधाररम्। अणुमात्रम्—ज़रा सा भी। इसमें कवि ने गीतिवृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'आर्याप्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्। (छन्दोमञ्जरी) ॥ २८ ॥

तरणोपायमदृष्ट्वा खलु[1] मामक जीव ! ताम्यसि कुतस्त्वम् ?
चेतः सरणौ किन्ते नायाति[2] कदापि नन्दसुतः ॥ २९ ॥

---

१. "तरणोपायमपश्यन्नपि" इति पाठान्तरम्।
२. "चेतः सरणावस्याकिन्नागन्ता" इति पाठान्तरम्।

अन्वयः—हे मामकजीव ! त्वम् खलु तरणोपायम् अदृष्ट्वा कुतः ताम्यसि ? किम् कदाऽपि ते चेतः सरणौ नन्ददसुतः न आयाति ?

हिन्दी रूपान्तर—ऐ मेरे जीव ! तू भला (भवसागर से) पार होने का उपाय न देखकर क्यों विह्वल हो रहा हैं ? क्या कभी भी तेरे मानस मार्ग में श्रीकृष्ण नहीं आते ?

व्याख्या—यहां पर भी वक्ता का कृष्ण विषयक रतिभाव ध्वनित होता है । वह अपने जीव से प्रश्न करता है कि तू विह्वल क्यों हो रहा है ? अरे ! तेरा विह्वल होना बेकार है क्यों कि तू अपने मन में भगवान् कृष्ण को बसा तेरा बेड़ा पार । फिर तुझे भवसागर में डुबाने वाला कौन है । यहाँ 'कृष्ण भगवान् के ध्यान से भवसागर से मुक्ति मिलती है' इस बात को इस ढङ्ग से न कह कर कवि ने दूसरे ढङ्ग से प्रस्तुत किया है अतः पर्यायोक्त अलङ्कार हैं । 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।' (काव्यालङ्कार–भामह) (क) तरणोपायम्—तरणस्य (भवसागरतः उद्धारस्य) उपायः तरणोपायः । तं तरणोपायम् । (ख) मामकजीव—मामकः (अस्मद् + अण्) ततः 'तवकममकावेकवचने' (४।३।३) इति ममकादेशः । मामकः जीवः मामकजीवः । तत्सम्बुद्धौ हे मामकजीव । (ग) चेतः सरणौः—चेतः एव सरणिः (मार्गः) चेतः सरणिः । (रूपक) तस्मिन् चेतः सरणौ । 'सरणिः अयनं पद्वी मार्गः' इति हलायुधः । (घ) कुतः—यहां पञ्चमी के अर्थ में 'किम्' शब्द से 'पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७) से तसिल् प्रत्यय तथा 'कु तिहोः' (७।२।१०४) से किम् को कु आदेश होने पर यह रूप निष्पन्न हुआ है । अर्थात् किस कारण से ? । (ङ) नन्दसुतः—नन्दस्य सुतः नन्दसुतः । कृष्णः इत्यर्थः । इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।। २९ ।।

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च माद्यद्गजघटा-
मदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझङ्कारसुभगाः[१] ।
निमग्नानां यासु द्रविणमदिराघूर्णितदृशां[२]
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते[३] ।। ३० ।।

---

१. "०मधुरहुङ्कारसुभगाः" इति पाठान्तरम् ।

२. "द्रविणरयपर्याकुलधियाम्" इति "द्रविणरसपर्याकुलदृशाम्" इति च पाठान्तरे ।

३. "मनः सेवाकार्य्येहरिचरणयोर्नैव रमते" इति पाठान्तरम् ।

अन्वयः—मे माद्यद्गजघटामदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझङ्कारसुभगाः श्रियः क्षणम् अपि मा सन्तु यासु निमग्नानाम् द्रविणमदिराघूर्णितदृशां हरिचरणयोः सपर्य्यासौकर्य्यम् अस्तम् अयते।

हिन्दीरूपान्तर—मेरे पास मतवाले हाथियों के मदजल के लिए भ्रमण करने वाली भ्रमरपङ्क्तियों के मधुर झंकार से मनोहर सम्पत्तियाँ क्षण भर के लिए भी न होवें, जिसमें डूबे हुए धनरूपी मदिरा से चढ़ी हुई आँखों वाले लोगों का भगवान् के चरणों की सेवा का पुण्य नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—यहाँ पर वक्तृगत निर्वेद की अभिव्यक्ति होने से शान्तरस प्रधान है। उसी के अङ्गरूप में वक्तृगत हरिविषयक रतिभाव भी है। पण्डितराजजगन्नाथ ने यहाँ पर 'तिरस्कार' अलङ्कार माना है। उनके अनुसार जहाँ किसी दोष के सम्बन्ध से गुण रूप में प्रसिद्ध का भी द्वेष वर्णित हो वहाँ तिरस्कार अलंकार होता है—'एवम् दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः" (रसगङ्गाधर)। यहाँ पर धनवानों की हरिचरण सेवा से विरति देखकर वक्ता ने उसी के दोष से सम्पत्ति को भी द्वेषदृष्टि से प्रस्तुत किया है। अतः तिरस्कार अलंकार है। (क) क्षणमपि—क्षण भर के लिए भी मेरे पास सम्पत्तियाँ न हों। यहाँ 'क्षणमपि' से वक्तृगत विरक्ततातिशय व्यञ्जित होता है। (ख) माद्यद्गजघटामदभ्राम्यद्भृङ्गावलिमधुरझङ्कारसुभगाः—माद्यन्तः (मदस्राविणः) गजाः माद्यद्गजाः। तेषां घटा माद्यद्गजघटा। हाथियों के समूहको घटा कहते हैं-'करिणीं घटना घटा, इत्यमरः। तासां मदः माद्यद्गजघटामदः। भृङ्गानामवलिः भृङ्गावलिः। माद्यद्गजघटा मदेभ्यः भ्राम्यन्तः भृङ्गावलयः माद्यद्गजघटामदभ्राम्यद् भृङ्गावलयः। मधुराः झकाराः मधुरझंकाराः। रमणीयगुञ्जनानीत्यर्थः। भृंगावलीनां मधुरझंकाराः भृंगावलिमधुरझंकारसुभगाः। मतवाले हाथियों के समूहों के मदजल के लिये मंडराती हुई भौंरों की पंक्ति के मधुर झंकार से मनोहर। (ग) द्रविणमदिराघूर्णितदृशाम्—द्रविणमेव मदिरा द्रविणमदिरा तया आघूर्णिताः (भ्रान्ताः) दृशः येषान्ते द्रविणमदिराघूर्णितदृशः तेषां द्रविणमदिराघूर्णितदृशाम्। धन रूपी मदिरा से भ्रान्त (चढ़ी हुई) आंखों वाले। (घ) संपर्य्यासौकर्य्यम्—सुकरस्य भावः सौकर्य्यम्। पुण्यमित्यर्थः। सपर्य्यायाः सेवायाः सौकर्य्यं सपर्य्यासौकर्य्यम्। (ङ) हरिचरणयोः—हरेः चरणौ हरिचरणौ तयोः हरिचरणयोः। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया गया है। लक्षण है 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमन सभला गः शिखरिणी' (छन्दोमञ्जरी)॥ ३०॥

किन्निःशङ्कं शेपे ? शेषे वयसः समागतो मृत्युः ।
अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी जननी ॥३२॥

अन्वयः—किम् निःशङ्कं शेपे ? वयसः शेषे मृत्युः समागतः (भवति) अथवा सुखं शयीथाः, निकटे जननी जाह्नवी जागर्त्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—क्या निःशङ्क होकर सो रहा है ? अवस्था ढलने पर मृत्यु आ जाती है । अथवा सुखपूर्वक शयन कर (क्योंकि) पास में माँ गङ्गा जाग रही है ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद्य के विषय में यह किंवदन्ती है कि यह पण्डितराज जगन्नाथ के प्रति अप्पयदीक्षित की उक्ति है । जैसा कि कुवलयानन्द (निर्णयसागर १९५५) के प्राथमिक निवेदन में कहा गया है—'अयं हि पण्डितो द्रविडजातीयः सकलश्रौतस्मार्तक्रियाकलापनिपुणः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रप्रतिभः कदाचित्काशीगतः प्रभाते कृतभागीरथीस्नानो निर्वर्तितप्रातराह्निकः स्वभवनं प्रत्यागच्छन् घट्टे शयानं कञ्चन युवतीदत्तकण्ठग्रहं प्रावृताखिलशरीरमपि बहिर्निःसृतविस्रस्तश्वेतशिखं पुरुषमद्राक्षीत् । अवादीच्च तं क्रोधविस्मयकरुणाभिर्युगपदभिभूतचेताः—

"किन्निःशङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ ।" इति ।

तदाकर्ण्य यावदुत्क्षिप्य पटमवलोकयति पृच्छन्तं स शयानः पुरुषस्तावदिमं पण्डितराजं जगन्नाथमभिज्ञाय श्रीमदप्पयदीक्षित उत्तरार्धमिदं पपाठ—"अथवा सुखं शयीथाः निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः ।" इति परन्तु यह किंवदन्ती सर्वथा अविश्वसनीय है क्यों कि यह पद्य इस भामिनी विलास के अतिरिक्त रसगङ्गाधर में भी आक्षेपालङ्कार के उदाहरण रूप में उद्धृत है । भामिनीविलास के अन्त में पण्डितराज यह कहते ही हैं—"दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया । मदीयपद्यरत्नानाम्मञ्जूषैषा मया कृता ।" इति तथा रसगङ्गाधर के प्रारम्भ में ही कहते हैं—

"निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयाऽत्र निहितन्न परस्य किञ्चित्" अतः स्पष्ट ही यह स्वयं पण्डितराज की रचना है । अप्पयदीक्षित की नहीं । क्यों कि पण्डितराज जैसे महाभिमानी कवि का दूसरे की रचना को अपनी कहने में क्या स्वारस्य हो सकता है । यहाँ कुवलयानन्द के निम्नलिखित लक्षण के अनुसार आक्षेपालङ्कार है—'आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् । अर्थात् अपनी कही हुई बात का विचार करने के अनन्तर प्रतिषेध करना आक्षेपालङ्कार होता है : यहाँ वक्ता ने पहले अपने हृदय को सम्बोधित कर उद्बुद्ध होने के लिये कहा परन्तु यह सोचकर कि समीपवर्तिनी गंगा जी तो मुक्त कर ही देंगी उसका

प्रतिषेध कर दिया। (क) निःशङ्कम्—निर्गता शङ्का यस्मात् तद् यथा स्यात् तथा निःशङ्कम्। (क्रियाविशेषणमेतत्)। 'शेषे शेषे' में यमक शब्दालङ्कार है। (ख) जाह्नवी—जह्नोरपत्यं स्त्री जाह्नवी (जह्नु + अण् + ङीप्) 'भागीरथी सुरसरिद्विष्णुपदी जाह्नवी तथा गङ्गा' इति हलायुधः। 'जानु द्वारा पुरा दत्त्वा जह्नुः संपीय कोपतः। तस्य कन्यास्वरूपा च जाह्नवी तेन कीर्तिता'। इति ब्रह्म-वैवर्तखण्डे। इसमें कवि ने 'गीतिवृत्त' उपनिबद्ध किया है। लक्षण है—'आर्या प्रथमार्द्धसमं यस्या अपरार्द्धमाह तां गीतिम्' (छन्दोमञ्जरी)॥ ३१॥

'सन्तापङ्किङ्कलयसि[1] धावन्धावन्धरातले हृदय[2]।
अस्ति मम शिरसि सततन्नन्दकुमारः प्रभुः परमः॥ ३२॥

अन्वयः—हे हृदय ! धरातले धावम् धावम् किं सन्तापम् कलयसि ? मम शिरसि सततम् परमः प्रभुः नन्दकुमारः अस्ति।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ (मेरे) मन ! तू भूतल पर दौड़ दौड़ करके किस लिए (व्यर्थ ही) कष्ट उठाता है ? मेरे सिर पर हमेशा परम समर्थ नन्दलाल (भगवान् कृष्ण) निवास करते हैं।

व्याख्या—वक्ता अपने हृदय को सम्बोधित करके कह रहा है। यहाँ वह अपने और ब्रह्म में अत्यन्त सान्निध्य का अनुभव कर रहा है। नन्दकुमार की छत्रच्छाया सदैव उसके सिर पर विद्यमान है। इसी लिए वह हृदय से सन्तप्त न होने की बात कहता है। (क) सन्तापम्—कष्टमित्यर्थः। सन्ताप अथवा ताप तीन प्रकार के बताये गए हैं—आध्यात्मिक आधिदैविक और आधि-भौतिक। (ख) धावन्धावम—यहाँ धाव् धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में 'आ-भीक्ष्ण्ये णमुल् च' (६।४।२२) सूत्र से णमुल् प्रत्यय तथा नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) से द्वित्व हुआ है। धावित्वा धावित्वा बार-बार दौड़-दौड़ कर। (ग) धरातले—धरायाः (पृथिव्याः) तलं धरातलम्। तस्मिन् धरातले। पृथ्वीतले इत्यर्थः। 'भूर्भूमिर्वसुधावनिर्वसुमती धात्री धरित्रीधरा' इति हलायुधः। (घ) सततम्—हमेशा। सदैव। सम् + तन् + क्त, 'समो वा हिततयोः' इति पाक्षिकः मलोपः। सन्ततमित्यर्थः। 'सततं सन्ततमनिशम् नित्यम्' इति हला-युधः। (ङ) नन्दकुमार—नन्दस्य कुमारः नन्दकुमारः। कृष्ण इत्यर्थः। (च) प्रभुः—प्रभवतीति प्रभुः। 'प्र + भू + 'विप्रसम्भ्यो ड्वसञ्ज्ञायाम्' (३।२।१८०) इति डुः। समर्थः इत्यर्थः। इसमें कवि ने आर्या वृत्त उपनिबद्ध

---

१. "सन्तापयामि किमहम्" इति पाठान्तरम्।
२. "हृदयम्" इति पाठान्तरम्।

किया है—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयोऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥ ३२ ॥

रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतमानमन्तम्[1] ।
किम्मान्निपातयसि संसृतिगर्त्तमध्ये ?
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—रे रे मम मनः ! अनारतम् मनोभवशातनस्य पादाम्बुजद्वयम् आनमन्तम् माम् संसृतिगर्त्तमध्ये किम् निपातयसि ? एतावता तव पुत्रशोकः न गमिष्यति ।

हिन्दीरूपान्तर—रे रे मेरे मन ! तू निरन्तर कामशत्रु शङ्कर के चरण कमल युगल को अच्छी तरह प्रणाम करते हुए मुझे संसार रूपी गड्ढे के बीच ढकेल रहा है ? इतने से तो तेरा पुत्रशोक नहीं मिट जायगा ।

व्याख्या—इसमें कवि ने प्रत्यनीक अलङ्कार प्रस्तुत किया है । प्रत्यनीक का लक्षण है—'प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः' (कुवलयानन्द) अर्थात् जहाँ पर बलवान शत्रु के पक्ष वालों पराक्रम दिखाया जाय वहां प्रत्यनीक अलङ्कार होता है । जैसी कहावत है कि—'धोबी से न जीते गधे का कान उमेठे ।' वक्ता अपने मन को सम्बोधित करके कह रहा है । मन के पुत्र हैं कामदेव । जैसा कि हलायुध का कथन है—'कामः शम्बरसूदनः × ×पुष्पधन्वा मनोभवः । मनसः भवः उत्पत्तिर्यस्य स मनोभवः । मनोभव को भस्मसात् किया था भगवान् शङ्कर ने जैसा कि कुमारसम्भव में कालिदास ने लिखा है—"क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुताञ्चरन्ति । तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार (३।७२)

अब मन भगवान् शङ्कर का तो कुछ बना बिगाड़ सकता ही नहीं अतः उनके चरण कमलों की वन्दना करने वाले वक्ता को बार बार मायामोह के जाल में फंसा फंसा कर संसारगर्त में ढकेल रहा है । अतः प्रत्यनीक अलङ्कार है । (क) मनोभवशातनस्य—मनसः भवः उत्पत्तिर्यस्य सः मनोभवः कामदेवः । मनोभवस्य शातनः मनोभवशातनः । तस्य मनोभवशातनस्य । काम-शत्रोः शङ्करस्येत्यर्थः । (ख) पादाम्बुजद्वयम्—पादाः अम्बुजानीव पादाम्बुजानि । उपमा । तेषां द्वयम् पादाम्बुजद्वयम् । चरणकमलयुगलमित्यर्थः । पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । (ग) संसृतिगर्त्तमध्ये—संसृतिः संसार एव गर्तः

---

१. "पादाम्बुजद्वयमनारतमानम त्वम्" इति पाठान्तरम् ।

संसृतिगर्त्तः । तस्य मध्यः संसृतिगर्त्तमध्यः । तस्मिन् संसृतिगर्त्तमध्ये । संसार रूपी गड्ढे के बीच में । (घ) पुत्रशोकः—पुत्रस्य शोकः पुत्रशोकः । पुत्र सम्बन्धी दुःख । अर्थात् यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारा पुत्रशोक मेरे गड्ढे में ढकेलने से दूर हो जायगा तो वह असम्भव है । इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त उपनिबद्ध किया है लक्षण है—'ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३३ ॥

[1]मरकतमणिमेदिनीधरो वा तरुणतरस्तरुरेष वा तमालः ।
रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषिनिकरैरिति संशयस्तदाऽऽपि[2]॥३४॥

अन्वयः—तदा तत्र दूरात् रघुपतिम् अवलोक्य ऋषिनिकरैः "एषः वा मरकतमणिमेदिनीधरः वा तरुणतरः तमालः तरुः" इति संशयः आपि ।

हिन्दीरूपान्तर—रामचन्द्र जी को देखकर ऋषियों को "यह क्या मरकतमणियों का पहाड़ है ? अथवा अत्यन्त नवीन तमाल का पेड़ ?" ऐसा सन्देह हो गया ।

व्याख्या—जिस समय पिता राजा दशरथ की आज्ञा से राम वन के लिए प्रस्थान किए थे उस समय वन में मिलने वाले ऋषियों को इस प्रकार का सन्देश हो गया । रामचन्द्र का शरीर हृष्ट पुष्ट था और उनका वर्ण साँवला था इसी लिये सादृश्य के कारण ऋषियों को दूर से देखकर यह संशय हुआ कि कहीं यह मरकतमणियों का पहाड़ तो नहीं है क्यों कि मरकत मणियाँ श्यामवर्ण की एवं देदीप्यमान होती रहती हैं । अथवा नया नया तमाल का वृक्ष है । नवीन तमाल वृक्ष भी नीला और चमकदार होता है । इसलिए यहाँ पर सन्देहालङ्कार है । क्यों कि ससन्देह का लक्षण है—"सादृश्यहेतुका निश्चयसम्भावनान्यतरभिन्ना धीरमणीया संशयालङ्कृतिः" (रसगङ्गाधर) अर्थात् सादृश्य के कारण होने वाली साथ ही निश्चय अथवा सम्भावना इन दो रूपों में से प्रत्येक से भिन्न और सुन्दर बुद्धि ससन्देहालङ्कार होती है । यहाँ पर चूँकि आदि से अन्त तक सन्देह ही है अतः यह 'शुद्ध ससन्देह' का उदाहरण है । (क) मरकतमणिमेदिनीधरः—धरतीतिधरः (धृ + अच्) । मेदिन्याः धरः मेदिनीधरः । पर्वत इत्यर्थः । मरकतं मणिः मरकतमणिः मरकतमणीनां मेदिनीधरः मरकतमणिमेदिनीधरः । मरकत हरिन्मणि को कहते हैं । 'अश्मगर्भं मरकतं हरिन्मणिरिति' हलायुधः । मेदिनी कहते हैं पृथ्वी को 'पृथ्वी पृथिवी स्थिरा च धरणी विश्वम्भरा मेदिनी' इति हलायुधः । और पृथ्वी को धारण करने वाले कहलाते हैं पर्वत

---

१. "मरकतमणिमेदिनीप्ररोहः" इति पाठान्तरम् ।
२. "संशयः प्रपेदे" इति पाठान्तरम् ।

(ख) तरुणतरः—अतिशयेन तरुणः तरुणतरः (तरुण + तरप् (ग) रघुपतिम्—रघोः रघुकुलस्य पतिः रघुपतिः रामइत्यर्थः । (घ) ऋषिनिकरैः—ऋषीणां निकराः ऋषिनिकराः । तैः ऋषिगणैरित्यर्थः । इसमें कवि ने 'पुष्पिताग्रा' वृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३४ ॥

तरणितनया किं स्यादेषा ? न, तोयमयी हि सा

मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्न सा मधुराकृतिः[१] ।

इति रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकैः[२]

[३]वनवसतिभिः कैः कैरादौ न सन्दिदिहे जनैः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—रघुपतेः कायच्छायाविलोकनकौतुकैः कैः कैः वनवसतिभिः जनैः आदौ "किम् एषा तरणितनया स्यात् ? न हि सा तोयमयी, वा मरकतमणिज्योत्स्ना स्यात् ? सा मधुराकृतिः न" इति न सन्दिदिहे ।

हिन्दीरूपान्तर—रामचद्र जी की शरीर कान्ति को देखने से आश्चर्यान्वित किन किन वनवासी लोगों ने पहले "क्या यह सूर्यपुत्री यमुना है ? नहीं, क्योंकि वह जलमयी है, अथवा मरकतमणि की प्रभा है ? (लेकिन) वह मधुर आकार वाली नहीं है" इस प्रकार का सन्देह नहीं किया ।

व्याख्या—यहाँ पर भी रामचन्द्र जी को देखने वाले वनवासियों के सादृश्य वश होने वाले सन्देह का वर्णन होने से ससन्देहालंकार है, परन्तु यहाँ वह 'निश्चयगर्भ' ससन्देह है । क्यों कि जहाँ आदि और अन्त तक सन्देह हो किन्तु बीच में निश्चय हो तो उसे निश्चयगर्भ सन्देह कहा जाता है । यहाँ वनवासियों ने पहले सन्देह किया कि क्या यह जमुना जी है ? परन्तु तुरन्त निश्चय हो गया कि नहीं यह यमुना नहीं है क्यों कि वह तो जलमयी है । फिर सन्देह हुआ कि क्या यह मरकत मणि की प्रभा है ? परन्तु फिर निश्चय हो गया है कि नहीं प्रभा में ऐसा मनोहर आकार कहाँ होता है वह तो निराकार वस्तु है अतः ज्योत्स्ना भी नहीं किन्तु फिर भी सन्देह बना ही रहा, अतः यह निश्चय गर्भ सन्देह हुआ । (क) तरणितनया—तरणेस्तनया तरणितनया आदित्यः सविता सहस्रकिरणः × × तरणिस्तथा' इति हलायुधः । 'दुहिता तनया पुत्री' इत्यपि हलायुधः । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना, इत्यमरः । (ख) तोयमयी—(तोय +

---

१. "मधुरा कुतः" इति पाठान्तरम् ।

२. "कायच्छायाविलोकनतत्परैः" इति पाठान्तरम् ।

३. "उदितकुतुकैः" इति पाठान्तरम् ।

मयट् + ङीप्) जलस्वरूपेत्यर्थः । 'आपस्तोयम्' इति हलायुधः । (ग) मरकतमणिज्योत्स्ना—मरकतमणीनां ज्योत्स्ना मरकतमणिज्योत्स्ना । हरिन्मणि की प्रभा । (घ) मधुराकृतिः—मधुरा आकृतिः यस्याः सा मधुराकृतिः । मनोहर आकार वाली । 'मधुर मञ्जु प्रियं मञ्जुलं हृद्यं हारि मनोहरञ्च' इति हलायुधः । (ङ) कायच्छायाविलोकनकौतुकैः—कायस्य छाया कायच्छाया । तस्याः विलोकनम् कायच्छायाविलोकनम् । तस्मिन् कौतुकं (कुतुकमेव कौतुकम् कुतुक + स्वार्थेऽण) येषान्ते कायच्छायाविलोकनकौतुकाः । तैः कायच्छायाविलोकनकौतुकैः । देह की प्रभा को देखने में जिनको कुतूहल था । 'कायो देहः' इति 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इति चामरः । 'कौतुकं च कुतूहलम्' इति हलायुधः । (च) वनवसितिभिः—वने वसतिः येषान्ते वनवसितयः तैः वनवसितिभिः । वनवासियों द्वारा । 'वसतिः निवासः' । वस् + निवासे + अति 'वहिवस्यर्तिभ्यश्चित्' (उणादि ५९०) इति सूत्रेण 'वसतिः स्यात् स्त्रियां वासे यामिन्याञ्च निकेतने' इति मेदिनी । इसमें कवि ने 'हरिणी वृत्त' का प्रयोग किया है—'नसभरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३५ ॥

चपला जलदाच्च्युता ? लता वा
तरुमुख्यादिति ? संशये निमग्नः ।
गुरुनिःश्वसितैः कपिर्मनीषी
निरणैसीदथ तां वियोगिनीति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—जलदात् च्युता चपला ? वा तरुमुख्यात् (च्युता) लता ? इति संशये निमग्नः मनीषी कपिः अथ गुरुनिःश्वसितैः तां वियोगिनी' इति निरणैसीत् ।

हिन्दीरूपान्तर—बादल से गिरी हुई बिजली है ? या उत्तम वृक्ष से गिरी हुई लता है ? इस प्रकार के संशय में पड़े हुए बुद्धिमान् वानर हनुमान् ने बाद में बड़ी-बड़ी उसांसो के कारण उन्हें "विरहिणी (सीता) है" इस प्रकार निश्चय किया ।

व्याख्या—इस श्लोक में अशोक वाटिका में बैठी हुई विरहिणी सीता के विषय में किए गये हनुमान जी के सन्देह का वर्णन होने से 'ससन्देहालंकार' है । परन्तु यहाँ निश्चयान्त ससन्देह है, क्योंकि जहाँ पहले तो संशय होता है परन्तु बाद में निश्चय हो जाता है वहाँ 'निश्चयान्त ससन्देह' अलंकार होता है । यहाँ सीता को देखकर हनुमान् जी को पहले यह संशय तो हुआ कि 'क्या है

बादल से गिरी हुई बिजली है ? या कि उत्तम पेड़ से गिरी हुई लता है' परन्तु अन्त में दीर्घ निश्वासों से उन्हें यह निश्चय कर लिया कि नहीं यह तो विरहिणी सीता हैं लता या बिजली नहीं क्यों कि लता या बिजली उसांसे कहाँ भर सकती है। इस लिए प्रारम्भ में होने वाला सन्देह अन्त में निश्चय में बदल गया। अतः निश्चयान्त ससन्देहालङ्कार हुआ। (क) चपला—बिजली को कहते हैं—'शम्पा चपला क्षणिकाशतह्रदाह्लादिनी तडिद् विद्युत्' इति हलायुधः। (ख) जलदात्—जलं ददातीति जलदः। मेघः। तस्मात्। (ग) च्युता—(च्युत+क्त+टाप्) (घ) तरुमुख्यात्—तरुषु मुख्यः तरुमुख्यः। तस्मात् तरुमुख्यात्। 'अग्र्यं प्रधानं प्रमुखं पुरोगं मुखम्' इति हलायुधः। (ङ) गुरु-निःश्वसितैः—गुरूणि निःश्वसितानि गुरुःनिश्वसितानि। तैः गुरुःनिश्वसितैः। बड़े बड़े निःश्वासों से। 'गुरुर्महति वाच्यवत्' इति विश्वप्रकाशः। (च) कपिः—वानरः हनुमानित्यर्थः। 'कपिप्लवङ्गप्लवगशाखामृगवलीमुखाः। मर्कटो वानरः' इत्यमरः। (छ) मनीषी—मनीषाऽस्त्यस्येति मनीषी (मनीषा+इनि) विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः धीरो मनीषी' इत्यमरः। (ज) वियो-गिनी—वियोगः (प्रियविरहः) अस्त्यस्याः इति वियोगिनी (वियोग+इनि+ङीप) विरहिणी सीतेत्यर्थः। निरणैषीत्—निश्चिकाय निश्चय किया इसमें कवि ने कालभारिणी वृत्त का प्रयोग किया है। इसका लक्षण है—'विषमे ससजा यदा गुरुचेत् सभरा येन तु कालभारणीयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३६ ॥

भूतिर्नीचगृहेषु विप्रसदने दारिद्र्यकोलाहलो
नाशो हन्त ! [1]सतामसत्पथजुषामायुः समानां शतम् ।
दुर्नीतिन्तव वीक्ष्य कोपदहनज्वालाजटालोऽपि सन्
किङ्कुर्वे जगदीश ! यत्पुनरहन्दीनो भवानीश्वरः[2] ॥ ३७ ॥

अन्वयः—हे जगदीश ! नीचगृहेषु भूतिः, विप्रसदने दारिद्र्यकोलाहलः, सताम् नाशः असत्पथजुषाम् समानां शतम् आयुः तव दुर्नीतिं वीक्ष्य कोपदहन-ज्वालाजटालः सन् अपि हन्त ! किम् कुर्वे ! यत् अहम् दीनः भवान् पुनः ईश्वरः।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ लोकनाथ ! नीचों के घर सम्पत्ति और ब्राह्मणों के घर दरिद्रता का हंगामा, सज्जनों का विनाश और कुमार्गगामियों की सौ वर्ष की अवस्था, (इस प्रकार की) तुम्हारी दुर्नीति को देखकर क्रोधाग्नि की लपटों

---

१. "सतामसत्फलजुषामायुः" इति पाठान्तरम्।
२. "भवानीपतिः" इति पाठान्तरम्।

से संसक्त होकर भी हाय ! मैं क्या करूँ ? क्योंकि मैं दरिद्र और आप सामर्थ्य-वान् ठहरे ।

व्याख्या—किसी भक्त की भगवान् से उक्ति है । भगवान् द्वारा किये जाते हुए अन्याय से वह है तो बहुत क्रुद्ध पर बेचारा करे क्या ? कुछ उनका बना बिगाड़ तो सकता ही नहीं । (क) भूतिः—सम्पत्तिः, ऐश्वर्यम् । 'विभूति-र्भूतिरैश्वर्यम्' इति 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इति चामरः । (ख) नीचगृहेषु—नीचानामधमानां गृहाः नीचगृहाः । तेषु नीचगृहेषु । (ग) विप्रसदने—विप्राणां सदनं विप्रसदनम् । तस्मिन् विप्रसदने । आवासावसथं गृहञ्च भवनं×× सदनम्' इति हलायुधः । (घ) दारिद्र्यकोलाहलः—दरिद्रस्य भावः दारिद्र्यम् । (दरिद्र + ष्यञ्) तस्य कोलाहलः दारिद्र्यकोलाहलः । 'कोलाहलः कलकलः' इत्यमरः । (ङ) हन्त—खेदे । सताम्—सज्जनानाम् । (च) असत्पथजुषाम्—न सत्पथः असत्पथः । 'अतिपन्थाः सुपन्थाश्च सत्पथश्चार्चितेऽध्वनि । कुत्सितमार्गः इत्यर्थः । असत्पथं जुषन्ते सेवन्ते इति असत्पथजुषः ! ('जुषी प्रीतिसेवनयोः' (तुदादि)+अच्) कुमार्गगामिनः । तेषां असत्पथजुषाम् । (छ) समानां—वर्षाणाम् । 'समा वर्षे समं तुल्ये साधौ च सदृशेऽन्यवत्' इति विश्वप्रकाशः । (ज) दुर्नीतम्—दुर् दुष्टा नीतिः दुर्नीतिः । ताम् दुर्नीतिम् । (झ) कोपदहनज्वालाजटालः—जटाः सन्त्य-स्येति जटालः (जटा + लच्) । कोप एव दहनं कोपदहनः । क्रोधाग्निः । तस्या ज्वालाः कोपदहनज्वालाः । ताभिः जटालः कोपदहनज्वालाजटालः । 'कोपः क्रोधस्तथामर्षः' इति हलायुधः, दहतीति दहनः ('दह् + भस्मी करणे + ल्युट्) अग्निरित्यर्थः । (ञ) जगदीशः—जगतामीशः जगदीशः । तत्सम्बुद्धौ हे जगदीश । (ट) निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः । (ठ) ईश्वरः—ऐश्वर्यशाली (ईश् + वरच् = ईश्वरः) । इस में कवि ने शार्दूलविक्रीडितवृत्त का प्रयोग किया है । लक्षण है—"सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३७ ॥

आ मूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां[1]
वाचामाचार्य्यतायाः पदमनुभवितुङ्कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥३८॥

अन्वयः—रत्नसानोः आमूलात् च मलयवलयितात् पयोधेः आकूलात्

---

१. "०ममृणमदधुरीमाधुरीभाग्यभाजाम्" इति पाठान्तरम् ।

यावन्तः काव्यप्रणयनपटवः सन्ति, ते विशङ्कं वदन्तु, मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजाम् वाचाम् आचार्य्यतायाः पदम् अनुभवितुम् मदन्यः कः धन्यः अस्ति।

हिन्दीरूपान्तर—सुमेरु पर्वत के मूल से लेकर मलयपर्वत से घिरे हुए समुद्र के किनारे तक जितने भी काव्यरचना में निपुण लोग हैं, वे निःशङ्क होकर बतायें कि अंगूर के भीतर से निकलते हुए चिकने रस-प्रवाह के माधुर्य के सौभाग्य से सम्पन्न वचनों की आचार्यता के स्थान का अनुभव करने के लिए मेरे सिवा और कौन भाग्यशाली है?

व्याख्या—पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पद्य से लेकर भामिनीविलास की समाप्ति पर्यन्त जितने पद्य लिखे हैं उनसे उनके अपने विषय में उनकी कविता के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान होता है। प्रस्तुत पद्य में पण्डितराज सम्पूर्ण उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारतपर्यन्त के कवियों को ललकार कर यह कहते हैं कि सरसवाणी का आचार्य मेरे सिवा और कोई कहीं है। इस प्रकार यहाँ पण्डितराजगत गर्वभाव अभिव्यक्त होता है। गर्व का लक्षण है—

"गर्व्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः।
अवज्ञा सविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥"
(साहित्यदर्पण)

अर्थात् ऐश्वर्य, लक्ष्मी, विद्या, सद्वंश आदि के कारण उत्पन्न मद को 'गर्व' कहते हैं जिससे मनुष्य में दूसरे के प्रति अनादर और अविनय उत्पन्न हो जाता है तथा विलासपूर्वक (अँगूठा) आदि अङ्गों को दिखाने लगता है। यहाँ पर अपनी कविताओं को सर्वश्रेष्ठ समझना विभाव है, तथा दूसरों का तिरस्कार करनेवाले वाक्यों के प्रयोग अनुभाव हैं जिनसे कविगत गर्व्व व्यभिचारी भाव व्यञ्जित होता है। इस तरह यहाँ पर गर्व्व भावध्वनि कवि द्वारा प्रस्तुत की गई है। (क) रत्नसानोः—रत्नानि सानौ 'प्रस्थे' यस्य स रत्नसानुः। तस्य रत्नसानोः। 'सुमेरुर्हेमपर्वतः रत्नसानुरिति' हलायुधः। (ख) आ मूलात्—यहाँ मूलादारभ्य इस अर्थ में आङ् के योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुई है। (ख) मलयवलयितात्—मलयेन (मलयाचलेन) वलयितं मलयवलयितम्। तस्मात् मलयवलयितात् मलयाचल से परिवेष्ठित। उक्त सूत्र 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः।' से यहां तथा 'कूलात्' में भी पञ्चमी है। (ग) कूलात्—तटात्। 'कूलं रोधश्च तीरञ्च प्रतीरञ्चं तट त्रिषु' इत्यमरः। (घ) पयोधेः—पयांसि धीयन्तेऽस्मिन्निति पयोधिः। समुद्रः। तस्य पयोधेः। (ङ) काव्यप्रणयनपटवः—कवेः कर्म काव्यम् (कवि + ष्यञ्) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इति पण्डितराजजगन्नाथः। 'तददोषौ शब्दार्थौ

सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति मम्मटस्य काव्यलक्षणम् । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति विश्वनाथः । तस्य प्रणयनं (रचना) काव्यप्रणयनम् । तस्मिन् पटवः काव्यप्रणयनपटवः । काव्यरचनादक्षा इत्यर्थः । 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः' इत्यमरः । (च) विशङ्कम्—विगता शंका यस्मात् तद् यथा स्यात्तथा विशंकम् (क्रियाविशेषणम्) । (छ) मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजाम्—मृद्वीकायाः मध्यः मृद्वीकामध्यः । तस्मात् निर्यन् (निर्गच्छन्) मसृणरसः (मसृणः रसः मसृणरसः) मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसः । तस्यः झरी (प्रवाहः) मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरी (झर + ङीप्) 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तस्य माधुरी मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरी तस्याः भाग्यं मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यम् । तद् भजन्तीति भाग्यभाजः (भाग्य + भज् + अण्) तासां मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजाम् । यहाँ पर कवि झरी के स्थान पर 'झर' का तथा 'माधुरी' के स्थान पर 'माधुर्य' का भी प्रयोग कर सकता था । परन्तु उसने जो स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया है वह उस प्रवाह और माधुर्य की पेशलता को प्रस्तुत करने के लिये ही । यहाँ आचार्य कुन्तक के अनुसार 'लिङ्गवक्रता' है ।

लिङ्ग वक्रता का लक्षण है--

'सति लिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते ।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम् ॥'

(वक्रोक्तिजीवित २।२२) ।

(ज) आचार्य्यतायाः—आचार्य्यस्य भावः आचार्य्यता । तस्याः आचार्य्यतायाः । गुरुत्वस्येत्यर्थः । (झ) 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः । अर्थात् मेरे सिवा इस वाणी का आचार्य बनने योग्य कोई नहीं है इसमें कवि ने स्रग्धरा वृत्त का प्रयोग किया है । उसका लक्षण है--'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३८ ॥

गिरान्देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगम्पण्डितपते-
रधुन्वन् मूर्द्धानन्नृपशुरथ वाऽयम्पशुपतिः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—गिराम् देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा यदीयानां वाचाम् अमृतमयं रसम् आचामति, तस्य पण्डितपतेः श्रवणसुभगं वचः आकर्ण्य मूर्द्धानम् अधुन्वन् अयम् नृपशुः अथवा पशुपतिः अस्ति ।

हिन्दीरूपान्तर—वाणी की देवता सरस्वती वीणा की तन्त्री के बजाने में

हाथों के सम्मान को कम करके जिसकी वाणी के अमृत मय रस का पान करती है, उस पण्डितराज (जगन्नाथ) की श्रवणरमणीया वाणी को सुनकर सिर को न हिलाता हुआ यह (मनुष्य या तो) नर पशु है अथवा पशुपति है।

व्याख्या—यहाँ पर भी पहले वाले श्लोक की भाँति पण्डितराजगत गर्व की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अपनी रचना को सर्व्वाधिक श्रवणरमणीय के रूपी में कवि ने प्रस्तुत किया है। यही गर्व को अभिव्यक्त करने वाला विभाव है तथा सुनकर शिर न हिलाने वाले को नर पशु अथवा पशु पति कहकर उसकी अवज्ञा करना अनुभाव है, इन दोनों से पण्डितराजगत 'गर्व' व्यभिचारिभाव व्यञ्जित होता है। अतः यहाँ भी गर्व भावध्वनि ही है। साथ ही जैसी कि किंवदन्त है कि यवनकन्या के साथ विवाह कर लेने के कारण पण्डित समाज में इनका कोई समादर नहीं करता था, जब कि इनसे निम्न श्रेणी की रचना करने वालों को वह सम्मान प्राप्त रहा होगा अतः उससे इनके अन्दर एक प्रकार की असहिष्णुता उत्पन्न हुई जिससे कि तारीफ न करने वाले को इन्होंने नरपशु या पशुपति कह डाला अतः इस प्रकार इनकी कविता का अपमान विभाव है, तथा नरपशु इत्यादि कह कर क्रोध प्रकट करना अनुभाव है जिससे कि इनके अमर्ष व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति भी मानी जा सकती है। अमर्ष का लक्षण है—

'निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
नेत्ररागशिरः कम्पभ्रूभङ्गोत्तर्ज्जनादिकृत् ॥'

(साहित्यदर्पणः)।

अर्थात् निन्दा आक्षेप और अपमान आदि के कारण उत्पन्न होने वाला आँखों में लालिमा, सिर में कम्प, भ्रूभङ्ग और तर्ज्जन आदि को जन्म देने वाला चित्त का अभिनिवेश अमर्ष कहलाता है। (क) वीणागुणरणनहीनादरकरा—वीणायाः गुणं (तन्त्री) वीणागुणम्। तस्याः, रणनं (वादनम्) वीणागुणरणनम्। हीनः आदरः यस्मिन् स हीनादरः। वीणागुणरणने हीनादरः वीणागुणरणनहीनादरः। तथा भूतः करः यस्याः सा वीणागुणरणहीनादरकरा। अर्थात् वीणा की तन्त्री के बजाने में आदर से हीन हाथों वाली। आशय यह कि वीणा बजाना बन्द करके जिसकी कविता के रस का पान स्वयं वाग्देवी सरस्वती करती हैं। (ख) यदीयानाम्—यस्येमाः यदीयाः (यत् + छ) तासां यदीयानाम्। (ग) अमृतयम्—अमृतस्वरूपम्। अमृत (घ) श्रवणसुभगम्—श्रवणयोः सुभगम् श्रवणसुभगम्। श्रुतिमधुरमिति यावत्। (ङ) पण्डितपतेः—पण्डितानां पतिः पण्डितपतिः। तस्य पण्डितपतेः। पण्डितराजस्य जगन्नाथस्येत्यर्थः। (च) नृपशुः—ना पशुरिव नृपशुः। (छ) पशुपतिः—

पशूनां पतिः पशुपतिः । पशु से तात्पर्य स्थावरजङ्गम के समस्त प्राणिमात्र से है। इस दशा में इसका अर्थ महादेव शिव होगा। वे निर्विकार हैं अतः उनके अन्दर सिर आदि हिलाने की बात नहीं उठती। (ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः । तेषां पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ" इति चिन्तामणिः) कुछ टीकाकारों ने पशुपति का अर्थ शङ्कर न लेकर गोपाल गड़रिया आदि भी लिया है। जो सहृदय नहीं हैं, काव्यरस को वे क्या समझ सकेंगे। वे तो केवल गायें चराना ही जानते हैं। वस्तुतः यहाँ शङ्कर अर्थ ही समीचीन है। क्योंकि एक हुई पशुओं की कोटि और दूसरी कोटि है मुक्तों की। जो मुक्त हैं। उनमें भी किसी प्रकार की विकृति नहीं होती जैसा कि कहा गया है—'सुभाषितेन गीतेन युवतीनाञ्च लीलया। यस्य नो द्रवते चित्तं स वै मुक्तोऽथवा पशुः।" इति। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है। 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ३८ ॥

मद्वाणि ! मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्य्यमग्नमनसां सहसा खलानाम् ।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना[1]—
मास्येषु धास्यतितमाङ्कति नो[2] विलासान्[3] ॥३९॥

अन्वयः—हे मद्वाणि ! मात्सर्यमग्नमनसाम् खलानाम् सहसा अनादरेण विषादम् मा कुरु (यतः) काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रतानाम् आस्येषु कति विलासान् नो धास्यतितमाम् ।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मेरी वाणी ! मात्सर्य में मग्न हृदय वाले दुष्टों के अचानक अपमान से दुःखी मत हो (क्योंकि) तू काव्यारविन्द के मकरन्द का पान करने वाले भौरों के मुख में कितने ही विलासों को नहीं धारण करेगी ?

व्याख्या—इसे किसी कवि की अथवा स्वयं पण्डितराज की उक्ति समझना चाहिए। जैसी इनके विषय में अनेकानेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध है सम्भव है कि यवन शासकों के यहाँ आश्रय ग्रहण करने के कारण उस समय का पण्डित समाज इनका समादर न करता रहा हो। यहाँ कवि ने पूर्वार्द्ध में 'अवज्ञा' और उत्तरार्द्ध में 'उल्लास' अलङ्कार को प्रस्तुत किया है। उल्लास का लक्षण है— 'एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि' (कुवलयानन्द) अर्थात् 'यदि

---

१. "काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रतांस्त्वम्" इति पाठान्तरम् ।
२. "कियतो विलासान्" इति पाठान्तरम् ।
३. "धास्यसितमाङ्कियतो विशालान्" इति पाठान्तरम् ।

एक के गुण या दोष के कारण दूसरे के गुण और दोष हो जायँ तो उल्लासालङ्कार होता है जैसे यहाँ उत्तरार्द्ध में सहृदय के सरसता रूपी गुण के कारण वाणी में विलास आनन्द रूपी गुण का आधान होने से उल्लासालङ्कार है। अवज्ञा अलंकार ठीक इसका उल्टा होता है—'ताभ्यां यदि तौ न स्यातामवज्ञाऽलङ्कृतिस्तु सा' (कुवलयानन्द) अर्थात् यदि उन एक के गुण दोषों के द्वारा दूसरे में गुण दोषों का आधान नहीं होता तो अवज्ञा अलंकार होता है। जैसे यहाँ पूर्वार्द्ध में दुर्जनों के अनादर रूप दोष से कवि वाणी में होने वाले विषाद रूप दोष के निषेध द्वारा प्रदर्शित किया गया है। (क) मद्वाणि—मम वाणी मद्वाणि। तत्सम्बुद्धौ मद्वाणि। (ख) मात्सर्यमग्नमनसां—मत्सरस्य भावः मात्सर्यम्। (मत्सर + ष्यन्) 'मत्सरोऽन्यशुभेद्वेषे तद्वत् कृपणयोनिपु' इत्यमरः। यहाँ मत्सर का शुभद्वेष अर्थ लिया जायगा। मात्सर्ये मग्न मात्सर्यमग्नम्। मात्सर्ये मग्नं मनः येषान्ते मात्सर्यमग्नमनसः। तेषां मात्सर्यमग्नमनसाम्। (ग) खलानाम्—'पिशुनो दुर्जनः खलः' इत्यमरः। तेषां खलानाम् दुर्जनानामित्यर्थः। (घ) काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना—काव्यमेवारविन्दुम्। 'रूपक' तस्य मकरन्दः काव्यरविन्दमकरन्दः, 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्ममरः। तस्य मधुव्रताः। (भ्रमराः) काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताः। मधु-मधु सञ्चयो व्रतं व्रतमिव सततानुशीलनीयं येषान्ते मधुव्रताः। 'मधुकरमधुपमधुव्रतशिलीमुख भ्रमरभृङ्गपुष्पलिहः' इति हलायुधः। तेषां काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रतानाम्। यहाँ उपमेयभूत सहृदयों का मधुव्रतों द्वारा निगरण कर अध्यवसान प्रस्तुत किया गाया है अतः रूपकातिशयोक्ति है। 'रूपकातिशयोक्तिस्यान्निगीर्याध्यवसानयतः।' (कुवलयानन्दः)। इसमें कवि ने वसन्ततिलक वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—"ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः" (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४० ॥

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमा
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
'स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन्[2] वाचां विलासो[3] मम ॥४१॥

अन्वयः—वसुधातले विद्वांसः परवचःश्लाघासु वाचंयमाः, भूपालाः कमला-

---

१. "स्वर्वामाभ्रूश्रमाधुरीम्" इति पाठान्तरम्।
२. "विधुरयन्" इति पाठान्तरम्।
३. "वाचां विपाको मम" इति पाठान्तरम्॥

विलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः (अतः) कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् मम वाचां विलासः अधुना कस्य धन्यस्य आस्ये लास्यम् धास्यति।

हिन्दीरूपान्तर—धरातल पर विद्वान् लोग दूसरे की वाणी की प्रशंसा करने में मौन हैं, राजा लोग लक्ष्मी की विलास मदिरा से उत्पन्न मद से विभ्रान्त हैं (अतः) काम के कारण अलसायी हुई सुरसुन्दरियों के अधर की मधुरता को नीचा दिखाता हुआ मेरी वाणी का विलास इस समय किस भाग्यशाली के मुख में नृत्य करेगा।

व्याख्या—इस पद्य से कविगत 'चिन्ता' भाव की अभिव्यक्ति होती है। चिन्ता का लक्षण है—"ध्यानश्चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्।" (साहित्यदर्पण) अर्थात् 'हित की प्राप्ति न होने से, शून्यता, उसांसों और सन्ताप आदि को जन्म देने वाला ध्यान 'चिन्ता' कहा जाता है। यहाँ कवि को अभिप्रेत है अपने काव्य की प्रशंसा जो उसे मिल नहीं रही है जिसका पूर्वार्द्ध में प्रतिपादन किया गया है कि विद्वान् दूसरे की प्रशंसा करने में मौन है और राजा लोग ऐश्वर्य मदिरा के मद में चूर है। यह है 'चिन्ता' को व्यक्त करने वाला विभाव। तथा उत्तरार्द्ध में प्रतिपादित किया गया 'कि कौन भाग्यशाली इसकी प्रशंसा करेगा' है कवि की चिन्ता का व्यञ्जक अनुभाव। इस प्रकार यहां भी 'भाव-ध्वनि' है। (क) वसुधातले—वसुधायाः तलं वसुधातलम्। तस्मिन् वसुधातले। 'वसुधोर्वी वसुंधरा। गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः (ख) परवचः श्लाघासु—'परेषां वचांसि परवचांसि। तेषां श्लाघा परवचःश्लाघा। तासु परवचः श्लाघासु। 'अर्थवादः प्रशंसा च स्तोत्रमीडा स्तुतिर्नुतिः। विकत्थनं स्तवः श्लाघा' इति हलायुधः। (ग) वाचंयमाः—वाग्भिः अच्छन्ति विरमन्तीति वाचंयमाः। (वाच् + 'वाचियमो व्रते' (३।२।४०) इति खच्' ततः 'वाचंयमपुरन्दरौ च' (६।३।६९। इति अमन्त निपात्यते। मौनव्रतधारिणः इत्यर्थः। (घ) भूपालाः—भुवं पालयन्ति रक्षन्तीति भूपालाः। राजानः। (ङ) कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः—कमलायाः (लक्ष्म्याः) विलासः कमलाविलासः। स एव मदिरा कमलाविलासमदिरा। तया उन्मीलन् मदः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मादः। तेन आघूर्णिताः भ्रान्ताः, कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः। 'लक्ष्मी पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रियाः। इत्यमरः। 'सुराहलिप्रिया × × + मदिरा' इति चामरः। 'आङ् + पूर्णभ्रमण (भ्वादि) + क्त + जस् आघूर्णिताः) (च) आस्ये—मुखे। 'मुखमास्यमाननञ्च समम्' इति हलायुधः। (छ) लास्यम्—(लस् + 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१ १२४) इति ण्यत्' 'नृत्यन्तु ताण्डवं लास्यम्' इति हलायुधः। 'पुंनृत्यं ताण्डवं

प्राहुः स्त्रीनृत्यम् लास्यमुच्यते' इति सङ्गीतनारायणे नारदसंहिता (ज) कामालसस्वर्वामाधरमाधुरीम्—स्वर्वामा सुरसुन्दर्यः। कामेन अलसाः (मन्थाः) कामालसाः । कामालसाः स्वर्वामाः कामालसस्वर्वामाः । तासामधराः कामालसस्वर्वामाधराः । तेषां माधुरी कामालसस्वर्वामाधरमाधुरी तां तथोक्ताम् । अधरयन्—अधरी कुर्वन् इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है—

'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ॥ (छन्दोमञ्जरी)॥४१॥

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथ वामाधरसुधा
'कदाचित् केषाञ्चिन्न खलु विदधीरन्नपि मुदम् ।
ध्रुवन्ते जीवन्तोऽप्यहह ! मृतका मन्दमतयो
न येषामानन्दञ्जनयति जगन्नाथभणितिः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—मधु, द्राक्षा, साक्षात् अमृतम्, अथ वामाधरसुधा कदाचित् केषाञ्चित् खलु मुदम् न अपि विदधीरन् (किन्तु) जगन्नाथभणितिः येषाम् आनन्दम् न जनयति अहहते मन्दमतयः ध्रुवम् जीवन्तः अपि मृतकाः (एवसन्ति) ।

हिन्दीरूपान्तर—शहद, दाख, प्रत्यक्ष अमृत अथवा सुन्दरियों का अधरामृत कदाचित् किसी के भले ही आनन्द न भी पैदा करे (लेकिन) जगन्नाथ की उक्ति जिनको आनन्द नहीं उत्पन्न करती, हाय ! वे मन्द बुद्धि लोग निश्चित ही जीते हुए भी मरे ही हैं ।

व्याख्या—इससे पण्डितराजगत दर्प की अभिव्यक्ति होती है। कवि ने माधुर्य के उपमान भूत मधु आदि को यहाँ उपमेय भूत भणितिमाधुर्य से हीन बताया है अतः व्यतिरेकालंकार है, उपमानाद् यदन्यस्यस्य व्यतिरेकः, स एव सः (मम्मट) । मधु और द्राक्षा वैसे बाल वृद्ध युवक सभी के लिए सुलभ है सभी को आनन्द प्रदान करती हैं। परन्तु जो व्यक्ति अस्वस्थ है उसे ये आनन्द नहीं प्रदान कर सकती। साक्षात् अमृत निश्चित ही सर्वसुलभ नहीं है । रही बात वामाधुरसुधा की वह बालकों के अनुभव के बाहर की वस्तु है । और वृद्धों को भी (वृद्धस्य तरुणी विषम् के आधार पर) आनन्द नहीं ही प्रदान कर सकेगी। केवल युवकों के काम की है । इसीलिए पंडितराज ने इन सबके विषय में यह कहा है कि कदाचिद् वे किसी को कभी आनन्दित न कर सकें। पर पण्डितराज की उक्ति तो आबाल वृद्ध सभी को आनन्द प्रदान करने में समर्थ है। (क) मधु—'मधु क्षौद्रजले क्षीरे मद्ये पुष्प रसे मधुः । जीवे चैत्रे वसन्ते च जीवाशा के मधुद्रुमे" इति विश्वप्रकाशः

४. "कदाचित् केषाञ्चित् खलु हि विदधीरन्नपि मुदम्" इति पाठान्तरम् ।

यहाँ मधु का अर्थ शहद (क्षौद्र) ही अधिक समीचीन है। (ख) 'मृद्वीकागोस्तनी द्राक्षा मधुरसेति च' द्राक्षा दाख को कहते हैं। (ग) वामाधरसुधा—वामानां सुन्दरीणामधरः वामाधरः। तस्य सुधा वामाधरसुधा। (घ) 'मुत् प्रीतिः प्रमदः' इत्यमरः। तम् मुदम्। (ङ) ध्रुवम्—निश्चितम्। 'ध्रुवो भभेदे क्लीबं तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु' इत्यमरः। (ज) जीवन्तः—(जीव+शतृ=जस्) (छ) मृतकाः—मृताः एव मृतकाः। स्वार्थे कन् प्रत्ययः। (ज) मन्दमतयः-मन्दा मतिर्येषान्ते मन्दमतयः। मूर्खा इत्यर्थः। (झ) जगन्नाथभणितिः—जगन्नाथः (कविविशेषः स्वयमस्य ग्रन्थस्य रचयिता) न तु जगताम् नाथः जगन्नाथः। तस्य भणितिः उक्तिः जगन्नाथभणितिः। इसमें कवि ने शिखरिणी वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४२ ॥

निर्माणे यदि मार्मिकोसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणाङ्गिराम् ।
काव्यं तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
[1]नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥४३॥

अन्वयः—हे सखे ! यदि त्वम् अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीकामधुमारीमदपरीहारोद्धुराणाम् गिराम् निम्मार्णे नितराम् मार्म्मिकः असि, तर्हि मादृशां सम्मुखे सुखेन काव्यम् कथय, चेत् नो आत्मना कृतम् दुष्कृतम् इव स्वान्ताद् बहिः मा कृथाः।

हिन्दीरूपान्तर—ऐ मित्र ! यदि तुम (सचमुच) अत्यन्त पके होने के कारण द्रवित होते हुए अँगूर के मधुमाधुर्य के घमण्ड को चूर कर देने में समर्थ वचनों की रचना करने में मर्मज्ञ हो तो हम जैसे लोगों के सामने सुखपूर्वक अपनी कविता पढ़ो, और यदि (वैसे) नहीं हो तो अपने किए गए पाप की तरह (उसे) हृदय से बाहर न निकालना।

व्याख्या—यहाँ पर भी पण्डितराज का 'गर्व' अभिव्यक्त होता है। जिसका कारण उनका अपनी रचना को सर्व्वाधिक सरस मानना तथा अपने को परम सहृदय एवं सरस रचना का मार्म्मिक समझना है। यह बात पूर्वार्द्ध से विदित होती है यही गर्व का व्यञ्जक विभाव है, तथा चतुर्थ चरण में कही गई उक्ति जो कि अवज्ञापूर्ण है उस गर्व का व्यञ्जक अनुभाव है। अतः यहाँ भी भावध्वनि है। (क) मार्म्मिकः—मर्म्मं तत्त्वं जानातीति मार्म्मिकः (मर्म्म+ठञ्) यदि काव्यनिर्माण में तत्त्व को समझने का दावा रखते हो। नितराम्—

१. "मा चेद्" इति पाठान्तरम्।

अर्थात् अत्यधिक अच्छा तरह से मर्म्म को समझते हो तभी सुनाओ और यदि थोड़ा बहुत मर्म्म जानते हो तो मौन रहो। (ख) अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीका-मधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणाम्—अत्यन्तं पाकः अत्यन्तपाकः। पूर्ण पक्वता इत्यर्थः। तेन द्रवन्ती मृद्वीका अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीका। तस्याः मधुमाधुरी अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीकामधुमाधुरी। मधु इव माधुरी मधुमाधुरी। तस्याः मदः अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीकामधुमाधुरीमदः। तस्य परीहारः अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारः। तस्मिन् उद्धुराः। तासाम् अत्यन्तपाकद्रवन्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणाम्। अत्यन्त पक जाने के कारण द्रवित होती हुई। मृद्वीका की मधु सदृश मधुरिमा के घमण्ड को दूर करने मे समर्थ। (ग) मादृशाम्—हम जैसे काव्यमर्मज्ञों के सम्मुख और किसी के आगे भले अपना राग अलापे पर हम जैसे लोगों के आगे जबान खोलने का दुःसाहस न करे। (घ) दुष्कृतम्—दुष्टं कृतं दुष्कृतम्। पापमित्यर्थः। 'दुष्कृतमघमहः X पापं स्यात्पातकम्' इति हलायुधः। दुष्कृतमिव में उपमालङ्कार है। (ङ) स्वान्ताद्—हृदयाद्। स्वान्तं हृदयं मानसं समम्, इति हलायुधः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है—लक्षण है - 'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' (छन्दोमञ्जरी) ॥ ४३ ॥

'माधुर्यैरपि धुर्यैर्द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम्[2] ।
[3]वन्द्यैव माधुरीयम्पण्डितराजस्य कवितायाः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पण्डितराजस्य कवितायाः इयम् माधुरी द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम् धुर्यैः माधुर्यैः अपि वन्द्या एव (अस्ति)।

हिन्दीरूपान्तर—पण्डितराज (जगन्नाथ) की कविता की यह मधुरिमा अंगूर दूध, ईख और शहद के अत्यन्त उत्कृष्ट माधुर्यों के द्वारा भी वन्दनीय ही है।

व्याख्या—यहाँ पर भी पण्डितराज के गर्व की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही कवि ने द्राक्षादिक की माधुरी के द्वारा अपनी कविता की माधुरी को वन्दनीय बताकर उसका उत्कर्ष प्रतिपादित किया है अतः व्यतिरेकालङ्कार भी है। 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' (काव्यप्रकाश)। (क) माधुर्यैः—मधुरस्य भावः माधुर्यम्। (मधुर + ष्यञ्) तैः माधुर्यैः। (ख) धुर्यैः—

---

१. "धुर्यैरपि माधुर्यैः" इति क्रमः क्वचित्।
२. "द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकसुधानाम्" इति पाठान्तरम्।
३. "वन्द्यैव" इति पाठान्तरम।

श्रेष्ठैः । (ग) द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम्—द्राक्षा च क्षीरञ्च इक्षुश्च माक्षिकादिश्चैतेषामितरेतरयोगः द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनि । तेषां द्राक्षाक्षीरेक्षुमाक्षिकादीनाम् । द्राक्षा कहते हैं दाख को । 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः । क्षीर का अर्थ यहाँ पर दुग्ध ही अधिक समीचीन होगा । 'क्षीरं नीरे च दुग्धे च' इति विश्वप्रकाशः । इक्षु का अर्थ है ईख 'रसाल इक्षुः' इत्यमरः माक्षिकादि कहते हैं मधु अर्थात् शहद को 'मधुक्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः । (ग) वन्द्यैव—वन्दितुं योग्या वन्द्या नमस्कार्या इत्यर्थः । (घ) पण्डितराजस्य—'पण्डितराज' इत्युपाधिधारिणः जगन्नाथस्य, पण्डितश्रेष्ठस्य च । यथा 'आसफविलासे' पण्डितराजेनैवाप्यपधायि—'श्री सार्व्वभौमसाहिजहानप्रसादाधिगतपण्डितराजपदवीविराजितेन तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेनासफविलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत् । इसमें कवि ने आर्यावृत्त उपनिबद्ध किया है । उसका लक्षण है 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रस्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके साऽऽर्या ॥ ४४ ॥

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि संभाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतन्नवीनं वयः ।
सम्प्रत्युज्झितवासनम्मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वम्पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—पण्डितराजराजितिलकेन शास्त्राणि आकलितानि सर्वे अपि नित्यविधयः सम्भाविताः, दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नवीनं वयः नीतम्, सम्प्रति आसनम् उज्झितम् (तथा) मधुपुरी मध्ये हरिः सेव्यते (अतः) सर्व्वलोकाधिकम् अकारि ।

हिन्दीरूपान्तर—श्रेष्ठ पण्डितों की श्रेणी के तिलक भूत (हम ने) शास्त्रों का अध्ययन किया, सभी नित्यविधियों का समादर किया, दिल्लीपति के करपल्लवों के नीचे यौवनावस्था बितायी, इस समय वासनाओं का परित्याग कर मथुरा प्रदेश में श्री कृष्ण की सेवा कर रहा हूँ (अतः) सब कुछ लोकातिशायी (कार्य) किया ।

व्याख्या—इसमें पण्डितराजगत गर्व भाव की अभिव्यक्ति होती है । (क) शास्त्राण्याकलितानि—शास्त्रों से तात्पर्य श्रुति, स्मृति एवं पुराणादि से है । साथ ही साहित्य, दर्शन, व्याकरण इत्यादि शास्त्रों से हैं । इससे उनका समस्तशास्त्रप्रवीणत्व सूचित होता है । (ख) नित्यविधयः—प्रतिदिन के आवश्यक

कर्मों से आशय है। इससे उनकी कर्मकाण्ड-निपुणता और नियमपालन आदि सूचित होता है। (ग) दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले—दिल्ल्याः वल्लभः दिल्लीवल्लभः। दिल्लीश्वर इत्यर्थः। पाणिः पल्लव इव पाणिपल्लवः। उपमा। दिल्लीवल्लभस्य पाणिपल्लवः दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवः। तस्य तलम्। तस्मिन् दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले। 'पल्लवः स्यात्किसलयम्' इति 'पाणिः शयपञ्चशाखकरहस्ताः' इति च हलायुधः। (घ) नवीनं वयः का आशय युवावस्था से है। (ङ) उज्झितवासनम्—उज्झिता वासना यस्मिन् तद् यथा स्यात्तथा उज्झितवासनम्। 'त्यक्तमुत्सृष्टमुज्झितम्' इति हलायुधः। वासना देहात्मबुद्धिजन्यमिथ्यासंस्कारः। (च) मधुपुरीमध्ये—मधोः पुरी मधुपुरी। मथुरानगरीत्यर्थः। तस्याः मध्यः मधुपुरीमध्यः। तस्मिन् मधुपुरीमध्ये। (छ) हरिः—कृष्णः। (ज) पण्डितराजराजितिलकेन—पण्डितराजानाम् पण्डितश्रेष्ठानां राजिः पण्डितराजराजिः। (पण्डितानाम् राजा पण्डितराजः) पण्डितराजराजेः तिलकः। तेन पण्डितराजराजितिलकेन। श्रेष्ठ पण्डितों की पंक्ति के तिलकभूत। अर्थात् समस्त विद्वानों के शिरोमणि। (झ) लोकादधिकं लोकाधिकम्—अलौकिकम् लोकोत्तरमित्यर्थः। इसमें कवि ने शार्दूलविक्रीडित वृत्त का प्रयोग किया है। लक्षण है—'सूर्याश्वैर्यदि मः स जौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' ॥ ४५ ॥

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया।
मदीयपद्यरत्नानाम्मञ्जूषैषा मया कृता[1] ॥ ४६ ॥

इति श्रीमत्पण्डितराजजगन्नाथविरचिते भामिनीविलासे
शान्तो नाम चतुर्थो विलासः ॥

अन्वयः—दुर्वृत्ताः जारजन्मानः हरिष्यन्ति इति शङ्कया मया मदीयपद्यरत्नानाम् एषा मञ्जूषा कृता।

हिन्दीरूपान्तर—दुश्चरित्र एवम् दोगले चुरा लेंगे इस भय से मैंने अपने पद्यरत्नों की यह पिटारी बना दिया है।

व्याख्या—अपने इस भामिनी विलास ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ की यह उक्ति है। इस पद्य की ध्वनि बताते हुए अच्युतराय ने कहा है—'एवञ्च ममायं ग्रन्थः काव्यग्रथनबुद्ध्या नैवकृतः, किन्तु तत्तदवसरे लीलामात्रेण तानि तानि पद्यानि कृतानि।' यहाँ कवि ने इस ग्रन्थ को मञ्जूषा कहा है। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार सन्दूक में रखे हुए रत्न सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार इस 'भामिनीविलास' रूप संग्रहग्रन्थ में हमारे

१. "कृता मया" इति क्रमः क्वचिद् दृश्यते।

पद्य सुरक्षित रहेंगे। यहाँ हम रूपकातिशयोक्ति मान सकते हैं। क्योंकि भामिनीविलासग्रन्थ का उपमानभूत मञ्जूषा के द्वारा निगरण कर के अध्यवसान को प्रस्तुत किया गया है—'रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः'। (कुवलयानन्द) साथ 'पद्यरत्नों' में रूपक अलङ्कार प्रस्तुत किया है। (क) दुर्वृत्ताः—दुर् दुष्टं वृत्तं चरितं येषान्ते दुर्वृत्ताः। दुश्चरिता इत्यर्थः। (ख) जारजन्मानः—जाराज्जन्म येषा ते जारजन्मानः। जार शब्द जॄ वयोहानौ धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है 'जीर्यति स्त्रियाः सतीत्वमनेनेति जारः।' जार उपपति को कहते हैं। उससे जिनका जन्म हुआ है अर्थात् कुलटा के सुपुत्र, दोगले। (ग) मदीयपद्यरत्नानाम्—मम इमानि मदीयानि। (अस्मद् + छ) मदीयानि पद्यानि मदीयपद्यानि। तान्येव रत्नानि मदीयपद्यरत्नानि। तेषां मदीयपद्यरत्नानाम्। (घ) 'पेटां वदन्ति मञ्जूषाम्' इति हलायुधः। मञ्जूषा का अर्थ पिटारी होता है। इसमें कवि ने अनुष्टुप् वृत्त उपनिबद्ध किया है॥ ४६॥

इस प्रकार रायबरेली मण्डलान्तर्गत पूरे चेरशाह पुर निवासी श्रीमान्
पण्डित भगवत प्रसाद मिश्र के आत्मज श्रीराधेश्याम मिश्र द्वारा
सम्पादित श्रीमत्पण्डितराज जगन्नाथ विरचित भामिनी विलास
का हिन्दी रूपान्तर तथा व्याख्या सम्पूर्ण।

श्लोकानुक्रमणिका

प्रथमः प्रास्ताविक-विलासः

[प्रथम विलास में जीवानन्द संस्करण में श्लोक संख्या १ से १२६ तक के श्लोक यथाक्रम प्राप्त होते हैं। शेष का संग्रह खेमराज आदि संस्करणों के आधार पर किया गया है। पण्डितराज काव्यसंग्रह में प्रस्तुत संस्करण का २० वाँ "गाहितमखिलं गहनम्", ७५ वाँ "कृतमपि महोपकारम्", ७६ वाँ "पाण्डित्यं परिहृत्य" तथा १२५ वाँ "दोर्दण्डद्वयकुण्डली०" आदि श्लोक संगृहीत नहीं है, अतः उसमें संख्या केवल १२२ है। वर्तमान संस्करण में पद्यों की अकारादिक्रम से पद्यसंख्या इस प्रकार है—]

द्वितीयः शृङ्गार-विलासः

[द्वितीय विलास में भिन्न-भिन्न संस्करणों में सर्वाधिक पाठ भेद मिलता है। सख्या का भेद तो दूर रहा, जिन संस्करणों में संख्या लगभग समान भी है उनमें पाठक्रम में बड़ा भेद है। 'जीवानन्द' संस्करण में प्रस्तुत संस्करण के केवल श्लोकसंख्या १ से १०२ तक के पद्य ही यथाक्रम उपलब्ध होते हैं। शेष पद्य अन्य संस्करणों से संगृहीत हैं। सुविधा के लिए पद्यों की संख्या अकारादिक्रम से इस प्रकार है—]

तृतीयः करुण-विलासः

[तृतीय विलास में जीवानन्द संस्करण में १ से १८ श्लोक संख्या तक के श्लोक प्राप्त होते हैं। शेष १९ वाँ श्लोक पण्डितराज काव्य संग्रह तथा खेमराज आदि संस्करणों में प्राप्त होता है। अकारादि क्रम से पद्यों की संख्या इस प्रकार है—]

चतुर्थः शान्त-विलासः

[चतुर्थ विलास में जीवानन्द संस्करण में श्लोक संख्या १ से ४६ तक के श्लोक यथाक्रम उपलब्ध होते हैं। खेमराज संस्करण में भी कहीं कहीं क्रम परिवर्त्तन के साथ इतने ही पद्य मिलते हैं। पं० का० सं० में पद्य सं० १३ "चिदित्वेदन्दृश्यम्" तथा पद्य सं० ४१ "विद्वांसो वसुधातले" दो श्लोक इस विलास के अन्तर्गत सङ्गृहीत नहीं है। उसमें केवल ४४ पद्य ही उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत संस्करण के इस चतुर्थविलास में अकारादिक्रम से श्लोकों की सख्या इस प्रकार है—]